राजस्थान विश्वविद्यालय की द्वितीय वर्ष कला के पाठ्यक्रमानुसार

भारतीय अर्थ-व्यवस्था की समस्याएं

[Problems of Indian Economy]

लेखक

एस० एल० दोषी
प्रधानाचार्य
राजकीय महाविद्यालय डूंगरपुर

आर० एस० शर्मा
प्रधानाचार्य
शारदा सदन महाविद्यालय मुकुन्दगढ़

रमेश बुक डिपो

जयपुर

भूमिका

द्वितीय वर्ष कला के विद्यार्थियों के हितार्थ 'भारतीय अर्थ-व्यवस्था की समस्याओं' पर यह पुस्तक लिखी गई है। प्रत्येक पुस्तक की अपनी कुछ विशेषताऐं होती हैं। इसमे भी कुछ विशेषताऐं हैं, यथा भाषा की सरलता, पाठ्यक्रमानुसार अध्यायों का क्रम और जुलाई 1973 तक के आंकड़ों एवं तथ्यों का समावेश। भारतीय अर्थ-व्यवस्था की अनेकानेक समस्याऐं है और ये समस्याऐं भी अत्यन्त जटिल है। इन समस्याओं के विश्लेषण और उनके निवारण के उपायों पर विस्तृत विवेचन एक पाठ्य-पुस्तक में करना कठिन है। परन्तु इन समस्याओं की जानकारी रखना प्रत्येक भारतीय शिक्षार्थी के लिए आवश्यक है। हमारा इस पुस्तक मे इस दिशा में ही प्रयास रहा है।

पुस्तक के संशोधन एव संवर्द्धन में हमें श्री जे०के० टण्डन, प्राध्यापक, वाणिज्य महाविद्यालय, जयपुर का जो सहयोग मिला है उसके लिये हम उनके आभारी हैं।

हमे आशा है कि पुस्तक शिक्षक बन्धुओं की रुचि के अनुकूल और विद्यार्थियों के लिए हितकर सिद्ध होगी।

हम श्री राधाकृष्ण माहेश्वरी, व्यवस्थापक, रमेश बुक डिपो, जयपुर के आभारी हैं, जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करने में रुचि दिखलायी। उनकी स्वीकृति एव सहयोग के बिना शायद यह पुस्तक प्रकाशित नही होती। हम चन्द्रोदय प्रेस के व्यवस्थापक को भी धन्यवाद दिये बिना नही रह सकते, क्योंकि उनके सहयोग के बिना इस पुस्तक का मुद्रण इतने कम समय मे सम्भव नही हो सकता था। पुस्तक मे यत्र-तत्र मुद्रण अशुद्धियाँ रह गई है जिसके लिए पाठक हमें क्षमा करेंगे।

—लेखक द्वय

1

भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश आर्थिक नीतियों का प्रभाव

(Impact of British Economic Policies on Indian Economy)

औरगजेब की मृत्यु के पश्चात् गृह-कलह एव फूट के कारण देश की सम्पूर्ण राजनैतिक व्यवस्था बिगड गयी थी। आन्तरिक अशांति के कारण इस काल मे ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी (British East India Company) ने राजनीति मे प्रवेश करना प्रारम्भ किया। 18वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे कम्पनी ने यहाँ अग्रेजी राज्य की जडें मजबूत कर ली। सन् 1757 ई मे प्लासी के युद्ध के पश्चात् कम्पनी ने बगाल के शासन की बागडोर अपने हाथ मे ले ली, उस समय किसान तथा राज्य के मध्य, जागीरदारो आदि के रूप मे कई मध्यस्थ थे। केवल दक्षिण भारत मे अब भी किसानो का भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार था। जब तक कोई किसान सरकार को एक निश्चित भूमि कर देता रहता था, तब तक वह भूमि का मालिक बना रहता था। उस समय तक वह भूमि से बेदखल नहीं किया जाता था।

सन् 1760 ई से प्राचीन भूमि-अधिकारो को समाप्त करने के उद्देश्य से एक नयी व्यवस्था जिसे नीलामी व्यवस्था कहते है, बगाल के बर्दवान तथा मिदनापुर जिलो मे प्रारम्भ की गयी। इसके अनुसार भूमि अधिकतम लगान देने वाले को तीन वर्ष के लिए नीलाम कर दी जाती थी। सन् 1772 ई से यह व्यवस्था पूरे बगाल सूबे मे लागू कर दी गयी, जिसके अन्तर्गत भूमि का पचवर्षीय प्रबन्ध किया गया। पाँच वर्षों के बाद भूमि कर मे वृद्धि कर दी जाती थी तथा भूमि पुन नीलाम कर दी जाती थी।

इस काल मे मालगुजारी या लगान वसूली का कार्य प्राय. कम्पनी के गुमाश्तो तथा कर्मचारियो द्वारा किया जाता था। वे बडी कठोरता से किसानो से उचित या अनुचित तरीको द्वारा लगान वसूल करते थे। उन्होने कृषको की दशा सुधारने अथवा तत्कालीन सिंचाई व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किए। कर वसूली के सम्बन्ध मे स्वय क्लाइव का यह विचार था, "हमे जो कुछ आज मिल

सकता है, वह हम अवश्य ले, आने वाला कल स्वय अपना ध्यान रखेगा।"[" Let us get what we can today, let tomorrow take care for itself"] इस नीति के परिणामस्वरूप ही सन् 1770 ई मे बगाल मे भयकर अकाल पडा, जिससे वहा की एक तिहाई जनसख्या समाप्त हो गयी।

इसके पश्चात् सन् 1777 तथा 1781 ई मे भूमि सम्बन्धी व्यवस्था मे कई सशोधन किये गये, परन्तु लगान व मालगुजारी की रकमो मे निरतर वृद्धि होने के कारण बगाल, बिहार तथा उडीसा मे कृषि व किसानो की स्थिति और अधिक शोचनीय होती गयी। सन् 1772 ई के बाद वारेन हेस्टिग्ज के काल मे पाच-वर्षीय भूमि कर निर्धारण व्यवस्था के स्थान पर एक-वर्षीय व्यवस्था चालू की गयी जो देश के कृषि-विकास के लिए घातक सिद्ध हुई।

सन 1784 मे पिट्स इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत कम्पनी का प्रशासन सीधे ब्राउन के नियन्त्रण मे ले लिया गया तथा लॉर्ड कार्नवालिस को भारत का गर्वनर जनरल बना कर भेजा गया। काफी समय तक विचार-विमर्श करने के पश्चात् सन् 1793 मे लार्ड कार्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त की घोषणा की।

भूमि का स्थायी बन्दोबस्त या जमींदारी प्रथा

सन् 1793 मे लार्ड कार्नवालिस ने इस प्रथा को सर्वप्रथम बगाल, बिहार व उडीसा म लागू किया। किन्तु बाद मे चलकर इसे देश के अन्य भागो, जैसे—यू पी के पूर्वी भाग, बनारस, उत्तर तथा दक्षिण मद्रास मे भी लागू किया गया। इसके अन्तर्गत पहले के कर एकत्र करने वाले व्यक्तियो व राजस्व-कलेक्टरो को भूमि मे निजी सम्पत्ति के अधिकार देकर भू-स्वामी बना दिया गया। ये अधिकार उन्हे स्थायी तौर पर दिये गये।

ऐसा अनुमान है कि सन् 1973 ई मे केवल बगाल से ही 30,91,000 पौंड मालगुजारी के रूप मे वसूल किये गये। इस प्रथा के अतर्गत विभिन्न क्षेत्रो मे लगान की दरें भिन्न-भिन्न थी। मद्रास म स्थायी बन्दोबस्त के काल मे मालगुजारी उपज के $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{3}$ भाग के बराबर निर्धारित की जाती थी, जिसे बाजार भाव मे रुपयो मे बदल कर सरकारी खजाने मे जमा करना पडता था। मालगुजारी निर्धारित करते समय कुल उपज मे से उत्पादन व्यय घटा दिया जाता था। प्रत्येक जमीदार को अपने क्षेत्र मे भूमि-सुधार तथा सिचाई की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। सन् 1799 मे बकाया वसूल करने के लिए जमीदार को विशेष रूप से कानूनी अधिकार प्रदान किये गये, जिसमे लगान न देने वाले काश्तकार के माल की कुर्की की व्यवस्था थी।

इन कानूनी अधिकारों से जमीदारो की स्थिति बहुत सुदृढ हो गयी। उन्होने काश्तकारो को बर्बाद कर डाला जिससे कृषिगत अर्थ-व्यवस्था का ह्रास हुआ। इस व्यवस्था से सरकारी आय मे भी, भविष्य मे कोई वृद्धि नही हुई तथा सरकारी आय न्यूनतम स्तर पर रुक गयी। जमीदारो ने भूमि-सुधार की दिशा मे भी कोई उत्साह

नही दिखाया तथा ऊँची दर से लगान लेना प्रारंभ कर दिया। यह व्यवस्था अवैज्ञानिक भूमि व्यवस्था थी जिसके कारण सम्पूर्ण सामाजिक वातावरण दूषित हो गया।

उपर्युक्त दोषों से यह स्पष्ट है कि स्थायी बन्दोबस्त एक सफल प्रणाली नही रही तथा इसी कारण समय-समय पर कृषि-सुधार पर विचार करने वाले आयोगों [कृषि कमीशन (1928), लैंड रैवेन्यू कमीशन, बंगाल (1940) तथा (वुडहेड कमीशन (1943, 1945) ने इसके उन्मूलन की सिफारिश की थी, यहाँ तक कि 19वीं शताब्दी में ही जब इस व्यवस्था को भारत के अन्य भागों में लागू करने के प्रश्न पर विचार किया गया था, तब सन् 1821 ई० में कम्पनी के संचालक मण्डल (Board of Directors) ने इसका विरोध किया था। सन् 1883 ई० में भी भारत सचिव (Secretary of State for India) ने वाइसराय (Viceroy) को अन्तिम रूप से यह आदेश दिया कि इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाय।

अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Land Settlement)

जिन स्थानों पर भूमि का स्थायी बन्दोबस्त नहीं किया जा सका, वहाँ अस्थायी बन्दोबस्त का तरीका अपनाया गया। इस व्यवस्था के पीछे सरकार का दृष्टिकोण यह था कि भू-राजस्व की आय को लोचदार बनाया जाय और निश्चित अवधि के बाद इसमें वृद्धि कर दी जाय। इसका परिणाम यह होता था कि भूमि-सुधार आदि के कारण जमींदारों का लगान बढ़ने पर सरकारी आय भी बढ़ जाती थी।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत भी जमींदार लोग अनुपस्थित भू-स्वामित्व का अधिकार ही रखते थे। वे स्वयं खेती नहीं करते थे। वे किसानों को भूमि लगान पर उठा देते थे तथा प्राप्त लगान में से अपना हिस्सा रख कर शेष सरकार को दे देते थे। यह प्रथा बंगाल उत्तरी मद्रास, यू० पी० व बनारस को छोड़ कर देश के अन्य भागों में लागू की गई। रैयतवाड़ी तथा महालवाड़ी भूमि व्यवस्थायें भी अस्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत ही आती थीं।

इस प्रथा में भी जमींदारी प्रथा के दोष, जैसे-किसानों का शोषण, अति लगान, अनुपस्थित भूमि स्वामित्व, किसानों की बेदखली आदि पाये गये। इस पद्धति के अन्तर्गत बटाई प्रथा व शिकमी काश्तकारी की प्रथा भी पाई जाती थी।

रैयतवाड़ी प्रथा (Ryotwari System)

रैयतवाड़ी प्रथा की नींव सर टामस मुनरो ने सन् 1792 में मद्रास में डाली थी। सन् 1798 में भूमि की यह व्यवस्था सम्पूर्ण मद्रास-क्षेत्र में स्थापित कर दी गयी। बाद में चलकर यह प्रथा बम्बई एवं उत्तरी भारत के ब्रिटिश क्षेत्रों में भी लागू कर दी गई। इस प्रथा के अन्तर्गत राज्य व रैयत के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध

स्थापित किया गया तथा किसान ही भूमि का स्वामी होता था। स्थानीय राजकीय कर्मचारी प्रत्येक काश्तकार की भूमि का पूर्ण ब्यौरा रखता है तथा राज्य द्वारा घोषित दरों के आधार पर कृषक को राजस्व जमा कराना होता है। मालगुजारी की दरें 20 से 30 वर्षों के लिए निश्चित कर दी गयी तत्पश्चात् इनमें संशोधन कर दिया गया।

मालगुजारी प्रायः उपज के ½ भाग के बराबर निर्धारित की जाती थी, जिसे रुपयों में अदा करना पड़ता था 1855 ई में भूमि की पैमायश करा कर 30 वर्षीय बन्दोबस्त की व्यवस्था की गयी, तथा मालगुजारी शुद्ध उपज के ½ भाग के बराबर निश्चित की गयी। बम्बई में भी सन् 1835 ई में भूमि की पैमायश कराकर भूमि को किस्म के आधार पर 9 वर्गों में बाट दिया गया तथा उनकी श्रेष्ठता के आधार पर मालगुजारी निश्चित की गयी। सन् 1839 ई में बम्बई लैंड रेवेन्यू कोड (Bombay Land Revenue Code) का निर्माण किया गया जिसके अनुसार मालगुजारी भूमि के प्रयोग करने के उद्देश्यों के आधार पर निर्धारित की जाने लगी।

इस व्यवस्था द्वारा भूमि का प्रबन्ध किये जाने के पश्चात् गावों की सामूहिक एकता समाप्त हो गई। भूमिधर किसान अथवा रैयत में जमींदारी की भावना आ गई तथा स्वयं खेती न करके अपने नीचे बहुत से शिकमी काश्तकार रखने लगा। इस प्रथा के अन्तर्गत भूमि कर निर्धारित करने का उत्तरदायित्व भूमि अधिकारियों (Land Revenue officers) को सौंप दिया गया था। ये अफसर किसानों को तंग करते थे, तथा कर वसूली में कठोर उपायों को भी अपनाते थे। इस प्रकार की बुराइयों को देखकर स्वयं सर टॉमस मुनरो ने जो किसी समय रैयतवाड़ी प्रथा का समर्थक था, इसके परित्याग की सिफारिश की।

महलवाड़ी प्रथा (Mahalwari System) :

जमींदारी तथा रैयतवाड़ी प्रथाओं के दोषों को दूर करने तथा उनके उत्तम पक्षों को मिला कर महलवाड़ी प्रथा चालू की गयी। उत्तर प्रांत, पंजाब तथा मध्य प्रान्त के कुछ क्षेत्रों में भूमि व्यवस्था महलवाड़ी प्रथा के अनुसार की गयी। सन् 1833 ई के रेगुलेशन एक्ट (Regulation Act–1833) के अनुसार सर्वप्रथम आगरा व अवध में लागू किया गया था।

इस प्रथा के अन्तर्गत किसी क्षेत्र को महालों या गावों में बाट दिया जाता था। प्रत्येक महाल की कृषि भूमि पर या तो उस महाल के समस्त कृषकों का संयुक्त अधिकार होता था या किसी व्यक्ति विशेष का अथवा कई व्यक्तियों का संयुक्त अधिकार होता था। किसान का भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व, पैतृक व अपैतृक अधिकार रहता था। जिनका भूमि पर पैतृक स्वामित्व नहीं था उनको

भूमि का पारस्परिक सद्भावना के आधार पर समझौते के द्वारा बटवारा किया जाता था।

अतः इसमे सरकार का सम्बन्ध व्यक्तिगत भूमिधर किसानो से न होकर सबके लिए किसी एक व्यक्ति अथवा समुदाय से होता था। यह व्यक्ति अथवा समुदाय ही सरकार को सबकी तरफ से भूमि-लगान चुकाने के लिए उत्तरदायी माना जाता था। इसके अन्तर्गत भी सरकार ने कृषि के विकास मे प्रत्यक्ष रूप से भाग नही लिया।

ग्राम प्रणाली (Village System)

पंजाब मे भूमि व्यवस्था 'ग्राम प्रणाली' के आधार पर प्रारम्भ की गयी। इस प्रथा के अन्तर्गत भूमि पर निजी स्वामित्व का अधिकार प्रदान किया। मालगुजारी की रकम गाव के मुखिया या सरकार के प्रतिनिधि द्वारा वसूल की जाती थी। सम्पूर्ण ग्राम समाज के लिए वार्षिक मालगुजारी की रकम सरकार द्वारा निर्धारित कर दी जाती थी। पजाब मे यह प्रणाली आशिक रूप मे चालू रही इसके दो कारण थे —

(1) पजाब अग्रेजी राज्य मे अन्त मे सम्मिलित किया गया था, अतः नयी भूमि-व्यवस्था द्वारा वहा की परम्परागत सामाजिक व्यवस्था को पूर्णतया समाप्त नही किया गया।

(2) चूकि पजाब पर कुछ समय पूर्व ही विजय प्राप्त की गई थी तथा वहा के लोगो मे युद्धीय जोश समाप्त नही हुआ था, इसलिए विदेशी शासको ने ग्राम समाज के प्रति उनकी भावनाओ को बनाये रखने का ही प्रयास किया।

अन्त मे हम यह कह सकते है कि 19वी शताब्दी मे विदेशी प्रशासको ने जिन भूमि व्यवस्थाओ को लागू किया उनसे भारतीय कृषि मे कोई सुधार नही हुआ। भूमिपति या रैयत राज्य-कर के भार से इतना दबा रहता था कि वह भूमि-सुधारो के सम्बन्ध मे विचार भी नही करता था। साथ ही भूमिधर रैयत तथा जमीदार स्वय भूमि पर काश्त या खेती नही करते थे। उनका स्वार्थ एव हित कृषको से प्राप्त होने वाले लगान तक सीमित था। वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसानो पर घोर अत्याचार करते थे तथा उनका शोषण करते थे। जब कभी जमीदार या सरकार द्वारा (रैयतवाडी क्षेत्रो मे) लगान की दरो मे वृद्धि की जाती तो ये मध्यस्थ भी उसी या उससे ज्यादा अनुपात मे अपने हिस्से की माग करते और फलस्वरूप वास्तविक जोतने वाले पर लगान का भार बढता चला गया। डा वी. वी भट्ट द्वारा प्रस्तुत अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका इस तथ्य की पुष्टि करती है।[1]

1 V. V. Bhatt Aspects of Economic Change and Policy in India, Chapter 2 England's Debt to India by Lajpatrai edited by B M Bhatia.

19वीं शताब्दी मे भू-राजस्व

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	भू राजस्व	करो से प्राप्त कुल आय	1 का 2 से प्रतिशत
1867–68	20 3	33 7	60 2
1877–78	20 0	34 9	57 3
1895	26 2	56 5	46 4

कुल मिलाकर कृषक को शुद्ध उपज के 60% से 100% तक लगान के रूप मे देना होता था। इस सदर्भ म रमेश दत्त ने यह लिखा है कि "कृषि से प्राप्त लाभ का 50% लिया जाना किसी भी सभ्य सरकार के द्वारा शासित अन्य देश के भू राजस्व से कही अधिक भारपूर्ण है।[1]

कर भार बढने के अलावा भूमि सुधार के कार्यक्रमो के न अपनाने व किसानों की कठिनाइयो की ओर कोई ध्यान न देने के कारण अधिकाश कृषक खेतिहर श्रमिक मात्र रह गय और भारतीय कृषि की दशा निरन्तर गिरती चली गयी। अधिक कर देने के कारण कृषक वर्ग मे व्यापक निर्धनता थी जिस कारण उनकी कार्य कुशलता कम हो गयी तथा भूमि से अधिक पैदावार प्राप्त करने की उनकी इच्छा मर गयी। ब्रिटिश सरकार का केवल भूमि से अधिक से अधिक आय प्राप्त करना का ध्येय रहा। इसका प्रमाण तो इसी तथ्य म मिलता है कि सन् 1870 से 1880 के बीच 230 करोड रुपय से अधिक भू राजस्व के रूप मे वसूल किये गये, परन्तु सिचाई के साधनो के विकास पर राज्य ने इस अवधि मे केवल 25 करोड रुपये खर्च किए। यही सब भारतीय कृषि के विकास मे गतिरोध लाने को पर्याप्त था। वास्तविक बात तो यह थी कि अग्रज अधिकारी सिचाई अथवा कृषि व्यवस्था के अन्य सुधारो को पैसे की बरबादी मानते थ।[2]

उन्नीसवी शताब्दी मे कृषि विकास की विशेषतायें—सन् 1857 ई के पूर्व भूमि व्यवस्थाओ मे अनेक परिवर्तन किय गय थ। रैयतवाडी व्यवस्था का विस्तार किया गया था तथा लाड विलियम बेटिंग द्वारा सन् 1833 ई मे अवध व आगरा मे महालवारी प्रथा लागू की गई थी। कृषक वग उस समय काफी सम्पन्न था। देश

1 Ramesh Dutt Indian Economic History of India Vol I Chapter 12 & 13
2 Ramesh Dutt The Eco History of India, vol II p 263.

के खाद्यान्नों तथा अन्य व्यापारिक फसलों के निर्यात में अधिक वृद्धि की गई। सन् 1875 ई. में भारतीय सिपाहियों के विप्लव (Sepay Mutiny) के बाद जब ब्रिटिश सरकार ने इस देश की शासन की डोर अपने हाथों में ले ली। तदोपरान्त सरकार ने आन्तरिक शान्ति को बनाये रखने तथा आन्तरिक क्षेत्रों में बचा माल बन्दरगाहों तक पहुँचाने के लिए देश में सड़कों तथा रेलों का तेजी से विकास किया। इससे इंग्लैंड को निर्मित वस्तुओं को आन्तरिक भागों में पहुँचाने में सुविधा हुई। कृषि की स्थिति भी दिन-प्रतिदिन बिगड़ती गयी। जिसके परिणामस्वरूप निम्न विशेषतायें देखने को मिलती थी—

(1) भारत इंग्लैंड का एक कृषि-प्रधान उपनिवेश होना—इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति होने के पश्चात् वहां के निर्मित माल की खपत तथा कच्चे माल तथा औद्योगिक श्रमिकों के लिए खाद्यान्नों की पूर्ति करने वाला देश भारत ही था। रेलों व सड़क के निर्माण ने इन उद्देश्यों की प्राप्ति में और भी सहयोग प्रदान किया, जिससे यह देश 19वीं शताब्दी के अन्त तक इंग्लैंड पर पूर्ण रूप से परावलम्बी बन गया।

(2) भीषण दुर्भिक्ष—देश से खाद्यान्नों का निर्यात होने से अन्न की कमी हो गई। सन् 1800 ई० से लेकर सन् 1900 ई० तक नियमित रूप से अकाल पड़ते रहे, जिनके परिणामस्वरूप इन सौ वर्षों में 2 करोड़ 14 लाख व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। 19वीं शताब्दी के अन्त में 80 प्रतिशत जनसंख्या अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर थी। कृषि की समृद्धि पर ही लोगों का सुख तथा उनकी समृद्धि निर्भर थी और फसलों के नष्ट हो जाने पर देश में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी।

(3) कृषि श्रमिक वर्ग का प्रादुर्भाव—19वीं शताब्दी में जिन भूमि-व्यवस्थाओं को लागू किया गया उनके अन्तर्गत भूमि-कर वसूली की व्यवस्थायें इतनी कठोर थी कि किसानों को भूमि पर अपना अधिकार बनाये रखना कठिन हो गया। जमींदारों अथवा गुमाश्तों के अत्याचारों से बचने के लिए वे अपना खेत छोड़कर दूसरे की भूमि पर काम करने लगे। इस प्रकार एक ऐसे कृषि श्रमिक वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जो अनुपस्थित जमींदारों, व्यापारियों तथा महाजनों द्वारा शोषित किया जाने लगा।

(4) न्यायिक व्यवस्था का प्रारम्भ—नवीन भूमि-व्यवस्थाओं तथा भू-करों की नवीन प्रणालियों के प्रचलन में आने के बाद जमींदारों के अधिकारों को सुरक्षित बनाने तथा रैयत या किसानों से एक निश्चित रकम भू-कर के रूप में वसूल करने के लिए कानूनी अदालतों, अदालती फीस, न्यायिक जांच, कुर्की आदि की व्यवस्थायें चालू की गयी।

(5) कृषकों की ऋण-ग्रस्तता—नवीन भूमि-कर व्यवस्थाओं के अन्तर्गत लगान या मालगुजारी जिस कठोरता से वसूल की जाती थी, किसानों के पास उससे बचने

का एकमात्र उपाय महाजनों या साहूकारो से ऋण लेना था। साथ ही गतशताब्दी मे अकाल पड़ने के कारण किसानो की आर्थिक स्थिति और भी अधिक दयनीय हो गई थी। कर भार की निरंतर वृद्धि से किसानो की ऋण-ग्रस्तता भी बढ़ती गयी।

(6) **सरकारी नीति**—ब्रिटिश सरकार की नीति भूमि-कर के रूप मे अधिक से अधिक आय प्राप्त करती थी। कृषि सुधार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। भूमि बेचने, रहन रखने तथा हस्तान्तरित करने के नवीन अधिकारो के प्रदान किए जाने से भूमि का विभाजन और अपखण्डन इस सीमा तक हो गया कि जोत की इकाइया अनार्थिक हो गई। राज्य और भू-स्वामियो तथा कृषको के बीच मध्यस्थो की एक ऐसी लम्बी कड़ी कार्यशील हो गयी, जिससे किसानो का शोषण अधिक होने लगा।

प्रश्न

1. "विनाश की प्रक्रिया जो विदेशी शासन की स्थापना के साथ शुरू हुई और जिसे विदेशी प्रभाव की शक्ति ने सहायता दी, वह अन्ततोगत्वा भारत मे आर्थिक गतिहीनता या जड़ता मे परिणत हुई।" इस कथन की भारत मे उन्नीसवी शताब्दी की ब्रिटिश नीति के सन्दर्भ मे पुष्टि करें।

(राज प्रथम वर्ष टी डी. सी, 1971)

2

घरेलू उद्योगों का पतन

(Decline of Indigenous Industries)

"At a time when the West of Europe, the birth place of the modern industrial system was inhabited by uncivilized tribes, India was famous for the wealth of her rulers and for the high artistic skill of her craftsmen."

—Industrial Commission, 1918

ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति, जो अठारहवी शताब्दी के मध्य मे शुरू हो गई थी, ने सिर्फ ब्रिटेन मे ही छोटे उद्योगो तथा श्रमिको का ही शोषण नही किया, बल्कि भारतीय अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित किया। इस औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव भारत मे उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक पूर्ण रूप से छा गये, जिससे देश का प्राचीन औद्योगिक ढांचा गिर कर अपना प्राचीन वैभव एव कीर्ति खो बैठा। जैसा कि औद्योगिक कमीशन 1918 की रिपोर्ट मे कहा गया है—"उस समय जबकि पश्चिमी यूरोप मे, जो कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्म स्थान है, असभ्य लोग निवास करते थे, भारत अपने शासको की अपार सम्पत्ति तथा अपने शिल्पकारो की कलात्मक कार्य कुशलता के लिए प्रसिद्ध था।" इस विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही भारत मे कृषि के साथ-साथ उद्योगो का भी विकास किया गया, लेकिन बडे-बडे उद्योगो का हमेशा से ही अभाव रहा। परन्तु आत्म-निर्भर ग्राम समाज ने जिस प्रकार की अर्थव्यवस्था का विकास प्राचीन काल से किया था, उसमे घरेलू उद्योगो का ही विशेष महत्व था। इन उद्योगो के छोटे होने के बावजूद भी, "भारत एशिया की कृषि रूपी जननी, मानव सभ्यता का औद्योगिक कारखाना तथा विश्व व्यापार की धुरी था।"[1]

1. India was the agricultural mother of Asia, the industrial workshop of civilization and the hub of world's commerce.

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि "भारतीय उद्योग केवल स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं करते थे, बल्कि अपनी निर्मित वस्तुएं विदेशों को भी भेजते थे।"[1] वस्तुत: पश्चिम में औद्योगिक क्रान्ति के शताब्दियों पूर्व, भारतीय समाज अत्यधिक समृद्धिशाली था। भारत में निर्मित कलात्मक वस्तुएं विश्व में अद्वितीय मानी जाती थीं। भारत विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का सबसे बड़ा उत्पादक तथा निर्माता था। यहां की ढाका की मलमल विश्व-विख्यात थी, लोहे के उद्योग का भी समुचित विकास हो चुका था तथा अनेक वस्तुएं, जैसे–सूती तथा रेशमी वस्त्र, शाल दुशालें, चन्दन की बनी वस्तुएं, कागज, जूते, बरतन, चमड़ा, चीनी, नील, उम्बाकू, रंग, नमक, चाय, सोना, तांबा, कोयला, लकड़ी, अफीम तथा विलासिता की वस्तुएं भारत से विदेशों को भेजी जाती थीं। विदेशी व्यापार अधिक विकसित होने के कारण सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मुगल शासकों का ऐश्वर्य अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। भारत की समृद्धि ने ही विदेशी व्यापारियों को यहां के व्यापार से लाभ उठाने के लिए आकृष्ट किया था। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी अंग्रेज व्यापारियों की एक ऐसी संगठित संस्था थी जिसका लाभकारी व्यापार भारत की मखमल, छींट, कसीदे और कढ़ाई के काम की वस्तुओं, हीरे-जवाहरात तथा ऊनी और रेशमी कपड़ों पर आधारित था।

प्राचीन भारत में हिन्दू शासकों के काल तक तो भारतीय उद्योग गांवों में ही पनपते तथा विकसित होते रहे, यद्यपि उस समय भी नगरों (धार्मिक स्थानों तथा राजधानियों) में कुछ उद्योग धन्धे स्थापित किये गये थे। परन्तु मध्यकाल, विशेषकर मुगल शासन-काल में अधिकांश उद्योग-धन्धे नगरों में ही केन्द्रित होने लगे थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि मुगल शासकों द्वारा ग्राम समाज की व्यवस्था में हस्तक्षेप किये जाने तथा कृषि पर ऊंची हुई मालगुजारी से परेशान होकर शिल्पकारों ने नगरों में बसना प्रारम्भ कर दिया था। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गांवों के उद्योग-धन्धों की अपेक्षा नगरों के उद्योग धन्धे अधिक व्यवस्थित थे। इन उद्योग धन्धों के द्वारा अधिकतर नगर में रहने वाले धनी व्यक्तियों तथा राज्य दरबार के कुलीनवंशी सामन्तों तथा नवाबों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए वस्तुएं निर्मित की जाती थीं। उस समय हाथ से बुने हुए सूती कपड़े का उद्योग ही मुख्य उद्योग था। आर. सी. दत्त का कथन है कि '**बुनाई का काम जनता का राष्ट्रीय उद्योग था और कताई का काम लाखों स्त्रियां करती थीं।**"

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय उद्योगों में सूती कपड़ों का उद्योग अधिक विकसित एवं विस्तृत था। इसके केन्द्र ढाका, लखनऊ, अहमदाबाद,

1. Ranade, Essay on Indian Economics, p. 171

नागपुर, मथुरा आदि थे। इन उद्योगों के अतिरिक्त काश्मीर तथा पजाब ऊनी दुशालों के लिए बनारस, नासिक, पूना, अहमदाबाद, विशाखापट्टनम तथा तंजौर पीतल, तांबे तथा अन्य धातुओं की वस्तुओं के लिए, पजाब तथा सिन्ध ढाल-तलवार के लिए तथा राजपूताना के कई नगर पत्थर की खुदाई, मीनाकारी आदि के लिए प्रसिद्ध थे।

भारतीय उद्योगों की क्रमिक अवनति

भारतीय उद्योगों की अवनति सन् 1757 ई० से ही प्रारम्भ हो गई थी, जबकि प्लासी के युद्ध के पश्चात् ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बगाल, बिहार तथा उड़ीसा में मुक्त व्यापार करने की छूट प्रदान की गई थी। अपने शासन काल के प्रारम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय व्यापारियों को अधिक मूल्य देकर औद्योगिक केन्द्रों से माल खरीदने का प्रमविदा किया। इस व्यवस्था को चालू करने का उसका एकमात्र उद्देश्य भारतीय व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करना था। वह अपने प्रतिस्पर्द्धी विदेशी व्यापारियों, फ्रांसिसी तथा डच कम्पनियों को भारतीय व्यापार को किसी प्रकार पनपने का अवसर नहीं देना चाहती थी। इस प्रकार भारतीय वस्तुओं की माग पर एक बार एकाधिकार प्राप्त कर लेने के बाद कम्पनी ने उनकी मात्रा किस्मो, मूल्यो आदि को अपने पक्ष मे नियन्त्रित करना प्रारभ कर दिया। परिणामस्वरूप भारतीय व्यापारियो की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई। वे कम्पनी की माग तथा उसके द्वारा निर्धारित मूल्य पर आश्रित हो गये। इससे उनका लाभ कम होने लगा तथा बुनकरो को कम पारिश्रमिक मिलने लगा। व्यापारी अपना स्वतन्त्र व्यापार छोड कर कम्पनी के वेतन भोगी गुमाश्तो के रूप मे काम करने लगे और बुनकरों का अधिक शोषण करने लगे। वे उत्पादकों से कम से कम मूल्य पर वस्तुए खरीदते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे देश का सूती वस्त्र उद्योग नष्ट हो गया।

कम्पनी ने भारतीय उत्पादकों को कम से कम मूल्य देकर उनसे अधिक से अधिक निर्मित वस्तुए प्राप्त करने की नीति अपनाई थी। धीरे धीरे कम्पनी ने जब सम्पूर्ण भारत पर अधिकार कर लिया तब यह नीति सभी भारतीय उद्योगो के सम्बन्ध मे लागू की गई। बगाल में कम्पनी ने सूती तथा रेशमी कपडों का अधिक से अधिक निर्यात करने के लिए स्वय अपनी फैक्टरियां स्थापित की।[1] भारतीय कारीगरो को इन फैक्टरियो मे काम करने के लिए बाध्य किया गया। इतना ही नहीं उन्हे उस समय तक फैक्टरी से बाहर जाने नहीं दिया जाता था जब तक कि वह एक निर्धारित मात्रा मे काम पूरा नहीं कर लेते थे। अन्य स्थानो पर नियुक्त व्यापारिक रेजीडेन्टों (Commercial Residents) को ये आदेश दिये गये कि गावों मे रहने वाले कारीगरों

1 Quoted by *Karl Marx* Capital A Critical Analysis of Capitalist Production" Vol I, P 432

को बिना उपयुक्त भुगतान किये अधिक से अधिक माल का उत्पादन कराया जाय। इस प्रकार कारीगरों की स्थिति कम्पनी के दासों की तरह थी। इस नीति का इतनी कठोरता से पालन किया गया कि बहुत से कारीगर अपना पैतृक व्यवसाय छोड़ कर गावों मे जाकर खेती करने लगे। सन् 1834-35 ई० मे कम्पनी के गवर्नर जनरल ने अपनी एक रिपोर्ट मे लिखा था, "वाणिज्य के इतिहास मे ऐसी दयनीय स्थिति का अन्य कोई दृष्टान्त शायद ही मिले। भारतीय भूमि सूती वस्त्रों के बुनकरों की हड्डियों से सफेद नजर आती है।"[1]

इस प्रकार धीरे-धीरे भारतीय व्यापार तथा उत्पादन-व्यवस्था पर कम्पनी का नियन्त्रण और अधिकार बढ़ता गया। परन्तु 18वीं शताब्दी के अन्त तथा 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे जब इगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप वहा वस्त्र-उद्योग बड़े पैमाने पर स्थापित किया गया, तब से भारत को एक निर्यातक देश (exporter) के स्थान पर आयातक देश (importer) बनाने के प्रयत्न किये जाने लगे। इस दिशा मे सबसे पहले सन् 1813 ई० मे चार्टर अधिनियम के अन्तर्गत ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत से व्यापार करने का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया, क्योंकि अब इग्लैंड के उद्योगपति अपने उद्योगो का निर्मित माल भारत जैसे उपनिवेश में बेचकर ही ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाना चाहते थे। इसके लिए दूसरा उपाय यह किया गया कि वहा की सरकार ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपना कर उद्योगपतियों को भारत को अधिक से अधिक निर्मित माल निर्यात करने की छूट दे दी तथा दूसरी तरफ तटकर (टैरिफ) नीति द्वारा अपने देश के उद्योगो को सरक्षण प्रदान करने के लिए भारतीय निर्मित वस्तुओ के आयात को कम कर दिया। परिणामस्वरूप सन् 1814 ई० से सन् 1835 ई० तक भारत मे ब्रिटिश निर्मित सूती वस्त्रो के आयात मे 50 गुने से अधिक वृद्धि हुई (एक मिलियन गज से बढ कर 51 मि गज हो गई), जबकि भारतीय निर्मित सूती वस्त्रो का निर्यात निरन्तर कम होता गया (सन् 1814 ई० मे 1½ मि थान, सन् 1844 ई० मे 63,000 थान तथा सन् 1850 ई० मे सम्पूर्ण ब्रिटिश निर्यात का 1¼ भाग)।

इस अवधि मे सन् 1833 मे एक चार्टर अधिनियम के द्वारा कम्पनी की समस्त व्यापारिक क्रियायें समाप्त कर दी गयी और इग्लैंड के पूंजीपतियों को भारत में अपनी पूंजी विनियोजित करने का अधिकार प्रदान किया गया। इस विशेषाधिकार के फलस्वरूप वहा के पूंजीपतियों ने यहा अपनी फैक्टरियाँ स्थापित की तथा अन्य उपक्रमो मे प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया। विदेशी पूंजी के प्रवेश

---

1. "*The misery hardly finds a parallel in the history of commerce. The bones of the cotton-weavers are bleaching the plains of India.*"

से तथा व्यापार पर ब्रिटिश व्यापारियों का एकाधिकार होने के कारण भारतीय प्राचीन उद्योग धन्धे नष्ट होने लगे।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारतीय उद्योग धीरे-धीरे अवनति की स्थिति में थे। इन उद्योगों की स्थिति के विषय में **मॉन्टगोमरी मार्टिन** (Montgomery Martin) ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था, "सूरत, ढाका, मुर्शिदाबाद तथा अन्य स्थानों का, जहा भारतीय वस्तुए निर्मित की जाती थीं, विनाश एक ऐसी कष्टप्रद वास्तविकता है, जिसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता।"[1] इसी सन्दर्भ में सन् 1880 ई. में सर हेनरी कॉटन ने कहा था, "सन् 1787 ई में भारत से इंगलैंड को 30 लाख रुपये मूल्य की ढाका मलमल का निर्यात किया गया था, सन् 1817 ई में उसका निर्यात पूर्णतया बन्द हो गया — वे कुटुम्ब, जो (इस उद्योग के कारण) समृद्धिशाली थे, नगरों को छोड़ने के लिए विवश हो गये तथा जीविकोपार्जन के लिए गावों में आश्रय लेने लगे" इस प्रकार की विनाश की स्थिति केवल ढाका में ही नहीं वल्कि सभी जिलों में उत्पन्न हो गयी थी।"[2]

भारतीय घरेलू उद्योगों की अवनति के कारण

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय घरेलू उद्योगों की अवनति के निम्नलिखित मुख्य कारण थे।

(1) मुगल साम्राज्य के अन्तिम काल में गृह-कलह तथा आन्तरिक अशांति औरंगजेब की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारियों में पारस्परिक कलह और युद्ध होने के कारण केन्द्रीय राज्य-सत्ता बराबर कमजोर होती गयी। जागीरदारों, नवाबों और सामन्तों में भी फूट पड़ गयी। परिणामस्वरूप देश की राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। ऐसी स्थिति में घरेलू उद्योगों का समुचित विकास नहीं किया जा सका।

(2) राज दरबारों के संरक्षण का अभाव देश में व्यापक राजनैतिक अशान्ति होने के कारण, कारखानों तथा गावों में काम करने वाले कारीगरों की निर्मित वस्तुओं की माग कम हो गयी। राज-दरबार, सामन्तों, नवाबों आदि से

1 "The decay and destruction of Surat, of Dacca of Murshidabad and other places where native manufactures have been carried on, is too painful a fact to dwell upon"

Murray, Hugh "History of British India" p. 16

2. "In 1787 the exports of Dacca muslin to England amounted to Rs. 30 lakhs of rupees, in 1817 they had ceased altogether. Families which were formerly in a state of affluence have been driven to desert the towns and betake themselves to villages for a livelihood. This decadence had occurred not in Dacca only, but in all districts." Ibid, p 16

उनको कोई सुरक्षा एवं संरक्षण नहीं मिला जिससे सूती व रेशमी कपड़ों के उद्योग की स्थिति बहुत ही खराब हो गयी।

(3) ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति. मुगल शासन के कमजोर होते ही कम्पनी का राजनैतिक प्रभाव बढ़ने लगा। कम्पनी ने जिस कठोरता से कारीगरों से अधिकाधिक काम लेकर कम से कम मजदूरी देने अथवा अधिकतम माल को न्यूनतम मूल्य पर खरीदने की नीति अपनायी, उससे कारीगरों से काम करने का उत्साह समाप्त हो गया। फलस्वरूप घरेलू उद्योग धीरे-धीरे समाप्त होने लगे।

(4) देशी व्यापारियों का घटता हुआ प्रभाव. कम्पनी सरकार स्थापित होने के पहले अंग्रेज व्यापारियों को निर्मित माल बेचने का काम देशी व्यापारी या व्यापारिक संघ किया करते थे। परन्तु कम्पनी सरकार की बढ़ती हुई राजनैतिक शक्ति ने न केवल अपने शासन का विस्तार किया, बल्कि देश के आन्तरिक तथा विदेशी, दोनों ही व्यापारों पर एकाधिकार प्राप्त करने की नीति अपनायी। व्यापारिक रेजीडेन्टों, गुमाश्तों तथा अन्य कई प्रकार के मध्यस्थों को कम्पनी के लिए देश के आन्तरिक भागों से निर्मित माल एकत्र करने का विशेषाधिकार देकर देशी व्यापारियों को धीरे धीरे समाप्त कर दिया गया। आन्तरिक देशीय बैंकिंग, व्यापारिक आदि व्यवस्थाओं के छिन्न भिन्न होने से घरेलू उद्योगों की कच्चे माल की पूर्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा निर्मित वस्तुओं की विक्रय-व्यवस्था पूरी नहीं की जा सकी। इन सबके परिणामस्वरूप उद्योगों को चलाना कठिन हो गया।

(5) औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव. इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति की सफलता भारतीय घरेलू उद्योगों की विफलता एवं अवनति पर निर्भर थी। ब्रिटिश सरकार ने अपने देश ग्रेट-ब्रिटेन में नवजात उद्योगों को एक ओर तो भारतीय वस्तुओं के आयात पर 20 से 80 प्रतिशत तक आयात कर लगाकर संरक्षण प्रदान किया जिससे भारतीय निर्मित वस्तुओं का वहां आयात धीरे-धीरे कम या बिल्कुल ही समाप्त कर दिया गया। दूसरी तरफ भारत में स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपना कर ब्रिटिश उद्योगों की निर्मित वस्तुओं से देशी बाजारों को भर दिया गया। मशीन-निर्मित वस्तुएं हाथों से बनी वस्तुओं से कहीं अधिक सस्ती थीं। परिणामस्वरूप देश में विदेशी वस्तुओं की खपत अधिक होने लगी। देशी वस्तुओं की मांग कम हो जाने पर घरेलू उद्योगों को बनाये रखना कठिन हो गया।

(6) विदेशी सरकार की व्यापार नीति. इंगलैंड ने अपने व्यापार के विकास के लिए तो स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनायी, परन्तु भारत को इसे अपनाने की छूट प्रदान नहीं की। औद्योगिक क्रान्ति की सफलता के लिए भारतीय बाजारों में ब्रिटिश सूती वस्त्रों को लेने के लिए व्यापारियों तथा उपभोक्ताओं को बाध्य होना

पड़ा, क्योंकि इंगलैंड में बना सूती माल शुल्क-मुक्त था। सूती वस्त्र पर केवल $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत शुल्क ही था, जबकि भारतीय वस्तुओं पर इतना अधिक शुल्क लगाया गया कि वे वस्तुएं विदेशी वस्तुओं की स्पर्द्धा में टिक न सकीं। इसके साथ ही इंगलैण्ड को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर वहां 40 से 60 प्रतिशत आयात शुल्क लगाया जाता था जिससे वहां भारतीय वस्तुओं का बाजार पूर्णतया समाप्त हो गया। इसके साथ ही भारतीय वस्तुओं पर अन्य प्रकार के कर भी लगाये जाते थे, जैसे पुन निर्यात में लायी गयी वस्तुओं पर स्थानीय कर, विदेशी जहाजों से लायी गयी वस्तुओं पर उत्पादन कर आदि। इसके विपरीत इंग्लैंड से भारत में आयात की गई वस्तुओं पर बहुत ही कम $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत मूल्यानुसार आयात शुल्क लगाया जाता था जो कि भारतीय वस्तुओं पर लगाये गये मूल्यानुसार कर (6 से 18 प्रतिशत) से बहुत ही कम था। यहां तक कि इंग्लैण्ड में आयात किये गये रेशमी माल पर 20 प्रतिशत आयात शुल्क लगाया गया।

(7) नये समाज का निर्माण अंग्रेजी राज्य के विस्तार के साथ-साथ पुराने सामन्ती समाज का पतन होता गया। अंग्रेजों ने जमींदारों, व्यापारियों तथा प्रशासन के लिए जिन अधिकारियों के एक नए समाज का निर्माण किया, वे अंग्रेजी सरकार की नीति के समर्थक थे। उन्होंने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए अंग्रेजों के रहन-सहन को अपनाया तथा सस्ती विदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त इस नये समाज की आर्थिक स्थिति भी इतनी अच्छी नहीं थी कि वह घरेलू उद्योगों की बहुमूल्य वस्तुओं को खरीद सकता था। इसका भारतीय उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और उन्होंने प्राचीन परम्परागत वस्तुओं का उत्पादन बन्द कर दिया।

(8) यातायात तथा संदेश-वाहन का विकास . देश में तेजी से सड़कों का विस्तार तथा रेलों का विकास, स्वेज नहर का निर्माण तथा तार व डाक की सुविधायें उपलब्ध होने के बाद देश के भीतरी भागों में भी दूर-दूर तक विदेशी माल पहुंचाया गया। इससे भारतीय उद्योगों की निर्मित वस्तुओं की मांग समाप्त हो गयी। घरेलू उद्योग विदेशी वस्तुओं की प्रतिस्पर्द्धा में कम मूल्य वाली वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर सकने के कारण अधिक समय तक न टिक सके। रानाडे के अनुसार "इंग्लैंड के आधीन भारत के महान् राज्य ने उन्नीसवीं शताब्दी में प्राचीन उपनिवेशों का स्थान ले लिया। यह आधीन राज्य एक प्रकार से अंग्रेजों का वह कृषि-क्षेत्र है जहां कच्चा माल पैदा किया जाता है, जिसे अंग्रेज व्यापारी ब्रिटिश पूंजी और श्रम द्वारा निर्मित माल का रूप देने के लिए ब्रिटिश जहाजों द्वारा इंग्लैंड भेज देते हैं। बाद में फिर वही माल अंग्रेज व्यापारियों द्वारा इसी आधीन राज्य (भारत) में
ब्रिटिश फर्मों के पास निर्यात कर दिया जाता है। भाप-शक्ति तथा मशीनों के विकास

तथा यातायात की सुविधाओं ने मिलकर इस युग की उपर्युक्त प्रवृत्ति को और भी बल दिया। इसके परिणामस्वरूप यह महान् अधीन राज्य धीरे-धीरे कृषि-कार्य में अधिकाधिक प्रवृत्त होता गया और निर्मित वस्तुओं के व्यवसाय का बड़ी तेजी से पतन स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ने लगा।"

(9) अंग्रेजी राज्य की उपेक्षापूर्ण नीति : रानाडे के उक्त विचार से यह स्पष्ट है कि अंग्रेज शासकों ने भारतीय उद्योगों को जीवित रखने के लिए कोई प्रयास नहीं किया। उनका एकमात्र उद्देश्य भारत को इंग्लैंड का एक ऐसा कृषि-प्रधान उपनिवेश बनाना था, जहां से उस देश के उद्योगों के लिए कच्चे माल तथा लोगों के लिए खाद्यान्नों का निर्यात किया जा सके। यहाँ के उद्योगों में भी यदि नवीन यन्त्रों आदि के प्रयोग की सुविधायें दी जातीं, तो शायद पुराने उद्योग पुनः जीवित हो उठते।

(10) जन-साधारण की उपेक्षा : उन्नीसवीं शताब्दी में राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में इतनी तेजी से परिवर्तन हुए कि जन-साधारण भाग्यवादी बन गया। अत्याचार और अनाचार के कारण यहाँ के लोग शान्तिपूर्ण व्यवस्था के लिए अधिक इच्छुक थे। साथ ही संक्रमण काल में तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों तथा अपने परम्परागत जीवन के मध्य सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सके। परिणामस्वरूप वे कृषि पर अधिक ध्यान देने लगे।

(11) बड़े-बड़े उद्योगों का विकास : उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से भारतीय पूँजीपतियों ने बड़े बड़े उद्योगों के विकास की ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया। यद्यपि उसके पूर्व उन्होंने अंग्रेजी शासकों के संरक्षण में काफी पूँजी एकत्र की थी, फिर भी उन्होंने घरेलू उद्योगों की गिरती हुई दशा को सुधारने के प्रयत्न नहीं किये। कालान्तर में सूती-कपड़ा उद्योग बड़े पैमाने पर स्थापित किये जाने के बाद हाथ-करघों द्वारा निर्मित सूती वस्त्रों का घरेलू उद्योग धीरे धीरे अवनति की चरम सीमा पर पहुंच गया।

उपर्युक्त कारणों से यह है कि सड़कों, रेलों, तार, स्वेज नहर का निर्माण तथा जल व थल दोनों ही यातायात साधनों में प्रत्येक सुधार ने भारतीय कारीगर की कठिनाइयों को केवल बढ़ाया ही नहीं बल्कि उसे अन्त में पराजित भी कर दिया। अंग्रेजी सरकार ने पूर्णतया देश के भीतरी भागों के बाजार तक अंग्रेज व्यापारियों के पहुंचने की सुविधाओं के निर्माण पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया। एक ओर तो अंग्रेज उत्पादकों को भारतीय बाजारों का शोषण करने के लिए पूरी-पूरी सुविधायें दी गयी तथा, दूसरी ओर मेहनती कारीगर को अपनी कठिनाइयों का सामना करने के लिए अकेला छोड़ दिया गया। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि भारतीय

घरेलू उद्योगों की अवनति जहां एक तरफ ब्रिटिश सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति के परिणामस्वरूप हुयी थी, वहीं दूसरी तरफ देश की कुछ आन्तरिक परिस्थितियों का भी उनके विनाश पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा था। साहस, पूंजी का समुचित प्रयोग, बदलती हुयी परिस्थितियों में जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण, विदेशी सम्पर्क से आधुनिक उत्पादन-विधियों के ज्ञान की प्राप्ति और इन सब के ऊपर स्वदेशी भावना का अभाव होने से भारतीय परम्परागत उद्योग का पतन होना स्वाभाविक था।

उपर्युक्त कारणों से यह स्पष्ट है कि विदेशी सरकार की नीति प्रारम्भ से ही देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर एकाधिकार प्राप्त करने की थी। प्रारम्भ में उसने यहां के आन्तरिक व्यापार को अपने पूर्ण अधिकार में ले लिया। उद्योग-धन्धों की उत्पादन-व्यवस्था को स्वयं अपने हित में नियन्त्रित करने के बाद यहां के व्यापारियों के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर दिया। कालान्तर में इसी धन से इंगलैंड में बने धनी व्यक्तियों की पूंजी ने देश में प्रवेश किया और विदेशी फैक्टरियां स्थापित की गयी। विदेशी पूंजीवाद की आधार शिलाएं इस क्षेत्र में भी रखी जाने लगी। इस नवीन पूंजीवाद ने यहां के श्रमिकों तथा बुनकरों का शोषण किया जिसके फलस्वरूप न केवल यहां के उद्योग धन्धे समाप्त हो गये, बल्कि अधिकांश कारीगर, दस्तकार एवं बुनकर अपना पैतृक पेशा छोड़कर गांवों में जाकर कृषक बन गये। इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति ने मृतप्राय उद्योगों को अन्तिम ठेस पहुंचायी और मशीन निर्मित वस्तुओं की प्रतिस्पर्द्धा में ब्रिटिश सरकार की व्यापारिक नीति के कारण भारतीय घरेलू उद्योग न टिक सके। साथ ही विदेशी सरकार की भारतीय उद्योगों के विकास के सम्बन्ध में अपनायी गयी औद्योगिक नीति देश के औद्योगिक विकास के लिए घातक सिद्ध हुई।

प्रश्न

1 "19वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कृषि तथा भारतीय कुटीर उद्योगों का गठबन्धन समाप्त हो गया। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? यदि हां, तो इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

2 अतीत काल में परम्परागत भारतीय उद्योगों ने भारतीय समृद्धि में किस प्रकार सहयोग प्रदान किया था ? इस सम्बन्ध में एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

3 अंग्रेजों ने क्यों भारतीय उद्योगों को समाप्त करने की ओर विशेष ध्यान दिया ?

4 '19वीं शताब्दी में भारतीय कुटीर उद्योगों की अवनति के प्रमुख कारणों पर प्रकाश डालिए।

5 पिछली शताब्दी में प्राचीन भारतीय औद्योगिक व्यवस्था के समाप्त होने का भावी औद्योगिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ा ?

3
रेल-नीति
(Railway Policy)

"The Indian people feel that this construction (of railways) is undertaken principally in the interests of commercial and moneyed classes and what it assists in the futrher exploitation of our resources."

—G K GOKHALE

भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के बाद ब्रिटिश सरकार ने देश के विभिन्न क्षेत्रों को राजनैतिक दृष्टि से एक सूत्र में पिरोने की ओर ध्यान दिया। परन्तु यातायात तथा संदेशवहन के साधनों के अभाव में इस उद्देश्य की पूर्ति सम्भव नहीं थी। इसके साथ ही देश के भीतरी भागों से कच्चा माल लाने तथा विदेशों निर्मित वस्तुएं दूर दूर के बाजारों तक पहुंचाने के लिए भी तेज गति से चलने वाली रेलों का निर्माण करना आवश्यक समझा गया। वास्तव में रेलों के निर्माण के पहले न तो अंग्रेज भारतीय परम्परागत जीवन में पूर्णतया प्रवेश ही कर सके थे और न ही विश्व के बढ़ते हुए बाजार से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो सके थे।

उपर्युक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए ही रेल निर्माण की व्यवस्था की गयी। रेलों का निर्माण हो जाने के बाद भारतीय संस्कृति, जीवन तथा अर्थ व्यवस्था पर उनका क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। विदेशी सरकार ने भी इस कार्य को विशेष महत्व इसलिए दिया था, क्योंकि उसने यह कल्पना की थी कि रेलों का निर्माण व विकास होने के बाद भारत की सभी आर्थिक बुराइयां एवं कमियां स्वतः दूर हो जावेंगी।

रेल निर्माण का प्रारम्भ

(1) प्रारम्भिक अनुबन्ध— भारत में रेल-निर्माण का प्रस्ताव सबसे पहले सन् 1831-32 ई. में रखा गया था। उस समय यह विचार किया गया था कि

सर्वप्रथम रेलवे लाइन केवल मद्रास मे ही निर्मित की जाय। परन्तु उस समय तक भाप-शक्ति का प्रयोग न किये जाने के कारण रेलें घोडो के द्वारा ही खीची जा सकती थी। इसके पश्चात् सन् 1843 मे भाप-शक्ति से चलने वाली रेलो के निर्माण की योजना इगलैंड मे तैयार की गयी। यद्यपि ब्रिटिश इण्डिया कम्पनी के सचालको (Directors) ने इस योजना का विरोध किया था, फिर भी निरन्तर आर्थिक तथा राजनैतिक दबाव पडने पर तथा अन्त मे तत्कालीन गवर्नर जनरल, लॉर्ड हार्डिन्ज, की जोरदार सिफारिश पर रेल-निर्माण का प्रस्ताव उन्हे स्वीकार करना पडा। इसके बाद रेल निर्माण करने वाले प्रवर्तको (Promoters) तथा कम्पनी के सचालको मे रेल-निर्माण मे लगायी गयी निजी पू जी पर दिये जाने वाले ब्याज अथवा लाभाश (dividend) के सम्बन्ध मे सरकारी गारन्टी के विषय पर काफी समय तक मतभेद बना रहा। अन्त मे सन् 1849 ई मे यह मतभेद भी प्रवर्तको के पक्ष मे ही समाप्त हो गया। इसी वर्ष भारत-सचिव (Secretary of State for India) द्वारा रेल निर्माण के सम्बन्ध मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) तथा ग्रेट इण्डियन पेनिनसुला रेलवे कम्पनी (Great India Peninsula Railway Company) के साथ किये गये समझौतो (Agreements) पर हस्ताक्षर किये गये। रेल-निर्माण के सम्बन्ध मे किये गये ये पट्टे अनुबन्ध थे, जिनमे कुछ शर्ते निश्चित की गयी थी, जो निम्नलिखित है—

(1) रेल निर्माण एव सचालन के कार्य निजी कम्पनियो द्वारा किये जायेंगे।

(2) रेलवे कम्पनियो को भूमि सरकार द्वारा नि शुल्क प्रदान की जायेगी।

(3) कम्पनियों द्वारा एकत्र की गयी पू जी पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी 99 वर्षो तक 5 प्रतिशत की दर से ब्याज देगी। विदेशी कम्पनियो द्वारा लगायी जाने वाली पू जी पर $4\frac{1}{2}$ से 5 प्रतिशत ब्याज की गारन्टी देगी।

(4) कम्पनी बिना मूल्य लिये 99 वर्षो के पट्टे पर भूमि देगी।

(5) इन अधिकारों के बदले मे कम्पनी रेलो के व्यय एव सचालन पर नियन्त्रण का अधिकार रखेगी।

(6) दोनो रेलवे कम्पनिया डाक, माल तथा युद्धीय सामग्रिया कम भाडे पर ले जायेंगी।

(7) गारन्टी किये गये ब्याज से अधिक जो अतिरिक्त लाभ होगा वह उस समय तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा रेलवे कम्पनियो के मध्य बाटा जायेगा जब तक कि गारन्टी के आधार पर प्राप्त किये गये ऋणों का भुगतान नही कर दिया जायेगा। इसके बाद समस्त लाभ पर रेलवे कम्पनियो का अधिकार होगा।

(8) 99 वर्षों के बाद सम्पूर्ण रेल-व्यवस्था भारत सरकार के अधिकार में चली जायेगी। उस समय मशीन व प्लाट तथा रोलिंग स्टॉक को छोड़कर अन्य किसी रेल-सम्पत्ति के लिए कोई मुआवजा (Compensation) नहीं दिया जायेगा।

(9) ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी प्रथम 25 अथवा 50 वर्षों के बाद पट्टे की अवधि समाप्त होने के पहले भी पूंजी-स्टॉक तथा अंशों का मूल्य चुका कर किसी भी कम्पनी से उसके रेल-सचालन-व्यवसाय को खरीद सकेगी।

(10) रेलवे कम्पनियों को भी यह अधिकार होगा कि वे किसी भी समय 6 महीने का नोटिस देने के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अपने अधिकारों को समर्पित करके अपनी वास्तविक विनियोजित पूंजी वापस माग सकेगी।

(ii) **सन् 1853 ई० से सन् 1868 तक रेल-निर्माण**—उपर्युक्त सभी शर्तें अगले 20 वर्षों में किये गये रेलवे निर्माण सम्बन्धी अनुबन्धों का आधार बन गयी। परन्तु रेल-निर्माण सम्बन्धी नीति तथा उसकी विधि के सम्बन्ध में अभी तक कोई फैसला नहीं किया जा सका। अन्त में, यह निश्चय किया गया कि ब्रिटिश पूंजी की सहायता से भारत में रेलों का निर्माण ऐसी कम्पनियों द्वारा किया जाये, जिनका समामेलन (Incorporation) इंगलैंड में किया गया हो। यह नीति लॉर्ड-डल्हौजी (Lord Dalhousie) द्वारा सन् 1853 ई० में निर्धारित की गयी थी। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा था कि सबसे पहले चार मुख्य ट्रंक रेल लाइनों का निर्माण किया जाय जिससे सभी प्रेसीडेंसियों को आपस में रेलों द्वारा जोड़ा जा सके। यह आशा भी व्यक्त की गयी कि इन ट्रंक लाइनों के बन जाने पर देश के कृषि पदार्थों के निर्यात में काफी सुविधा होगी। फलस्वरूप रेल-निर्माण कार्य प्रारम्भ किया गया और सन् 1869 ई० तक गारन्टी कम्पनियों द्वारा 4,255 मील लम्बी रेलवे लाइन का कार्य पूरा कर लिया गया। इस अवधि में गारन्टी किये गये ब्याज की दर $4\frac{1}{2}$ से 5 प्रतिशत तक थी।

परन्तु सन् 1869 के पहले रेलवे-निर्माण कार्य अधिक महगा तथा खर्चीला सिद्ध हुआ, क्योंकि 5 प्रतिशत ब्याज की गारन्टी मिल जाने के कारण रेलवे कम्पनियों ने रेलवे निर्माण कार्य में अधिकाधिक धन विनियोजित करना प्रारम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रारम्भ से ही सरकार को गारन्टी के रूप में कम्पनियों को अधिक धन देना पड़ा। लॉर्ड डल्हौजी का अनुमान था कि प्रति मील रेलवे लाइन पर 8,000 पौं० व्यय होंगे, जबकि वास्तविक व्यय (भूमि की लागत छोड़कर) लगभग प्रति मील 18,000 पौ० के बराबर था। इस अपव्यय के कई कारण थे, जैसे कार्य प्रारम्भ करने में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयां, कुशल श्रमिकों का अभाव स्थानीय दशाओं का ज्ञान न होना, अनुभव की कमी, चौड़ी लाइनों (ब्रॉडगेज Broad-guage) का चुनाव, ऊंची किस्म का निर्माण कार्य, अनावश्यक दुहरी लाइनें आदि।

परन्तु वास्तव में मुख्यतः गारन्टी की गयी अधिक रकम का भुगतान किये जाने के कारण ही अनुमान से अधिक धन व्यय हुआ था।

(iii) आरम्भ में ही अधिक धन व्यय हो जाने के कारण रेल निर्माण-कार्य की गति धीमी हो गयी। अतः सन् 1869 में गवर्नर जनरल सर जॉन लारेंस (Sir John Lawrence) ने यह सुझाव पेश किया कि वर्तमान पद्धति, जिसके अन्तर्गत पूरा लाभ तो कम्पनी को प्राप्त होता है और पूरी हानि सरकार को सहन करनी पड़ती है, समाप्त कर दी जाय। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि नयी रेलों का निर्माण गारन्टी कम्पनियों के स्थान पर राज्य द्वारा ब्याज पर उधार लिये गये रुपयों अथवा सरकार की आय में से कुछ धन निकालकर किया जाय। उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया तथा सन् 1870 ई. से सन् 1880 ई. तक की अवधि में रेलों का निर्माण सरकार द्वारा किया गया। सन् 1880 तक सरकार ने 2,493 मील लम्बी रेल लाइनों का निर्माण कर लिया तथा कुल रेलवे लाइनों का विस्तार 8,494 मील तक हो इस अवधि में प्रतिवर्ष सरकार द्वारा $2\frac{1}{2}$ करोड़ रुपये ऋण के रूप में लेना तय किया।

(iv) सन् 1884 से सन् 1905 तक—यद्यपि सरकार द्वारा रेल-निर्माण कम खर्चीला था, फिर भी उसकी गति धीमी होने के कारण अंग्रेज व्यापारी, उद्योगपति तथा अधिकारी रेलवे-विकास-कार्य से सन्तुष्ट नहीं थे। इसके साथ ही इस कार्य के लिए सरकारी आय का एक बहुत बड़ा अंश भी प्राप्त नहीं किया जा सकता था। सन् 1880 ई. में "दुर्भिक्ष आयोग" (Famine Commission) ने भी यह सिफारिश की कि दुर्भिक्ष से बचने के लिए देश में 20,000 मील रेल लाइनों का होना आवश्यक है। अतः लॉर्ड रिपन ने सन् 1869 में बदली हुयी नीति को पुनः संशोधित करने का सुझाव दिया। इस विचार करने के लिए सन् 1884 ई. में एक संसदीय प्रवर समिति (Parliamentary Select Committee) नियुक्त की गयी। इस समिति ने रेल मार्ग के तीव्र विस्तार पर जोर दिया और यह सुझाव दिया कि इस कार्य में दोनों ही संस्थायें—सरकार तथा निजी कम्पनियां-तेजी से काम करें। इस प्रकार पुनः गारन्टी पद्धति को अपनाया गया, यद्यपि इस बार इसकी शर्तें कुछ ठीक थी। ब्याज की दर घटाकर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दी गयी। साथ ही यह भी निश्चय किया कि प्रारम्भ से ही रेलें सरकार की सम्पत्ति होंगी तथा सरकार को अतिरिक्त लाभ में 3/5 भाग मिलेगा। सरकार ने भी इस कार्य में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया, जिससे सन् 1884 ई. के बाद से रेल-निर्माण एवं विस्तार का काम बड़ी तेजी से आगे बढ़ा। सन् 1905 की तीस जून तक 28,054 मील लम्बी रेल लाइनें बन चुकी थी जिनकी लागत 350 करोड़ रुपये थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में रेल-निर्माण की विशेषताएं

उन्नीसवीं शताब्दी में रेल-निर्माण की विशेषताएं अग्रलिखित थी

(1) भारतीय पूंजी का अभाव—प्रारम्भ में रेलवे-निर्माण-कार्य में विदेशी (ब्रिटिश) पूंजी ही विनियोजित की गयी थी। भारतीय पूंजी का विनियोग नहीं के बराबर था।

(2) साहस का अभाव—रेलवे निर्माण एवं संचालन में जिस उपक्रम एवं साहस की आवश्यकता थी, उसका सर्वथा अभाव था। रेलवे कम्पनी के प्रवर्तक पूंजी-दाता सरकारी गारन्टी के आधार पर ही इस कार्य का संचालन करने के लिए तैयार हुए थे। इसके अभाव में वे इस कार्य के लिए सरकार द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रों में ही धन लगाने को तैयार थे।

(3) उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हानि—पिछली शताब्दी के अन्त तक रेलवे से इतना लाभ भी नहीं हुआ था कि उसमें विनियोजित पूंजी पर दिये जाने वाले ब्याज की भी व्यवस्था की जा सके। सन् 1900 ई में पहली बार लाभ हुआ, परन्तु उस समय तक सरकार 76 करोड़ रुपये गारन्टी किये गये ब्याज के लिए दे चुकी थी।

(4) रेल-मार्ग का तीव्र गति से विकास—पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों में रेल-मार्ग का विकास बहुत ही तेजी से किया गया था, यद्यपि इन वर्षों में सरकार को कई वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। यह इस बात से स्पष्ट है कि जबकि सन् 1850 ई से सन् 1891 ई तक के 41-42 वर्षों में केवल 17,308 मील लम्बे रेल मार्गों का निर्माण किया गया, तब सन् 1892 ई से सन् 1905 ई तक के 14 वर्षों में ही 10,746 मील लम्बे रेल-मार्गों का निर्माण-कार्य पूरा कर लिया गया।

रेल-निर्माण का आर्थिक प्रभाव

अंग्रेज शासकों की दृष्टि से रेलों का भारतीय आर्थिक जीवन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भ से ही इस बात की केवल कल्पना ही नहीं की गयी थी, बल्कि यह विश्वास भी किया गया था कि रेलों के निर्माण से भारत की गरीबी तथा यहां बार-बार पड़ने वाले अकाल को समाप्त किया जा सकेगा। सन् 1844 ई में जॉन चैपमेन (John Chapman) ने सड़कों के विस्तार की अपेक्षा रेल-निर्माण पर विशेष जोर दिया था। सन् 1884 ई की संसदीय प्रवर समिति (Parlia-mentary Select Committee) ने रेल विस्तार की जोरदार सिफारिश की थी। उसका यह विचार था कि रेल-विस्तार से दुर्भिक्ष से सुरक्षा मिल सकेगी, आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार को बढ़ाया जा सकेगा, उपजाऊ क्षेत्रों तथा कोयले की खानों से कच्चा माल तथा कोयला प्राप्त करने में सुविधा होगी, लोगों को रोजगार मिल सकेगा तथा उनके सामान्य आर्थिक जीवन में सुधार होगा। सन् 1896 ई. में उस समय के गवर्नर जनरल लॉर्ड एल्गिन ने रेलों के आर्थिक महत्व के साथ-साथ उसके सामाजिक तथा राजनैतिक महत्व को भी ध्यान में रखने पर विशेष जोर दिया था।

उन्होंने आशा व्यक्त की थी कि, "महान भारतीय रेल व्यवस्था आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति तथा लोगों की राजनैतिक शान्ति को बढ़ाने का सर्वशक्तिमान माध्यम बनायी जा सकती है।"

भारत में रेलों के विकास का प्रभाव अर्थ-व्यवस्था के हर क्षेत्र पर पड़ा। इस विकास के कारण देश के कृषि-उत्पादन में वृद्धि हुई, क्योंकि मण्डियों का विकास हो जाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों से सम्पर्क स्थापित हो जाने से कृषि की फसलों की अच्छी कीमत प्राप्त होने लगी। बंगाल में जूट, उत्तर प्रदेश और बिहार में गन्ना, आसाम में चाय के बागानों का विकास बहुत ही तीव्र गति से हुआ। इसके अतिरिक्त देश में कई उद्योगों का बहुत ही तीव्र गति से विकास हुआ, क्योंकि श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि हुई। कच्चा माल आसानी से प्राप्त होने लगा तथा तैयार माल आसानी से उपभोक्ताओं तक पहुंचने लगा।

रेलों के विकास से देश में सिर्फ कृषि तथा उद्योगों का ही विकास नहीं हुआ, बल्कि रोजगार की सुविधाओं में वृद्धि, आन्तरिक व्यापार में वृद्धि, अकाल आदि का सामना, कीमतों में स्थिरता आदि पर भी रेलों के विकास का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा।

परन्तु रेल-व्यवस्था का वर्तमान उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण करना ही था। यदि उस समय भारतीय घरेलू उद्योगों तथा अन्य उत्पादन स्रोतों का साथ ही साथ विकास किया जाता, तो सम्भवतः रेलवे-निर्माण एवं विस्तार से देश को सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता। परन्तु रेलों द्वारा भारतीय कच्चे माल तथा खाद्यान्नों का निर्यात करके देश में न तो उद्योग-धन्धों को पनपने दिया गया और न ही दुर्भिक्ष को रोका गया। इसके अतिरिक्त रेलों के निर्माण पर जो अत्यधिक अपव्यय हुआ, उसका भार भारतीय जनता पर ही भारी कर के रूप में पड़ा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पिछली शताब्दी में यातायात के साधनों में क्रान्ति के साथ-साथ औद्योगिक क्रान्ति, अर्थात् भारत में लोहे व इस्पात तथा अन्य आधारभूत उद्योगों के विकास, की दिशा में सरकार द्वारा प्रयत्न न किये जाने के कारण देश की उतनी आर्थिक प्रगति नहीं हुई जितनी की अंग्रेज प्रशासकों में कल्पना की गयी थी। वास्तव में रेल-निर्माण से अंग्रेजों को ही लाभ हुआ, क्योंकि उनको अपने व्यापार का विस्तार करने तथा पूंजी विनियोजित करने के अधिक स्रोत खुल गए।

प्रश्न

1. 19वीं शताब्दी में भारत में रेल-निर्माण पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

2. पिछली शताब्दी में अंग्रेजी सरकार ने भारत में रेलों का निर्माण क्यों किया? कारणों पर प्रकाश डालिए तथा उसके आर्थिक लाभों का उल्लेख कीजिए।

3. रेलवे-निर्माण के सम्बन्ध में आप गारन्टी प्रथा से क्या समझते हैं। इसकी शर्तों का उल्लेख करते हुए उनके औचित्य पर विचार प्रकट कीजिए।

4
आर्थिक निकास
(Economic Drain)

"As the price of her rule in India, out of the revenues raised in India nearly one-fourth goes out of the country, and is added to the resources of Engalnd "

—**Dadabhai Naoroji**

यद्यपि भारत के आर्थिक शोषण अर्थात् भारतीय धन की निकासी (drain of wealth from India) के सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने सन् 1867 ई० मे किया था, फिर भी यदि इस विषय पर गम्भीर रूप से विचार किया जाये तो यह ज्ञात होगा कि इस प्रकार की प्रक्रिया सन् 1757 ई० से प्लासी के युद्ध के पश्चात् से ही प्रारम्भ हो गई थी। हां, यह अवश्य है कि उस समय धन की निकासी कम्पनी अधिकारियों द्वारा की गई थी। वह सम्पूर्ण कार्य न्यायसगत नही था। इसीलिये वारेन हेस्टिग्ज के विरुद्ध इगलैड में महाभियोग (Impeachment) चला था, क्लाइव की भर्त्सना की गई थी तथा अन्य कम्पनी अधिकारियों के इस प्रकार के आचरण पर क्षोभ प्रकट किया गया था। परन्तु सन् 1857 ई० के बाद जब से भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अग बन गया, तब से अंग्रेजी राज्य द्वारा अप्रत्यक्ष रूप मे भारत का आर्थिक शोषण किया गया। इसके विरुद्ध सबसे पहले दादा भाई नौरोजी ने प्रचार करना प्रारम्भ किया था। बाद मे चल कर इस 'आर्थिक निकासी या शोषण' की जस्टिस रानाडे, आर० सी० दत्त तथा अन्य राष्ट्रवादियों (Nationalists) ने भी कटु आलोचना की थी।[1]

इगलैंड द्वारा भारत के आर्थिक शोषण को स्पष्ट करते हुए दादा भाई नौरोजी ने 2 मई, सन् 1867, को ईस्ट इण्डिया ऐसोसियेशन, लन्दन, (East India

---

1. "The great railway system of India" could be made an all powerful agent in the promotion of the material and social advancement and political tranquility of the people " Quoted by Bipan Chand in "The Rise and rowth of Economic Nationalism in India." p. 179.

Association, London) के समक्ष कहा था, "भारत में एकत्र की गयी आय का लगभग 1/4 भाग भारत मे शासन करने का मूल्य है जो देश से बाहर चला जाता है तथा इगलैंड के साधनो मे जोड दिया जाता है।" सन् 1872 ई० मे जस्टिस रानाडे ने पूना मे दिए गये अपने एक भाषण मे कहा था, "भारतीय राष्ट्रीय आय का 1/3 से अधिक भाग किसी न किसी रूप मे ब्रिटिश सरकार द्वारा ले जाया जाता है।" (Of the national income of India more than one-third was taken away by the British in some form or other)। इस सम्बन्ध मे सन् 1838 मे मॉन्टगोमरी मार्टिन ने भी अपनी रिपोर्ट मे लिखा था, "इंगलैंड से इस प्रकार (धन) की निरन्तर तथा बढती हुई निकासी ने उसे भी निर्धन बना दिया होता, तब (यह कल्पना की जाती है कि) ऐसे भारत को उसके कितने कठोर परिणाम भुगतने पडते है, जहा प्रत्येक श्रमिक की दैनिक मजदूरी दो से तीन पेंस के बराबर है।[1]

आर्थिक शोषण या धन-निकासी के रूप तथा उसकी गणना (Forms and Calculation of Economic Drain):

(i) **आर्थिक शोषण या धन-निकासी के रूप :** ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय आर्थिक शोषण का रूप यह था कि वह भारत मे एकत्र किये गये राजस्व की आय (revenues) का एक भाग निकालकर अपने व्यापारिक कार्यों मे विनियोजित कर देती थी। बाद मे चल कर राष्ट्रवादियो ने भारत से इगलैड को उस सभी धन एव वस्तुओ के ऐसे स्थानान्तरण को धन-निकासी या आर्थिक शोषण का ही रूप माना, जिसके बदले मे भारत को किसी प्रकार का आर्थिक, व्यापारिक तथा धन के रूप में प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त नही होता था। इससे यह स्पष्ट है कि **आयात पर निर्यात का आधिक्य** (excess of exports over imports), आर्थिक शोषण का ही एक अन्य रूप था। धन-निकासी के अन्य स्रोत निम्नलिखित थे,

(1) कम्पनी की आय का अधिकाश भाग विदेशी व्यापार मे विनियोग,

(2) कम्पनी के अशधारियो को भारत मे विनियोजित विदेशी पूजी पर दिया गया लाभाश,

(3) भारत पर सार्वजनिक ऋण (Public Debt),

(4) भारत मे काम करने वाले अग्रेज अधिकारियो की आय के एक भाग का इगलैड को हस्तान्तरण,

---

1. 'So constant and accumulating a drain even on England would have impoverished her how severe then must be its effects on India, where the wages of labourer is from two pence to three pence a day.'

—*R. Mukherjee, p. 224.*

(5) भारत मे वसूल किये गये राजस्व का अधिकाश भाग प्रशासन, सुरक्षा, रेल-व्यवस्था आदि पर व्यय;

(6) 'गृह व्यय' (Home Charges) जो भारत-सचिव (Secretary of State for India) द्वारा भारत के लिए इगलैड मे किये जाते थे। इन खर्चों मे निम्नलिखित मदें शामिल थी :

(i) भारतीय सार्वजनिक वित्त पर तथा गारटी रेलवे कम्पनी को दिया गया ब्याज,

(ii) भारत को भेजी गई युद्ध-सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार की सामग्रियो की लागत,

(iii) प्रशासन तथा युद्ध-सम्बन्धी व्यय जिनका भुगतान भारत के लिए इगलैड मे किया जाता था, जैसे भारत सचिव के कार्यालय का प्रशासन-व्यय तथा ऐसे यूरोपीय अधिकारियों को दी जाने वाली पेंशन व भत्ते की रकमे, जो पहले भारत म काम कर चुके थे।

(7) भारत मे *विनियोजित विदेशी निजी पूजी पर उपार्जित लाभ।*

(ii) धन-निकासी या आर्थिक शोषण की मात्रा

सन् 1814-15 ई० मे 3,446,016 पौ० के बराबर धनराशि भारत से बाहर गई थी। सन् 1837 ई० मे यह बढ कर 6,162,043 पौ० के बराबर पहुच गयी थी। कम्पनी शासन के अन्तिम 24 वर्षों मे (सन् 1834-35 से सन् 1857-58 ई० तक) कुल कर या धन-निकासी (tribute) की रकम जो भारत से इगलैंड को भेजी गयी थी 151,830,989 पौं० के बराबर थी। इस प्रकार इस अवधि मे कुल वसूल की गयी मालगुजारी का आधा भाग इगलैंड भेज दिया गया। दादा भाई नौरोजी के अनुसार धन-निकासी के निम्नलिखित आकडे प्रस्तुत किये जा रहे हैं –

धन-निकासी

वर्ष	वार्षिक औसत पौ० £ मे
1835 से 1839 तक	5,347,000
1840 से 1844 तक	5,930,000
1845 से 1849 तक	7,607,000
1850 से 1854 तक	7,458,000
1855 से 1859 तक	7,730,000
1860 से 1864 तक	17,300,000
1865 से 1869 तक	24,600,000
1870 से 1872 तक	27,400 000

सन् 1893 ई० में 25 करोड़ रुपयों से अधिक धन की निकासी हुयी थी तथा सन् 1897 तक के पिछले दस वर्षों (सन् 1883 ई० से सन् 1892 ई० तक) में लगभग 359 करोड़ रुपये की निकासी हुई थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में सन् 1901 ई० में डी० ई० वाचा (D E Wacha) ने बताया था कि वार्षिक धन निकासी लगभग 30 से 40 करोड़ रुपयों तक होती रही है।

आर्थिक शोषण के आर्थिक परिणाम

आर० सी० दत्त ने इस बड़े पैमाने पर भारतीय धन की निकासी के आर्थिक परिणामों के विषय में लिखा है "जब किसी देश में कर वसूल करके वहीं व्यय किये जाते हैं तब द्रव्य लोगों के मध्य ही चलन में रहता है, व्यापार, उद्योग तथा कृषि को फलनीय बनाता है तथा इस प्रकार किसी न किसी रूप में लोगों के पास पहुंच जाता है। परन्तु जब किसी देश में वसूल किये गये कर की रकम किसी दूसरे देश में भेज दी जाती है तो वह रकम उस देश के लिए हमेशा के लिए डूब जाती है, वह उसके व्यापार या उद्योगों को नहीं बढ़ाती, या लोगों के पास किसी भी रूप में नहीं पहुंचती।"[1] इस कथन से यह स्पष्ट है कि यदि भारत में वसूल किये गये करों की रकम अथवा सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय भारत के आर्थिक विकास तथा उद्योग-धन्धों को विकसित करने में व्यय की जाती तो सम्भवतः भारत में आधुनिक उद्योग धन्धों का विकास कब का हो गया होता। इस प्रकार के औद्योगिक विकास से देश में लोगों को रोजगार मिलता तथा देश की गरीबी मिट जाती। परन्तु विदेशी शासकों ने केवल भारत में शासन का मत्य ही लिया, उसके बदले में भारत के उद्योगों, व्यापार आदि का विकास नहीं किया। न ही उस धन का प्रयोग लोगों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए ही किया गया।

इस प्रकार के आर्थिक शोषण से भारत की उत्पादक पूंजी (Productive Capital) धीरे-धीरे कम होती गयी। धन निकासी के कारण ही देश में लोगों के पास पूंजी-सचय सम्भव नहीं हो सका। पूंजी-सचय न होने से ही देश में लोगों की आर्थिक स्थिति सुधर नहीं सकी। इसके साथ ही इसी कारण से देश में न तो पूंजी-निर्माण हो सका और न ही देश का औद्योगिक विकास सम्भव हो सका। आर्थिक-निकासी से यह हालत यहीं तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि इंगलैंड ने भारत पर

---

1 For when taxes are raised and spent in a country the money circulates among the people, fructifies trade, industries and agriculture and in one shape or another, reaches the mass of the people. But when the taxes raised in a country are remitted out of it, the money is lost to the country for ever it does not stimulate her trade or industries or reach the people in any form '

—*R C Dutt* Econ. History of India, p xiv.

सार्वजनिक ऋण का भार भी लाद दिया, जिसके परिणामस्वरूप यह ऋण की मात्रा बहुत ही अधिकतम ब्याज की दर पर इंगलैंड पहुंचा दिया गया।

भारत से इस आर्थिक निकासी का परिणाम यह हुआ कि इंगलैंड में विकास के कार्यक्रमों न जोर पकड़ा, तथा इंगलैंड विश्व के सम्पन्न राष्ट्रों में गिना जाने लगा और भारतीय अर्थ-व्यवस्था जो कि 'सोने की चिड़िया' के नाम से जानी जाती थी, आर्थिक विकास में बहुत ही पीछे रह गयी।

प्रश्न

1 आर्थिक शोषण या भारत से धन की निकासी से आप क्या समझते हैं? उसके विभिन्न रूपों तथा 19 वीं शताब्दी में उसकी कुल अनुमानित रकम का उल्लेख कीजिए।

2 आर्थिक शोषण का भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा था?

5

स्वतन्त्रता के पूर्व भारत की आर्थिक निष्क्रियता

(India's Economic Stagnation Before Independence)

"Development concerns not only man's material needs but also the improvement of the social conditions of his life. Development is, therefore, not only economic growth but growth plus change, Social, cultural and institutional as well as economic."

—U N O.

भारत सन् 1947 मे स्वतन्त्र हुआ। उसके पूर्व यहा पर अंग्रेजी राज्य था। प्रभुसत्तात्मक ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने भारत को अपना एक महत्वपूर्ण कृषि-प्रधान उपनिवेश ही माना था। यहाँ की अर्थ-व्यवस्था उपनिवेशीय अर्थ व्यवस्था (colonial economy) के रूप मे ही विकसित की गयी थी। अत यह स्वाभाविक था कि यहा का आर्थिक विकास गतिशील (dynamic) न होकर निष्क्रिय ही रहा। ब्रिटिश सरकार ने भारत को अपने आधिपत्य मे लेने के बाद यहाँ की परम्परागत अर्थ-व्यवस्था (traditional economy) को बनाये रखने का ही निरन्तर प्रयास किया था। 19वी शताब्दी के अन्त मे अथवा 20वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे जो बड़े-बड़े उद्योग स्थापित भी किये गये, वे बुनियादी उद्योग (basic or key industries) नही थे। परिणामस्वरूप भारत मे स्वतन्त्रता के पूर्व आधुनिक तरीके पर औद्योगिक विकास का ढांचा तैयार नही किया जा सका, जिससे भारत एक अविकसित तथा पिछड़ा हुआ देश माना जाता रहा।

स्वतन्त्रता के पूर्व आर्थिक निष्क्रियता के कारण :

किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था के गतिशील होने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी परम्पराओ को छोडकर नयी दिशा की ओर आगे बढे। सदैव कृषि पर आधारित अर्थ-व्यवस्था अविकसित देश का प्रतीक है। उसके विकास के द्वारा जब औद्योगिक युग मे प्रवेश करने के लिए एक मजबूत आधार-शिला तैयार कर ली

जाती है, तब देश आगे बढ़ने व ऊँचा उठने की स्थिति (take off stage) में आ पाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले तक विदेशी सरकार ने न तो पिछड़े हुए कृषि-उद्योग को सुव्यवस्थित ढंग से विकसित किया और न ही औद्योगिक विकास का बुनियादी ढांचा ही तैयार किया। वास्तव में ये दोनों कार्य किसी देश की राष्ट्रीय सरकार द्वारा ही पूरे किये जा सकते है। अत. सन् 1947 के पूर्व परतन्त्र भारत में आर्थिक निष्क्रियता के कारणों का जानना आवश्यक है, जो निम्नलिखित हैं—

(1) भारत का परतन्त्र होना—विदेशी सरकार ने प्रारम्भ से भारत का आर्थिक शोषण किया था। यहां के व्यापार, उद्योग, बैंकिंग व्यवसाय सभी का विकास इंगलैंड की अर्थ-व्यवस्था के विकास तथा अंग्रेजों के हित के लिए ही किया गया। आर्थिक शोषण होने से देश में निरंतर पूंजी का अभाव बना रहा। विदेशी सरकार की नीति यहां पर अंग्रेजी राज्य की प्रभुता को बनाये रखने की ही रही थी। अत देश आधुनिक औद्योगिकवाद (modern industrialism) की ओर अग्रसर नहीं हो सका, जिससे केवल कृषि पर ही आधारित अर्थ-व्यवस्था आगे न बढ़ सकी।

(2) परम्परागत अर्थ व्यवस्था—विदेशी सरकार ने इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति के पश्चात् अपने उद्योगों के लिए कच्चे माल तथा जनता के लिए खाद्यान्नों की पूर्ति करने के लिए भारतवर्ष की अर्थ व्यवस्था को कृषि पर ही आधारित रखा। परन्तु कृषि के विकास के लिए जिस पैमाने पर सिंचाई व्यवस्था तथा आधुनिक यंत्रों की आवश्यकता थी, उस पैमाने पर इनकी पूर्ति नहीं की गई। परिणामस्वरूप भारतीय कृषि एक मानसूनी जुआ बनी रही। स्वयं निष्क्रिय न रहने पर वह औद्योगिक विकास में आवश्यक सहयोग प्रदान नहीं कर सकी।

(3) बढ़ती हुई जनसंख्या—भारतवर्ष की जनसंख्या निरन्तर बढ़ती ही रही है। जनसंख्या में वृद्धि होने से उसका भार भूमि पर ही पड़ा है। उद्योग-धन्धों का क्षेत्र सीमित होने से 70–80 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर ही जीविका के लिए निर्भर रही है। फलस्वरूप कृषि-उत्पादकता के कम होने से लोगों का जीवन-स्तर नीचे गिरना स्वाभाविक है। भारत स्वतन्त्र होने के पहले तक कृषि प्रधान देश ही रहा। परन्तु आवश्यक सुधार नहीं किये जाने से कृषि अविकसित रही जिससे वह बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा न कर सकी। यही कारण है कि अधिकांश भारतीय जनता के जीवन-स्तर में कोई सुधार नहीं हुआ।

(4) संस्थागत दोष (Institutional Defects)—अंग्रेजों का शासनकाल भारतीय परम्परागत जीवन का गतिहीन एवं निष्क्रिय ऐतिहासिक काल कहा जा सकता है। सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों में उलझा हुआ समाज अधिक भाग्यवादी हो चुका था। दूसरी ओर, विदेशी सरकार ने भारत में जिस पूंजीवादी व्यवस्था को विकसित किया था, उसने कृषि एवं औद्योगिक दोनों ही क्षेत्रों में निर्धन व्यक्तियों (किसानों

तथा श्रमिकों) का शोषण ही किया था। ब्रिटिश पूंजी, व्यापार तथा उद्योग-धन्धों ने भारत के आर्थिक विकास पर कम ध्यान दिया था। प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली (Managing Agency System) ने सदैव पूंजीपतियों के हितों को ही ध्यान में रखा जाता था। बैंकिंग, बीमा आदि व्यवसायों का दृष्टिकोण भी अंग्रेजी सरकार के हितों की रक्षा करना ही रहा था, जिस कारण भारतीय पूंजी का विनियोजन भी देश के आर्थिक विकास में नहीं किया जा सका।

(5) **अशिक्षा तथा अज्ञानता**—विदेशी सरकार ने सुरक्षा, आन्तरिक शांति तथा सरकार की शक्ति को सुदृढ़ बनाये रखने की ओर ही विशेष ध्यान दिया था। शिक्षा के क्षेत्र में भी समाज में एक ऐसे वर्ग को तैयार किया गया जो प्रशासन संबंधी कार्य करने में समर्थ हो सके। वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा का उतना प्रसार नहीं किया गया था जितना कि देश के लिए आवश्यक था। इस प्रकार शिक्षा का समुचित विकास न होने से देश अज्ञानता के अंधकार में डूबा रहा। परिणामस्वरूप विदेशों की तरह यहां आधुनिक उद्योग-धंधे स्थापित नहीं किये जा सके।

(6) **श्रमिकों की अकुशलता**—श्रमिकों के अशिक्षित होने के कारण ही उनकी उत्पादकता में वृद्धि नहीं हुई। इसका यह परिणाम हुआ कि उनके जीवन-स्तर में सुधार नहीं हुआ। श्रमिकों को प्रशिक्षित भी नहीं किया गया। केवल उनका शोषण ही किया गया। फलस्वरूप उद्योग-धन्धों की अपेक्षा कृषि पर निर्भर रहना ही लोग पसन्द करते थे।

(7) **लघु तथा घरेलू उद्योग धन्धों का अविकसित होना**—विदेशी सरकार ने कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास की तरफ कोई ध्यान ही नहीं दिया। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उसकी नीति तो परम्परागत उद्योगों को समाप्त करने की ही थी। भारतीय पूंजीपतियों ने भी 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बड़े-बड़े उद्योगों को स्थापित करने की ओर ही विशेष ध्यान दिया था। बड़े उद्योग भी केवल सूती-वस्त्रों तथा जूट की वस्तुओं के उत्पादन के लिए स्थापित किये गये थे। फलस्वरूप बेरोजगारी की समस्या हमेशा बनी ही रही।

(8) **विदेशी सरकार की नीति**—विदेशी सरकार की प्रारम्भ से ही यह नीति रही थी कि भारत की सामान्य अर्थ-व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाय। इस उद्देश्य से ही विदेशी पूंजी ने अर्थ-व्यवस्था के मुख्य क्षेत्रों को अपने अधिकार में कर रखा था। बड़े-बड़े उद्योगों पर ब्रिटिश पूंजीपतियों का ही अधिकार था। बड़े पैमाने पर स्थापित किये गये अन्य उद्योगों पर सरकार का प्रत्यक्ष नियंत्रण था। इसके साथ भारतीय उद्योगों के विस्तार के लिए आवश्यक पूंजी, कच्चा माल, तकनीकी सहायता, मशीन, कल व पुर्जे आदि की सुविधायें अंग्रेज पूंजीपतियों के

सहयोग तथा नये उद्योगों के प्रवर्तन एवं सचालन पर उनका एकाधिकार देने पर ही प्राप्त की जा सकती थी।

(9) तट-कर नीति—सरकार की तट-कर नीति भी देश के औद्योगिक विकास के लिए घातक रही है। अंग्रेजी सरकार ने औद्योगिक कमीशन–1918 तथा राज-वित्तीय आयोग (Fiscal Commission)–1921 की रिपोर्टों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। विभेदात्मक सरक्षण नीति (Discriminating Protection Policy) तथा साम्राज्य-सम्बन्धी रियायती नीति (Imperial Preference) के कारण पूर्ण रूप से औद्योगिक विकास नहीं किया जा सका। आयात में निरन्तर वृद्धि के कारण सूती-वस्त्र तथा लौह व इस्पात उद्योगों को काफी नुकसान उठाना पड़ा, जिससे देश में औद्योगिक विकास की गति धीमी पड़ गई।

(10) देश में असन्तुलित औद्योगिक विकास—प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्धों ने यह स्पष्ट कर दिया कि देश का औद्योगिक विकास असतुलित रहा है। यहा केवल उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन पर ही विशेष ध्यान दिया गया था। यहा तक कि रेल-निर्माण कार्य प्रारम्भ किये जाने के बाद भी लौह व इस्पात उद्योग स्थापित करने के लिए प्रयत्न नहीं किये गये। इसके अतिरिक्त विश्व-युद्धों की अवधि में औद्योगिक क्षेत्र के विकास पर तो सरकार विशेष ध्यान देती थी, परन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद वह पुन अपनी पुरानी नीति, उद्योगों का विकास न होने देने (de-industrialisation) की नीति को प्रयोग मे लाती थी। यही कारण है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के काल में भी देश मित्र राष्ट्रों की युद्ध-सम्बन्धी सामग्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ था। अमरीकन टेक्नीकल मिशन ने बम्बई के जहाजी मरम्मत के कारखाने के कार्यों का निरीक्षण करने पर यह पाया था कि वहा घोड़ी की नाल, फौजी नावों के लिए लोहे की टिनों तथा रेलों के लिए 'स्विचगियर' बनाने का काम होता था। 'ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट' ने भी सन् 1945 में अपने एक लेख में यह प्रकाशित किया था कि "हम लोग सभी कुछ, परन्तु कुछ नहीं, तैयार कर सकते थे। हम लोग प्रत्येक वस्तु तथा किसी भी वस्तु की पूर्ति करने वाले, इस पृथ्वी की सभी वस्तुओं के ठीक करने वाले तथा मरम्मत करने वाले थे, परन्तु किसी भी वस्तु के बनाने वाले नहीं थे। हम लोगों की कोई उत्पादन-व्यवस्था नहीं थी, कोई योजना नहीं थी। इसके विपरीत केवल एक योजना स्पष्ट तथा पूर्ण यह थी कि युद्ध के पश्चात् देश के औद्योगीकरण को रोका जाय।"[1]

1. "We could make everything and yet nothing. We were just suppliers of anything and everything, menders, repairers of all things on earth, but the makers of none. We had no system, no plan. Rather there was a plan clear-cut and through to prevent the industrialisation of the country in the post-war period." —*Eastern Economist*, Aug 31, 1945

उपर्युक्त कारणो के परिणामस्वरूप ही भारत के स्वतन्त्र होने के बाद राष्ट्रीय सरकार को विरासत मे ऐसी अर्थ-व्यवस्था मिली जो अनेक बीमारियों से पीडित थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति ही उसका एकमात्र उपचार नहीं था। उसको ठीक करने के लिए उसकी मृतप्राय धिराओ मे नवजीवन डालना था। औद्योगीकरण, पूंजी-निर्माण, विज्ञान तथा टेक्नालॉजी का प्रयोग, सस्थागत पुनर्निर्माण, वित्तीय सुविधायें, भारतीय उद्योगो को विदेशी स्पर्द्धा से सरक्षण आदि को कुछ ऐसी पूर्वगामी आवश्यक्तायें थी जिनके लिए राष्ट्रीय सरकार को प्रयत्न करना था। इन आवश्यकताओ की पूर्ति एक योजनाबद्ध तरीके से ही की जा सकती थी। अत देश ने पचवर्षीय योजनाओ के द्वारा देश के आर्थिक एव सामाजिक नव-निर्माण के लिए आवश्यक कदम उठाये हैं।

प्रश्न

1. स्वतन्त्रता के पूर्व भारतीय अर्थ-व्यवस्था क्या वास्तव मे अविकसित थी? इस सम्बन्ध मे आप अपने विचार प्रकट कीजिए।

2. परतत्र भारत मे आर्थिक स्थिरता के कारणों पर प्रकाश डालिए।

3. "भारत मे जब तक अग्रेजी राज्य रहा, उसने इस देश के आधुनिक उद्योगो के विकास पर कोई विशेष ध्यान नही दिया।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

4. भारत की आर्थिक स्थिरता मे भारतीय पूजीपतियो तथा परम्परागत जीवन-पद्धति का कहा तक दोष रहा है?

द्वितीय खण्ड

1. भारत मे जनसख्या
   Population of India
2. भारत मे बेरोजगारी की समस्या
   Problems of Un-employment of India

6
भारत में जनसंख्या
(Population in India)

"The rapid increase of population in our country is one of the most disquieting problems with which we are faced Despite the wide popularity and efficient organisation of the Family Planning Programme, the population continues to grow at an alarming rate, thus striking at the very roots of planned development."

—S Radhakrishnan

किसी भी देश के आर्थिक विकास में वहां की जनसंख्या का महत्वपूर्ण योगदान होता है। जिस देश में अनुकूल जनसंख्या तथा लोगों में देश को समृद्धशाली बनाने की भावना पाई जाती है, वह देश निश्चय ही पग-पग पर सफलता प्राप्त करता जाता है। इसके विपरीत जिन देशों की जनसंख्या उनके साधनों के अनुरूप नहीं है, अर्थात् कम या ज्यादा है, वे देश प्राय पिछड़े रह जाते हैं। भारतवर्ष एक ऐसा ही देश है जहां जनसंख्या साधनों की तुलना में बड़ी तीव्र गति से बढ़ती जा रही है। जनसंख्या की इस वृद्धि के कारण देश के आर्थिक विकास को धक्का लगता है। देश की यह बढ़ी हुई जनसंख्या हमारे लिए अभिशाप बनी हुई है। इस बढ़ी हुई जनसंख्या के कारण ही आज कई अन्य आर्थिक समस्यायें भी हमारे सामने आ खड़ी हुई हैं, जैसे—खाद्य की समस्या, बेरोजगारी की समस्या, निवास की समस्या पिछड़ेपन को दूर करने की समस्या आदि। जब तक हमारे देश में जनसंख्या की समस्या का समाधान उचित तरीके से नहीं कर लिया जाता, तब तक हम इससे सम्बन्धित तमाम समस्याओं को भी हल नहीं कर सकते। सच तो यह है कि हमारे पंचवर्षीय आयोजन उसी समय सफल हो सकते हैं जबकि हम अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या पर प्रभावशाली रोक लगाने में सफल हो जायेंगे।

जनसंख्या वृद्धि का इतिहास

भारतवर्ष की जनसंख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। आज भारत के पास कुल विश्व के भू क्षेत्र का 2.4% भाग है, किन्तु उसे विश्व की कुल जनसंख्या के 15% भाग का भरण-पोषण करना पड़ रहा है। सन् 1881 ई० में भारतवर्ष में

पहली बार जनगणना हुई थी। उस समय भारत की जनसंख्या 25 4 करोड़ थी। सन् 1921 ई० तक जनसंख्या की गति कुछ-कुछ धीमी थी। सन् 1921 ई० के महाविभाजन के वर्ष तक भारत की जनसंख्या में कोई महत्वपूर्ण वृद्धि नहीं हुई थी, लेकिन उसके पश्चात् जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ने लगी, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

भारत मे जनसंख्या वृद्धि

जनसंख्या का वर्ष	जनसंख्या (करोड़ो मे)	दस वार्षिक वृद्धि या कमी (करोड़ो मे)	दशक मे प्रतिशत वृद्धि या कमी
1901	23 6	—	—
1911	25 2	+1 6	+5 73
1921	25 1	—0 1	—0 31
	महाविभाजनका वर्ष		
1931	27 9	+2 8	+11 01
1941	31 9	+4 0	+14 22
1951	36 1	+4 2	+13 31
1961	43 9	+7 8	+21 50
1971	54 7	+10 8	+24 06

उक्त तालिका के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भारत में सन् 1921 ई० तक जनसंख्या वृद्धि की समस्या नहीं थी। इसके अतिरिक्त इन वर्षों में वृद्धि की दर भी कोई विशेष ऊँची नहीं थी वरन् अन्य देशों की तुलना में काफी कम थी। सन् 1919 ई० में अकेले इन्फ्लूएन्जा महामारी में ही 2 करोड़ 20 लाख व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। 1921 से पूर्व भारत जनसंख्या परिवर्तन (demographic transition) की पहली अवस्था में था। लेकिन इसके बाद यह जनसंख्या विस्फोट की दूसरी अवस्था में पहुँच गया। इसी कारण 1921 ई० वर्ष को महाविभाजन का वर्ष कहते हैं।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ से जन्म दर तथा मृत्यु दर के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सन् 1901 ई० से सन् 1921 ई० तक जन्म दर 46 से 49 प्रति हजार के बीच थी और मृत्यु दर 41 से 48 प्रति हजार के बीच थी। लेकिन सन् 1921 से सन् 1961 तक जन्म दर तो प्राय स्थिर ही रही लेकिन मृत्यु-दर में काफी कमी आ गई। मृत्यु-दर जो 1911-21 में 48 6 प्रति हजार थी वह सन् 1961–66 में केवल 17 2 रह गई। 1969 में जन्म दर प्रति हजार 39 रह गई है। 1973–74 तक यदि परिवार नियोजन सम्बन्धी सभी कार्यक्रम योजनानुसार सफल होते रहे तो जन्म दर प्रति हजार 32 तक हो जाने की सम्भावना है।

1 अप्रैल 1971 ई० को जनसख्या 54 7 करोड थी। पिछले दशक मे अर्थात् 1961 व 1971 के बीच जनसख्या 10 79 करोड बढी है। इस तरह पिछले दशक मे जनसख्या मे 24 57 प्रतिशत वृद्धि हुई। दूसरे शब्दो मे,जनसख्या की वृद्धि दर विगत दशक मे 2 46 प्रतिवर्ष रही। भारतवर्ष मे प्रत्येक डेढ सेकिन्ड मे एक बच्चा पैदा होता है।

जनसख्या का घनत्व (Density of Population) :

जनसख्या के घनत्व से हमारा तात्पर्य किसी देश मे प्रति वर्ग किलोमीटर रहने वाले निवासियो की सख्या से है। यदि किसी देश की कुल जनसख्या को वहाँ के क्षेत्रफल से विभाजित कर दिया जाय तो वहाँ की जनसख्या का घनत्व मालूम हो जाता है। सन् 1971 मे भारत की जनसख्या का घनत्व 182 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है। भारत मे जनसख्या का वितरण विभिन्न राज्यो मे समान नहीं है। एक ओर तो बहुत बडी जनसख्या वाले प्रदेश है, जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार व महाराष्ट्र, दूसरी ओर आसाम व जम्मू कश्मीर राज्य है, जहाँ जनसख्या बहुत कम है। जनसख्या के घनत्व की दृष्टि से भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों की स्थिति इस प्रकार है —

भारत के विभिन्न राज्यो मे जनसख्या का घनत्व (1971 मे)

राज्य	जनसख्या का घनत्व	राज्य	जनसख्या का घनत्व
दिल्ली	2723	आन्ध्र प्रदेश	157
केरल	548	मैसूर	153
पश्चिमी बगाल	507	असम	150
बिहार	324	उडीसा	141
तामिलनाडू	316	गुजरात	136
उत्तर प्रदेश	300	मध्य प्रदेश	94
पजाब	268	राजस्थान	75
हरियाणा	225	हिमाचल प्रदेश	62
महाराष्ट्र	164	नागालैण्ड	31

भारतवर्ष मे जनसख्या की वृद्धि के साथ साथ जनसख्या के औसत घनत्व मे भी वृद्धि होती जा रही है। यदि हम भारत की जनसख्या के घनत्व की तुलना अन्य देशो से करे तो प्रति वर्ग किलोमीटर मे निवास करने वाले लोगो के आधार पर भारत का स्थान मध्यम जन-घनत्व वाले देशो मे आता है। भारत की स्थिति न तो जापान, इगलैड, प जर्मनी जितनी बुरी है जिनका घनत्व सन् 1968 मे क्रमश 273, 227, व 243 था और न ही अमेरिका, रूस या कनाडा जितनी अच्छी है जिनका घनत्व क्रमश 21, 11 व 2 था।

जनसंख्या के घनत्व में अन्तर के कारण :

उपरोक्त तालिका से यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के विभिन्न भागो मे जनसंख्या का घनत्व समान नहीं है। इस भिन्नता के कई कारण हैं, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं —

1. प्राकृतिक दशा . सामान्यत पहाड़ी और पठारी भागो मे जीवन-यापन अपेक्षाकृत कठिन होता है। फलस्वरूप ऐसे क्षेत्रो मे जनसंख्या का घनत्व मैदानो की अपेक्षा कम होता है।

2 जलवायु सामान्यत जिन क्षेत्रो का जलवायु स्वास्थ्य-वर्द्धक होता है तथा कृषि व उद्योगो के अनुकूल होता है, वहा अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है। लोग साधारणतया अनुकूल जलवायु वाले क्षेत्रो मे ही रहना पसन्द करते हैं।

3 वर्षा जनसंख्या का घनत्व वर्षा की मात्रा पर भी निर्भर करता है। उचित समय और उचित मात्रा मे वर्षा आने वाले क्षेत्रो मे जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत अधिक होता है, क्योंकि ऐसे क्षेत्रो का आर्थिक विकास काफी तीव्र गति से हो जाता है।

4 सिचाई की सुविधायें वर्षा के अभाव म भी यदि किसी क्षेत्र विशेष मे सिचाई की समुचित सुविधायें उपलब्ध है तो ऐसे क्षेत्रों मे भी जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत अधिक होगा। उदाहरणार्थ, पजाब का घनत्व बहुत कुछ सिंचाई की सुविधाओ के कारण ही अधिक है।

5 भूमि की उर्वरता जिन क्षेत्रो की जमीन अधिक उपजाऊ होती है, उन क्षेत्रों मे कम उपजाऊ भूमि वाले क्षेत्रो से अधिक जनसंख्या का घनत्व पाया जाता है। यही कारण है कि उत्तर का गगा–सतलज का मैदान बहुत घना बसा हुआ है, क्योंकि यहा की मिट्टी बहुत उपजाऊ है, जबकि राजस्थान मे मरुभूमि होने के कारण कम जनसंख्या निवास करती है।

6 औद्योगिक उन्नति औद्योगिक दृष्टि से विकसित क्षेत्रो मे लोगो को भरण-पोषण के साधन आसानी से उपलब्ध हो जाते है। फलस्वरूप ऐसे क्षेत्रो मे अधिक लोग रहने लगते है।

7 सुरक्षा एव शान्ति जो स्थान सीमाओ से दूर एव सुरक्षित है, जहा जान माल को कोई खतरा नहीं है तथा जहा शान्तिमय जीवन बिताया जा सकता है, ऐसे क्षेत्रो मे प्राय अधिक लोग बस जाया करते है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी और अपने व्यवसाय की सुरक्षा प्रिय होती है।

8 परिवहन की सुविधा परिवहन की सुविधा वाले क्षेत्रो मे भी जनसंख्या

अपेक्षाकृत अधिक निवास करती है, क्योकि ये क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से सामान्यत उन्नतिशील होते है।

9 खनिज सम्पत्ति की उपलब्धि बिहार, मध्यप्रदेश, उडीसा आदि राज्यो के उन क्षत्रो मे जनसख्या का घनत्व बढ गया है, जहा खनिज पदार्थ निकाले जाते है, क्योकि इन क्षेत्रो मे खानो मे काम करने के लिए अधिक लोगो की आवश्यकता होती है और लोग सुविधा पाकर इन्ही क्षेत्रो मे बस जाते है।

10 राज्य की राजधानी राज्य की राजधानी राजनैतिक, सामाजिक एव आर्थिक गतिविधियो का केन्द्र होती है, फलस्वरूप यहा जनसख्या का घनत्व अन्य नगरो की अपेक्षा अधिक होता है।

11 शैक्षणिक केन्द्र वाराणसी, अलीगढ, इलाहाबाद आदि नगरो मे जनसख्या का घनत्व इसलिए अधिक है कि शिक्षण केन्द्र होने के कारण यहा दूर दूर से विद्यार्थी पढने के लिए आते हैं।

12 धार्मिक कारण हरिद्वार, वाराणसी, मथुरा, अजमेर आदि कुछ धार्मिक नगरो का घनत्व इसलिए बढ गया है, क्योकि धार्मिक जनता प्राय ऐसे स्थानो पर बसना पसन्द करती है।

13 आवास-प्रवास राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक या धार्मिक कारणो से जब जनसख्या का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे आवास प्रवास होता है, तब जिन क्षेत्रो मे आवास होता है, वहा जनसख्या का घनत्व बढ जाता है तथा जिन क्षेत्रो से प्रवास होता है, वहा जनसख्या का घनत्व कम हो जाता है।

क्या भारतवर्ष मे जनाधिक्य है ?

भारतवर्ष मे जनाधिक्य है या नही, इस सबध में दो विरोधी विचारधारायें पाई जाती है। कुछ विद्वान् भारतवर्ष मे जनाधिक्य की स्थिति का स्वीकार करते हैं तथा देश की बढती हुई जनसख्या पर रोक लगाने का जोरदार समर्थन करते है। इसके विपरीत दल मे कुछ एसे भी विद्वान् है जिनका मत है कि भारत मे जनसख्या अधिक नही है। यही नही, उनका यह भी मत है कि अगर जनसख्या और भी बढ जाय तो भी भारत उस बढी हुई जनसख्या के भरण पोषण मे समर्थ है। सही वस्तु स्थिति जानने के लिए इन दोनो दृष्टिकोणो का सक्षेप मे विवेचन करना आवश्यक है। ये दृष्टिकोण ह —

(क) आशावादी दृष्टिकोण प्राय ये लोग अपने मत की पुष्टि के लिए अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त की शरण लेते है तथा इनका कहना है कि यदि देश मे प्राकृतिक साधनो का सम्पूर्ण शोषण किया जाय तो जनसख्या का भार इतना महसूस

नही होगा जितना कि अब महसूस होता है। आशावादी दृष्टिकोण रखने वाले विचारकों ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं —

1. प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त हमे यह बताता है कि यदि देश मे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बढ रही हो, तो जनाधिक्य नही होगा। भारतवर्ष मे राष्ट्रीय आय मे उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। सन् 1950-51, 1955-56, 1960-61, 1965-66, 1967-68 मे क्रमश. प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय 247 5, 267 8, 293 2, 302 7 तथा 323 3 रुपये थी। चूकि राष्ट्रीय आय मे उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है, इसलिए जनाधिक्य नही माना जा सकता।

2 प्रचुर प्राकृतिक साधन भारतवर्ष मे प्राकृतिक साधनो के अतुल भडार भरे पड़े हैं। हमारे देश मे वन सम्पत्ति और खनिज सम्पत्ति की कमी नही है। कमी केवल यह है कि इन साधनो का समुचित विदोहन नही हुआ है। समुचित विदोहन हो जाने पर जनसख्या का भूत स्वत गायब हो जायेगा।

3 अर्थ-व्यवस्था का पिछड़ापन वर्तमान समय मे भारतीय कृषि पिछड़ी हुई है। लघु व कुटीर उद्योग प्राय समाप्त हो चुके है। भविष्य मे इनके विकास की बहुत सम्भावनाए है। कृषि मे कई गुनी वृद्धि करके तथा कुटीर उद्योगो का विकास करके भारतवर्ष वर्तमान जनसख्या से भी अधिक जनसख्या का भरण पोषण कर सकता है। स्वय महात्मा गाधी ने कुटीर उद्योगो के महत्व के सम्बन्ध मे कहा था कि यदि इनका समुचित विकास कर दिया जाय तो ये वर्तमान जनसख्या से दूनी जनसख्या का भरण-पोषण करने मे समर्थ होंगे।

4 जनसख्या का घनत्व ससार के बहुत से देशो मे जनसख्या का घनत्व हमारे देश की अपेक्षा कही अधिक है। उदाहरणार्थ, जापान, इगलैंड, इटली मे जनसख्या का घनत्व क्रमश 273, 227, व 175 व्यक्ति प्रति वर्ग किलो-मीटर है, जबकि भारत मे जनसख्या का घनत्व केवल 160 है। जब अधिक जनसख्या के घनत्व वाले क्षेत्र मे जनाधिक्य की समस्या नही है, तब भारतवर्ष मे ही कैसे जनाधिक्य हो सकता है?

5 जन-वृद्धि दर यद्यपि वर्तमान समय मे जन वृद्धि-दर 2 46 प्रतिशत है, तथापि यदि दीर्घकालीन दर पर दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि 1901–1951 की अवधि मे भारत मे जनसख्या केवल 52% वृद्धि हुई, जबकि ससार के कई उन्नतशील देशो मे जनसख्या की वृद्धि उसी अवधि मे 100% हुई अत भारत मे जनाधिक्य नही कहा जा सकता, पश्चिमी देशो की तुलना मे भारत की जनसख्या अपेक्षाकृत कम दर से बढ रही है जैसा कि अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट है

1881 से 1930 के बीच 50 वर्षों मे
जनसख्या में वृद्धि

देश	जनसख्या मे वृद्धि दर
भारत	39 प्रतिशत
इगलैंड	54 ,,
जापान	74 ,,
अमेरिका	186 ,,

6 **कृषि उपज बढने की सम्भावना** डा० आर० के० दास का मत है कि भारतवर्ष मे केवल 30 प्रतिशत जमीन का ही सही प्रयोग हो रहा है। 70% कृषि-योग्य भूमि व्यर्थ पडी हुई है। हमारी नदियो का पानी व्यर्थ बह जाता है। यदि इसका 10% भाग भी सिचाई के काम आ सके तो उपज मे पर्याप्त वृद्धि हो सकती है और जनसख्या का भार इतना महसूस नहीं होगा।

7 *अन्य तर्क* आशावादी व्यक्ति प्राय यह भी कहते है कि मनुष्य केवल पेट लेकर ही पैदा नहीं होता, दो हाथ भी लाता है। अत जनसख्या की वृद्धि से अनावश्यक रूप से घबराना उचित नहीं है। कुछ लोग यह भी तर्क देते है कि उद्योगो मे कुशल श्रमिको का अभाव है और इस आधार पर वे जनाधिक्य नहीं मानते।

(ख) निराशावादी दृष्टिकोण

निराशावादी दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानों का कहना है कि भारतवर्ष मे वर्तमान समय मे जनाधिक्य है। उनके तर्क प्राय माल्थस के जनसख्या सिद्धान्त पर आधारित है। निराशावादी विद्वानो ने अपने मत के समर्थन मे निम्नलिखित तर्क दिये है —

1 **जनसख्या मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि** माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार भारतवर्ष मे जनाधिक्य पाया जाता है, क्योकि यहा जनसख्या मे खाद्य सामग्री की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से वृद्धि हुई है। भारतवर्ष मे इतना खाद्यान्न नहीं है कि यहा की समस्त जनसख्या का भरण-पोषण हो सके। 15 अगस्त, सन् 1947 से नवम्बर 1966 की अवधि मे भारत को 2634 करोड रुपयो का खाद्यान्न विदेशो से मगाना पडा, अत देश मे जनाधिक्य है।

2 **प्राकृतिक प्रतिबन्धों का लागू होना** माल्थस ने यह भी बताया है कि जब देश मे जनसख्या बहुत बढ जाती है तब प्रकृति अपने नृशस हाथो से बढी हुई जन-सख्या का सहार कर देती है। भारतवर्ष मे प्रति वर्ष आने वाली बाढें समय-समय पर फैलने वाली महामारिया, अकाल, आदि की स्थिति, ये सब बातें साबित करती है कि भारतवर्ष मे जनाधिक्य है।

3 **ऊंची मृत्यु दर** गत 21 वर्षों के आर्थिक नियोजन के बावजूद भी भारतवर्ष में मृत्यु दर अन्य देशों की तुलना में बहुत अधिक है जो प्राकृतिक प्रतिबन्धों की उपस्थिति का आभास देती है तथा जनाधिक्य की पुष्टि करती है।

4 **नीचा जीवन स्तर** भारतवर्ष में लगभग 90% लोग भूख की सीमा के निकट हैं। लोगों को सुविधाओं और विलासिता की कौन कहे, आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुएं भी नहीं मिल पाती। न तन ढकने को कपड़ा और न पेट भरने को भोजन मिलता है। यह स्थिति जनाधिक्य की द्योतक है।

5 **बेकारी का पाया जाना** भारत में जनाधिक्य के कारण ही लोग बहुत बड़ी संख्या में बेकार हैं। प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्त में बेकारों की संख्या 35 लाख थी जो बढ़ कर चौथी योजना के अन्त तक लगभग 1 करोड़ 50 लाख हो जायेगी। इतनी बड़ी संख्या में लोगों का बेकार होना यह साबित करता है कि देश में जनाधिक्य है।

6 **वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि** जनाधिक्य के कारण ही कृषि व उद्योग के क्षेत्रों में योजनाओं के फलस्वरूप जो वृद्धि हुई है, वह जनसाधारण की आवश्यकता से कम पड़ जाती है और बाजार में इन वस्तुओं के मूल्य उत्तरोत्तर बढ़ जाते हैं।

7 **शिक्षा का अभाव** जनाधिक्य के कारण ही भारत में तीन-चौथाई लोग शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ हैं, क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या को शिक्षा-सुविधायें दिलाना कठिन पड़ रहा है।

उपर्युक्त तथ्य यह पूर्णतया साबित कर देते हैं कि भारतवर्ष में जनाधिक्य की स्थिति है। जो लोग यह कहते है कि भारत में जनसंख्या की समस्या है ही नहीं, वे केवल कल्पना-लोक में ही विचरण करते हैं। सच तो यह है कि यदि हमने जनसंख्या को रोकने के लिए तुरन्त कदम न उठाये तो हमारा सारा आर्थिक नियोजन असफल हो जायेगा। अतः सोच-समझकर जनसंख्या को सीमित करना परमावश्यक है, अन्यथा जनवृद्धि हमारी आर्थिक प्रगति को निगल जायेगी।[1]

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एवं विद्वान डा० राधाकमल मुखर्जी, डा० ज्ञानचन्द, प्रो० वत्तल, आदि के मतानुसार भारतवर्ष में जनाधिक्य की समस्या विद्यमान है।

भारतीय जनसंख्या की विशेषताएँ भारतवर्ष में जनसंख्या सम्बन्धी विशेषताएँ अग्रलिखित हैं —

1. "Careful population planning is an urgent necessity in India on population growth would tend to eat up economic growth in a marked manner."

—*Alak Ghosh*, Indian Economy—Its Nature and Problems. p 176

1. जनसंख्या की अधिकता—भारतवर्ष में सन् 1971 ई० की जनगणना के अनुसार जनसंख्या 54.7 करोड़ है। देश के वर्तमान साधनों को देखते हुये यह जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है। भारतवर्ष में बढ़ती हुई निर्धनता, सामान्यत ऊँची जन्म दर, खाद्यान्नों की चिन्ताजनक कमी तथा अकालों की उपस्थिति—ये सभी लक्षण देश में जनाधिक्य साबित करते है।[1] संसार में चीन को छोड़ कर भारत में सर्वाधिक जनसंख्या है। भारत की जनसंख्या विश्व की जनसंख्या का 1/8 भाग है।

2 जनसंख्या के घनत्व में अन्तर—भारत के सभी भागों में जनसंख्या का घनत्व एक सा नहीं है। एक ओर प० बंगाल, उत्तर प्रदेश व केरल में जनसंख्या का घनत्व अधिक है तो दूसरी ओर आसाम, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा जम्मू व काश्मीर में जनसंख्या का घनत्व बहुत कम है। अमेरिका की तुलना में यहा जनसंख्या का घनत्व अधिक है, जबकि जापान की तुलना में कम। भारत, अमेरिका व जापान में जनसंख्या का घनत्व क्रमश 160, 21 व 273 है।

3 कार्यशील जनसंख्या का अनुपात कम है—सन् 1971 की जनगणना के अनुसार 1 से 14 वर्ष तक की उम्र वाले 41 1 प्रतिशत, 15 से 55 वर्ष तक की उम्र वाले 51 1 प्रतिशत तथा 55 वर्ष से अधिक उम्र वाले 7 8 प्रतिशत व्यक्ति थे। इस आयु रचना से यह पता चलता है कि भारत में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात अन्य देशों से कम है।

4 स्त्री पुरुष अनुपात में स्त्रियां कम—सन् 1971 की जनगणना के अनुसार भारत में पुरुषों की जनसंख्या 28 30 करोड़ तथा स्त्रियों की संख्या 26 29 करोड़ थी। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार भारत में इस समय प्रति हजार पुरुषों के पीछे 932 स्त्रियां है। स्त्री पुरुष अनुपात (Sex Ratio) के दृष्टिकोण से यद्यपि योरोप के अनेक भाग स्त्री बहुसंख्यक है, किन्तु भारतीय जनसंख्या पुरुष बहुसंख्यक है। यदि हम देश के विभिन्न राज्यों में स्त्री-पुरुष अनुपात का अवलोकन करें तो पता चलता है कि केरल व उड़ीसा स्त्री बहुसंख्यक राज्य है। बिहार, तामिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, मैसूर एव मध्य प्रदेश यद्यपि पुरुष बहुसंख्यक जनसंख्या वाले राज्य है तो भी इनमें स्त्रियों की संख्या राष्ट्रीय औसत (932) से अधिक है। महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, जम्मू व काश्मीर, पश्चिमी बंगाल, असम व पंजाब ऐसे प्रान्त है जहां स्त्रियों का अनुपात राष्ट्रीय औसत से कम है। सन् 1901 की तुलना में अगले दशकों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या में निरन्तर कमी होती चली गई है जैसा कि अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट है—

1 "The appalling poverty of our people, usually high birth rate, serious food shortages accompanied by famines, are usually considered to be the symptoms of over population in India."

स्त्रियाँ प्रति हजार पुरुष

	1911	1921	1931	1941	1951	1961	1971
समस्त भारत	963	953	940	934	947	941	932

5 **औसत उम्र का कम होना**—भारत म सन् 19>1 से 1960 ई० के बीच पुरुषो की औसत आयु 41 9 वर्ष तथा स्त्रियो की औसत आयु 40 6 वर्ष थी। स्त्री एव पुरुष दोनो की सम्मिलित औसत आयु 41 2 थी। इस समय भारत मे जन्म के समय प्रत्याशित आयु 53 वर्ष है। आयु प्रत्याशा मृत्यु दर पर निर्भर करती है और मृत्यु दर स्वय बीमारी जीवन-दशाओं, पोषण स्तर, स्त्रियो की देखभाल, शिशु भरण कर आदि अनेक तत्वो पर निर्भर करती है। यदि हम अन्य देशो से तुलना करें तो हमारे देश के निवासियो की औसत उम्र बहुत कम मालूम पडती है। अमेरिका मे पुरुषो व स्त्रियों की औसत उम्र क्रमश 65 व 70 वर्ष है। लेकिन यह सतोष का विषय है कि औसत आयु उत्तरोत्तर वृद्धि की दिशा मे है जैसा कि निम्न तालिका मे स्पष्ट है—

भारत में जन्म के समय प्रत्याशित आयु

(वर्षो म)

दशक	पुरुष	स्त्रिया
1901–1910	22 59	23 31
1911–1920	19 42	20 91
1921–1930	26 91	26 56
1931–1940	32 09	31 37
1941–1950	32 45	31 66
1951–1960	41 90	40 60
1961–1965	48 70	48 10
1966–1970	>3 20	52 60

Source India, 1971, p 9

6 **जनसख्या की तीव्र वृद्धि दर**—भारत मे जनसख्या बडी तीव्र गति से बढ रही है। सन् 1951 से 1961 मे जनसख्या वृद्धि दर 2 1% थी। पिछले दशक मे अर्थात् 1961–1971 की अवधि मे जनसख्या 10 79 करोड बढी है। इस प्रकार जनसख्या मे 24 ›7 प्रतिशत वृद्धि हुई अर्थात् जनसख्या की वृद्धि दर 2 46 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। इस समय तो भारतवर्ष मे हर 1½ सेकण्ड के बाद बच्चा पैदा होता है और हर वर्ष 210 लाख बच्चे जन्म लेते हैं। भारतवर्ष एक आस्ट्रेलिया अपनी जनसख्या मे जोड लेता है। 1994 तक, एक अनुमान के अनुसार भारत की जनसख्या 100 करोड तक हो जाने का अनुमान है।

7 **जन्म व मृत्यु दर का ऊँचा होना**—भारत की जनसख्या की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ जन्म दर व मृत्यु-दर अन्य देशो की अपेक्षा ऊँची है। सन् 1951–61 के बीच जन्म-दर 42 प्रति सहस्र तथा मृत्यु दर 23 प्रति सहस्र थी। पिछले दशक मे यह वृद्धि 13 प्रति सहस्र थी। इगलैंड व फ्रास मे जन्म-दर क्रमश 15 9 व 19 4 तथा मृत्यु दर क्रमश 12 6 तथा 13 9 है। सन् 1961 से 1971 के दशक मे मृत्यु दर घट कर 15 6 प्रति हजार रह गई लेकिन जन्म दर इसी अवधि मे बहुत कम घटी, अर्थात् 42 प्रति हजार से घट कर 39 8 प्रति हजार रह गई। इस प्रकार हम देखते है जनसख्या स्वाभाविक वृद्धि दर तेजी से बढ रही है जिसके कारण हम 'जनसख्या विस्फोट' की स्थिति का अनुभव कर रहे है।

8 **गावों में अधिक जनसख्या**—भारत कृषि प्रधान देश होने के नाते गावो मे बसता है। सन् 1961 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसख्या का 18 प्रतिशत भाग शहरो मे तथा शेष 82 प्रतिशत भाग ग्रामो मे निवास करता है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार 43 8 करोड अर्थात् 80 प्रतिशत व्यक्ति गावो म रहते थे, जबकि 10 9 करोड अर्थात् 20 प्रतिशत लोग नगरो मे निवास करते थे। यदि पिछले कई दशको का अध्ययन किया जाये तो पता चलता है कि अब उत्तरोत्तर शहरो की ओर जनसख्या बढती जा रही है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है—

भारत में 1911–1961 के बीच गांवो व नगरो की जनसख्या

जनगणना का वर्ष	1901	1911	1921	1931	1941	1951	1961	1971
गावो मे जनसख्या का प्रतिशत	90 1	90 6	88 7	87 9	86 1	82 7	82 2	80
नगरो मे जनसख्या का प्रतिशत	9 9	9 4	11 3	12 1	13 9	17 3	17 8	20

9 **व्यवसाय के अनुसार जनसख्या में भिन्नता**—सामान्यत व्यवसायों को 3 वर्गों मे बाटा जा सकता है—कृषि, पशु पालन, मत्स्य पालन एव वन आदि व्यवसायो को *प्राथमिक उद्योग या व्यवसाय* कहते है, क्योंकि ये उद्योग प्रकृति की सहायता से चलाये जाते है तथा मानव जीवन के लिए ये प्राय अनिवार्य से होते हैं। द्वितीयक उद्योग या व्यवसाय मे छोटे व बडे पैमाने के निर्माण उद्योग सम्मिलित किए जाते है। कभी कभी खान खोदने के व्यवसाय को भी इसी मे सम्मिलित किया जाता है हालांकि यह उद्योग प्राथमिक उद्योगो की श्रेणी मे गिना जाना चाहिए। तृतीयक (Tertiary) क्षेत्र मे परिवहन, सचार, बैंकिंग, वित्त प्रबन्ध आदि की क्रियाएं सम्मिलित की जाती है। सामान्यत प्राथमिक उद्योगो की प्रधानता पिछडी हुई अर्थ व्यवस्था की द्योतक मानी जाती है, जबकि द्वितीयक एव तृतीयक व्यवसायो की प्रधानता विकसित अर्थ-व्यवस्था की प्रतीक समझी जाती है। कोलिन क्लार्क (Colin Clark) के शब्दो मे— *प्रति व्यक्ति वास्तविक आय के ऊँच औसत स्तर* का तृतीयक उद्योगों के श्रमिको के बडे अनुपात से काम करने से सदा सम्बन्ध रहता है प्रति व्यक्ति निम्न वास्तविक आय का सदा तृतीयक उद्योगो मे काम करने वाले श्रमिको की कम सख्या और प्राथमिक उद्योगो मे कार्य करने वाले श्रमिको की अधिक सख्या से सम्बन्ध होता है।'[1] अन्य विकसित व उद्योग प्रधान देशो की तुलना मे हमारे देश के अधिकतर लोग खेती मे लगे हुए है जबकि उन देशो मे अधिकतर लोग उद्योगो मे लगे है। उदाहरणार्थ, इगलैंड मे केवल 4% तथा अमेरिका मे 9% लोग खेती मे लगे हुए है जबकि भारत मे 72 28% लोग खेती मे लगे हुए है। सन 1951 तथा 1961 मे विभिन्न व्यवसायो के अनुसार जनसख्या का वितरण इस प्रकार रहा —

कार्यशील जनसख्या का पेशेवर विभाजन

व्यवसाय या पेशा	पुरुष श्रमिकों का प्रतिशत	
	1951	1961
1 कृषि व खनिहर श्रमिक	66 85	64 88
2 वन, बागानो व खानो मे काम करने वाले	2 79	3 10
3 घरेलू उद्योगो मे लगे हुए व्यक्ति	9 84	11 27
4 निर्माण कार्यो मे लगे हुए लोग	1 19	1 41
5 व्यापार व वाणिज्य मे लगे हुए लोग	5 49	5 29
6 परिवहन व सचार म लगे हुए लोग	2 04	2 28
7 सेवाओ मे लगे हुए लोग	11 80	11 77

1 *Colin Clark* The Conditions of Economic Progress p 182

पेशे के अनुसार जनसंख्या के वितरण सम्बन्ध में आंकड़ों का अध्ययन करने से देश की अर्थ-व्यवस्था का पिछड़ापन स्पष्ट हो जाता है। भारत की 70 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या कृषि व सम्बन्धित व्यवसायों में कार्यरत है। 10 से 12 प्रतिशत जनसंख्या खान, उद्योग तथा निर्माण कार्यों में लगी हुई है। 15 से 17 प्रतिशत लोग तृतीयक व्यवसायों में लगे हुए हैं। 1951 से 1961 के मध्य जहां कृषि में लगे हुए व्यक्तियों का अनुपात घटा है वहां बागाना, उद्योगों तथा परिवहन में लगे हुए व्यक्तियों का अनुपात काफी बढ़ा है। फिर भी अन्य देशों की तुलना में यहां की जनसंख्या की कृषि पर निर्भरता बहुत अधिक है। सामान्यतः यह धारणा है कि कृषि पर जनता की अधिक निर्भरता निर्धनता की द्योतक होती है क्योंकि कृषि कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति की उत्पादिता सगठित उद्योगों और तृतीयक क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्ति की तुलना में केवल एक तिहाई होती है। द्वितीयक एवं तृतीयक उद्योगों में तीव्र गति से विकास न होने के कारण कृषि क्षेत्र के अतिरिक्त लोगों को रोजगार नहीं मिल पा रहा है, फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर अर्द्ध-रोजगार की स्थिति बनी हुई है। भारत में प्राथमिक उद्योगों की प्रधानता की निरन्तरता निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाती है— 75553

वर्ग	1901	1931	1951	1961	1967
प्राथमिक व्यवसाय	71 8	74 8	72 1	72 3	73 2
द्वितीयक व्यवसाय	12 6	10 2	10 6	11 7	10 9
तृतीयक व्यवसाय	15 6	15 0	17 3	16 0	15 9
योग	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0

जहां तक तृतीयक क्षेत्र का सम्बन्ध है 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यह लगभग स्थिर रहा है। इसमें बहुत कम परिवर्तन हुआ है। बजाय बढ़ने के इसमें थोड़ी कमी ही हुई है जो हमारे पिछड़ेपन की प्रतीक है।

तृतीयक क्षेत्र में जनसंख्या का अनुपात भी थोड़ा ही घटता-बढ़ता रहा है। इसमें बहुत थोड़ी सी वृद्धि हुई है। यही कारण है कि भारत में निर्धनता एवं बेरोजगारी की समस्या बनी हुई है। नियोजन काल में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि हो

जाने के बावजूद भी भारत के व्यावसायिक ढांचे में अब तक तो विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। इन समस्याओं को यदि प्रभावशाली ढंग से सुलझाना है तो हमें व्यावसायिक ढांचे में परिवर्तन करके द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्रों में अधिक लोगों को रोजगार दिलाना होगा।

10. आश्रितों की अधिकता—भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण काम करने वाले लोगों के ऊपर आश्रितों का बोझ अधिक है। संसार के अन्य रहे जाने वाले देशों में से शायद ही कोई देश ऐसा हो जहाँ आश्रितों की इतनी अधिकता हो। 1961 की जनगणना के अनुसार कार्य करने वाले केवल 42.7%, तथा आश्रित लोग या अनुत्पादक उपभोक्ता 57.3% थे।

11. निम्न जीवन स्तर—भारतवर्ष की जनसंख्या की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ के लोगों का रहन-सहन का स्तर अपेक्षाकृत अधिक नीचा है। लोगों को आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करने तक में कठिनाई पड़ती है। उपभोग स्तर नीचा है।

12. सामान्य पिछड़ापन—भारत के लोगों में शिक्षा का प्रसार पर्याप्त नहीं हुआ है। अब भी लगभग 74% भाग शिक्षा की सुविधाओं से वंचित है। फलस्वरूप लोगों का बौद्धिक स्तर नीचा है। पौष्टिक पदार्थों के अभाव में शारीरिक क्षमता भी नीची है।

भारत में जनाधिक्य के कारण :

भारतवर्ष में जनावृद्धि बहुत तीव्र गति से हो रही है, अतः इसके कारणों को जानना आवश्यक हो जाता है। साधारणतः मृत्यु-दर का कम होना तथा जन्म-दर का बढ़ना जनसंख्या की दर की वृद्धि को बढ़ावा देते हैं। वे कारण जो जन्म-दर को प्रभावित करते हैं, वही जनसंख्या वृद्धि को भी प्रभावित करते हैं। संक्षेप में भारतवर्ष में जनाधिक्य के कारण निम्नलिखित हैं

1. विवाह की अनिवार्यता—भारतवर्ष में विवाह अनिवार्य धार्मिक व सामाजिक कार्य है। वे व्यक्ति जो शादी के बिना रह जाते हैं, समाज उन्हें अच्छी निगाह से नहीं देखता। विवाह की व्यापकता एवं अनिवार्यता जन्म-वृद्धि में सहायक है। पश्चिमी देशों में ऐसी बात नहीं है। भारतवर्ष में सन्तान उत्पन्न करने योग्य स्त्रियों में से 76 प्रतिशत स्त्रियाँ विवाहित हैं, जबकि इंग्लैंड में 35 वर्ष की आयु की केवल 55 प्रतिशत स्त्रियाँ ही विवाहित होती हैं।

2. बाल-विवाह—भारतवर्ष में लगभग 80 प्रतिशत लड़कियों का विवाह 15-20 वर्ष की उम्र में हो जाता है। फलस्वरूप प्रजनन की अवधि का विस्तार हो जाता है, क्योंकि सामान्यतः स्त्रियों में 45 वर्ष की आयु तक प्रजनन-शक्ति पाई

जाती है। 15 से 45 वर्ष की अवधि परिवार में बच्चों की बाढ़ ला देती है। इंगलैंड तथा अमेरिका में 30 वर्ष की आयु की अविवाहित स्त्रियां क्रमशः 41 व 23 प्रतिशत है।

3 संयुक्त परिवार प्रथा—भारतवर्ष में जनावृद्धि के लिए संयुक्त परिवार प्रथा भी कुछ हद तक जिम्मेदार है। यहां सामूहिक दायित्व होने के कारण, सन्तान पैदा करते समय, माता-पिता अपना उत्तरदायित्व अनुभव नहीं करते, क्योंकि उनके भरण-पोषण का दायित्व सीधे उनके कन्धों पर न होकर संयुक्त परिवार की जिम्मेदारी बन जाती है।

4 सन्तान की तीव्र लालसा—धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़िवादिता के कारण लोगों में सन्तान-लालसा पाई जाती है। वे समझते हैं कि बिना पुत्र पैदा हुए उनकी मुक्ति नहीं हो सकती। सन्तान प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े अनुष्ठान किये जाते हैं। *सन्तान प्राप्ति की यह तीव्र लालसा जनसंख्या को अबाध गति से बढ़ाती है।*

5 अज्ञान एवं अशिक्षा—भारत के एक चौथाई लोग ही शिक्षित हैं। अधिकांश लोग अशिक्षित एवं अज्ञानी होने के कारण भाग्यवादी बन गए हैं तथा वे बच्चों को भगवान की देन समझते हैं, जिसे रोकना धर्म के विरुद्ध आचरण करना समझते हैं।

6 मनोरंजन के साधनों का अभाव—डॉ० चन्द्रशेखर के मतानुसार "स्त्री सम्भोग भारत का एक राष्ट्रीय खेल है।"[1] भारतीय किसानों व श्रमिकों को जीवन की नीरसता को दूर करने के लिए मनोरंजन सम्बन्धी सेवाएं उपलब्ध नहीं हैं फलस्वरूप वे अपने घरों में ही अपनी नीरसता को दूर कर लेते हैं, जिसका परिणाम जनाधिक्य के रूप में प्रकट होता है।

7 निर्धनता—भारत में निर्धन लोगों के परिवार प्रायः बड़े पाये जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि निर्धन लोग बच्चों से कम उम्र में ही काम कराना शुरू कर देते हैं जिससे कि वे परिवार की आय बढ़ा सकें। अतः वे जनसंख्या कम करने के पक्ष में नहीं हैं।

8. अधिक बाल मृत्यु दर—भारतवर्ष में बाल मृत्यु दर बहुत है, अतः माता-पिता इसलिए अधिक सन्तानें पैदा करते हैं कि यदि उनमें से कुछ असमय में काल-कवलित हो जाय तो भी कुछ बच्चे बचे रहें। अतः मृत्यु के विरुद्ध बीमा करने की यह प्रवृत्ति जनसंख्या में वृद्धि कर देती है।

9. निरोधक सुविधाओं का अभाव—भारत की जनसंख्या का कुछ भाग परिवार नियोजन करना चाहता है, परन्तु आवश्यक सुविधाओं एवं जानकारी के

1. 'Sex-play is the national sport in India' Dr. Chandra Shekhar

अभाव मे वह ऐसा नही कर पाता। साथ ही हमारे देश मे सस्ते उपकरण भी लोगो को उपलब्ध नहीं है।

10. जलवायु का प्रभाव—उष्ण जलवायु के कारण भारत मे स्त्रियो मे प्रजनन-शक्ति (Puberty) जल्दी शुरू हो जाती है और अपेक्षाकृत अधिक होती है। फलस्वरूप जन-वृद्धि की गति बढ जाती है।

11 बहु-विवाह प्रथा—भारत मे अब तक लोग कई शादिया कर सकते थे। मुसलमानों मे तो यह रिवाज खासकर पाया जाता है। बहु-विवाह के कारण जन-संख्या बहुत तीव्र गति से बढती है।

12 आवास की समस्या—गत् कुछ वर्षो मे बहुत से भारतीय लका, बर्मा, पाकिस्तान, केनिया आदि देशो मे राजनैतिक परिस्थितियों के कारण स्वदेश वापस आगए है, अत जनसख्या मे बढोतरी हो गई है।

13 विधवा विवाह—भारतवर्ष में कुछ नीचो जातियो में विधवा स्त्रियो व परित्यक्त स्त्रिया के पुनर्विवाह को सामाजिक मान्यता प्राप्त है जिससे जनसख्या में बढोतरी को बल मिलता है।

14 स्त्रियो के प्रति सहयोगी भावना का अभाव—भारतवर्ष मे स्त्री-समुदाय को आर्थिक दृष्टि से पराधीन होने के कारण केवल कामवृत्ति की पूर्ति का साधन व घर-गृहस्थी सम्भालने वाला माना जाता है। यह भी जनसख्या की वृद्धि का एक प्रमुख कारण है।

15 विभाजन का प्रभाव—भारतवर्ष मे 1947 के बाद जनसख्या के भार मे वृद्धि का एक कारण यह भी रहा है कि देश के विभाजन के बाद अविभाजित भारत के कुल क्षेत्र का 77% भाग भारत मे रहा तथा शेष 23% पाकिस्तान चला गया, जबकि जनसख्या का 81% भाग भारत मे रह गया और केवल 19% भाग पाकिस्तान में गया। फलस्वरूप भारत में जनसख्या का भार अपेक्षाकृत अधिक रहा।

16 आर्थिक नियोजन का प्रभाव—विगत नियोजन काल मे एक ओर चिकित्सा सुविधाओ के विस्तार के कारण प्लेग, मलेरिया, हैजा आदि महामारियो की कमी के कारण मृत्यु दर मे काफी कमी हो गई है जबकि दूसरी ओर जन्म दर में इतनी कमी नहीं हुई फलस्वरूप जनसख्या अबाध गति से बढती रही है।

जनसख्या वृद्धि के उपर्युक्त वर्णित कारणों मे से बाल-विवाह तथा शादी की अनिवार्यता ही जनवृद्धि के प्रमुख कारण है। यद्यपि जनसाधारण की निर्धनता भी जनवृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण मानी जा सकती है, तथापि गहराई से देखने पर सामाजिक एवं धार्मिक कारण ही इस समस्या के मूल मे सर्वोपरि है। डा०

ज्ञानचंद के शब्दों में, "भारत में अत्यधिक जन्म दर सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का परिणाम है। अतएव जब तक हमारे सामाजिक एवं नैतिक वातावरण में आमूल परिवर्तन नहीं होगा, तब तक पश्चिमी देशों की तरह हमारे देश में भी जन्म दर में कोई कमी की आशा नहीं की जा सकती।"[1]

जनसंख्या की वृद्धि के प्रभाव— भारत में जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि ने कई भीषण समस्यायें खड़ी कर दी हैं जिनमें से प्रमुख निम्न हैं—

1 **भूमि पर जनाभार में वृद्धि**—जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि ने भूमि पर जनाभार को आवश्यकता से अधिक बना दिया है। इससे कृषि उपज तो कम हो ही गई है साथ ही साथ कृषि विषयक अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं।

2. **बेकारी की समस्या**—भारत में फैली हुई बेकारी का सबसे महत्वपूर्ण कारण जनसंख्या का अबाध गति से बढ़ना ही है। जब तक जनसंख्या की वृद्धि पर प्रभावशाली नियन्त्रण न लगाया जायेगा तब तक बेकारी की समस्या का समाधान सम्भव नहीं है।

3 **खाद्यान्न की समस्या**—खाद्यान्नों को बढ़ाने के हमारे सारे प्रयत्न जनवृद्धि के कारण असफल हो गए हैं। जितना खाद्यान्न हम पचवर्षीय योजनाओं में बढ़ाते हैं, उसके अनुपात से कहीं अधिक जनसंख्या बढ़ जाती है। फलस्वरूप खाद्यान्नों की कमी पूर्ववत् बनी रहती है।

4 **निर्धनता की समस्या**—भारत के लोग निर्धनता में पिस रहे हैं। जनवृद्धि के कारण अधिकांश जनता का जीवन स्तर बहुत नीचा है। देश से निर्धनता एवं दरिद्रता को उस समय तक दूर नहीं किया जा सकता जब तक की जनसंख्या को सीमित नहीं किया जाता

5 **औद्योगिक केन्द्रों के दुष्परिणाम**—जनसंख्या की वृद्धि ने शहरों में निवास की समस्या पैदा कर दी है। लोगों को गन्दे एवं अस्वास्थ्यकर वातावरण में रहने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। बढ़ती हुई जनसंख्या के अनुपात में निवास एवं अन्य सुविधाओं को बढ़ना सम्भव नहीं है, फलस्वरूप लोगों को नगरों में कष्टमय जीवन बिताना पड़ रहा है।

6 **कम राष्ट्रीय आय की समस्या**—भारतवर्ष पचवर्षीय योजनाएं बनाकर अपने निवासियों की आय बढ़ाना चाहता है। बढ़ती हुई जनसंख्या राष्ट्रीय आय को

1 The high birth rate in India is a part of our culture and it is only when the *moral sentiments of the community change either by* choice or by the force of circumstances at a fall in the birth rate comparable with the fall which has taken place elsewhere can be expected"

Dr Gyanchand Indian s Teeming Millions, p 145,

तीव्र गति से नहीं बढ़ने देती। एक ओर कुल राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है तो दूसरी ओर उसमें भाग लेने वालों की संख्या बढ़ जाती है, फलस्वरूप प्रति व्यक्ति आय ज्यों की त्यों रहती है। भूतपूर्व योजना मंत्री श्री अशोक मेहता ने ठीक ही कहा है, "जनसंख्या में वृद्धि रात्रि के चोर के समान है जो हमारी आर्थिक विकास में प्राप्त सफलता को हम से लूट ले जाता है।

7. पूंजी निर्माण में बाधा—जनसंख्या की वृद्धि ने भारत में पूंजी निर्माण की गति को भी हतोत्साहित कर दिया है क्योंकि जनसाधारण को जीवनस्तर बनाये रखने के लिए अधिक उपभोक्ता वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसका परिणाम यह होता है कि बचत तथा विनियोग घट जाते हैं। तृतीय पंचवर्षीय योजना में ठीक ही कहा गया है, "एक अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था में जहां प्रति व्यक्ति पूंजी बहुत कम होती है, जनसंख्या की वृद्धि की अधिक दर बचत की मात्रा में बढ़ोतरी करना और भी कठिन कर देती है जिस पर अधिकतर उत्पादन और आय में वृद्धि की सम्भावनाएं निर्भर रहती हैं। इसके अतिरिक्त विनियोग का अधिकांश अंश पूंजीगत वस्तुओं की अपेक्षा आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर लगाना पड़ेगा जिसके फलस्वरूप विकास की सम्भावित दर और कम हो जायेगी।"

8. कार्यक्षमता में ह्रास की समस्या—अधिक जनसंख्या के कारण राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय कम हो जाती है जिससे लोगों का रहन-सहन का स्तर नीचा हो जाता है। नीचा रहन-सहन का स्तर लोगों की कार्य-क्षमता पर प्रतिकूल असर डालती है।

इसके अलावा जनसंख्या की अबाध वृद्धि समाज के लोगों में तनाव का वातावरण पैदा करती है, क्योंकि लगातार बढ़ती हुई जनसंख्या उनके सभी मनसूबों पर पानी फेर देती है और उनमें निराशावादी दृष्टिकोण पैदा करती है। छात्रों में अनुशासनहीनता, राजनैतिक क्षेत्र में अस्थिरता एवं आर्थिक विकास में गतिरोध के मूल में जनसंख्या की ही समस्या छिपी हुई है। बार-बार होने वाले प्रजनन के कारण स्त्री श्रमिक दीर्घकाल तक उत्पादन कार्यों में भाग नहीं ले सकती, फलस्वरूप आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न होती है।

जनसंख्या की वृद्धि के भयंकर परिणामों तथा परिवार नियोजन की तीव्र आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए डॉ० चन्द्रशेखर ने ठीक ही कहा है, "हम बहुत जल्दी में हैं। एक रात की भी प्रतीक्षा नहीं कर सकते। पांच मिनट की हर भूल से बच्चे का जन्म हो जाता है और प्रतिवर्ष भारत में एक आस्ट्रेलिया के बराबर जनसंख्या आकर जुड़ जाती है। परिवार नियोजन के बिना हिन्दुस्तान एक भयावह स्वप्न है।"

जनसख्या की वृद्धि के दुष्परिणामों की चर्चा करते हुए दिसम्बर 1958 ई० में अखिल भारतीय चिकित्सा परिषद में भारत सरकार के तत्कालीन स्वास्थ्य मन्त्री डॉ० करमाकर ने ये उद्गार प्रकट किये थे "जनसख्या में असाधारण वृद्धि राष्ट्र के समक्ष गम्भीर समस्याएं उत्पन्न कर रही है तथा देश के विकास मे बाधायें उत्पन्न कर रही है। देश का स्वास्थ्य व्यक्तियों के गुण तथा देश के पुनरुत्थान इत्यादि चीजें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जनसख्या की समस्या पर ही आधारित है।"[1]

जनसख्या समस्या सम्बन्धी सुझाव—भारत में ही नहीं, जनसख्या की समस्या विश्व भर के लिए अभिशाप सिद्ध हो रही है। प्रति मिनट 225 बच्चों का जन्म होने से एक विकट परिस्थिति पैदा हो गई है खासतौर से उस समय जबकि न तो भूमि का विस्तार किया जा सकता है और न उर्वरा शक्ति को ही एक सीमा से अधिक बढ़ाया जा सकता है। अत इस समस्या को सुलझाना अत्यधिक आवश्यक है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव महत्त्वपूर्ण है—

1 शिक्षा का प्रसार—शिक्षित होने पर लोग प्राय 'मोटर कार अथवा बच्चे' में बहुधा मोटर कार को ही प्राथमिकता देंगे।' प्रो० महालानोबिस ने भी अपने अनुसधान के आधार पर यह बताया है कि जिन परिवारों में शिक्षा का प्रकाश पाया जाता है, उन परिवारों में प्राय कम बच्चे होते है।

2 देर से विवाह—लड़कियों की विवाह उम्र कम से कम 20 वर्ष कर देनी चाहिए। इससे प्रजनन-काल कम हो जायेगा, फलस्वरूप जनसख्या भी घटेगी। जनमत व कानून के द्वारा विवाह की आयु बढ़नी चाहिए।

3. जनसख्या का समान वितरण—जनसख्या का क्षेत्रिक वितरण समान किया जाना चाहिए ताकि जनभार सभी स्थानों पर एक सा रहे।

4 नैतिक सयम पर बल—लोगो में आत्मसयम की भावना का विकास किया जाना चाहिए जैसा कि गाधीजी का सुझाव था। आत्मसयम जनवृद्धि को रोकने का एक प्रभावशाली एव आदर्श तरीका है। व्यावहारिक दृष्टि से अवश्य यह कठिन प्रतीत होता है।

---

1. 'The abnormal increase in our population is posing serious threat before nation. It is lowering the standard of living, increasing conditions of unemployment, and arresting the growth of the country. The health of the nation the *quality of individual, the economic recovery of the country, are based directly or indirectly on the problem of population.*"

Dr. P. D. Karmakar

5. औद्योगीकरण—देश में बड़े व लघु तथा कुटीर उद्योगों का विकास करके तथा साधनों का समुचित विदोहन करके जनसंख्या की समस्या को हल किया जा सकता है।

6 स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता—स्त्रियों को शिक्षित कर यदि उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता दिला दी जाय तो वे निश्चय ही परिवार को सीमित करने के लिए प्रयत्नशील रहेंगी, क्योंकि स्त्रियां सामान्यतः प्रसव की निरन्तर पीड़ा से बचना चाहती हैं।

7 अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास—डॉ० राधाकमल मुकर्जी तथा डॉ० एस० चन्द्रशेखर ने जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिए भारतीयों द्वारा विदेश प्रवास नीति का समर्थन किया है। डॉ० चन्द्रशेखर के मतानुसार प्रवास कम जनसंख्या वाले देशों में किया जाय तथा इस कार्य को कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था कराये।

8 परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को बढ़ाया जाय—देश में परिवार नियोजन के अधिकाधिक केन्द्र खोले जाय तथा विवाहित लोगों को परिवार नियोजन के बारे में आवश्यक जानकारी दी जाय। गर्भ निरोधक रीति, वन्ध्याकरण की रीति तथा निरोधक टिकियों एवं लूप आदि का अधिकाधिक प्रचार किया जाय।

9 विवेकहीन मातृत्व पर रोक—भूतपूर्व जनगणना आयुक्त श्री गोपालस्वामी का सुझाव है कि यदि किसी स्त्री के 3 बच्चे हो चुके हैं और उनमें से एक भी जीवित है तो उसके आगामी मातृत्व पर कानूनन रोक लगा देनी चाहिए।

10 अन्य सुझाव—(i) जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण को सुधार कर आर्थिक सतुलन स्थापित किया जाय, (ii) जनसंख्या आयोग को जनवृद्धि के रोकने के उपायों पर भी सुझाव देना चाहिए, (iii) उच्च कक्षाओं की लड़कियों को परिवार नियोजन सम्बन्धी शिक्षा देनी चाहिए तथा (iv) परिवार नियोजन कार्यक्रमों को सामुदायिक विकास-खण्डों के माध्यम से लागू करना चाहिए।

जनसंख्या नीति—भारत सरकार की जनसंख्या नीति को निम्नलिखित चार कालों में विभाजित किया जा सकता है—(1) उपेक्षा काल अर्थात् 1947 के पूर्व का समय, (2) तटस्थता-काल अर्थात् 1947 से 1951 तक, (3) अनुभवकाल अर्थात् 1951 से 1961 तक, (4) नियंत्रण नीति के प्रारम्भ का काल अर्थात् 1961 के बाद का समय। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व सन् 1938 में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए जन्म दर को नियंत्रित करने के लिए परिवार नियोजन की सिफारिश की थी। सन् 1946 में भोर समिति ने अपनी रिपोर्ट में जन्म दर को नियंत्रित करने के लिए परिवार नियोजन का समर्थन किया था। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी परिवार नियोजन की आवश्यकता स्वीकार

की थी लेकिन वे कृत्रिम साधनों के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने इस समस्या को सुलझाने के लिए संयम से रहने की सलाह दी थी।

भारतवर्ष में परिवार नियोजन कार्यक्रमों की शुरुआत स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त नियोजन काल में ही सही अर्थों में की गई। भारत सरकार की वर्तमान जनसंख्या नीति की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं :(1) जन्म दर को सन् 1975-76 तक 41 प्रति हजार से घटा कर 25 या 20 प्रति हजार तक लाना, (2) देश के प्रत्येक दम्पत्ति को छोटे परिवार की आवश्यकता को समझाना, (3) जिस दम्पत्ति की 3 सन्तानें है उन्हें आपरेशन के लिए तैयार करना, (4) जनसंख्या नियन्त्रण सम्बन्धी कुछ कानूनी पहलुओं पर निर्णय लेना, जैसे (क) लड़कियों की विवाह की न्यूनतम आयु 16 से बढ़ा कर 20 वर्ष करना, (ख) किन्हीं स्थितियों में गर्भपात को वैधानिक रूप देना, (ग) अविवाहित व्यक्ति को आयकर में छूट देना तथा (घ) तीन बच्चों के बाद अनिवार्य बन्ध्याकरण की व्यवस्था करना।

भारत में परिवार नियोजन (Family Planning in India)—परिवार नियोजन से तात्पर्य परिवार को सोच समझ कर सीमित रखना है तथा बच्चों की उत्पत्ति में पर्याप्त फासला रखना है। परिवार नियोजन का प्रमुख उद्देश्य यह है कि सन्तान दम्पत्ति की इच्छानुसार होनी चाहिए न कि घटनावश। परिवार नियोजन के लिए सन्ततिनिरोध की उचित विधियों को अपनाना आवश्यक होता है। पाश्चात्य देशों ने तो परिवार नियोजन को वर्षों पूर्व अपना लिया था और आज यह उनके जीवन का अभिन्न अंग बन चुका है। भारत में परिवार नियोजन की ओर विगत 15–20 वर्षों से विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

परिवार नियोजन के साधनों के सम्बन्ध में कुछ लोग संयम पर बल देते हैं और सतति निग्रह के उपायों को अनैतिक मानते है। लेकिन यह विचार शुद्ध सैद्धान्तिक है। व्यवहार में इसके अन्तर्गत वे प्रभावशाली उपाय आते है जिनसे जन्म दर पर प्रभावपूर्ण रोक लगाई जा सके। इसके अन्तर्गत देर से शादी, झिल्ली, लूप, गोलियों का प्रयोग, बन्ध्याकरण, नसबंदी आदि उपाय आते है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन—प्रथम पंचवर्षीय योजना में 126 परिवार नियोजन केन्द्र शहरों में तथा 21 ग्रामीण क्षेत्रों में खोले गये। इस योजना में 19 अनुसंधान केन्द्र स्थापित किये गए तथा केन्द्रीय परिवार नियोजन मंडल (The Central Family Planning Board) बनाया गया। इस योजना में 65 लाख रुपये निर्धारित किये गये थे, परन्तु केवल 18 लाख रुपये ही खर्च किये जा सके। विश्व स्वास्थ्य संघ के Dr Stone को इस समस्या पर सुझाव देने के लिए आमन्त्रित किया गया था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन—दूसरी योजना में 5 करोड रुपये की धनराशि परिवार नियोजन के कार्यों के लिए निर्धारित की गई थी। इस योजना में परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को और भी बढ़ाया गया। परिवार नियोजन कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने के लिए एक केन्द्रीय परिवार नियोजन आयोग की स्थापना की गई तथा प्रत्येक राज्य में भी इसी प्रकार के परिवार नियोजन आयोग स्थापित किए गए। समाचार पत्रों, विज्ञापनों, पोस्टर तथा फिल्मों के द्वारा जन-साधारण को परिवार नियोजन के विषय में प्रशिक्षित करने का प्रयास किया गया। इस योजनावधि में 549 शहरी केन्द्र तथा 1100 ग्रामीण केन्द्र खोले गए।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन—तृतीय योजना में 24 86 करोड रुपये परिवार नियोजन कार्यक्रम पर व्यय किए गए। इस योजना के अन्त तक भारतवर्ष में 11000 परिवार नियोजन केन्द्र खोले जा चुके थे। इस योजना की अवधि में परिवार नियोजन सम्बन्धी विशेष संगठन बनाया गया। तृतीय योजना में बन्ध्यकरण के आपरेशनों की संख्या 13 3 लाख रही। स्वास्थ्य मन्त्रालय का नाम बदल कर स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन मन्त्रालय रखा गया तथा इसके आधीन एक सचिव की देखरेख में एक परिवार-नियोजन विभाग बनाया गया। एक केन्द्रीय परिवार नियोजन संस्था की भी स्थापना की गई।

1966–69 की अवधि में परिवार नियोजन कार्यक्रमों पर 63 38 करोड रुपये व्यय किये गये।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन—चौथी योजना में परिवार नियोजन के लिए 315 करोड रुपये के परिव्यय की व्यवस्था है और सन् 1973–74 तक वर्तमान जन्म दर 39 प्रति हज़ार को घटाकर 32 प्रति हज़ार पर लाने का लक्ष्य रखा गया है। परिवार नियोजन को इस योजना में सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है। लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बन्ध्यकरण, लूप तथा खाने की गोलियाँ एवं इन्जेक्शन के गर्भरोधक तरीकों के लक्ष्य को आगे बढ़ाने का प्रस्ताव है। चालू गर्भरोधक उपायों को भी आगे बढ़ाया जायेगा ताकि 1973–74 तक 100 लाख व्यक्ति इन्हें अपना सकें। इन उपायों के फलस्वरूप 1973–74 तक 280 लाख दम्पतियों के सुरक्षित होने की सम्भावना है तथा योजना की अवधि में कुल 180 लाख बच्चों के जन्म के टलने की आशा है।

विगत नियोजन काल में परिवार नियोजन की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किये गये हैं। देश में सस्ते रबड़, गर्भ निरोधकों की पूर्ति कार्यक्रम के अन्तर्गत सरकार ने 'निरोध' नामक झिल्ली को लोकप्रिय बनाया है। इसकी बिक्री के 2 लाख केन्द्र स्थापित किये जा चुके हैं। जुलाई 1971 तक 99 लाख नसबन्दी के आपरेशन किये

गए, 39 लाख लूप प्रयोग किए गए। सन् 1968–69, 1969–70 तथा 1970–71 में क्रमश 16 6 लाख, 14 2 लाख तथा 12 8 लाख बन्ध्यकरण आपरेशन किए गए।

परिवार नियोजन कार्यक्रमों का मूल्यांकन—यद्यपि विगत वर्षों में परिवार नियोजन कार्यक्रमों का खूब जोर-शोर से प्रचार किया गया है, तथापि इस दिशा में कोई ठोस प्रगति नहीं हुई है। इसके अनेक कारण है, जिनमे से प्रमुख है, (i) ग्रामीण क्षेत्रों में कम प्रचार के कारण भारत की अशिक्षित तथा विस्तृत जनसंख्या तक यह कार्यक्रम नही पहुच सका, (ii) गर्भ निरोध के अधिकांश साधनों का नि शुल्क उपलब्ध न होना (iii) लूप के प्रतिकूल प्रभावों के विषय मे झूठी अफवाहों का बोलबाला, (iv) निजी डाक्टरों व दाइयों द्वारा इन कार्यक्रमों का विरोध (v) लूप लगवाने वाली स्त्रियों की पीड़ा एव इलाज की उपेक्षा (vi) औरतों को इन कार्यक्रमों के लिए पूरी तरह तैयार न किया जाना (vii) इन विधियों का ज्ञान होते हुए भी इनका प्रयोग न किया जाना (viii) परिवार नियोजन कार्यक्रमों मे लगे हुए कर्मचारियों में अनुभव का अभाव (ix) मौखिक गर्भ निरोधकों को (oral contra ceptives) बनाने वालों द्वारा लूप के विरुद्ध कार्यवाही (x) झूँठी कागजी कार्यवाही का बोलबाला एव लक्ष्य प्राप्त करने मे जल्दबाजी (xi) धार्मिक एव साम्प्रदायिक विरोध आदि।

उपर्युक्त कारणों से परिवार नियोजन कार्यक्रमों को आशातीत सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है।

परिवार नियोजन कार्यक्रमों की सफलता के लिए सुझाव

(i) विवाह की आयु लड़के के लिए कम से कम 25 वर्ष तथा लड़की के लिए 20 वर्ष निश्चित की जानी चाहिए (ii) परिवार मे 3 बच्चे हो जाने के बाद प्रत्येक माता या पिता को आपरेशन करा लेना चाहिए ताकि सतान न हो सके (iii) कोढ़, तपेदिक पागलपन जैसे असाध्य रोगों से पीड़ित पुरुषों अथवा स्त्रियों का अनिवार्य रूप से आपरेशन करवा देना चाहिए (iv) तीन से अधिक सताने उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों पर कर लगाना चाहिए ताकि वे अधिक सतान पैदा करने मे हतोत्साहित हो साथ ही कम सतान वाले व्यक्तियों को कर मे छूट देकर प्रोत्साहन दिया जाय, (v) जनसाधारण मे परिवार सीमित करने की प्रेरणा देने के लिए देश के कोने-कोने मे परिवार नियोजन सुविधाओं का जाल बिछा दिया जाय (vi) परिवार नियोजन कार्यक्रमों को सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों के साथ मिला दिया जाय, (vii) परिवार निरोधक दवाइयों एव उपकरणों का देश मे उत्पादन बढ़ाया जाय और उन्हें जन-साधारण मे नि शुल्क वितरित किया जाय (viii) परिवार नियोजन के लिए प्रचार जनता की भाषा तथा अभिरुचि के अनुसार किया जाय, (ix) परिवार नियोजन के सम्बन्ध मे जनसाधारण को शिक्षित करने के लिए अधिक संख्या मे परिवार नियोजन

केन्द्र एव अस्पताल खोले जाय, (x) प्रसूति काल मे दिए जाने वाले मातृत्व लाभों को एक या दो सतान के बाद समाप्त कर दिया जाय, (xi) परिवार नियोजन विधियो को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिए प्रलोभन दिये जाय, (xii) परिवार नियोजन कार्यक्रमो के लिए योग्य, अनुभवी एव सहानुभूति रखने वाले कर्मचारियो की ही नियुक्ति की जाय, (xiii) वन्ध्यकरण को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया जाय तथा 2 या 3 सन्तानों के बाद विवाहित स्त्रियों के लिए गर्भपात कराने की कानूनी छूट दी जाय, (xiv) यौन शिक्षा को अध्ययन के विषय के रूप मे मान्यता प्रदान की जाय।

उपसहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत की बढती हुई जनसख्या देश के आर्थिक विकास मे बाधक हो रही है। इसने देश म निराशा का वातावरण पैदा कर दिया है। हमारे आर्थिक प्रयत्नो को सफलता मे जनसख्या की समस्या ही बाधक है। भारत का जन-समुदाय इस समस्या को हल किये बिना अच्छे जीवन-स्तर की कल्पना ही नहीं कर सकता। अत सभी व्यक्तियो, सस्थाओ व सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि इस समस्या के समाधान के लिए मिलजुल कर प्रभावशाली कदम उठायें। बिना जन-सहयोग के इस समस्या को नही सुलझाया जा सकता। सच तो यह है कि यदि हम इस समस्या का समुचित समाधान कर ले तो हमारी अन्य बहुत सी समस्याए स्वत सुलझ जायेंगी। इस सम्बन्ध मे श्री अशोक मेहता ने ठीक ही कहा है, "जनसख्या वृद्धि, भारतीय दुर्ग मे छुपा हुआ एक ऐसा भयकर शत्रु है, जो हमारी समस्त योजनाओ को नष्ट-भ्रष्ट कर रहा है। यदि बेकारी दूर करनी हो, अन्न सकट दूर करना हो, निवास की समस्या हल करनी हो या प्रति व्यक्ति आय बढानी हो, तो हमे जनसख्या की वृद्धि पर कठोर नियन्त्रण करना ही पडेगा।" भूतपूर्व शिक्षा मन्त्री श्री एम सी छागला ने भी बढती हुई जनसख्या के सम्बन्ध मे बडी रोचक बात कही है, "यदि जनसख्या को बढने से रोका न गया तो हमारी प्रगति रेत पर लिखने के समान होगी जिसको जनसख्या मे वृद्धि की लहरें मिटा देगी"।

देश का भावी सुख एव समृद्धि इसी बात पर निर्भर है कि हम जनसख्या की बाढ को रोकने मे कहाँ तक तथा कितनी जल्दी समर्थ होते है। आज हमारे पास ठहरने और रुक कर विचार करने का समय नही है। हमे तो तुरन्त ही कमर कस कर जनसख्या के विस्फोट को रोकने का प्रयास करना चाहिए। परिवार नियोजन आदोलन कोरिया, ताइवान, हागकाग आदि एशियाई देशो मे सफल हुआ है। भारत मे भी यह सफल होकर रहेगा। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम इसे सफल बनाने के लिए प्रयत्नशील हो जाँय।

प्रश्न

1 भारत की जनसख्या की मुख्य विशेषताओ का वर्णन कीजिए।

2 भारतवर्ष मे परिवार नियोजन के महत्व तथा उसकी प्रगति का पूर्णत विवेचन कीजिए। (राज० टी० डी० सी० तृतीय वर्ष 1964)
(राज० बी० ए० ऑनर्स 1967, शोर्टनोट)

3 भारत मे जनसख्या घनत्व के क्या कारण है और उसके क्या आर्थिक परिणाम होते हैं ? (राज० बी० ए० 1966)

4 जनसख्या की वृद्धि का राष्ट्रीय आय पर क्या प्रभाव पडता है ? यदि आप राष्ट्रीय आय मे वृद्धि वाछित समझते है, तो जनसख्या के बारे म आपकी क्या नीति होगी ? (राज० टी० डी० सी० तृतीय वर्ष 1965)

5 "जनसख्या की समस्या का युद्ध-स्तर पर मुकाबला करना चाहिए।" इस कथन की पूर्णत विवेचना कीजिए। (राज० प्रथम वर्ष टी० डी० सी० कला 1969)

6 भारत मे जनसख्या की तीव्र वृद्धि के कारणो का उल्लेख कीजिए। इसे रोकने के लिए क्या उपाय करने चाहिए ?
(राज० प्रथम वर्ष टी० डी० सी० कला 1964, 1967)

7 "जनसख्या की निरन्तर वृद्धि को दृष्टि मे रखते हुए अनन्त काल से भारतीय अर्थ व्यवस्था अस्थिर बनी रही है, उसमे उचित परिवर्तन नही किये गये।" क्या आप इस कथन से सहमत है ? यदि हा तो कारण दीजिए।
(राज० प्रथम वर्ष टी० डी० सी० कला 1968)

8 भारत मे परिवार नियोजन के महत्व तथा उसकी प्रगति का पूर्णतया विवेचन कीजिए। (राज० प्रथम वर्ष टी० डी० सी० कला 1965)

9 सक्षिप्त टिप्पणी—परिवार नियोजन
(राज० प्रथम वर्ष टी० डी० सी० कला 1968)

7

भारत में बेरोजगारी की समस्या

(Problem of Unemployment in India)

बेरोजगारी की समस्या विश्व के समस्त अल्प-विकसित देशो की प्रमुख समस्या है। भारत जैसे विशाल बहुजन सख्यक देश के लिए तो यह और भी जटिल रूप मे हमारे समक्ष उभरी मिलती है। गत कई वर्षों से भारत मे बेरोजगारी निरन्तर बढती ही जा रही है। इसका रूप अत्यन्त भीषण बनता जा रहा है। प्रत्येक क्षेत्र मे, चाहे वह शहर हो अथवा गाँव, प्रत्येक वर्ग मे चाहे वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, कुशल श्रमिक हो अथवा अकुशल, पुरुषो व स्त्रियो इत्यादि सभी मे बेरोजगारी के स्पष्ट दर्शन होते हैं। मानवीय साधनो के अपव्यय के साथ ही साथ कई अन्य राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं का प्रादुर्भाव भी इसीसे होता है। इस दृष्टि से भी बेरोजगारी की समस्या महत्वपूर्ण एव विचारणीय है।

भारत में बेरोजगारी का आकार एव प्रकृति (Nature and Extent of Unemployment in India)—उन्नत एव समृद्ध देशो मे बेरोजगारी का जो रूप एव प्रवृत्ति पाई जाती है वैसी प्रवृत्ति भारत जैसे अल्प-विकसित (Under-Developed) देश मे नही पाई जाती। केन्स (Keynes) ने समृद्ध देशो मे बेकारी का जो स्वरूप बताया है वह चक्रीय (Cyclical) माना है जो सफल माग (Effective demand) के अभाव से उत्पन्न होती है। किन्तु भारत जैसे अल्प विकसित देशो मे बेरोजगारी की स्थिति पूंजीगत अभाव के साथ ही अन्य सहायक साधनो के अभाव से भी बनी रहती है। इस दृष्टि से विकसित देशो मे बेरोजगारी चक्रीय एव अस्थाई रहती है जबकि अल्प-विकसित देशो मे इसका स्वरूप जटिल एव बुनियादी (Basic) होता है मोटे रूप भारत मे बेरोजगारी के तीन स्वरूप दृष्टिगत होते है प्रथमत, खुले रूप मे बेरोजगारी है अर्थात् विशाल श्रम-शक्ति को प्रचलित मजदूरी दर पर कार्य नही मिल पा रहा है। हमारे देश की प्रत्येक पचवर्षीय योजना के साथ इस प्रकार की बेरोजगारी निरन्तर बढती ही जा रही है। इसका दूसरा रूप आंशिक बेरोजगारी (Partial Unemployment) का है अर्थात् सम्पूर्ण वर्ष भर के लिए श्रम-शक्ति का रोजगार मे विलयन नही हो पा रहा है। इसे खुली अर्द्ध बेरोजगारी की सज्ञा दी

जा सकती है। तृतीय रूप में बेरोजगारी निम्न उत्पादकता के कारण होती है। हमारे कृषकों की उत्पादकता अल्प, न्यून अथवा नगण्य है। ऐसी बेरोजगारी छिपी हुई मानी जाएगी।

एक अन्य प्रकार से यदि इसका वर्गीकरण किया जाए तो इसे हम (i) कृषि बेरोजगारी (ii) औद्योगिक बेरोजगारी तथा (iii) शिक्षित एवं मध्यम श्रेणी के लोगों में पायी जाने वाली बेरोजगारी, इन तीन रूपों में विभक्त करेंगे। भारत में आर्थिक विकास के साथ-साथ बेरोजगारी भी बढ़ी है। किन्तु इस सम्बन्ध में पूर्ण एवं विश्वसनीय आकड़ों का उपलब्ध होना कठिन है। इसलिए आकड़ों के अभाव में बेरोजगारी के आकार एवं प्रकार की न्यायोचित जाच भी कठिन है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के शुरू में भारत में कुल बेरोजगारी 5 मिलियन व्यक्तियों की थी तथा जनसंख्या वृद्धि को देखते हुए यह अनुमान लगाया गया कि यह बढ़ कर योजना के अन्त तक 9 मिलियन पहुंच जाएगी। जिसमें से कुल 4 मिलियन व्यक्तियों को रोजगार की सुविधाएं प्रदान की गयी। अतः प्रथम योजना के अंत तक यह बेरोजगारी 5 मिलियन व्यक्तियों की थी। योजना आयोग ने दूसरी पंचवर्षीय योजना में बेरोजगारी को बिल्कुल समाप्त करने की घोषणा की तथा योजना के अन्त तक बेरोजगारों की संख्या का अनुमान 15 3 मिलियन लगाया तथा इतने ही व्यक्तियों को रोजगार देने का लक्ष्य निर्धारित किया लेकिन सरकार की गलत नीतियों के कारण दूसरी योजना के अन्त तक कुल 9 मिलियन व्यक्ति बेरोजगार रहे।

तीसरी योजना में मानव शक्ति के पूर्ण उपयोग के लिए सरकार ने कई विकास कार्यक्रम लागू करने के लक्ष्य निर्धारित किए। दूसरी योजना के 9 मिलियन बेरोजगारों को मिलाकर तीसरी योजना के अन्त तक यह संख्या 26 मिलियन बढ़ जाने की आशा थी लेकिन सरकार ने कुल 14 मिलियन व्यक्तियों को रोजगार की सुविधाएं प्रदान की तथा तीसरी योजना के अन्त तक कुल बेरोजगारों की संख्या 12 मिलियन पहुंच गई। यह बेरोजगारी और बढ़ती चली गई तथा 1971 के अन्त तक भारत में कुल बेरोजगारों की संख्या बढ़ कर 21 मिलियन पहुंच गई है। अतः बेरोजगारी की समस्या भारतीय अर्थव्यवस्था में एक विकट समस्या बन गई है। योजनाबद्ध विकास के साथ साथ यह बेरोजगारी भी बढ़ती जा रही है।

बेरोजगारी के कारण (Causes of Unemployment)—जहाँ तक बेरोजगारी के कारणों का प्रश्न है प्रत्येक क्षेत्र में इसके कारण भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु कुछ संयुक्त सामान्य कारण हैं जिनका विवेचन निम्नांकित शीर्षकों में सन्निहित है

(1) जनसख्या में तीव्र वृद्धि—हमारी अर्थ व्यवस्था की सबसे बडी समस्या जनसख्या की समस्या है। इसका स्पष्ट अनुमान प्रत्येक दसवर्षीय जनगणनाओ से सहज ही लगाया जा सकता है। सन् 1961 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसख्या लगभग 43 करोड थी जो वर्तमान मे बढकर 54 7 करोड के लगभग हो गई है। प्रति वर्ष देश मे 2 2 की दर से जन वृद्धि हो रही है। फलस्वरूप श्रम शक्ति मे भी तीव्र वृद्धि हुइ है। रोजगार के अवसर इस तुलना म अत्यधिक न्यून है। अत जनसख्या की वृद्धि निरन्तर एव बुनियादी बेरोजगारी को जन्म दे रही है।

(2) युद्धोत्तर आर्थिक मन्दी एव छटनी (Retrenchment)—अन्य देशो की भाति भारत मे भी युद्धोत्तर आर्थिक मन्दी का गहरा प्रभाव पडा। युद्धोत्तर काल मे कई विभाग जो प्रतिस्थापित किए गए थे, जैसे नागरिक सभरण विभाग (Civil Supply Dartptment) आदि समाप्त कर दिए गए उनमे वृत्ति प्राप्त लोग बडी सख्या मे निकाल दिए गए। छटनी की इस कुल्हाडी के परिणामस्वरूप पुराने रोजगार की समस्या पुन आ खडी हुई। इसम सर्वाधिक कठिन परिस्थितियो मे मध्यमवर्ग को पिसना पडा। पुनर्वास मत्रालय मे भी अत्यधिक छटनी कर दी गई।

(3) दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति—हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली एकमात्र कलर्को की जन्मदाता है। देश मे प्रचलित शिक्षा पद्धति का औद्योगिक प्रगति के साथ अपेक्षित सतुलन का सर्वथा अभाव है। प्रति वर्ष विश्वविद्यालयो से लाखो की सख्या मे विद्यार्थी मैट्रिक, इन्टर तथा बी ए आदि पास करके निकलते है। जिनको कि रोजगार की तलाश मे इधर-उधर भटकना पडता है। सर एण्डरसन ने पजाब समिति की तैयार की गई रिपोर्ट मे यह स्वीकार किया है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति छात्रो को विदेशी परीक्षाओ के लिए तैयार करने का एक जाल मात्र था। फलस्वरूप प्रत्येक शिक्षित वर्ग सरकारी नौकरी की तलाश मे रहता है। दूसरे, इस शिक्षा-पद्धति ने पैतृक पेशो को भी पगु बना दिया। शिक्षा की यह अनुत्पादकता ही है। किसानो ने भी अपने बच्चो को नौकरी की ओर ही प्रेषित किया है। इसके साथ ही देश मे तकनीकी शिक्षा का अभाव है। केवल पुस्तकीय शिक्षा बेकारी की समस्या का उपाय नही हो सकती।

(4) कृषि का पिछडापन—बहुजनसख्य देश होने के कारण हमारे देश मे कृषि पर जन भार अत्यधिक है। कृषि करने के पिछडे एव प्राचीन तरीको के कारण अधिक उत्पादन क्षमता का अभाव है एव अधिक व्यक्तियो को रोजगार की सुविधाए नही प्रदान की जा सकती। इससे ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारी तथा अल्प बेरोजगारी बढी है।

(5) लघु एवं कुटीर उद्योगों का अभाव—एक विशाल जनसंख्यक देश के लिए उसके लघु एव कुटीर उद्योग-धधे प्राणस्वरूप है। देश की पुरानी दासता के कारण उनको उचित सरक्षण नही मिल पाया। इसके साथ ही मशीनो के अधिकाधिक प्रयोग से सहस्रो व्यक्ति बेरोजगार हो गए। मशीनो द्वारा विशाल पैमाने पर बनी वस्तुओ मे उत्पादन लागत कम लगती है। फलस्वरूप कुटीर उद्योग इस प्रतियोगिता मे नही ठहर सके और इसका प्रत्यक्ष प्रभाव बेरोजगारी पर पडा।

(6) सामाजिक कारण—कुछ जाति-प्रथा, शीघ्र विवाह, सयुक्त परिवार एव साम्प्रदायिक असमानताओ के कारण नवयुवको की प्रगति सम्बन्धी महत्वाकाक्षाओ को ठेस पहुचती है। जाति-प्रथा नवयुवको को अन्य छोटे कामो की ओर जाने से रोकती है तो शीघ्र विवाह द्वारा उन पर पारिवारिक बोझ शीघ्र ही लाद दिया जाता है। परिणामस्वरूप प्रगति का क्षेत्र अधूरा रह जाता है। घर के प्रति मोह की भावना भी बेरोजगारी का एक कारण है।

ऊपर लिखे हुए इन कारणो के अतिरिक्त अकुशल एव अशिक्षित श्रमिको की सख्या मे वृद्धि भी बेरोजगारी के बढने का प्रमुख कारण है। डॉ राव ने इस सम्बन्ध मे एक कारण यह भी दिया है कि जमीदारी प्रथा के उन्मूलन के फलस्वरूप उनकी मातहती मे कार्य करने वालो के भी रोजगार के साधन नष्ट हो गए। साथ ही स्वय जमीदार लोग भी जीविकोपार्जन के लिए नौकरियाँ ढूढने लगे है। इसके साथ ही स्त्रियो मे शिक्षा प्रसार के कारण मध्यम श्रेणी की स्त्रियाँ भी रोजगार चाहने लगी है। अत स्पष्ट है कि बेरोजगारी की समस्या को किसी अथवा कुछ पहलूओ मे नही बाँधा जा सकता।

बेरोजगारी दूर करने के उपाय (Remedies) बेरोजगारी की समस्या इतनी विकट एव गम्भीर है कि इसके लिए किसी एक उपाय को लागू नही किया जा सकता। हमारे देश की बेरोजगारी बुनियादी (Basic) है अत इसके लिए अल्प-कालीन तथा दीर्घकालीन उपाय कार्य मे लाने होंगे। आगामी पक्तियों मे इन्ही उपायो का समावेश है

(1) अल्प कालीन उपाय अल्प-काल मे बेरोजगारी दूर करने के निम्नाकित उपाय कार्य मे लाने चाहिए

(i) योजनाओ के अन्तर्गत दिए गए कार्यो जैसे सिचाई एव शक्ति परियोजनाए आदि मे अथवा सडको के निर्माण कार्यों मे प्रशिक्षण शिविरो की स्थापना की जानी चाहिए।

(ii) लघु एव कुटीर उद्योगो को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। शहरी क्षेत्रो मे औद्योगिक बस्तियों की स्थापना की जानी चाहिए। साथ ही साथ

कुटीर उद्योगों की वस्तुओं को क्रय कर इन्हें बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

(iii) जिन दिशाओं में मानवीय शक्ति का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाया है उनमें प्रशिक्षण सुविधाओं को बढ़ावा दिया जाए। साथ ही वयस्क विद्यालय एवं एक अध्यापक स्कूलों द्वारा प्रशिक्षणों में रुचि ली जाए।

(iv) यातायात एवं परिवहन सेवाओं में वृद्धि की जानी चाहिए। साथ ही राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं में विकास की प्रवृत्ति अपनाई जाए, जिससे अधिकाधिक जन-संख्या इनमें रोजगार पा सके।

(v) निर्माण-कार्यों के विविध तरीके ग्रहण किए जाएं। गृह निर्माण एवं शिल्प सम्बन्धी कार्यों की प्रगति इसके लिए अत्यावश्यक है।

(vi) ग्रामीण एवं निजी क्षेत्रों में सहायक निर्माण कार्यों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(2) **दीर्घकालीन उपाय**—(i) जनसंख्या में वृद्धि-दर का कम किया जाए। जनता में कम बच्चों की भावना का विकास शिक्षा के द्वारा किया जाए। 'कम सन्तान सुखी इन्सान' की भावना के साथ जन-जागृति होनी चाहिए।

(ii) आर्थिक विकास की गति में तीव्रता आनी चाहिए। उद्योगों का तीव्र विकास होना चाहिए साथ ही औद्योगिक विविधता अपनानी चाहिए ताकि रोजगार के नए अवसर प्राप्त हो सकें। इसके अन्तर्गत श्रम प्रधान उद्योगों को प्राथमिकता दी जाए एवं विनियोग का अधिकांश भाग उद्योगों की ओर लगाया जाए।

(iii) हमारी मूल समस्या कृषि की है। कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए आधुनिक वैज्ञानिक तरीके अपनाए जाएं साथ ही सिंचाई, रासायनिक खादों एवं कीटाणुनाशक दवाइयों के प्रयोग द्वारा कृषि की प्रति एकड़ पैदावार में वृद्धि के प्रयास किए जाएं।

(iv) वर्तमान शिक्षा पद्धति में व्यवहारिकता को स्थान दिया जाए। तकनीकी प्रशिक्षण को शिक्षा का मूलाधार बनाया जाए। शिक्षा का सम्बन्ध रोजगार में सहायक होना चाहिए। देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए शिक्षा तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए।

(vi) देश में रोजगार कार्यालयों की संख्या में वृद्धि की जाए जो रोजगार सम्बन्धी सूचनाओं के अतिरिक्त व्यवसायिक क्षेत्र में भी मार्ग-दर्शन करें एवं बाजार सम्बन्धी सूचनाओं का एकत्रीकरण करें।

(v) समय-समय पर सरकार द्वारा पूरक जन कल्याण कार्यों को प्रोत्साहन दिया जाए।

उपर के इन कारणों के अतिरिक्त, अतिरिक्त श्रम शक्ति का प्रयोग उत्पादक कार्यों में किया जाना चाहिए। पारिश्रमिक न्यूनतम आवश्यकताओं को ध्यान में रख

कर दिया जाना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रो मे समन्वय द्वारा ग्राम-सुधार जैसे कार्यों मे प्रोत्साहन की आवश्यकता है। ऐसी योजनाओ द्वारा ग्रामो मे रोजगार उपलब्ध हो सकेगा, साथ ही तकनीकी ज्ञान में भी नियमितता यथावत् बनी रहेगी। इसके साथ ही जन-प्रवास (Migration) द्वारा देश मे जनसख्या का घनत्व विशेष स्थानो से कम किया जाए। इससे समस्या की समान रूप से सघनता रहेगी कहीं अधिक कहीं कम की नहीं।

बेरोजगारी दूर करने के लिए समय-समय पर विभिन्न राज्यो की रिपोर्टों मे भी इस सम्बन्ध मे उपाय दर्शाये गए हैं। हमारे देश के भौतिक एव प्राकृतिक साधनों का अधिकाधिक उपयोग पर बल दिया गया है। मद्रास समिति ने 'क्षेत्रीय उपनिवेश' (Farm Colonies) का सुझाव भी दिया था, किन्तु व्यवहारिकता इसमे कम ही है इस सम्बन्ध मे पजाब वृत्तिहीनता जाँच समिति ने एक यह भी सुझाव दिया था कि उच्चतर कक्षाओ मे उन्हीं छात्रो को प्रवेश दिया जाए जो तीक्ष्ण बुद्धि वाले हों, जिनमे उच्च-श्रेणी की प्रतिभा हो। यदि ऐसे छात्र निर्धन है तो उन्हें सरकारी सहायता प्रदान की जाए। ट्रावनकोर की समिति ने एक सुझाव यह दिया था कि प्रत्येक प्रकार की सरकारी नौकरी के लिए प्रतियोगिता-परीक्षा रखी जाए।

मध्यम श्रेणी एव शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी—हमारी वर्तमान बेरोजगारी मे शिक्षित व्यक्तियो की समस्या अति विकट है। इसमें ऐसे शिक्षित मध्यम-वर्ग सम्मिलित है जो आर्थिक दृष्टि से इतने सुदृढ नहीं है कि अपने रोजगार की स्वय व्यवस्था कर सके। ये लोग शारीरिक श्रम के योग्य भी नहीं होते साथ ही माध्यमिक अथवा उच्चस्तर की शिक्षा प्राप्त किए होते है। एक शिक्षित व्यक्ति का अधिक समय तक बेरोजगार रहना देश की सुरक्षा एव स्थिरता मे बडा व्यवधान है। ऐसे लोग अपने लिए आवाज उठा कर भीषण स्थिति उत्पन्न कर सकते है।

इस प्रकार की बेरोजगारी प्राय शिक्षा प्रणाली के दूषित होने का द्योतक है। प्रतिवर्ष विशाल सख्या मे विद्यार्थियो का शिक्षण-सस्थाओ से निकलना तथा शिक्षा का पुस्तकीय होना इसका प्रधान कारण है। वर्तमान शिक्षा मात्र पुस्तकीय ज्ञान के कुछ नहीं है जो शिक्षित वर्ग के हाथ पैर काट देती है व उन्हे शारीरिक एव मानसिक रूप से पगु बना देती है। दूसरे, अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत वाणिज्य, उद्योग आदि का पर्याप्त विकास नहीं है। युवको का श्रम मे विश्वास नहीं, श्रम का गौरव, श्रम की महत्ता उनकी दृष्टि मे उपेक्षणीय तथा हेय है। युवकों की महत्वाकांक्षा श्रम के स्तर से ऊची है। इसके साथ ही आत्मनिर्भरता, सयुक्त परिवार प्रथा एव अन्य सहायक व्यवसायो की सूचना एव प्रदर्शन के साधनो के अभाव मे मध्यम-वर्गीय बेरोजगारी विशेष बढी है।

इसके लिए शिक्षा प्रणाली को सुधार कर इसे व्यवहारिक एवं व्यवसायिक रूप दिया जाना आवश्यक है। साथ ही साथ आर्थिक विकास के अधिकाधिक अवसर समक्ष आने चाहिए।

अदृश्य एवं कृषि बेरोजगारी—इस प्रकार की बेरोजगारी का यही अर्थ है कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में अधिकांश लोगों को पूर्ण कार्य उपलब्ध नहीं हो पाता है। भूमि पर जनाधिक्य भार ही इसका मूल कारण है। कृषकों की यह बेरोजगारी अदृश्य अथवा अप्रत्यक्ष है। वास्तव में दृष्टिगत तो यही होता है कि सभी कार्यों में जुटे हुए हैं किन्तु अनुपात में वे अधिक ही है।

इसका प्रमुख कारण जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि, कृषि की प्रकृति पर निर्भरता अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था, कृषि का अलाभकारी होना, ग्रामीण वातावरण की प्रतिकूलता, संयुक्त-परिवार-प्रथा, उत्तराधिकार के नियम, आदि हैं। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि ग्राम्य जीवन में शिक्षा का प्रसार किया जाए। साथ ही अर्थ-व्यवस्था को उचित रूप में चलाया जाए। शिक्षित जनता स्वयं ही जनवृद्धि का विरोध करेगी। इसके साथ ही भूमि सम्बन्धी कानूनों में आवश्यक सुधार किया जाए। तीव्र औद्योगीकरण, कुटीर उद्योगों का विकास, कृषि प्रणाली में नवीनतम प्रयोग कर उत्पादन क्षमता में वृद्धि, तथा लघु विकास कार्यक्रमों, सिंचाई, सड़क निर्माण तथा अन्य सार्वजनिक कार्यक्रमों को अपना कर इस प्रकार की बेरोजगारी दूर की जा सकती है।

पंचवर्षीय योजनाएं एवं रोजगार नीति—बेरोजगारी की विकट समस्या को दृष्टिगत में रखते हुए हमारी राष्ट्रीय सरकार ने देश का विकास नियोजन द्वारा करना चाहा। इन योजनाओं का एक मुख्य उद्देश्य लोगों को रोजगार दिलाना रहा है। रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना एवं बेरोजगारी की समस्या का समाधान करना हमारी इन पंचवर्षीय योजनाओं का उद्देश्य रहा है। इन योजनाओं के अन्तर्गत ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में बेरोजगार व्यक्तियों के लिए कार्य की व्यवस्था करना, जनाधिक्य के साथ बढ़ रही श्रम-शक्ति का उपयोग करना एवं गृह उद्योग एवं कृषि में पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करना आदि विषय प्रमुख रहे हैं। आगामी पंक्तियों में विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत किए गए रोजगार सम्बन्धी कार्यों का ही उल्लेख सन्निहित है।

प्रथम योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न समस्याओं को ध्यान में रख कर बनाई गई तथा कृषि के विकास को प्राथमिकता प्रदान की गई। प्रथम योजना के अन्त तक उतनी ही बेरोजगारी बनी रही जो कि योजना के शुरू में थी (5 मिलियन व्यक्ति)। कुल रोजगार 4 मिलियन व्यक्तियों को

दिया गया, जो कि प्रथम योजना के अन्त तक कुल 9 मिलियन बेरोजगारों में से थे। प्रथम योजना में रोजगार न बढ़ने का जो मुख्य कारण था, वह यह था कि नए प्रकार के विनियोगों को नहीं जुटाया जा सका तथा मजदूरी और आय में जो वृद्धि हुई उससे व्यक्तियों के उपभोग-स्तर में भी तीव्र वृद्धि हुए, जिससे बचत को नहीं बढ़ाया जा सका। इसके साथ-साथ जैसे-जैसे नई टेक्नोलोजी का विकास होता है, रोजगार में वृद्धि नहीं होती बल्कि उस अनुपात में बेरोजगारी फैल जाती है, जिसको कि योजना आयोग ने विशेष महत्त्व नहीं दिया। योजना आयोग ने कुल मानव-शक्ति का भी ठीक अनुमान नहीं लगाया, जिसके कारण बेरोजगारी और बढ़ गई। अत: प्रथम योजना में सरकार ने देश में रोजगार की सुविधाएं बढ़ाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किए।

दूसरी योजना—दूसरी योजना के अंत तक कुल बेरोजगारों की संख्या 9 मिलियन पहुंच गई तथा कुल रोजगार इस अवधि में 6.3 मिलियन व्यक्तियों को दिया गया, हालांकि सरकार ने दूसरी योजना में रोजगार की सुविधाएं अधिक से अधिक मात्रा में उपलब्ध कराने का श्रेय इसलिए अपने हाथ में लिया कि दूसरी योजना-'उद्योग-प्रधान' थी, इसलिए नए उद्योगों के विकास के साथ नए रोजगार के साधन भी उपलब्ध कराए जा सके। लेकिन वही विनियोग की समस्या, मानव-शक्ति का गलत अनुमान लगाना, उपभोग-स्तर का बढ़ना, सरकार की गलत नीतियां, विदेशी विनिमय की समस्याएं आदि कुछ ऐसी समस्याएं थी, जोकि देश में रोजगार की सुविधाएं निर्धारित कार्यक्रमों के अनुसार नहीं उपलब्ध करा सकी। खास तौर से योजना आयोग ने जनसंख्या वृद्धि का अनुमान 1% से लेकर 1.3% के बीच में लगाया था, लेकिन वास्तविक वृद्धि 2% की दर से हुई जिससे मानव शक्ति का अनुमान ठीक प्रकार से नहीं लगाया जा सका।

तृतीय योजना – तीसरी योजना में बेरोजगारी को दूर करने के लिए सरकार ने रोजगारों के प्रभावों की व्यापकता एवं सतुलन, ग्रामीण औद्योगीकरण तथा ग्रामीण निर्माण कार्यों—इन तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया। तीसरी योजना के अन्त तक कुल बेरोजगारों की संख्या 26 मिलियन पहुंच जाने का लक्ष्य था, जिसमें से 14 मिलियन व्यक्तियों को रोजगार देने के बाद 12 मिलियन व्यक्ति तीसरी योजना के अन्त तक बेरोजगार रहे। तीसरी योजना में इस समस्या को दूर करने के लिए सरकार को उन्हीं समस्याओं का सामना करना पड़ा, जोकि प्रथम दो योजनाओं में थी। ग्रामीण निर्माण कार्यों के लिए जो कार्यक्रम बनाए गए, उनको पूरा नहीं किया जा सका। चीन के युद्ध के कारण नए उद्योगों का विकास नहीं किया जा सका तथा साथ ही साथ जनसंख्या वृद्धि 2.5% की दर से हुई, जबकि योजना आयोग द्वारा संभावित दर बहुत ही कम थी।

चतुर्थ योजना—1969 मे जिस समय चतुर्थ योजना का प्रारम्भ हुआ, उस समय भारत म कुल बेरोजगारो की सख्या 16 मिलियन थी, जिसम 25 मिलियन नए व्यक्तियो के श्रम-शक्ति मे प्रवेश कर जाने से यह सख्या बढ कर 41 मिलियन पहुच जाने का भय है। चतुर्थ योजना के विकास कार्यक्रमो के अनुसार 21 मिलियन व्यक्तियो को रोजगार की सुविधाए उपलब्ध कराई जा सकती है तथा बाकी 21 मिलियन व्यक्ति योजना के अन्त तक बेरोजगार रह जाएगे। 1971 के अन्त तक की बेरोजगारी की सख्या को देखते हुए जोकि 21 मिलियन है, यह आशका की जा रही है, कि योजना के अन्त तक शायद यह सख्या 30 मिलियन के ऊपर पहुच जाएगी। सरकार ने रोजगार दिलाने के इन लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए शिक्षा के स्तर मे सुधार, टेक्नीकल शिक्षा का विकास, निर्माण कार्यो का विकास, लघु तथा कुटीर उद्योगो का विकास, प्राकृतिक साधनो को ढूढ निकालना, आदि कार्य क्रम अपने हाथ मे लिए है। लेकिन जिन परिस्थितियो मे देश की अर्थ-व्यवस्था चल रही है, यह बेरोजगारी और बढती चली जाएगी।

पाचवी योजना—पाचवी योजना जो कि 1974 से शुरू होने वाली है, रोजगार की समस्या को एक विशेष महत्व दिया गया है। शिक्षित बेरोजगारो तथा अशिक्षित बेरोजगारो के लिए अलग-अलग सरकारी नीतियाँ बनाई गई है। पाचवी योजना मे ग्रामीण निर्माण कार्य, पशु पालन व्यवसाय, लघु उद्योगो के विकास की तरफ सरकार ने विशेष ध्यान दिया है। इन क्षेत्रो का विकास देश की ग्रामीण जनता को रोजगार दिलाने के लिए करने का लक्ष्य रखा है। इसके लिए पाचवी योजना मे 3600 करोड रुपय का प्रावधान रखा गया है। शिक्षित बेरोजगारो को रोजगार दिलाने के लिए अलग-अलग वर्ग के व्यक्तियो को अलग-अलग रोजगार दिलाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। अत पाचवी योजना मे देश मे गरीबी तथा बेरोजगारी समाप्त करने के लिए सरकार दृढ सकल्प है।

निष्कर्ष 22 वर्ष के आर्थिक नियोजन के बाद भी भारत अत्यन्त विषम समस्याओ से घिरा हुआ है। गरीबी तथा बेरोजगारी यह दो समस्याए ऐसी है जोकि किसी भी देश के विकास के कार्यक्रमो मे एक विशेष महत्व रखती है, लेकिन भारत सरकार ने अपनी चारो योजनाओ मे इन समस्याओ के लिए कोई विशेष कार्यक्रम निर्धारित नही किए। कुछ समस्याए तो प्राकृतिक देन है और कुछ ऐसी है, जिनके लिए सरकार स्वय जिम्मेदार है। देश की बढती हुई जनसख्या, वित्तीय साधनो का अभाव, उपभोग के स्तर का बढना जिससे बचत को प्रोत्साहन नहीं मिल सका, अशिक्षा, औद्योगीकरण का अभाव, आर्थिक विकास की धीमी दर, नवीनतम प्रशिक्षणो की कमी आदि कुछ ऐसी समस्याए है, जिनके ऊपर सरकार का ध्यान इन

परिस्थितियों को देखते हुए अनिवार्य है। अगर यही गरीबी, अगर यही बेरोजगारी देश में बढ़ती गई तो अवश्यमेव देश में एक ऐसी क्रान्ति आएगी जिसको कि आज का नौजवान बर्दाश्त नहीं करेगा। अतः सरकार को इन दो समस्याओं का समाधान (गरीबी तथा बेरोजगारी) अपनी प्राथमिकताओं के आधार पर दूर करने के प्रयत्न करने चाहिए।

प्रश्न

1 भारत में बढ़ती हुई बेरोजगारी के कारणों की विवेचना कीजिए तथा उनको दूर करने के सुझाव दीजिए।

2 भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में सरकार द्वारा उठाए गए कदम बताइये।

तृतीय खण्ड

1 भारतीय अर्थ व्यवस्था मे कृषि
(Agriculture in India's Economy)

2 भारत मे भूमि का उपयोग, कृषि उपज एव फसलो का स्वरूप
(Land Utilisation, Agricultural Products and Cropping Pattern in India)

3 भूमि का उप विभाजन एव अपखण्डन
(Subdivision and Fragmentation of Land)

4 भारत में सिंचाई उर्वरक एव अन्य कृषिगत आदान
(Irrigation, Fertilizers and other Agricultural Inputs in India)

5 भूमि व्यवस्था एव भूमि-सुधार
(Land Tenures and Land Reforms)

6 खाद्यान्नों की उत्पत्ति एव खाद्य नीति
(Production and Food Policy)

7 नवीन कृषि नीति
(New Agricultural Strategy)

8 भारत में कृषि साख
(Agricultural Credit in India)

8

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि

(Agriculture in India's Economy)

"Everything may wait but agriculture cannot. There is nothing more important in India to-day than better agriculture"
—**Jawahar Lal Nehru**

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहा की 70% जनसंख्या कृषि पर ही अपनी जीविका के लिए निर्भर रहती है। राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ने भारत को गावो का देश तथा कृषि को भारत की आत्मा कहा है। सर्वश्री जेथार एव बेरी ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे कृषि के महत्वपूर्ण स्थान की चर्चा करते हुए सत्य ही कहा है, "भारत के आर्थिक जीवन मे सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ अन्य व्यवसायो की अपेक्षा कृषि की अत्यधिक प्रधानता है।"

भारतीय अर्थव्यवस्था मे कृषि का महत्व

भारत मे कृषि के महत्व के सम्बन्ध मे जितना लिखा जाय, थोडा है। वास्तव मे भारतीय आर्थिक व्यवस्था मे कृषि रीढ की हड्डी के समान है। भारत की अर्थ-व्यवस्था मे कृषि के महत्व का अनुमान हम निम्नलिखित तथ्यो से लगा सकते है

1 जीविका का प्रमुख स्रोत . भारतवर्ष की कुल जनसख्या का 70 प्रतिशत भाग, प्रत्यक्षरूप से, अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर है। यदि परोक्ष रूप से कृषि पर आश्रित लोगो को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो यह प्रतिशत बढ कर और अधिक हो जायेगा। सन् 1901 से लेकर सन् 1971 तक के जनसख्या सम्बन्धी आकडो को देखने से पता चलता है कि कृषि पर निर्भरता मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ है। भारत की तुलना मे अमेरिका, इगलैंड तथा कैनेडा जैसे विकसित देशो मे कृषिजीवी लोगो की सख्या 20 प्रतिशत से भी कम है और कही-कही तो 5 प्रतिशत से भी कम है।

2. राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत : कृषि हमारी राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत है। राष्ट्रीय आय समिति तथा केन्द्रीय साँख्यिकीय सगठन द्वारा प्रकाशित आँकडे इस बात की पुष्टि करते है कि भारतवर्ष मे कृषि तथा कृषि से सम्बन्धित रोजगारो,

यथा पशुपालन, वन व्यवसाय, आदि का राष्ट्रीय आय में लगभग 45% योगदान है। भारत में जितनी आय व्यापार, परिवहन व उद्योग-धन्धों से मिला कर प्राप्त होती है, उतनी राष्ट्रीय आय तो केवल कृषि से ही प्राप्त हो जाती है। राष्ट्रीय आय की दृष्टि से भारत की अन्य देशों से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में कृषि का स्थान कितना ऊँचा है। आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा इंगलैंड में राष्ट्रीय आय का क्रमश 13, 5 व 4 प्रतिशत भाग ही कृषि से प्राप्त होता है।

3 राज्य सरकारों की आय का प्रमुख स्रोत। भारतवर्ष में राज्य सरकारों को कृषि से पर्याप्त आय प्राप्त होती है। कृषि-क्षेत्रों से मिलने वाली मालगुजारी उनकी आय का एक महत्वपूर्ण एवं स्थायी साधन है। राज्य सरकारों के बजटों में करों से प्राप्त आय का 30 से 50 प्रतिशत भाग तथा कुल आय का लगभग 15 प्रतिशत भाग भू-राजस्व या मालगुजारी से ही प्राप्त होता है। कृषि भूतकाल में भी सरकार की आय का प्रमुख स्रोत थी और आज भी प्रमुख स्रोत बनी हुई है।

4. खाद्य सामग्री की उपलब्धि भारत में 54 7 करोड़ जनसंख्या तथा 40 करोड़ पशुओं के लिये भोजन एवं चारा कृषि से ही प्राप्त होता है। दुर्भाग्यवश यदि किसी वर्ष कृषि की दशा बिगड़ जाती है तो देश को अन्य देशों से खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है। साधारणत आवश्यक खाद्य पदार्थों का केवल 5 प्रतिशत भाग ही बाहर से मंगवाना पड़ता है और शेष देश में ही उपलब्ध हो जाता है।

5 औद्योगिक विकास के लिये कृषि का महत्व : कृषि हमारे देश के प्रमुख उद्योगों के लिए कच्चे माल की पूर्ति का स्रोत है। सूती वस्त्र उद्योग, पटसन उद्योग, चीनी उद्योग, वनस्पति घी तथा तेल उद्योग एवं बगान उद्योग, ये सभी प्रत्यक्ष रूप में कृषि पर आश्रित हैं। बहुत से कुटीर व लघु उद्योग, यथा हाथ करघा बुनाई, तेल पेरना, चावल कूटना आदि, भी कच्चे माल के लिए कृषि पर ही आश्रित रहते है। फलों का उद्योग, अचार-मुरब्बा उद्योग, मधु-मक्खी, मुर्गी-पालन आदि भी कृषि पर निर्भर रहते हैं। यही नहीं, कृषि उद्योगों के लिए वाछनीय श्रम शक्ति प्रदान कर औद्योगीकरण में सहायता प्रदान करती है। कृषि विकास औद्योगिक विकास को एक आधार प्रदान करता है और भविष्य में आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

6 रोजगार का प्रमुख साधन सन् 1971 की जनगणना के अनुसार 68.63% भारतीय कार्यशील जनता को कृषि रोजगार प्रदान करती है। 1 अप्रैल, 1971 को भारत में कुल कार्यशील जनसंख्या लगभग 18 4 करोड़ थी, जिसमें से लगभग 42 87 प्रतिशत व्यक्ति किसान थे तथा 25 76 प्रतिशत खेतिहर किसान थे।

7. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कृषि का महत्व : भारतवर्ष से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में तिलहन, तम्बाकू, चाय, जूट, लाख, मसाले आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। ये सभी वस्तुएँ कृषि से ही प्राप्त की जाती हैं। सन् 1941 ई० से पहले भारत के निर्यात का तीन-चौथाई भाग कृषि उपजों का ही था। आज भी लगभग 50 प्रतिशत निर्यात होने वाली वस्तुएं कृषि से ही प्राप्त होती हैं। यही नहीं, यदि निर्यात होने वाली निर्मित वस्तुओं में 20 प्रतिशत कृषि अंश को और मिला लिया जाय तो कुल निर्यात में कृषि का योगदान 70 प्रतिशत के लगभग हो जायेगा। भारत से केवल चाय का निर्यात ही प्रतिवर्ष 150 करोड़ रुपये का होता है।

8. सरकार के वित्तीय ढांचे का आधार भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की वित्त-व्यवस्था बहुत सीमा तक कृषि पर ही आश्रित है। मालगुजारी के अतिरिक्त बिक्री कर, सिंचाई-कर, कृषि आय-कर, सम्पत्ति-कर व सुधार-कर, स्टाम्प फीस, रजिस्ट्रेशन फीस, इत्यादि राज्य सरकारों की आय के प्रमुख साधन हैं, जो कृषि पर निर्भर लोगों से ही प्राप्त होते हैं। केन्द्रीय सरकार भी इसी प्रकार कृषि-पदार्थों के निर्यात में निर्यात कर तथा कृषि पर आधारित उद्योगों की उत्पत्ति से उत्पादन कर प्राप्त करती है। भारत में कृषि की दशा ठीक रहने पर ही वित्त मन्त्री अपने बजट को सतुलित रख सकता है, अन्यथा नहीं। इसीलिए किसी विद्वान ने यह ठीक ही कहा है कि 'भारतीय बजट मानसून पर निर्भर जुआ है।'

9 परिवहन के लिए कृषि का महत्व . भारत कृषि-प्रधान देश होने के नाते ग्रामों का देश है। यहां परिवहन के साधनों को मुख्यतः रेलों को जितनी आय कृषि-उपज तथा कृषक जनसख्या को एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाने ले जाने से होती है, उतनी आय अन्य उद्योगों से नहीं हो पाती। परिवहन के साधनों के अतिरिक्त सदेश वाहन के साधनों—डाक एवं तार सेवाओं—को भी कृषि से पर्याप्त आय प्राप्त होती है। अतः कृषि परिवहन एवं संदेश वाहन के साधनों के विकास को प्रोत्साहित करती है।

10 कृषि का आर्थिक नियोजन में महत्व : भारत में आर्थिक नियोजन की सफलता कृषि उत्पादन पर निर्भर करती है। प्रथम पचवर्षीय योजना में सरकार ने कृषि को प्रधानता दी थी। इस योजना की सफलता का मुख्य कारण भी कृषि उत्पादन में आशातीत वृद्धि ही था। दूसरी योजना में कृषि को गौण स्थान देने के कारण ही वह पूर्ण सफल नहीं हो सकी। तृतीय योजना में पुनः कृषि को आवश्यक महत्व दिया गया है। तृतीय योजना के बाद बनाई गई वार्षिक योजनाओं में भी कृषि को विशेष महत्व दिया गया है। भारत की चतुर्थ योजना एवं आगे आने वाली अन्य योजनाओं में भी कृषि के महत्व को कम नहीं किया जा सकता, क्योंकि कृषि के क्षेत्र में असफलता हमारी सारी योजनाओं को चौपट कर सकती है।

11. कृषि का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महत्व : भारतीय कृषि को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विशेष महत्व प्राप्त है। चाय, मूंगफली व गन्ने के उत्पादन मे भारत का स्थान ससार में प्रथम है। तिलहन, तम्बाकू, पटसन आदि के उत्पादन में भी भारत को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कृषि की उपज ने भारत को विश्व के कृषि-उपज-मानचित्र में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिलाया है।

12 मूल्य-स्तर को प्रभावित करने में कृषि का महत्व : मूल्य-स्तरो के स्थायित्व के सम्बन्ध मे भी भारतीय कृषि का विशेष महत्व है। भारत में मूल्य-स्तर कृषि उपजो से प्रभावित होते है। जिस वर्ष उपज कम होती है, उस वर्ष खाद्यान्नों के मूल्य चढ जाते है, फलस्वरूप अन्य सभी वस्तुओ के मूल्यो मे भी वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत यदि उपज अच्छी होती है तो खाद्यान्नो का मूल्य गिर जाता है, फलस्वरूप अन्य वस्तुओ के मूल्यो म भी कमी आ जाती है। अत: भारत के मूल्य-स्तर पर कृषि उपजो का महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है।

13 आन्तरिक व्यवसाय एव बैंकिंग व्यवस्था के क्षेत्र में कृषि का महत्व— भारत के आन्तरिक व्यापार मे कृषि का बहुत अधिक महत्व है। गावो की मडिया एव नगरो के व्यापारिक क्षेत्रो मे प्राय जो कुछ व्यापार होता है, उसमे कृषि उपज की ही प्रधानता होती है। इसी प्रकार भारतीय बैंकिंग व्यवसाय भी बहुत कुछ परोक्ष रूप मे कृषि पर ही आश्रित है। भारत मे भावी बैंकिंग व्यवसाय का विकास एव प्रगति बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगी कि बैंक कृषि क्षेत्र मे अपनी साख का कितना विस्तार करते है।

14 कृषि का राजनैतिक एव सामाजिक क्षेत्र में महत्व—कृषि का भारत मे राजनैतिक एव सामाजिक क्षेत्र में भी महत्व है। कृषक भारतीय गणतन्त्र के बहु-सख्यक नागरिक है। राज्य की विधान सभाओ एव देश की लोक सभा मे उनके चुने हुए प्रतिनिधियो का बहुमत है। वे राज्य के लिए रीढ की हड्डी के समान है। इसीलिए राजनैतिक एव सामाजिक क्षेत्रो मे उनका विशेष प्रभाव है। देश की रक्षा के लिए भी इनमे से ही सैनिक प्राप्त होते है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत मे कृषि का बहुत अधिक महत्व है। समस्त देश का आर्थिक ढाचा ही एक प्रकार से कृषि पर आधारित है। भारत की अर्थ-व्यवस्था मे कृषि के महत्वपूर्ण स्थान को दृष्टिकोण मे रखते हुए ही श्री जॉन रसल ने एक स्थान पर उचित ही लिखा है, "यदि भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे सुधार करना है, तो यहा की कृषि की उन्नति करनी चाहिए।" यदि भारतवर्ष मे कृषि असफल रहती है तो यहा की समस्त अर्थ-व्यवस्था असफल हो जायेगी। अत आर्थिक एव बौद्धिक क्षेत्र मे यह एक निश्चित मत बनता जा रहा है कि आर्थिक विकास की सफलता के

लिए एक सुदृढ़ कृषि व्यवस्था का होना बहुत ही आवश्यक है। विद्वान अर्थशास्त्री 'कोल एव हूवर' ने भारतवर्ष के सदर्भ मे ठीक ही कहा है कि "अर्थ-व्यवस्था के पिछड़े हुए अग (कृषि) का विकास सम्पूर्ण आर्थिक विकास के लिए एक अनिवार्य शर्त है और यदि कृषि विकास की तरफ पर्याप्त ध्यान नही दिया गया तो सम्पूर्ण आर्थिक विकास गतिहीन हो जावेगा।" भारत की आर्थिक व्यवस्था मे कृषि का महत्व क्या है, इसका आभास भारत के भूतपूर्व गवर्नर जनरल लार्ड मेयो (Mayo) के निम्नलिखित कथन से भी लगाया जा सकता है—

"आने वाली अनेक पीढ़ियों तक धन एव सभ्यता के विकास की दृष्टि से भारत की प्रगति प्रत्यक्ष रूप से उसकी कृषि की प्रगति पर ही निर्भर करेगी। ससार मे सम्भवतः कोई भी ऐसा देश नही है जिसका कृषि मे इतना प्रत्यक्ष, सीधा एव घनिष्ठ स्वार्थ निहित है। भारत सरकार केवल सरकार ही नही, अपितु एक भू-स्वामी भी है।"[1]

भारतीय कृषि की पिछड़ी हुई दशा

(Backwardness of Indian Agriculture)

यद्यपि भारत एक कृषि-प्रधान देश है, तथापि यहा की कृषि अवस्था अत्यन्त पिछड़ी हुई है। शाही कृषि कमीशन के सामने अपनी गवाही देते हुये भारत सरकार के भूतपूर्व कृषि सलाहकार डॉ० क्लाउस्टन ने कहा था, "भारत मे हमारी पिछड़ी हुई जातियां तो है ही, हमारे पिछड़े हुए उद्योग भी है और इन उद्योगों मे से दुर्भाग्यवश कृषि भी एक है।"[2] उन्होंने इसी सम्बन्ध मे यह भी कहा था, "हम चाहे जिस दृष्टिकोण से देखे, कृषकों के खेतों का आकार व बनावट, प्रयोग मे आने वाले कृषि औजार व खाद, फसलों के हेर-फेर (Rotation of crops) की पद्धति, बीजों का गुण, सिचाई-सुविधाओ एव भूमि-सुधार सम्बन्धी स्थिति, बिक्री-व्यवस्था, पशुपालन व्यवस्था, सहायक उद्योग, सभी दृष्टिकोणों से हमारा कृषि-उद्योग अत्यधिक पिछड़ी हुई स्थिति मे है, जिसके फलस्वरूप कुल एव प्रति एकड़ उत्पादन अत्यधिक कम है, जो अन्य देशों मे पैदा होने वाली उपज का प्राय एक-तिहाई या एक-चौथाई भाग होता है और यह भी सूखा या अकाल के समय लगभग शून्य हो जाता है।

---

1 "For generations to come, the progress of wealth and civilization in India *must be dependent on her progress in agriculture* There is perhaps no country in the world in which the state has so immediate and direct interest in agriculture. The Government of India is not only a Government but also the chief landlord" —*Lord Mayo*

2 "In India we have our depressed classes, we have to our depressed industries, and agriculture unfortunately, is one of them" *Dr. Clouston*

डॉ० क्लाउस्टन का मत है कि भारतवर्ष की कृषि उपज अन्य देशों की तुलना में अत्यधिक कम है। निम्न तालिका में भारतवर्ष के कृषि-उत्पादन की तुलना संसार के कुछ प्रमुख देशों से की गई है—

प्रति हेक्टर किलोग्राम में भू-उपज (1968 में)

देश	उपज	देश	उपज
धान		कपास	
भारत	1610	भारत	120
जापान	5720	रूस	830
स रा अमेरिका	4960	मैक्सिको	730
गेहूँ		मूँगफली	
भारत	1100	भारत	650
इंगलैंड	3550	जापान	2070
मक्की		अमेरिका	1980
भारत	1000		
अमेरिका	4930		
फ्रांस	5260		

भारत की कृषि उत्पादकता में वृद्धि बडी धीमी गति से हो रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में भूमि की उत्पादनशीलता सामान्यत घटती रही है तथा इसे बढ़ाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किये गये। जब से भारत में आर्थिक नियोजन का प्रारम्भ हुआ है तब से कृषि उत्पादकता में वृद्धि हुई है। सन् 1949–50 से 1970–71 की अवधि में कृषि की उत्पादकता में जो वृद्धि हुई है, वह निम्नलिखित तालिका से जानी जा सकती है

कृषि-उत्पादिता सूचनांक

वर्ष	खाद्यान्न उत्पादिता	गैर खाद्यान्न उत्पादिता	सभी वस्तुओं की उत्पादिता
1949–50	100	100	100
1960–61	117	106	118
1965–66	106	103	110
1970–71	146	118	141

Source Agriculture in Brief, 1971

भारतवर्ष में कृषि में प्रति श्रमिक उत्पादन भी अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत में कृषि-कार्य के लिए जितने व्यक्तियों की आवश्यकता है, उससे कहीं अधिक व्यक्ति लगे हुए हैं। कृषि क्षेत्र में श्रम उत्पादकता के सम्बन्ध में डॉ० बलजीतसिंह का अनुमान है कि भारत में औसत वार्षिक श्रम-उत्पादकता (डालरों में) 105 है, जबकि नार्वे, इंगलैंड, कनाडा, जापान, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड व पश्चिमी जर्मनी में क्रमश: 973, 2157, 2126, 2265, 2408 2442, 3481, 3495 है।[1]

भारतीय कृषि के पिछड़े होने के कारण

भारतवर्ष में कृषि पिछड़ी हुई दशा में है, यह बात ऊपर के अध्ययन से पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है। इस पिछड़ेपन के कई कारण है, जो सक्षेप में इस प्रकार है —

1. जनसंख्या का बढ़ता हुआ भार—जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण भारतीय कृषि अनार्थिक हो गई है, क्योंकि जनसंख्या के दबाव के कारण खेत छोटे-छोटे हो गये हैं जिन पर लाभदायक कृषि नहीं की जा सकती। खेतों को न तो परती छोड़ा जा सकता है और न ही पर्याप्त मात्रा में खाद ही दी जा सकती है। प्रो० जान ई० रसेल (John E Russel) का अनुमान है कि सौ एकड़ भूमि पर पोलैंड में 31 व्यक्ति, रूमानिया में 30 व्यक्ति, बलगेरिया में 33 व्यक्ति तथा ब्रिटेन में केवल 6 व्यक्ति काम करते हैं, जबकि भारत में प्राय इतनी ही भूमि पर 148 व्यक्ति काम करते हैं। फलस्वरूप भारत में भूमि पर जनसंख्या का दबाव बहुत अधिक है।

2. खेतों का छोटा आकार—भारत के खेत बहुत छोटे हैं। यहां किसानों को छोटे-छोटे खेतों में, जो काफी दूरी में बिखरे हुए होते हैं, खेती करनी होती है। इससे उनका समय व श्रम नष्ट होता है। वे आधुनिक कृषि-यन्त्रों के प्रयोग से भी वंचित रह जाते हैं। भारतवर्ष में औसत जोत का आकार लगभग 7 5 एकड़ है, जबकि जर्मनी में 21 एकड़, इंगलैंड में 62 एकड़, डेनमार्क में 80 एकड़ तथा अमेरिका में 145 एकड़ है। इस प्रकार खेतों का आर्थिक आकार कृषि उपज की वृद्धि के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करता है।

3. खेती के पुराने ढंग—भारतीय कृषक रूढ़िवादी है। वह आज भी उन्हीं

---

1 *Dr. Baljit Singh* Next Step in Village India, p. 42

पुराने तरीको से खेती करता है जिससे उपज नही बढ सकती ।[1] न तो खेतों को ढग से खाद दे पाता है और न ही आधुनिक तरीको का इस्तेमाल । लकीर के फकीर होने के कारण उसकी खेती की हालत आज भी वैसी ही है जैसी पहले थी, जबकि ससार के अन्य देश कृषि उत्पादन मे उत्तरोत्तर वृद्धि करते जा रहे है । पिछले कुछ वर्षो से कृषको द्वारा आधुनिक ढग के यन्त्रों का, जैसे सुधरे हुए हल, पम्पिगसेट, चारा काटने की मशीनें आदि के प्रयोग किये जाने पर जोर दिया जा रहा है, लेकिन इनका उपयोग अभी बहुत सीमित है । डॉ० विलियम कैप के अनुसार ट्रैक्टर द्वारा एक एकड जुताई करने पर केवल 3 रु० 14 पैसे लागत आती है जबकि दुर्बल पशुओ द्वारा 9 रु० 83 पैसे । इसमे बलो के चारे पर 6 रु० 88 पैसे व्यय होगा जबकि ट्रैक्टर के पैट्रोल पर केवल 1 रुपया ही व्यय होगा ।[2]

4 **खाद का अभाव**—भारत मे खेतो को गोबर की खाद दी जाती है । देश मे गोबर का प्रयोग उपल बनाने मे भी किया जाता है, फलस्वरूप लगभग 355 मिलियन टन गोबर उपलो के रूप मे जला दिया जाता है । हड्डी, मछली या आधुनिक नई खादो का प्रयोग बहुत कम है, फलस्वरूप उत्पादकता भी बहुत कम है । रासायनिक खाद खरीदने की क्षमता न होने के कारण किसान खेतो को आवश्यक खाद नही दे पाता ।

5 **उत्तम बीजो का अभाव**—भारत मे अच्छे बीजो को ही बोया जाय, ऐसा नही है । प्राय किसान के पास जो बीज होते हैं या गाव के महाजन या बनिये से जो बीज मिल जाते हैं, किसान उन्हें ही बो देता है । अच्छे बीजो के अभाव म अच्छी फसल की कल्पना नही की जा सकती । भारत के विभिन्न राज्यो मे प्रगतिशील बीजो का प्रयोग केवल 18 से 20 प्रतिशत ही होता है ।

6 **कमजोर पशुओ द्वारा खेती**—भारत मे जिन पशुओं द्वारा खेती की जाती है, वे प्राय दुर्बल होते है । न तो उन्हे भर पेट चारा मिल पाता है और न बीमारियो

---

1. The farmer by using the old type of wooden plough and light appliances works on the field. The plough that looks like a half open pen knife and just scratches the soil and hand sickle made for a child than for a man the old fashioned winnowing tray that woos the wind to shift the grain from the chaff and rude chopper with its waste of fodder, are undisplaced from their primitive and immemorial functions."

   —*M L. Darling* Punjab Peasant in Prosperity and Debts p 157

2. *Dr. K. William Kapp* Hindu Culture Economic Development & Planning in India p. 131.

में मुक्ति, ऐसे पशु खेती की उपज बढ़ाने में समर्थ नहीं हो पाते। पशुओं की नस्ल भी घटिया किस्म की है। कमजोर एवं घटिया किस्म के पशुओं से गहरी जुताई सम्भव नहीं होती और बिना गहरी जुताई कृषि उपज नहीं बढ़ाई जा सकती।

7. **फसलों के रोग, कीटाणु व चूहों द्वारा क्षति**—समय पर पानी व खाद न मिलने के कारण फसलें प्राय रोगग्रस्त हो जाती हैं एवं उनमें कीड़े लग जाते हैं, जो फसलों को चौपट कर देते हैं। प्राय टिड्डियों के दल अच्छी खड़ी हुई फसल को चट कर जाते हैं। राष्ट्रीय व्यावहारिक शोध परिषद (N C A E R) का अनुमान है कि भारत के कुल खाद्यान्न का 15 प्रतिशत भाग कीड़े-मकोड़ों, टिड्डियों व चूहों द्वारा खेतों में नष्ट कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त 10 प्रतिशत अनाज गोदामों में कीटाणुओं व चूहों द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रतिवर्ष लगभग 1500 करोड़ रु० की क्षति हो जाती है।

8. **कृषकों की निर्धनता**—भारतीय कृषक अत्यधिक निर्धन है। वह मुश्किल से अपना भरण-पोषण कर पाता है। खेती में सुधार सम्बन्धी कार्यों को करने के लिए उसके पास धन का अभाव रहता है और वह उपज बढ़ाने के लिए कुछ भी करने में असमर्थ रहता है। फलस्वरूप कृषि की अवस्था पिछड़ी की पिछड़ी ही रह जाती है। निर्धनता कृषक को कृषि विकास के लिए प्रोत्साहित नहीं करती। वह कृषि को लाभ की भावना से न करके गुजर बसर करने की भावना मात्र से करता है, अत कृषि विकास में किसी आश्चर्यजनक प्रगति की कल्पना करना व्यर्थ है।

9. **कृषकों की अशिक्षा**—अशिक्षित होने के कारण किसान रूढ़िवादी है। वह कृषि उपज बढ़ाने के महत्व को भली भांति नहीं समझ पाता। प्राय अपनी शक्ति एवं साधन फालतू कार्यों में गवा बैठता है, यथा मुकदमेबाजी एवं शादी-विवाह के अवसर पर पानी की तरह पैसा बहा देता है। यदि इसे वह कृषि उपज बढ़ाने में प्रयोग करे तो उपज निश्चय ही कुछ न कुछ बढ़ सकती है, पर अशिक्षित होने के कारण वह ऐसा नहीं कर पाता।

10. **सिंचाई के साधनों का अभाव**—भारत जैसे कृषि-प्रधान देश की कृषि वर्षा पर निर्भर करती है जो अनिश्चित रहती है। अत सिंचाई के साधनों पर किसानों को आश्रित रहना पड़ता है। नोल्स (Knowels) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है, "भारत में मानसून न आये तो कृषि उद्योग में ताले-बन्दी हो जाय।"[1] भारतवर्ष में कुल कृषि-योग्य भूमि में 22 प्रतिशत को कृत्रिम साधनों द्वारा सिंचाई की जाती है तथा 78 प्रतिशत को प्रकृति की कृपा पर छोड़ दिया जाता है। डॉ० कैंप

1 "If monsoon fails, there is a lock out in Agricultural industry in India."
—*Knowels*

के अनुसार सतह पर उपलब्ध जल सम्पदा का 40 प्रतिशत से भी कम भाग सिंचाई के लिए प्रयुक्त किया जाता है ।

11 प्राकृतिक प्रकोप—भारत में प्रतिवर्ष बाढ़ों से करोड़ों रुपयों की कृषि उपज नष्ट हो जाती है । कभी-कभी इसी प्रकार सूखा पड़ने से, वर्षा के अभाव में करोड़ों रुपये की फसल सूख कर नष्ट हो जाती है । इस प्रकार भारत अतिवृष्टि, अनावृष्टि, समय से पूर्व वृष्टि तथा समय के बाद वृष्टि की समस्या निरन्तर बनी रहती है । वर्षा की इस अनिश्चितता तथा अनियमितता के फलस्वरूप कृषि को प्रायः भीषण क्षति उठानी पड़ती है । वस्तुत भारतीय कृषि 'मानसूनी जुआ' बनकर रह जाती है । यही नहीं, भूमि-कटाव तथा उर्वरा शक्ति के क्षय का भी कृषि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है ।

12. कृषकों की ऋणग्रस्तता—भारतीय कृषक ऋण मे जन्म लेता है, बढ़ता है एव मर जाता है, मर कर ऋण का भार अपनी सन्तानों पर छोड़ जाता है । खेती में पैदावार एक तो ज्यादा होती ही नहीं और यदि किसी वर्ष अच्छी फसल हो भी गई तो किसान फिजूलखर्चों में धन गवा बैठता है और ऋणी का ऋणी बना रहता है । ऋणग्रस्त भारतीय किसान खेती के पिछड़ेपन को नहीं सुधार सकता ।

13 फसलों की बिक्री की असुविधा—भारतीय ग्रामों मे परिवहन के साधनों का अभाव है । भारतीय कृषक गाव के साहूकारों के ऋणी होते है । इन सबका प्रभाव यह होता है कि गाव में ही उसे अपनी फसल बेचनी पड़ती है । उसे अपनी मेहनत का पूरा लाभ नहीं मिल पाता, क्योंकि गाव मे प्राय बहुत कम मूल्य पर उसे अपनी फसल बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है ।

14 कुटीर उद्योगों का पतन—गाव में कुटीर उद्योगों के पतन के परिणाम-स्वरूप कृषकों की आमदनी का एक महत्वपूर्ण स्रोत समाप्त हो गया है । अब वे बेरोजगारी या अर्द्ध-बेरोजगारी के शिकार हो रहे है । सभी लोगों के खेती पर आश्रित होने के कारण खेती भी अनार्थिक हो गई है और उपज उत्तरोत्तर घटती जा रही है । कुटीर उद्योगों के पतन ने कृषकों को निर्धन बना दिया है । फलस्वरूप वे कृषि में धन लगाने मे असमर्थ है ।

15 दोषपूर्ण लगान प्रथा—अंग्रेजों के समय जमींदारी प्रथा ने कृषि-सुधार के रास्ते में रोड़े अटकाये थे । वर्तमान समय में यद्यपि कृषक भू-स्वामी हो गया है, पर बहुत से किसानों की जोतें अनार्थिक है, अत वे लगान देने मे असमर्थ है । परन्तु उन्हें कुछ न कुछ लगान अब भी देना ही पड़ता है । लगान का यह भूत उन्हें हमेशा सताता रहता है और उन्हें मन लगा कर खेती नहीं करने देता ।

16 किसानो का गिरा हुआ स्वास्थ्य—भर-पेट भोजन न मिलने के कारण किसान प्राय दुबला रहता है। उस पर भी महामारियो का प्रकोप उसे और भी दुर्बल एव अकार्यकुशल बना देता है। बीमारियों मे प्राय उसे प्रकृति का ही सहारा लेना पडता है। स्वास्थ्य के गिरे हुए होने के कारण किसान खेती मे अधिक परिश्रम नही कर पाते। बिना कठिन परिश्रम के कृषि की उपज को बढाना सम्भव नही है।

17 निराशावादी एव भाग्यवादी दृष्टिकोण—भारतीय किसान 'भाग्य' पर भरोसा करता है और हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता है। भाग्यवादी होने के कारण वह आलसी बन जाता है। अभावो से भरी जिन्दगी उसमे निराशा पैदा करती है और वह फिर किसी भी कार्य मे मन नही लगा पाता। परिणामस्वरूप, कृषि किसान के तटस्थ दृष्टिकोण के कारण पिछडी रह जाती है।

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि भारतीय कृषि प्रणाली अत्यन्त दोषपूर्ण है। यह परम्पराओ से जकडी हुई है। श्री अशोक मेहता ने ठीक ही कहा है, 'कृषि के क्षेत्र मे स्थिरता की स्थिति ही एक परम्परागत समाज का मुख्य लक्षण है। ऐसे समाज मे पुरानी घिसी पिटी कृषि की पद्धतिया, पानी व उर्वरको का अपर्याप्त उपयोग विस्तृत रूप से भूमि की थकावट एव मिट्टी का कटाव, कमजोर व अलाभप्रद ढग के बीज तथा पुराने खेती के यत्र देखने को मिलते है।"[1]

कृषि की पिछड़ी हुई दशा को सुधारने के सुझाव

भारतीय कृषि के पिछडेपन को दूर करना नितात आवश्यक है, क्योकि इसके बिना हम न तो देश को खाद्यान्नो के मामले मे आत्म निर्भर बना सकते है और न ही देश की सम्पूर्ण आर्थिक अवस्था को ही सुधार सकते है। यदि भारतवर्ष का आर्थिक उत्थान करना है तो भारतीय कृषि म सुधार परमावश्यक है। बिना कृषि सुधार के देश की दयनीय दशा से छुटकारा पाना असम्भव सा लगता है।

भारतीय कृषि के पिछडेपन को दूर करने के लिए निम्नांकित सुझाव महत्व-पूर्ण है—

1 आर्थिक जोतो का निर्माण—भारत म कृषि जोतो और अधिक उप-विभाजन एव अपखण्डन से रोका जाना चाहिए तथा खेतो के न्यूनतम आकार को निश्चित कर दिया जाना चाहिए ताकि कृषि जोत अनार्थिक न हो सके। जो खेत छोटे-छोटे है और बिखरे हुए है, ऐसे खेतो की चकबन्दी कर दी जानी चाहिए। चकबन्दी के अतिरिक्त सहकारी खेती को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

---

1 *Ashok Mehta* Presidental Address to the 24th Conference of the Indian Society of Agricultural Economics, Dec, 1964

2. सिंचाई की उत्तम व्यवस्था—यद्यपि सिंचाई की बड़ी-बड़ी योजनायें देश में चल रही है और इस क्षेत्र में काम भी किया गया है तथापि खेतों के विस्तृत क्षेत्र अब भी सिंचाई की सुविधाओं से वंचित है। कुओं, तालाबों, नहरों एवं ट्यूब वैलों की सुविधायें क्षेत्र के अनुकूल बढ़ाई जानी चाहिए। बिना पर्याप्त सिंचाई के साधनों के अच्छे बीज तथा उर्वरकों आदि के प्रयोग से यथोचित लाभ नहीं उठाया जा सकता। भारत में विभिन्न सिंचाई योजनाओं के बावजूद भी अभी तक देश के कुल जल-स्रोत का केवल 10 प्रतिशत भाग ही सिंचाई के लिए प्रयुक्त होता है, शेष जल व्यर्थ चला जाता है। अतः कृषि व्यवस्था को सुधारने के लिए उपलब्ध जल का अत्युत्तम उपयोग होना चाहिए।

3. भू-जनभार पर रोक ग्रामीण क्षेत्रों में परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को प्रभावशाली ढंग से फैलाया जाय ताकि जनसंख्या न बढ़ सके, लोगों के खेत आर्थिक बने रहें, उनकी स्थिति सुधर सके और वे कृषि सुधार में अपना योगदान दे सकें। लोगों को कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में रोजगार देकर भी भूमि पर जनभार कम किया जा सकता है।

4. कुटीर उद्योगों का विकास . कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास से भूमि पर जनसंख्या की निर्भरता कम हो जायगी, लोगों की आमदनी बढ़ेगी और लोग खेती में सुधार कर सकेंगे। कृषि पर उचित भार होने से कृषि पुनः लाभदायक धन्धा हो सकेगी। अतः कृषि क्षेत्र की बेकारी एवं अर्द्ध-बेकारी को दूर करने के लिए सक्रिय कदम उठाये जाने चाहिए।

5. कृषि-यन्त्रों का प्रयोग : सरकार को अपने उपर्युक्त संगठनों के माध्यम से खेतों के उन्नत एवं आधुनिकतम यन्त्रों को उपलब्ध कराने की व्यवस्था करनी चाहिए ताकि किसानों को उचित एवं कम मूल्य पर कृषि-यन्त्र प्राप्त हो सकें और वे इनकी सहायता से कृषि-उपज बढ़ा सकें। कुल मिला कर भारत में 12,500 एकड़ पर एक ट्रैक्टर है, जबकि अन्य देशों में इतने ही कृषि क्षेत्र पर ट्रैक्टर इस प्रकार हैं, जापान 9, पश्चिमी जर्मनी 33, डेनमार्क 57 तथा ब्रिटेन 106। उत्पादन वृद्धि के लिए कृषि यन्त्रों में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है।

6. उत्तम कोटि के बीजों का प्रयोग सरकार को विभिन्न फसलों के उत्तम बीजों के सम्बन्ध में अनुसंधान करना चाहिए तथा उचित मूल्य पर इन बीजों को किसानों तक पहुँचाने की व्यवस्था करनी चाहिए। ऐसा करने से कृषि उपज में 20 प्रतिशत तक बढ़ोतरी की जा सकती है। इसके लिए प्रत्येक जिले में सरकारी अथवा सहकारी फार्मों की स्थापना की जानी चाहिए, जहां सुधरे बीजों की खेती करके उनकी मात्रा बढ़ाई जा सके। बीजों को सुरक्षित रखने के लिए अच्छे बीज गोदामों की स्थापना भी की जानी चाहिए।

7 खाद का प्रयोग देश मे होने वाले गोबर का दुरुपयोग रोकना चाहिए तथा उसे केवल खाद के रूप मे ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए। प्रचार द्वारा किसानों को अच्छी खाद के महत्व से परिचित कराना चाहिए। रासायनिक खाद को, जो अपने देश मे बनाई जा रही है, उचित मूल्य पर वितरित करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। उचित प्रकार की खादो से कृषि उपज को दूना किया जा सकता है। भारत मे लगभग 10 लाख टन से भी अधिक रासायनिक खाद की माग है, जबकि आयात तथा देश के उत्पादन से केवल 6 लाख टन खाद ही उपलब्ध हो पाती है। अत खाद के उत्पादन में वृद्धि तथा इसके वितरण मे सुधार करके इसका कृषि उपज बढाने के लिए यथोचित उपयोग किया जाना चाहिए।

8 पशुओं की दशा में सुधार खेती के कार्य मे आने वाले तमाम पशुओ को चारे की पर्याप्त मात्रा मिलनी चाहिए। उनके रोगो के इलाज एव उनकी नस्ल सुधारने की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। कुछ लोगों का यह भी सुझाव है कि बूढ एव शक्तिहीन पशुओ को विनष्ट कर दिया जाय इससे बचे हुए पशुओं को भर पेट चारा मिल सकेगा तथा पशु-नस्ल सुधर सकेगी।

9 सहकारिता का प्रसार: गावो मे सहकारी आन्दोलन का विकास किया जाना चाहिए। सहकारी खेती, सहकारी कृषि साख, सहकारी विपणन व्यवस्था आदि किसानों को अनेक प्रकार से सहायता पहुँचाई जा सकती है। भारतीय कृषि की पिछडी हुई दशा से अगर कोई मुक्ति दिला सकता है तो वह सहकारी आन्दोलन ही है।

10 कृषि योग्य भूमि के क्षेत्रफल में विस्तार भारतवर्ष की भूमि का एक बहुत बडा भाग बेकार पडा हुआ है। एक अनुमान के अनुसार भारत की लगभग 80 करोड एकड भूमि मे से केवल 32 करोड एकड भूमि मे ही कृषि की जाती है। शेष भूमि जगल, मरुस्थल, अथवा बजर के रूप मे है। अत जगलो को साफ करके तथा मरुस्थलीय भूमि मे सिचाई सुविधाओ का विस्तार करके कृषि योग्य भूमि के क्षेत्रफल मे वृद्धि की जानी चाहिए। तराई की खादर योजना, उडीसा की दण्डकारण्य योजना एव उत्तरी राजस्थान की नहरी सिंचाई योजनाओ की भाति अन्य योजनाए अपनाई जानी चाहिए।

11 अन्य सुझाव कृषि अवस्था को सुधारने के लिए अन्य अनेक सुझाव दिये जा सकते है, यथा (क) फसलो की कीटाणुओं से रक्षा की व्यवस्था, (ख) कृषको मे शिक्षा प्रसार, (ग) भूमि सरक्षण की व्यवस्था, (घ) कृषि विपणन की उचित व्यवस्था, (ड) ग्रामीण क्षेत्र मे परिवहन के साधनों का विकास, (च) कृषि साख की व्यवस्था, (छ) कृषि के क्षेत्र मे नए-नए अनुसधानो द्वारा उपज बढाने के लिए प्रयत्न (ज) फसल प्रतियोगिताओं द्वारा कृषको का प्रोत्साहन, तथा (झ) कृषको मे कृषि के प्रति आशावादी दृष्टिकोण पैदा करना आदि।

संक्षेप में, भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश मे, जहा कृषि को देश की अर्थ-व्यवस्था मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, कृषि की उन्नति मुख्यत उत्तम खाद, अच्छे बीज, कीडे-मकोडो को मारने की दवा तथा सिचाई की सुविधा आदि पर निर्भर करती है। इस सन्दर्भ म प्रो लिविस (Lewis) का निम्नांकित कथन महत्व-पूर्ण है

"The secret of rapid agricultural progress in the under-developed countries is to be found much more in agricultural extension in fertilisers, in new seeds, in pesticides and in water supplies than in altering the size of the farm, introducing machinery, or in getting rid of middle-men in marketing operation"[1]

प्रश्न

1 हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे कृषि के महत्व का विवेचन कीजिए और भारतीय कृषि मे कम उत्पादकता के कारणो का उल्लख कीजिए।

(राज० वि० वि० प्रथम वर्ष टी० डी० सी० 1965)

2 भारतीय कृषि के पिछडपन के कारण बताइये। आपके मतानुसार कृषि के पिछडेपन का सबसे महत्वपूर्ण कारण कौन-सा है ? उत्तर की पुष्टि के लिए कारण दीजिए।

(रा० वि० वि० बी० ए० 1963)

3 कृषि उपज कम होने के कारणो पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

(रा० वि० वि० बी० ए० 1963)

4 भारतीय कृषि-सुधार को प्रभावित करने वाले कारणो का वर्णन कीजिए और यह भी समझाइये कि इसकी गति अधिक तीव्र कैसे की जा सकती है ?

(राज० बी० ए० 1966)

5 भारत मे प्रति एकड कृषि उत्पत्ति कम होने के क्या कारण है ? इसे बढाने के उपाय बताइये।

(आगरा बी० ए० 1962)

6 भारतीय कृषि की मुख्य समस्याए कौन सी है। उनको हल करने के लिए अपने सुझाव दीजिए।

(राजस्थान प्रथम वर्ष टी० डी० सी० कला 1969)

---

1. *W A Lewis* The Theory of Economic Growth p 134

2

भारत में भूमि का उपयोग, कृषि-उपज एवं फसलों का स्वरूप

(Land Utilisation, Agricultural Products and Cropping Pattern in India)

"Every village s first concern will be to grow its own food crops and cotton for its cloth It should have a reserve for its cattle, recreation and play ground for adults and children Then if there is more land available it will grow useful money crops thus excluding tobacco, opium and the like"

—MAHATMA GANDHI

भारत मे भूमि का उपयोग (Land Utilisation in India)

किसी देश के आर्थिक विकास मे उस देश की सम्पूर्ण भूमि का प्रभाव नही पडता, अपितु उस भूमि के केवल उस भाग का प्रभाव पडता है जिसका किसी न किसी आर्थिक क्रिया मे उपयोग किया जा सके। किसी देश की समस्त भूमि कृषि उपयोग के लिए भी उपलब्ध नहीं होती। देश के कुल भू क्षेत्र मे वन, पहाड, झील, चारागाह, मकान, सडक, नहर, रेल आदि अनेक दूसरे उपयोगो के लिए भूमि छोडने के अतिरिक्त हमे वह भूमि भी छोडनी पडती है जो मरुस्थल, दलदल आदि की दृष्टि से कृषि के काम नही आ सकती है। सक्षेप में किसी भी देश मे कुल भौगोलिक क्षेत्र मे से इन सबको निकालने के पश्चात जो भू भाग बचता है, वही कृषि कार्य के लिए उपयोग मे लाया जाता है।

भारतवर्ष मे कुल भौगोलिक क्षेत्र 32 68 करोड हैक्टर अथवा 81 करोड एकड है। इसमे से 30 56 करोड हैक्टर अर्थात् 93 5 प्रतिशत भूमि की जानकारी के आकडे उपलब्ध है, लेकिन शेष 2 12 करोड हैक्टर क्षेत्र की जानकारी से सम्बन्धित आँकडे उपलब्ध नही है। कुल भू-क्षेत्र मे से 19 42 करोड हैक्टर भूमि कृषि-योग्य है। शेष 13 26 करोड हैक्टर क्षेत्र पर कृषि नही की जा सकती है, अर्थात् 41 प्रतिशत

भूमि कृषि कार्य में नहीं आ रही है। भारतवर्ष में सन् 1950-51 व 1967-68 में भूमि के उपयोग की स्थिति निम्न तालिका में दिए गए आंकड़ों से ज्ञात की जा सकती है :

भूमि का उपयोग (करोड़ हैक्टर में)

मद	1950–51	1967–68
1 कुल क्षेत्र जिसके आंकड़े उपलब्ध हैं	28 43	30 33
2 वन	4 05	6 23
3 वृक्षों की फसलें व वृक्ष-समूह की भूमि	1 99	0 41
4 स्थायी चारागाह व गोचर भूमि	0 67	1 39
5 ऊसर व कृषि के अयोग्य भूमि एवं खेती के अतिरिक्त अन्य कार्यों में प्रयुक्त भूमि	4 75	4,81
6 कृषि-योग्य बंजर भूमि	2 29	1 66
7. चालू परती छोड़ कर अन्य परती भूमि	1 74	0 87
8 चालू परती	1 07	1 21
9 विशुद्ध कृषि क्षेत्र	11 87	13 97
10 एक से अधिक बार कृषित क्षेत्र	1 32	2 33
11 कुल कृषित क्षेत्र	13 19	16.30

भारतवर्ष में 1971 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या 5470 लाख है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति भूमि की मात्रा 0 6 हैक्टर आती है। यदि हम कुल भू-क्षेत्र से कृषि अयोग्य भूमि को हटा दें अर्थात् पर्वतों, पठारों से घिरी हुई भूमि, कच्छ कारण, राजस्थान का मरुस्थल आदि को निकाल दें तो प्रति व्यक्ति कृषि योग्य भूमि जो 1961 में 0 30 थी वह 1971 में घट कर 0 25 हैक्टर रह गई। खेती-योग्य भूमि में वृद्धि की अपेक्षा जनसंख्या में कहीं अधिक तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण प्रति-व्यक्ति भू-क्षेत्र का घटना स्वाभाविक ही है।

यद्यपि प्रति व्यक्ति भू-क्षेत्र हमारे देश में 0 25 है तथापि यदि हम प्रति कृषक भू-क्षेत्र को लें तो यह 1 75 हैक्टर होता है, क्योंकि 1971 की जनगणना के अनुसार देश में 787 लाख कृषक थे जो 1380 लाख हैक्टर बुवाई की भूमि के स्वामी थे और इस भूमि पर खेती करते थे। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण के प्रतिवेदन के अनुसार भारतवर्ष में बड़े कृषक जो कुल कृषकों का 30 प्रतिशत है, कुल बुवाई क्षेत्र के 58 प्रतिशत भाग में खेती करते हैं। इन बड़े कृषकों में से ऊपर के 10% कृषकों के पास 30 प्रतिशत बुवाई का क्षेत्र है। मध्यम कृषक, जो कुल कृषकों का 40% है, 30% से भी कम क्षेत्र पर बुवाई करते हैं। छोटे किसान जिनका

अनुपात लगभग 30 प्रतिशत है, केवल 10 प्रतिशत से कुछ ही अधिक क्षेत्र पर बुवाई करते है। यदि हम औसत बुवाई क्षेत्र के हिसाब से देखे तो देश के बडे कृषको के पास 12 हैक्टर या कुछ अधिक, मध्यम कृषको के पास 2 5 हैक्टर या इससे कुछ अधिक तथा छोटे किसानो के पास केवल 1 25 हैक्टर की ही जोतें उपलब्ध हैं। इस प्रकार भारतवर्ष मे न केवल बुवाई क्षेत्र का वितरण ही असमान है, अपितु प्रति कृषक भूमि की मात्रा भी बहुत कम है।

कृषि उपज

भारतवर्ष एक विशाल देश है। यहाँ विभिन्न प्रकार की जलवायु तथा विविध प्रकार की मिट्टी पायी जाती है। यही कारण है कि भारतवर्ष मे अनेक प्रकार की फसलें उगाई जाती है। हमारे देश का कुल भू-क्षेत्र 81 करोड एकड है। समस्त भू-क्षेत्र मे से केवल 39 4% भूमि पर ही वास्तविक रूप से कृषि की जाती है। कृषि-योग्य भूमि मे से केवल 5 15 करोड क्षेत्र पर वर्ष मे एक से अधिक फसलें उगाई जाती है।

भारत की फसलें—समस्त भारत म सामान्यत मौसम के अनुसार निम्नलिखित दो फसलें होती हैं—

1 **खरीफ**—इसमे ज्वार, बाजरा, मक्का, चावल (धान), मूग, उडद, जूट, तम्बाकू, कपास, तिल्हन, गन्ना आदि कृषि पैदावार उगाई जाती है। ये फसलें जून या जुलाई मास मे बोई जाती है और अक्टूबर या नवम्बर म काट ली जाती है।

2 **रबी**—इसमे गेहू चना, जौ, अलसी, राई आदि की फसलें उगाई जाती है। ये फसले अक्टूबर या नवम्बर मे बोई जाती है और अप्रेल या मई मे काट ली जाती है।

उक्त फसलो के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी फसले है जो वर्ष भर खडी रहती है। इन्हे बारहमासी फसले कहते है, जैसे गन्ना, चाय, कहवा, नारियल इत्यादि।

इकनॉमिक टाइम्स के अनुसधान विभाग की एक रिपोर्ट के अनुसार सन् 1964–65 मे, कुल कृषि-उत्पादन मे खरीफ की फसलो का भाग 62% था, रबी की फसलो का भाग 24% था और बारहमासी फसलो का भाग 14% था। केवल खाद्यान्नो के उत्पादन मे खरीफ की फसलो का भाग 71% था तथा रबी की फसलो का भाग 29% था।

फसलो को निम्नलिखित दो भागो मे बाँटा जा सकता है—

(क) खाद्य फसलें तथा (ख) अ-खाद्य फसले।

(क) खाद्य फसलें—हमारे देश की प्रमुख खाद्य फसले निम्नलिखित हैं—

1 चावल—भारत मे चावल अधिकाश जनसख्या का भोज्य पदार्थ है। इसके लिये तेज गर्मी तथा अत्यधिक पानी की आवश्यकता होती है। इसीलिये इसको

पैदावार नदी के डेल्टाओं, तटीय प्रदेशों एवं मानसून के दिनों बाढ़ से घिर जाने वाले क्षेत्रों में होती है। यह मुख्यतः बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, तामिलनाडु, उत्तर प्रदेश, असम और महाराष्ट्र में पैदा किया जाता है। हमारे देश में धान की कई किस्में बोई जाती है तथा धान की खेती में अनेक तरीकों का उपयोग किया जाता है।

भारत में खाद्यान्नों के उत्पादन के लगभग 40% भाग में चावल होता है। विश्व के चावल उत्पादक क्षेत्र का 33% भाग भारतवर्ष में है। इस प्रकार भारतवर्ष विश्व में चीन के बाद चावल का प्रमुख उत्पादक है। सन् 1935 ई. में वर्मा के भारत से निकल जाने के बाद हमारी आत्म-निर्भरता समाप्त हो गयी है और अब हमें विदेशों से चावल आयात करना पड़ता है। सन् 1970-71 में 424 लाख टन चावल पैदा हुआ जो कि 374 लाख हैक्टर भूमि पर बोया गया था तथा इसकी 1134 किलो ग्राम प्रति हैक्टर थी। सन् 1950-51 में यह 380 लाख हैक्टर भूमि पर बोया गया था तथा 206 लाख टन पैदा हुआ। उस समय इसकी उत्पादिता 668 किलोग्राम प्रति हैक्टर थी। योजनाकाल में चावल का उत्पादन लगभग 92 प्रतिशत बढ़ा।

भारत में चावल की पैदावार बढ़ाने के लिये जापानी ढंग का प्रयोग किया जा रहा है और आशा है कि निकट भविष्य में हम आत्म-निर्भर हो जायेंगे। हाल ही में चावल (धान) की 11 नई किस्में प्रारम्भ की गई हैं।

2 गेहूं — गेहूं उत्तरी भारत के लोगों का मुख्य भोजन है। इसके लिये ठण्डी और शुष्क जलवायु की आवश्यकता पड़ती है। इसका उत्पादन उत्तर प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र व राजस्थान में होता है। खाद्यान्नों के कुल उत्पादन में 12% भाग गेहूं का है। सन् 1970-71 में 179 लाख हैक्टर भूमि पर गेहूं बोया गया था तथा 232 लाख टन इसकी उपज हुई थी। इसकी उत्पादिता 1299 किलोग्राम प्रति हैक्टर थी। जबकि 1950-51 में यह 97 लाख हैक्टर क्षेत्र में बोया गया था, 64 लाख टन पैदा हुआ था तथा इसकी उत्पादिता केवल 663 किलोग्राम प्रति हैक्टर थी। इस प्रकार 1950-51 से 1970-71 के मध्य गेहूं के क्षेत्र में 84 प्रतिशत और उपज में 36 3 प्रतिशत वृद्धि हुई। देश के विभाजन के पश्चात् गेहूं के उत्पादन में भी भारत अब आत्मनिर्भर नहीं रहा है और इसका विदेशों से आयात किया जाता है।

3 ज्वार-बाजरा — ये खाद्यान्न निर्धन व्यक्तियों के भोजन के रूप में प्रयोग होते हैं, क्योंकि ये अपेक्षाकृत सस्ते होते हैं। ये दोनों ही खरीफ की फसलें हैं तथा इनके लिए गर्म तथा शुष्क जलवायु की आवश्यकता होती है। ये फसलें भारत के विभिन्न भागों में उगाई जाती है। महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, तामिलनाडु,

पंजाब, राजस्थान, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में ये खाद्यान्न प्रमुखतः उगाये जाते हैं। ज्वार की औसत प्रति हैक्टर उपज 1970–71 में 470 किलोग्राम तथा बाजरे की 620 किलोग्राम थी।

4 **मक्का (Maize)**—यह पशु खाद्य एवं मानवीय आहार दोनों के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। इस फसल का औद्योगिक महत्व भी है। मक्का की खेती यद्यपि सारे भारतवर्ष में होती है तथापि उत्तर प्रदेश, बिहार एवं पंजाब इसके मुख्य उत्पादक राज्य हैं। विगत नियोजन काल में इसकी फसल के क्षेत्रफल एवं उत्पादन दोनों में ही वृद्धि हुई है। सन् 1950–51 व 1970–71 में इसकी फसल के क्षेत्रफल में 87 प्रतिशत और उत्पादन में 232 प्रतिशत वृद्धि हुई है। सन् 1970-71 में 74 लाख टन मक्का पैदा हुई थी तथा 58 लाख हैक्टर भूमि में बोई गई थी। इसकी उत्पादिता इस वर्ष 1270 किलोग्राम प्रति हैक्टर थी।

5 **जौ (Barley)**—यह गेंहू के ही आकार का होता है तथा इसे अपेक्षाकृत कम उपजाऊ भूमि एवं पानी की आवश्यकता होती है। इसका महत्व खाद्यान्न के साथ-साथ नगदी फसल के रूप में भी है, क्योंकि इससे बीयर (Beer) भी बनायी जाती है। भारत में जौ मुख्यतः उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब तथा राजस्थान में उगाया जाता है। भारत में 1970–71 में 26 लाख हैक्टर भूमि में जौ बोया गया था तथा लगभग 29 लाख टन उत्पन्न हुआ जबकि 1950–51 में यह 31 लाख हैक्टर भूमि पर बोया गया था तथा 24 लाख टन पैदा हुआ था।

6 **चना (Gram)**—यह गेंहू व जौ के साथ ही बोया जाता है तथा इसके लिए उष्ण जलवायु, बलुई मिट्टी व कम वर्षा की आवश्यकता होती है। चना मुख्यतः उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, बिहार, आंध्र प्रदेश व प. बंगाल में बोया जाता है। भारत में लगभग 10 लाख हैक्टर भूमि पर चना बोया जाता है और प्रति वर्ष लगभग 58 लाख टन पैदा होता है।

7 **दालें (Pulses)**—चने के अलावा मूंग, उड़द, मटर, मसूर, मोठ, अरहर आदि की दालें भी देश भर में बोई जाती हैं। शाकाहारी लोगों के लिए यह प्रोटीन का मुख्य स्रोत है तथा मनुष्य के भोजन के आवश्यक अंग हैं। भारतवर्ष में 1970–71 में 224 लाख हैक्टर भूमि में दालें बोई गई थी और 116 लाख टन उत्पन्न की गई थी।

(ख) अ-खाद्य फसलें—अ-खाद्य फसलों में तन्तु या रेशे वाली फसलें, पेय फसलें व अन्य फसलें आती हैं।

(अ) तन्तु या रेशे वाली फसलें—भारत में रेशे वाली फसलों में पटसन व कपास मुख्य हैं—

1 **कपास**—यह भारत की सबसे बड़ी रेशे वाली फसल है। संसार में कपास पैदा करने वाले देशों में भारत का तीसरा स्थान है। भारत में कपास प्रायः सभी भागों में बोई जाती है, परन्तु उत्पादन की दृष्टि से दक्षिण भारत में काली मिट्टी के क्षेत्र इसके लिए सर्वोत्तम हैं। गुजरात, आन्ध्र प्रदेश व मद्रास में भी कपास पैदा की जाती है। भारत में इस समय कुल कृषि क्षेत्र के 4.6 प्रतिशत भाग में कपास पैदा की जाती है। भारतवर्ष में सन् 1950–51 में 59 लाख हेक्टर क्षेत्र में कपास बोई गई तथा 29 लाख गाठ कपास का उत्पादन हुआ। सन् 1970–71 में 76 लाख हेक्टर भूमि पर इसे बोया गया तथा 46 लाख गाठों का उत्पादन हुआ। इस वर्ष कपास की उत्पादिता 108 किलोग्राम प्रति हेक्टर थी, जबकि 1951 में यह केवल 88 किलोग्राम प्रति एकड़ थी। भारत में की जाने वाली कपास की किस्म प्रायः घटिया होती है। अतः लम्बे रेशे की कपास आयात की जाती है।

2 **पटसन या जूट**—जूट की खेती के लिए गर्म तथा तर जलवायु नदी द्वारा लाई हुई मिट्टी तथा पर्याप्त वर्षा की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष में जूट मुख्यतः प० बगाल, बिहार, आसाम और उड़ीसा में उगाया जाता है। कुल उपज की आधी मात्रा केवल बगाल में ही पायी जाती है तथा आसाम व बिहार में लगभग 20–20 प्रतिशत उत्पादन होता है। विभाजन से पूर्व अखड भारत को जूट के उत्पादन में एकाधिकार प्राप्त था। विभाजन के फलस्वरूप बगाल प्रान्त के पटसन उगाने वाले क्षेत्र का एक तिहाई भाग पाकिस्तान में चला गया, जबकि पटसन के सारे कारखाने भारत में ही रह गये। इन कारखानों के लिए कच्चे माल की पूर्ति व्यवस्था के लिए यह आवश्यक हो गया कि जूट की उपज बढ़ाई जाय। सन् 1970–71 में लगभग 750 लाख हेक्टर भूमि में जूट की खेती की गई और 49 लाख गाठे पैदा की गई। भारत मे जूट का प्रयोग बोरियाँ, पर्दे, दरियाँ आदि बनाने में किया जाता है।

(**आ**) **पेय फसलें**—पेय फसलों में चाय, कहवा व तम्बाकू को शामिल किया जा सकता है। चाय व कहवा तो उत्तेजक पेय माने जाते हैं और तम्बाकू नशा पैदा करने वाला पदार्थ माना जाता है।

1 **चाय**—भारतवर्ष विश्व में चाय उत्पादन करने वाले देशों में सर्वप्रथम है तथा चाय निर्यात करने वाले देशों में भी भारत का नाम सर्वप्रथम आता है। चाय उत्पादन के मुख्य क्षेत्र आसाम, प० बगाल, कागड़ा की घाटी तथा नीलगिरी की पहाड़ियाँ हैं। भारतवर्ष में 1970–71 में लगभग 3,53,000 हेक्टर भूमि पर बोई गई और 4 लाख 22 हजार टन उत्पादित की गई। देश में कुल उत्पत्ति का लगभग 30 से 35 प्रतिशत भाग उपभोग किया जाता है, शेष निर्यात कर दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप लगभग 10 करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार के कोष में आ जाते हैं।

2 काफी या कहवा—चाय की भाँति कहवा भी पहाड़ी ढालों पर उगाया जाता है। भारत में मैसूर राज्य में देश के कुल उत्पादन का 80 प्रतिशत कहवा उत्पन्न किया जाता है। तामिलनाडु व केरल में भी कहवे का उत्पादन होता है। हमारे देश में लगभग 1.1 करोड़ हेक्टर भूमि पर कहवा बोया जाता है। सन् 1970–71 में काफी का उत्पादन 108000 टन हुआ।

3 तम्बाकू—तम्बाकू उत्पादन के क्षेत्र में भारत का विश्व में दूसरा स्थान है। तम्बाकू के लिए उपजाऊ भूमि एवं सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। भारत में बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र, बिहार व तामिलनाडु तम्बाकू उत्पादन के क्षेत्र है। पंजाब, उत्तर प्रदेश व राजस्थान में भी थोड़ी बहुत मात्रा में तम्बाकू पैदा की जाती है। भारत में 1970–71 में तम्बाकू 4.5 लाख हेक्टर भूमि में बोई गई और 3.44 लाख टन पैदा की गई। भारत विदेशों को तम्बाकू का निर्यात करता है।

(इ) अन्य फसलें (i) गन्ना—गन्ने की पैदावार के लिये उपजाऊ जमीन, तेज गर्मी, चिकनी मिट्टी तथा तेज वर्षा की आवश्यकता होती है। भारत में गन्ने के उत्पादन क्षेत्र उत्तर प्रदेश, बिहार, प० बंगाल, पंजाब व महाराष्ट्र हैं। भारत के दक्षिणी क्षेत्रों में भी गन्ना पैदा होता है, परन्तु उत्तर प्रदेश के मुकाबले में कम पैदा होता है। उत्तरी क्षेत्रों में लगभग 70% गन्ने की उपज होती है। दक्षिणी क्षेत्र में प्रति एकड़ गन्ने की उपज अधिक है और साथ ही यह काफी रसदार भी होता है। 1970–71 में भारतवर्ष में गन्ने की खेती 27 लाख हेक्टर भूमि पर की गई और 132 लाख टन गन्ने का उत्पादन किया गया। प्रति हेक्टर गन्ने का उत्पादन 4966 लाख टन था। 1950–51 से सन् 1970–71 तक गन्ने की फसल के क्षेत्र में 60 प्रतिशत तथा उपज में 135 प्रतिशत वृद्धि हुई।

(ii) तिलहन—भारतवर्ष में पैदा की जाने वाले मुख्य तिलहन है—मूंगफली, अलसी, एरण्ड, सरसों, तिल, बिनौला, नारियल आदि। तिलहन का प्रयोग भोजन बनाने में तो किया ही जाता है साथ ही साथ साबुन, दवाइयां, इत्र, वार्निस आदि के निर्माण में भी इनका प्रयोग होता है। विश्व के तिलहन उत्पादक देशों में भारत का प्रमुख स्थान है। मूंगफली के उत्पादन में तो भारत विश्व में प्रथम है। अलसी के उत्पादन में भारत का स्थान दूसरा है तथा एरण्ड के उत्पादन में तो भारत को एकाधिकार प्राप्त है। भारत में लगभग कुल कृषि के 8.6% भाग में तिलहन बोए जाते है। सन् 1970–71 में 153 लाख हेक्टर भूमि पर तिलहन की खेती की गई तथा 92 लाख टन तिलहन पैदा किया गया। प्रति हेक्टर तिलहन का उत्पादन 599 किलोग्राम था।

(iii) रबड़—भारत में रबड़ मुख्यतः दक्षिण भागों में ही पैदा किया जाता है। इसके प्रमुख उत्पादक-क्षेत्र तामिलनाडु, मैसूर एवं केरल हैं। भारत का अधिकांश

रबड केरल में उगाया जाता है। भारत में लगभग 1 लाख 55 हजार हेक्टर भूमि पर रबड उगाया जाता है और लगभग 46 हजार टन पैदा किया जाता है।

अन्य फसलों एवं उपजों के अतिरिक्त भारत में अन्य वस्तुयें भी पैदा की जाती हैं। कई प्रकार के फल एवं सब्जियां भी उगाई जाती हैं। सच तो यह है कि भारत-वर्ष में उगाई जाने वाली समस्त वस्तुओं का उल्लेख करना कठिन है, परन्तु जिन वस्तुओं का आर्थिक क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक महत्व है, उन्हीं का वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

भारत में फसलों का स्वरूप (Cropping Pattern in India)

एक प्रगतिशील देश में फसलों का स्वरूप देश की परिस्थिति एवं आव-श्यकताओं के अनुरूप बदलता रहना चाहिये, तभी उस देश की कृषि-प्रणाली उस देश के आर्थिक विकास में वरदान साबित हो सकती है। फसलों के स्वरूप में स्थिरता कृषि-क्षेत्र की प्रगति को चुनौती देती है तथा राष्ट्र के नियोजित विकास में बाधा बनती है। आज हम नियोजन के युग में रह रहे हैं। हम देश में उन्हीं और उतनी ही वस्तुओं का उत्पादन करना चाहते हैं, जिनकी तथा जितनी देश को आवश्यकता है। यदि कृषि उत्पादन अनियोजित तथा आवश्यकता के अनुरूप नहीं हो और फसलों का स्वरूप देश की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं बदला जा सके तो नियो-जन, खासकर कृषि क्षेत्र में, असफल हो जायेगा। अतः आज के युग में फसलों के स्वरूप तथा देश की आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन की सम्भावना का होना अति-आवश्यक है।

फसलों के स्वरूप में परिवर्तन की सम्भावना: फसलों के स्वरूप में परिवर्तन करना सम्भव है अथवा नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है। कुछ विद्वानों का मत है कि फसलों के स्वरूप को बदलना असम्भव है या अत्यधिक कठिन है, जबकि कुछ अन्य विद्वानों का यह मत है कि फसलों के स्वरूप को बदला जा सकता है। श्री एस. एन. सिन्हा के अनुसार फसलों को नहीं बदला जा सकता। उनका कहना है कि, "परम्परावद्ध तथा ज्ञान के अत्यन्त निम्न स्तर वाले देश में, कृषक नये प्रयोग करने को तैयार नहीं होता। वे हर एक बात को उदासीनता एवं भाग्यवादिता की भावना से स्वीकार करते हैं। उनके लिये खेती व्यापार की वस्तु न होकर जीवन की एक प्रणाली है एक कृषि-प्रधान समाज में, जिसके सदस्य परम्पराओं में बंधे हुये एवं अशिक्षित हैं, फसल में परिवर्तन की अधिक सम्भावना नहीं रहती है।"[1]

भारत जैसे रूढ़िवादी एवं प्रजातांत्रिक देश में श्री सिन्हा का उक्त मत कुछ-

1 *S. N. Sinha* Economics of Cropping Pattern, AICC Economic Review, Vol Jan. 1964

कुछ सही हो सकता है, क्योंकि प्रजातान्त्रिक देश में सरकार के पास ऐसे अधिकार नही होते कि वह किसानो की फसल विशेष को उगाने या न उगाने के लिए बाध्य कर सके। ऐसे देशो मे फसलो के स्वरूप मे परिवर्तन के लिए न तो निषेध ही किया जा सकता है और न निर्देशन ही दिया जा सकता है। फिर भी उन स्थानों में जहा पहली बार खेती की व्यवस्था की जा रही हो, फसलो के स्वरूप को बदला जा सकता है। ऐसी स्थिति मे सरकार बीज, पानी, खाद, ऋण या आर्थिक सहायता देकर फसलो के स्वरूप मे परिवर्तन करा सकती है।

समाजवादी देशो मे फसलो के स्वरूप मे परिवर्तन करना अपेक्षाकृत आसान काम है। ऐसे देशो की सरकारो को केवल यह तय करना होता है कि कौन सी फसल और कितनी भूमि पर उगाई जानी चाहिए। यदि सरकार ने इस सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय ले लिया है तो सरकारी खेती के प्रबन्धको एव कृषको को यह नियम लागू करना ही होगा।

फसलो के स्वरूप को निर्धारित करने वाले तत्व

फसलो के स्वरूपको निर्धारित करने वाले कई कारण है, जिनम से प्रमुख य है—

(क) भौतिक कारण फसलो के स्वरूप को निर्धारित करने म किसी प्रदेश विशेष की मिट्टी, जलवायु, वर्षा आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। उदाहरणार्थ, यदि ज्वार व बाजरा शुष्क जमीन व कम वर्षा वाले क्षेत्रो मे हो सकता है तो कपास के लिए काली मिट्टी चाहिए गन्ने के लिए उपजाऊ दुमट मिट्टी की आवश्यकता होती है धान के लिए वर्षा की अधिकता होना आवश्यक है। अत सामान्यत फसलो का स्वरूप भौतिक या भौगोलिक कारणो पर निर्भर करता है। यदि इन कारणो म परिवर्तन हो जाय या मनुष्य भौतिक परिस्थितियो को अपने अनुकूल बना सके तथा सिंचाई, खाद आदि के द्वारा तो फसलो के स्वरूप को बदला जा सकता है।

(ख) आर्थिक कारण देश की फसलो के स्वरूप को प्रभावित करने म आर्थिक कारणो का बहुत बडा हाथ होता है। आज के भौतिकवादी युग म किसान इन कारणो से काफी प्रभावित होता है। आर्थिक कारणो म निम्न मुख्य है —

1 कृषि पदार्थों के मूल्यो में परिवर्तन—जिन कृषि वस्तुओ के मूल्य ऊचे होते है, किसान प्राय उन्ही वस्तुओ के उत्पादन में जुट जाते है। इसके विपरीत जिन वस्तुओ के मूल्य नीचे है या गिरते रहते है, किसान एसी वस्तुओ का उत्पादन कम या बन्द कर देते है। व्यावहारिक अध्ययनो से मूल्य म परिवर्तनो और फसलो के ढाचो मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है। खाद्य और कृषि मन्त्रालय ने भी इस सम्बन्ध में जो तथ्य एकत्रित किये है उनसे यह ज्ञात होता है कि मूल्यो म परिवर्तन का वस्तु विशेष के उत्पादन के क्षेत्रफल पर प्रभाव पडता है।

2 **अधिक लाभ तथा आय की सम्भावना**—कुछ विद्वानों का मत है कि किसान की अधिक आय की अभिलाषा फसलों के ढाचे या स्वरूप पर प्रभाव डालती है। किसान प्राय उन्ही फसलों को उगाना चाहते हैं जिनसे उन्हें अपेक्षाकृत अधिक आय प्राप्ति की सम्भावना होती है। इस सम्बन्ध मे डॉ० राजकृष्ण का मत है कि फसलों के स्वरूप को प्रभावित करने वाला मुख्य कारण फसल का प्रति एकड सापेक्ष लाभ होता है। यदि किसी एक फसल का सापेक्ष लाभ अन्य फसल से कम है, तो कृषक पहली वाली फसल की जगह दूसरी फसल ही पैदा करेगा।

3 **खेत का आकार**—खेत के आकार और फसलों के स्वरूप मे घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। छोटे खेत रखने वाले किसान बडे खेत रखने वाले किसानों की अपेक्षा व्यापारिक फसलों के लिये कम क्षेत्रफल का प्रयोग करते हैं क्योंकि सबसे पहले वे अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए खाद्य पदार्थों का उत्पादन करना चाहते हैं, यदि उसके बाद जमीन का टुकडा बच जाता है, तब वे व्यापारिक फसलें उगाते है, अन्यथा नही।

4 **जोखिम के विरुद्ध बीमा**—भौतिक कारणों से फसलों के नष्ट हो जाने के भय से कभी कभी किसान सामान्य फसल के बजाय अन्य फसलें बो देते हैं, जिनके बोने से कम से कम जोखिम होती है। उदाहरणार्थ, शुष्क क्षेत्रों मे गेहू न बोकर ज्वार बाजरा इसलिए बोया जाता है कि यदि वर्षा पर्याप्त न भी हो तो भी यह फसलें हो जायेगी। अत फसल सम्बन्धी जोखिम को कम से कम करने की आवश्यकता ने भी फसलों के ढाचे को प्रभावित किया है।

5 **आदानो की पूर्ति**—बीज, खाद, पानी की उपलब्धता और भडार गृह विपणन परिवहन की सुविधाए भी फसलों के स्वरूप को प्रभावित करती हैं। मध्य प्रदेश के अनेक किसानों ने मूगफली के बीजो की आसानी से उपलब्धता के कारण ही इसकी खेती को काफी बढा लिया है। इसी प्रकार अन्य आदानो की उपलब्धि का प्रभाव भी कृषि के स्वरूप पर पडता है।

6 **भूमि व्यवस्था**—किसान भू-स्वामी होने के नाते फसलों के स्वरूप को अपने अधिकतम लाभ को दृष्टि मे रखते हुए स्वय चुनता है और कम लाभदायक फसल की जगह अधिक लाभदायक फसल बोता है। बटाई प्रथा के अन्तर्गत वास्तविक खेती करने वाले श्रमिकों को भूमिपतियो के फैसले के अनुरूप ही फसलो का स्वरूप स्वीकार करना होगा। जैसा मालिक कहेगा, उन्हें वही और उतनी ही फसल बोनी होगी।

(ग) सरकारी नीति एव सहायता—सरकार वैधानिक प्रशासनिक एव अन्य उपायो से फसलों के स्वरूप मे परिवर्तन कर सकती है। सरकार जिन फसलों को

बढावा देना चाहे, उन फसलो के उर्वरक, बीज, सिचाई सुविधा आदि देकर बढावा दे सकती है। यही नही, उत्पादन शुल्क व निर्यात-शुल्क मे छूट देकर तथा आर्थिक सहायता देकर भी कुछ फसलो को अन्य फसलो की अपेक्षा बढावा दे सकती है। सरकारी नीति एव सहायता के प्रभाव से देश मे फसलो के स्वरूप को परिवर्तित किया जा सकता है।

भारत मे फसलो के स्वरूप का ऐतिहासिक विवेचन

भारतवर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व फसलो का स्वरूप (Cropping Pattern before Independence)—यहा मोटे तौर पर दो फसलें होती आई है—खाद्य फसलें एव अखाद्य या व्यापारिक फसलें। बीसवी शताब्दी के कृषि उपज सम्बन्धी आँकडो से हमे ज्ञात होता है कि प्रारम्भ तक खाद्य फसलों का ही अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन होता था। इसका प्रमुख कारण यह था कि जनसख्या का अधिकतर भाग गावो म रहता था तथा वह अपनी आजीविका के लिये कृषि पर निर्भर था। उसकी उस समय की प्रमुख आवश्यकता की वस्तु खाद्य पदार्थ ही थे। उस समय उद्योगो की अल्प-विकसित दशा होने के कारण व्यापारिक फसलो का उत्पादन सीमित था।

समय के साथ-साथ भारतवर्ष के लोगो ने भी उद्योग-धन्धो का धीरे-धीरे विकास किया, देश की ग्रामीण जनसख्या गावो से नगरो की ओर आने लगी, लोगो की आवश्यकता के स्वरूप मे भी परिवर्तन हुआ और उन्हे भोजन के अलावा अनेक अन्य वस्तुओ की आवश्यकता भी होने लगी। कारखानो द्वारा उत्पादित माल उनकी इच्छित वस्तुओ की पूर्ति करने लगे। उद्योगो के विकास ने कच्चे माल की माग को बढा दिया, फलस्वरूप उनके मूल्य मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। यही कारण है कि बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर आज तक के कृषि उपज के इतिहास के अवलोकन से यह तथ्य पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है कि कृषि उपज मे खाद्यान्नो का महत्व निरन्तर गिरता गया है और व्यापारिक फसलो का महत्व उत्तरोत्तर बढता गया है। पर चूकि यह सब इतना धीरे-धीरे हुआ, इसलिए लोगो को फसलो के स्वरूप मे होने वाले परिवर्तन का केवल हल्का सा ही आभास मिला। फिर भी यह परिवर्तन महत्वपूर्ण एव प्रभावशाली रहा है। भारत, जो कि कभी विश्व के खाद्य भण्डार या खलिहान कहा जाता था, खाद्यान्नों के उत्पादन मे इतना पिछड गया है कि उसे अपने ही निवासियो की उदर-पूर्ति के लिये विदेशो से खाद्यान्न आयात करना पडता है।

20वी शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक फसलो के स्वरूप मे तथा जनसख्या मे मोटे तौर पर जो परिवर्तन हुए है वे अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट हो जाते हैं —[1]

1 Studies in Indian Agricultural Economics, P. 10.

भारत में जनसंख्या एवं फसलों का बदलता स्वरूप (1900–1945)

वर्ष	जनसंख्या का निर्देशांक	कुल बोई गई भूमि के क्षेत्र का निर्देशांक		
		खाद्य फसलें	अखाद्य फसलें	कुल फसलें
1901–1915	100.0	100.0	100.0	100.0
1921–1925	108.0	100.1	118.2	108.9
1931–1935	120.5	111.3	132.5	114.8
1941–1945	137.9	113.8	141.3	218.4

ऊपर दी गई सारिणी से यह स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम 45 वर्षों में देश की जनसंख्या 37% प्रतिशत बढ़ी, जबकि कुल बोया गया क्षेत्र केवल 18% प्रतिशत ही बढ़ा। इस अवधि में खाद्य-पदार्थों के क्षेत्र में 13.8 प्रतिशत वृद्धि हुई, जबकि अखाद्य पदार्थों के क्षेत्र में 41.3 प्रतिशत वृद्धि हुई। इस अवधि में खाद्य-फसलों में सबसे अधिक वृद्धि गेहूँ के क्षेत्र में (34.9%) तथा सबसे कम ज्वार के क्षेत्र में (10.82) हुई। चावल, बाजरा एवं चने की फसलों में क्रमशः 17.4, 22.2 तथा 13.3 प्रतिशत वृद्धि हुई। अखाद्य या व्यावसायिक फसलों के अन्तर्गत सबसे अधिक वृद्धि गन्ने की फसल में (53.6%) तथा सबसे कम वृद्धि रेशेवाली फसलों (23.9%) में हुई। तिलहन तथा बागान-फसलों की उपज में वृद्धि क्रमशः 28.6 तथा 42.8 प्रतिशत थी। इस अवधि में कुल फसलों के अनुपात में खाद्य-पदार्थों का अनुपात 3.3 प्रतिशत से कम हो गया तथा खाद्य व्यावसायिक फसलों का अनुपात इतनी ही मात्रा में बढ़ गया। *कुल बोया गया क्षेत्र भी* 1900–01 ई० में 2772 लाख एकड़ से बढ़ कर सन् 1944-45 ई० में 3283 लाख एकड़ हो गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद फसलों का स्वरूप

(Cropping-pattern after Independence)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सभी फसलों के क्षेत्र में वृद्धि हुई है, लेकिन ध्यान से देखने पर पता चलता है कि अखाद्य फसलों में खाद्य फसलों की तुलना में कहीं अधिक वृद्धि हुई है।[1]

अगले पृष्ठ पर दी गयी तालिका फसलों के स्वरूप में होने वाले परिवर्तन को दर्शाती है। इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि खाद्य फसलों के आधीन क्षेत्रफल धीरे-धीरे बढ़ा है, जबकि व्यापारिक या अखाद्य फसलों के आधीन क्षेत्रफल तेजी से बढ़ा है। इस परिवर्तन के बावजूद भी खाद्य फसलों का अब भी सबसे अधिक

1 Indian Agriculture in Brief, 1971, pp 96–97.

महत्व है, क्योंकि समस्त क्षेत्रफल का $\frac{1}{4}$ से अधिक भाग इन्हीं फसलों को पैदा करने में प्रयुक्त होता है।

भारत में फसलों का बदलता स्वरूप (1950–51 से 1970–71 तक)

अवधि	खाद्य-फसलें	अखाद्य-फसलें	कुल फसलें
1949–50	100 0	100 0	100.0
1950–51	97 9	100 8	99 9
1955–56	111 9	130 7	115 0
1960–61	116 9	141 2	120 8
1965–66	116 5	154 6	122 5
1968–69	121 9	146 2	125 6
1969–70	125 1	151 4	129 1
1970–71	125 4	153 2	129 6

भारत में एक अनुमान के आधार पर 75% से 80% भाग पर खाद्य फसलें पैदा की जाती हैं, 10% क्षेत्र पर तिलहन, 6 5% क्षेत्र पर रेशेवाली फसलें और 3 5% भाग पर बागान व अन्य फसलें उगाई जाती हैं।

भारत के लिये आदर्श फसल स्वरूप

भारत के लिये आदर्श फसल-स्वरूप क्या हो ? इस सम्बन्ध में प्राय 3 विचारधारायें पाई जाती हैं। कुछ विद्वानों का यह मत है कि भारत के सामने खाद्य समस्या का विराट रूप है। अत खाद्यान्नों के उत्पादन पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। दूसरे प्रकार के विद्वानों का मत है कि कृषकों की आर्थिक दशा में सुधार उस समय ही हो सकेगा, जबकि उनको उनकी फसल का अधिकाधिक मूल्य मिले। दूसरे शब्दों में, वे व्यापारिक फसलों के उत्पादन बढ़ाने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। तीसरे समुदाय के विद्वानों का मत है कि हमें केवल वे ही फसलें उगानी चाहिये जो योजना आयोग द्वारा विभिन्न परिस्थितियों को दृष्टिकोण में रख कर नियत किये हुये योजना-लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक, हो चू कि हमारे देश का योजना-बद्ध विकास हो रहा है, अत तीसरा दृष्टिकोण ही भारत के लिये आदर्श फसल-स्वरूप निर्धारण के लिये उत्तम साबित होगा।

प्रश्न

1 भारत की मुख्य व्यापारिक फसलें क्या हैं तथा उनका भौगोलिक वितरण क्या है ? (आगरा बी. काम 1962)

2 फसलों के स्वरूप से आप क्या समझते हैं ? फसलों के स्वरूप को निर्धारित करने वाले तत्वों की विवेचना कीजिये।

3 भारतवर्ष में फसलों के स्वरूप का ऐतिहासिक विवेचन कीजिये तथा भारत के लिये आदर्श फसल स्वरूप का सुझाव दीजिए।

10

भूमि का उप-विभाजन एवं अपखण्डन

(Sub-division and Fragmentation of Land)

"The inefficiency of agriculture is due more to the small size and scattered nature of the holding than due to ignorance or want of alertness on the part of the peasants."

—Dr. R K Mukerjee

कृषि की उत्पादकता बहुत कुछ खेतो के आकार पर निर्भर करती है। भारत जैसे विशाल कृषि-प्रधान देश मे जहा जनसख्या तीव्र गति से बढ रही हो एव कृषि-योग्य भूमि सीमित हो खेतो का छोटा होना स्वाभाविक है। भारत मे कृषि अनार्थिक है। खेतो का छोटा होना कृषि को और भी अलाभकारी बना देता है। आज देश मे कृषि-उत्पादन की वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न किये जा रहे है तथा कृषि उन्नति के लिए अनेक योजनायें बनाई जा रही हैं। इन योजनाओ मे भूमि के उप-विभाजन एव अपखण्डन की समस्या के अध्ययन एव निवारण का बहुत अधिक महत्व है। इस समस्या को हल किये बिना तथा आर्थिक जोतो के निर्माण के अभाव मे कृषि मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना सम्भव नही है।

कृषि-इकाइयों के आकार

कृषि-जोतो का वर्गीकरण विद्वानो द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। साधारणत कृषि-जोतो को तीन भागो मे बाटा जाता है, (i) आर्थिक जोत; (ii) आधारभूत जोत, तथा (iii) अनुकूलतम जोत।

(i) आर्थिक जोत—आर्थिक जोत के सम्बन्ध मे श्री कीटिंग के विचार इस प्रकार हैं—"आर्थिक जोत से आशय ऐसी जोत से है जिसस कि कृषक अपने व्यावसायिक व्यय निकालने के बाद इतनी आय प्राप्त कर ले कि उसका एव उसके परिवार का आराम के साथ उचित रूप से जीवन-निर्वाह हो सके।"[1]

1. *Keatinge* Agricultural Problems in Western India.

डा० मान ने भी इसी से मिलती-जुलती परिभाषा दी है। उनके शब्दों में "एक आर्थिक जोत वह है जो एक औसत आकार के परिवार को जीवन का सतोष-जनक समझा जाने वाला न्यूनतम स्तर प्रदान करती है।"[1]

आर्थिक जोत का आकार क्या हो, इस पर भी विद्वानों के मतों में अन्तर पाया जाता है। कीटिंग के मतानुसार सिंचाई के लिए कम से कम एक अच्छे कुएं की सुविधा के साथ 40 से 50 एकड़, एक ही चक्र की भूमि, आर्थिक जोत कहलायेगी। डा० मान का विचार है कि 20 एकड़ भूमि को आर्थिक जोत का आकार माना जा सकता है। श्री स्टेन्ले जेवन्स (Stanley Jevons) के अनुसार आर्थिक जोत वही है जो रहन-सहन का उचित स्तर प्रदान करती है। उनके अनुसार आर्थिक इकाई में कम से कम 30 एकड़ भूमि होनी चाहिए। डार्लिंग (Darling) के अनुसार यदि किसान के पास आय के अन्य साधन प्राप्त है तो 8 से 10 एकड़ भूमि उसको न्यूनतम स्तर प्रदान करने के लिए काफी है।[2]

आर्थिक जोत के आकार को निर्धारित करने वाले मुख्य तत्व निम्न हैं : (1) कृषि भूमि की उर्वरा शक्ति, (2) कृषि-विधि (3) सिंचाई की सुविधा, (4) खेती का स्वरूप, (5) उगाई जाने वाली फसल की प्रकृति, (6) बाजार से दूरी या निकटता, (7) कृषक की सामाजिक दशा एवं (8) कृषि का उद्देश्य। इन तत्वों को ध्यान में रख कर ही आर्थिक जोत का निर्धारण किया जाना चाहिए।

(ii) **आधारभूत जोत**—यह कृषि जोत की सबसे छोटी इकाई है। इससे कम भूमि पर खेती का काम करना अनार्थिक होगा। अत आधारभूत जोत से हमारा तात्पर्य व्यक्तिगत आधार पर की जाने वाली लाभदायक कृषि के लिए आवश्यक न्यूनतम क्षेत्र से है।

(iii) **अनुकूलतम जोत**—इसे आदर्श जोत भी कह सकते है। यह खेत का वह आकार है जिसमें एक किसान को उसके द्वारा लगाये गये श्रम व पूंजी से अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। भारत में आदर्श जोत का आकार आर्थिक जोत के आकार का तीन गुना अधिक माना जाता है।

उक्त जोतों के अलावा एक पारिवारिक जोत भी होती है। पारिवारिक जोत से हमारा मतलब कृषि-भूमि के ऐसे आकार से है जो किसानों को कम से कम इतनी पैदावार अवश्य दिलाये, जिससे उसको प्रतिवर्ष 1,600 रुपये की औसत आमदनी प्राप्त हो सके तथा मजदूरी व आवश्यक खर्चों को निकाल कर कम से कम 1,200 रुपये प्रतिवर्ष शेष बच जायें।

---

1. *H Mann* Land & Labour in Deccan Villages
2. *M L. Darling* Punjab Peasants in Prosperity & Debt.

भारत में कृषि-भूमि का उप-विभाजन एवं अपखण्डन

भारतवर्ष मे कृषि जोतो की दो मुख्य समस्यायें हैं, यथा—(i) उप-विभाजन, तथा (ii) अपखडन। सरैया सहकारी समिति के मतानुसार—'अनुत्पादक एवं अलाभप्रद खेती भारतीय कृषि उत्पादन मे सबसे बडी बाधा है।' समिति के विचारानुसार अलाभकारी कृषि जोतो की दो समस्यायें हैं—(क) खेतो के आकार का छोटा होते जाना, तथा (ख) किसानो के खेत एक चक मे न होकर दूर-दूर फैलते जाना। अत: इन समस्याओ का विस्तारपूर्वक विवेचन अपेक्षित है।

उप-विभाजन का अर्थ—कृषि जोतो के उप-विभाजन से हमारा तात्पर्य परिवार के विभाजन अथवा अन्य कारणो से एक जोत के कई व्यक्तियो के बीच बट जाने से है। हमारे देश मे यह एक प्रथा सी हो गई है कि भू-स्वामी की मृत्यु के पश्चात् उसकी भूमि छोटे-छोटे भागो मे बट जाती है। उप विभाजन या तो भू स्वामी द्वारा अपनी भूमि का कुछ भाग बेच देने, दान या उपहार मे दे देने आदि से होता है। इस प्रकार देश मे प्रत्येक भू-स्वामी की मृत्यु के पश्चात या उसके जीवन-काल मे ही भूमि छोटे-छोटे टुकडो मे बट जाती है और उसके खेतो का आकार पीढी-दर-पीढी छोटा होता जाता है। यह प्रक्रिया हमारे देश मे लम्बे समय से चली आ रही है और अब भी चल रही है।

अपखण्डन का अर्थ—कृषि जोतो के अपखण्डन से आशय है खेती का एक जगह न होकर अनेक जगहो पर बिखरे होना। भूमि के छोटे छोटे टुकडे एक चक मे न होकर दूर दूर बिखरे होते हैं तथा इन टुकडो के बीच प्राय. काफी अन्तर होता है, जिसके फलस्वरूप इन सब टुकडो को मिला कर एक खेत के रूप मे खेती नही की जा सकती। भारत मे भूमि का उप-विभाजन (Sub-division) प्राय: अपखण्डन (Fragmentation) के साथ साथ पाया जाता है।

भारत में कृषि जोतो का आकार :

(अ) **उप विभाजन**—भारत मे कृषि-जोतो का आकार बहुत छोटा है, जबकि संसार के अन्य देशो मे कृषि जोतो का आकार बडा है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है

देश	जोत का औसत आकार (एकड मे)	देश	जोत का औसत आकार (एकड मे
न्यूजीलैण्ड	491	हालैण्ड	26 00
अमेरिका	145	डेन्मार्क	37 05
इगलैन्ड	20	भारत	7 39
फ्रास	20		

पिछले पृष्ठ पर दी गई सारिणी से स्पष्ट है कि भारत में कृषि-जोत अन्य देशों की तुलना में काफी छोटी है। देश के विभिन्न राज्यों में भी जोतों का आकार भिन्न-भिन्न है, जैसा कि आगे दी गई तालिका से ज्ञात होता है [1]

भारत के विभिन्न राज्यों में प्रति कृषक परिवार द्वारा जोती गई भूमि का औसत
(एकड में)

राज्य	प्रति परिवार औसत भूमि	राज्य	प्रति परिवार औसत भूमि
केरल	1 8	आन्ध्र प्रदेश	3 0
जम्मू एव कश्मीर	3 8	मैसूर	10 5
पश्चिमी बगाल	4 1	मध्य प्रदेश	10 6
तामिलनाडु	4 6	गुजरात	12 5
आसाम	4 7	महाराष्ट्र	12 9
बिहार	4 8	पजाब	13 8
उडीसा	5 2	राजस्थान	16 0
उत्तर प्रदेश	5 3	सम्पूर्ण भारत	7 39

भारत मे कृषि जोतो के उप विभाजन की सीमा का अनुमान निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है—

जोतों का क्षेत्र	सख्या		क्षेत्र	
	लाख म	प्रतिशत	लाख एकड मे	प्रतिशत
1 एकड से कम	266	42 1	40	1 2
1 एकड से 5 एकड	180	29 1	484	14 4
5 एकड से 10 एकड	88	14 2	623	18 5
10 एकड से 20 एकड	54	8 7	752	22 4
20 एकड से 40 एकड	25	4 1	695	20 7
40 एकड से 100 एकड	10	1 6	563	16 8
100 एकड से अधिक	0 1	0 2	200	6 0

Source National Sample Survey, 8th Round

1 Shri P S Sharma A study of the Structural and Tenurial Aspect of Rural Economy in the light of 1961 Census Indian Journal of Agricultural Economics, Oct –Dec 1965

पृष्ठ 105 पर दी हुई ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि भारत में कुल जोतों का 71 72 प्रतिशत भाग 5 एकड़ या इससे भी कम है।

(ख) अपखण्डन : भारतवर्ष में खेतों का आकार छोटा नहीं है, अपितु किसानों के खेत दूर-दूर फैले हुए हैं जिससे खेती करने में कठिनाई होती है। श्री डार्लिंग के अनुसार पंजाब के एक गांव में 548 भू-स्वामियों के पास 16,000 खेत थे। श्री रामलाल मल्होत्रा की जांच के अनुसार, पंजाब के होशियारपुर जिले के देरामपुर गाँव में 34 ?% किसानों में से प्रत्येक के पास 15–25 टुकड़े थे। कृषि सम्बन्धित शाही आयोग ने एक उदाहरण में बताया है कि पंजाब में एक जमींदार की भूमि 800 टुकड़ों में बटी हुई थी और दूर-दूर फैली हुई थी। डा० मान ने पिम्पला सौदागर नामक गाव में पता लगाया कि 156 भू-स्वामियों के पास 729 खेत थे, जिनमें 446 खेत एक एकड़ से कम थे तथा 211 खेत $\frac{1}{4}$ एकड़ से कम थे। श्री कीटिंग (Keatinge) के अनुसार बम्बई के एक गांव में आधे एकड़ से भी कम आकार का खेत लगभग 20 स्वामियों में बटा हुआ है। रत्नागिरि में किसी खेत का आकार प्रायः 000625 एकड़ तक छोटा होता है जिस पर बैलों की जोड़ी का मुड़ना तक कठिन हो जाता है। देश में हाल ही में किए गए खेत प्रबन्ध अध्ययनों से भी खेतों के अत्यन्त छोटे तथा भिन्न-भिन्न स्थानों पर फैले होने का पता चलता है।

उप विभाजन एवं अपखण्डन के कारण देश में उप-विभाजन एवं अपखण्डन उत्तरोत्तर होता आया है और होता जा रहा है। इसके अनेक कारणों में से मुख्य कारण इस प्रकार हैं —

(1) उत्तराधिकार नियम भारत में कानून द्वारा मृतक पिता की सम्पत्ति में पुत्रों को बराबर हिस्सा मिलता आया है। नए कानून के अनुसार हिन्दुओं में न केवल पुत्रों को ही, वरन् पुत्रियों को भी इस प्रकार का अधिकार दिया गया है। इससे दिन-प्रतिदिन उप-विभाजन एवं अप-खण्डन बढ़ता जा रहा है और भविष्य में भी यदि यह न रोका गया, तो इसी प्रकार बढ़ता रहेगा।

(2) जनसंख्या में वृद्धि भारतीय कृषकों के पास जीविका का साधन केवल खेती ही है। जनसंख्या-वृद्धि के साथ-साथ खेती पर जनभार बढ़ता जाता है, क्योंकि खेती के सिवाय कृषकों के पास अन्य धन्धा ही नहीं है। 1933 में प्रकाशित जनगणना विवरण-पत्र के अनुसार सन् 1921 की तुलना में प्रति व्यक्ति कृषि का क्षेत्र लगभग 25% कम हो गया। अनुमान है कि कृषि पर आश्रित प्रति व्यक्ति के भाग में औसतन एक एकड़ से भी कम भूमि आती है, जो कि सन्तोषजनक जीवन बिताने के लिए अत्यधिक कम है। प्रो० वाडिया व मर्चेन्ट के मतानुसार, "भूमि का उप-विभाजन और अप-खण्डन न केवल उत्तराधिकार व दायाधिकार के नियमों के कारण

होता है, अपितु इसका कारण ही प्रगति से बढ़ती हुई जनसंख्या की भूमि की प्यास है जिसे अकृषि व्यवसायों में रोजगार दिलाना सम्भव नहीं होता।"[1]

(3) **व्यक्तिवाद का उदय** पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित होकर, भारतीय भी अब परिवार से पृथक रहने लगे हैं। इससे परिवार की खेती के उप-विभाजन एवं अपखण्डन में वृद्धि हुई है।

(4) **संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा का ह्रास** भारत में संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा टूटती जा रही है जिससे भूमि का उप विभाजन निरन्तर बढ़ रहा है, क्योंकि परिवार का हर सदस्य खेत में से अपना हिस्सा अलग कर लेता है।

(5) **कुटीर उद्योगों का पतन** ब्रिटिश साम्राज्य की स्वार्थपूर्ण नीति के कारण हमारे कुटीर उद्योग नष्ट हो गये, जिससे इन उद्योगों में लगी हुई जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा खेती पर आश्रित हो गया। इससे भूमि के उप-विभाजन एवं अप-खण्डन में वृद्धि स्वाभाविक ही थी।

(6) **भूमि से प्रेम** भारतीय कृषक का भूमि से लगाव होता है। वह भूमि को जीविका का साधन ही नहीं समझता, वरन् प्रतिष्ठा व सम्मान का आधार भी मानता है। अतः हर व्यक्ति पैतृक भूमि में हिस्सा पाने के लिए लालायित रहता है।

(7) **कृषकों में ऋणग्रस्तता** भारतीय कृषक ऋण भार से प्रायः दबा रहता है और भूमि को वह धरोहर के रूप में रखता है। ऋण न चुका सकने पर भूमि का हिस्सा महाजन को दे देता है, जिससे भूमि का उप-विभाजन होता है।

(8) **कृषि-प्रथा के दोष** देश की कृषि पद्धति दोषपूर्ण है। फसलों के हेर-फेर के लिए कुछ भूमि, बिना खेती किये छोड़नी पड़ती है। भूमि के हिस्से कर लिये जाते है, जिससे भूमि टुकड़ों में बट जाती है।

(9) **उर्वरता में अन्तर** कुछ खेतों की भूमि उपजाऊ होती है और कुछ की कम उर्वर होती है, जिससे उत्तराधिकारी दोनों प्रकार की भूमियों में हिस्सा बटाते है और इस प्रकार भूमि के टुकड़े अधिक हो जाते हैं।

(10) **साझे की प्रथा** भारत में कृषि की 'बटाई' प्रथा प्रचलित है। इस प्रथा के अन्तर्गत भू-स्वामी स्वयं खेती न करके अन्य लोगों से भी खेती करा सकता है। अतः भू-स्वामी अपनी भूमि को कई व्यक्तियों को 'बटाई' पर उठा देता है। इस प्रकार खेत बिखर जाते है।

---

1 'Thus sub d vision and fragmentation of land were not only due to the Laws o fSucession and inheritance but to the land hunger created by growing population incapable of being ab orbed innon agricultural opesatson "

—Wadia and Merchant : Our Economic Problems P 175.

(11) कृषकों में अशिक्षा एवं अज्ञानता : भारतीय कृषक अज्ञानता के कारण उप-विभाजन एवं अपखण्डन की बुराइयां नहीं समझता, जिससे वह चकबन्दी, सहकारी एवं सामूहिक कृषि का विरोध करता है।

(12) अन्य कारण औद्योगीकरण का अभाव, खेती की चकबन्दी का न होना, राजाओं, नवाबों एवं जमीदारों द्वारा प्रसन्न होकर अपने नौकरों को भूमि के टुकड़े इनाम में देने की आदत आदि कारण भी भूमि के उप-विभाजन एवं अप-खण्डन के लिए उत्तरदायी हैं।

उप-विभाजन एवं अप-खण्डन के लाभ भारत में कई विद्वान ऐसे भी हैं जो उप-विभाजन एवं अपखण्डन को देश-हित में समझते हैं। इनमें डा० राधाकमल मुकर्जी प्रमुख हैं। डा० मुकर्जी के अनुसार—"भारत के कई भागों में अलग-अलग खेतों पर कई प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं। वर्षा कम होने या उसका वितरण हर क्षेत्र में उचित न होने पर यदि एक फसल नष्ट हो जाती है तो दूसरे खेत में अच्छी फसल प्राप्त हो सकती है। इसके अलावा भारत में फसलों का हेर-फेर, जो भारतीय एवं पाश्चात्य कृषि में अन्तर बताता है, इसलिये संभव हो सका है कि यहां के खेत अपखण्डित हैं।"

संक्षेप में उप-विभाजन एवं अपखण्डन के समर्थन का प्रयास निम्न तर्कों द्वारा किया जाता है —

(1) प्रत्येक व्यक्ति को भूमि का कुछ न कुछ भाग मिल जाता है जो न्यायसंगत है, (2) सबके पास भूमि होने से सबकी रुचि कृषि में बनी रहती है, (3) छोटे-छोटे खेतों पर गहन खेती लाभदायक रहती है, (4) भूमि का केन्द्रीयकरण नहीं हो पाता, (5) कुटीर उद्योगों के अभाव में अधिकतम जनसंख्या को रोजगार मिल जाता है, (6) फसलों के परती रहने में सुविधा रहती है, (7) पूरे कृषक परिवार को काम मिल जाता है, (8) हर व्यक्ति को बुरे मौसम में भी कृषि से कुछ न कुछ प्राप्त हो ही जाता है, तथा (9) कई फसलें एक साथ बोकर किसान स्वावलम्बी बन सकता है।

भारत सरकार के कृषि प्रबन्ध अध्ययनों द्वारा निकाले गए महत्वपूर्ण निष्कर्ष भी यह सिद्ध करते हैं कि देश की अर्थ-व्यवस्था में छोटे खेतों का महत्व बड़े खेतों की अपेक्षा अधिक है। वे महत्वपूर्ण निष्कर्ष हैं – i) प्रति एकड़ उपज और खेतों के आकार का अनुपात उल्टा है अर्थात् खेत का आकार जितना छोटा होगा, प्रति एकड़ उपज उतनी ही अधिक होगी, (ii) बड़े खेतों की तुलना में छोटे खेतों पर अधिक श्रमिक काम में लगाये जा सकते हैं, (iii) जितने भी राज्यों के आंकड़े उपलब्ध हैं, उन सब में छोटे फार्म पर बड़े खेतों की अपेक्षा अधिक उपज होती है;

(iv) छोटे खेत की अधिक प्रतिशत भूमि सिचित है; (v) सिचित भूमि मे असिचित भूमि की तुलना मे अधिक श्रमिको की आवश्यकता होती है, (vi) छोटे खेतो मे काफी सख्या मे बाहरी श्रमिक-मजदूरी पर रखे जाते है।

उप-विभाजन एव अपखण्डन के दोष भूमि के उप-विभाजन एव अपखडन के दोष बहुत गम्भीर है और इन दोषो की तुलना मे गुणो का महत्व फीका पड जाता है। इसके प्रमुख दोष इस प्रकार है —

डा० मान ने उप-विभाजन तथा अपखण्डन के सामूहिक दोषो का वर्णन करते हुए कहा है, "भूमि के टुकडो मे बट जाने के कारण किसान का उत्साह ठण्डा पड जाता है, श्रम की बहुत हानि होती है, हद-बन्दी के कारण बहुत-सी भूमि व्यर्थ चली जाती है और खेतो पर गहन खेती करना असम्भव हो जाता है।"[1]

1 **भूमि का दुरुपयोग** खेत छोटे-छोटे टुकडो मे बटे होने से खेतो के बीच मे मेड एव रास्ते बनाने मे बहुत-सी जमीन, जिसमे खेती होनी चाहिए, बेकार ही पडी रहती है।

2 **श्रम व समय का दुरुपयोग** खेत दूर-दूर होने से कृषक को एक टुकडे से दूसरे मे जाने के लिए काफी समय एव श्रम नष्ट करना पडता है।

3 **जोत की अनार्थिकता** निरन्तर उप-विभाजन के कारण, खेत छोटा होते होते इतना अनार्थिक हो जाता है, जिससे कृषक के परिवार का गुजारा भी मुश्किल हो जाता है।

4 **सिचाई में असुविधा** छोटे-छोटे टुकडो की सिचाई के लिए न तो वह हर टुकडे मे कुआ खुदवा सकता है और न प्रत्येक टुकडे के पास से होकर नाली ही निकलवा सकता है, जिससे सिचाई की सुविधा से खेत वचित रह जाते है।

5 **कृषि-सुधार में असुविधा** खेतो का छोटे-छोटे टुकडो मे बटे होने से कृषि-सुधार भी सम्भव नही हो पाता। ट्रैक्टर, थ्रेशर, डीजल इन्जिन एव अन्य आधुनिक कृषि-यन्त्र छोटे-छोटे खेतो पर लाभदायक नही होते। पक्की बाड बनाना व पशुओ के बाडे बनाना भी इन टुकडो पर लाभदायक नही होता।

6 **मुकदमेबाजी में वृद्धि :** छोटे-छोटे खेतो की मेडे बनाने मे भी अनेक दिक्कते आती है। एक किसान ने दूसरे व्यक्ति की जरा भी भूमि मेड बनाने के लिए ली तो लडाई-झगडा हो जाता है। यहा तक कि मुकदमेबाजी की नौबत आ जाती है।

---

1 'Fragmentation destroys enterprise, results in an enormous wastage of labour, leads to a very large loss of land owing to boundaries and makes it impossible to cultivate holding as intensively as would otherwise be possible.'

—Dr. Mann

गावों में ऐसी घटनायें होना सामान्य बात हो गई है। इसी तरह पानी की नालियां व पशु निकालने के भी झगड़े होते हैं।

7. **उर्वरता ह्रास** भूमि के एक छोटे टुकड़े से परिवार की खाद्य आवश्यकता पूरी नहीं हो पाती है, इसलिए सभी टुकड़ों पर खेती करनी होती है। भूमि परती नहीं छोड़ी जा सकती, जिससे उर्वरा-शक्ति का उत्तरोत्तर ह्रास होता जाता है।

8. **देख-भाल की कठिनाई** पागलों को सुधारने एवं पशु-पक्षियों से रक्षा के लिए खेतों की निरन्तर देख-भाल आवश्यक होती है। लेकिन दूर-दूर खेत होने के कारण कृषक उचित देख-भाल नहीं कर पाता।

9. **उत्पादन व्यय में वृद्धि** छोटे और बिखरे हुए खेतों पर कृषि करने में उत्पादन व्यय अपेक्षाकृत बढ़ जाता है। एक अनुमान के अनुसार हर 500 मीटर की दूरी पर श्रम के ऊपर 5 3% खाद ले जाने पर 20% से 25% तथा खलिहान से घर तक उपज लाने में 15% तक व्यय बढ़ जाते हैं।

10. **किसानों के ऋणभार में वृद्धि** छोटे-छोटे खेतों पर लागत व्यय अधिक होने के कारण लाभ कम मिलता है। कृषक कठिनाई से अपने परिवार का भरण-पोषण कर पाता है। भावी विपत्तियों के लिए कुछ भी नहीं बचा पाता। जीवन में आकस्मिक विपत्तियां आती ही रहती हैं, उसे ऋण लेना ही पड़ता है, जिससे उसका ऋण-भार बढ़ता जाता है।

11. **विस्तृत व गहन खेती का न होना** भूमि के सीमित होने के कारण, भारतीय किसान न तो अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया की भांति विस्तृत खेती को ही अपना सकता है और साधनों की सीमितता के कारण न ही हालैंड की भांति गहन खेती ही कर सकता है। डा० मान के शब्दों में "वस्तुतः विखण्डन से छोटे खेतों की सभी बुराइयां है, क्योंकि मशीनरी और श्रम बचाने वाली विधियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता और दूसरी ओर बड़े खेतों की भी बुराइयाँ इसमें हैं क्योंकि स्वयं किसान द्वारा वस्तुतः गहन कृषि की विधियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता जो कि छोटे खेतों के स्वामियों के लिए एक बहुत बड़ा लाभ है।"[1]

जोतों के उप-विभाजन एवं अपखण्डन के दोषों की व्याख्या करते हुए, डा० राधाकमल मुखर्जी ने ठीक ही कहा है, "भारत के अधिकांश भागों में कृषि की

---

1. "It has, in fact all the evils of very small holdings in that it prevents the use of machinery and labour-saving methods and on the other hand, of large holdings in that it hinders the adoption of really intensive cultivation by hand labour which is a great advantage of the small holders."

अनुत्पादकता के लिए किसानों की असमानता लापरवाही अथवा काम करने की अनिच्छा आदि की अपेक्षा जोतों के उप विभाजन तथा अपखण्डन अधिक उत्तरदायी है। इस प्रकार की जोतों में किसान को पर्याप्त मात्रा में काम नहीं मिलता जिससे वह वर्ष के अधिकांश समय में बेकार रहता है। किसानों की ऋण-ग्रस्तता जोतों के उप-विभाजन का कारण तथा परिणाम दोनों है और कभी-कभी उदासीनता तथा ऋण ग्रस्तता साथ-साथ चलती है।[1]

उप-विभाजन एवं अप-खण्डन के दोष निवारण के उपाय

खेतों के उप विभाजन एवं अपखण्डन के कारण, भारत जैसे कृषि-प्रधान देश की खेती अनार्थिक हो गई है। वह देश जो कभी धन-धान्य से परिपूर्ण रहता था, आज अकाल के कगार पर खड़ा है। अत इस समस्या का हल निकालना परमावश्यक है। इस समस्या के निराकरण के सम्बन्ध में निम्न सुझाव महत्वपूर्ण है—

(क) आर्थिक जोतों का निर्माण,

(ख) सहकारी कृषि,

(ग) सहकारी ग्राम प्रबन्ध, तथा

(घ) अन्य सुझाव।

(क) आर्थिक जोतों का निर्माण —उप-विभाजन एवं अपखण्डन के दोषों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक इकाइयों का निर्माण किया जाय। इस दिशा में निम्न कदम उठाये जाने चाहिए

1 जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारण —इस व्यवस्था के अनुसार जिन लोगों के पास निर्धारित अधिकतम सीमा से अधिक भूमि हो, वह सरकार के अधिकार में आ जानी चाहिए ताकि इस भूमि को उन किसानों को दिया जा सके जिनके खेत अनार्थिक हैं। इसमें अनार्थिक जोतें आर्थिक एवं लाभकर बन सकेंगी।

2 वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था —जिन किसानों के पास बहुत ही छोटी जोतें हैं, उन्हें अपनी जोतें छोड़ कर गावों में अन्य वैकल्पिक धन्धे लेने को प्रेरित करना चाहिए। इससे छोटी छोटी जोतों को मिला कर आर्थिक जोत बनाने में सहायता मिलेगी।

---

1 In many tracts, c1 the lics-tcy o[f] ag icul ure is due more to the small size and scattered nature of the holdings than to ignorance or want of alertness on the part of the peasants. Such holdings do not afford sufficient work for the cultivator and leave him almost unemployed during most part of the year Agricultural indebtedness is at once the cause and effect of the excessive divis on of holdings and very often enforced idleness and debtedness go together"

Dr. R K. Mukerjee Rural Economy of India, Vol. I, P. 63.

3 **उत्तराधिकार नियमों में सुधार**—वर्तमान प्रणाली के अनुसार पिता की सम्पत्ति से पुत्र-पुत्रियों को समान हिस्सा मिलता है। इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि भू-सम्पत्ति केवल बड़े लड़के को ही प्राप्त हो। ऐसी व्यवस्था भी सामाजिक न्याय के प्रतिकूल होगी तथा इससे असन्तोष की भावना पैदा होना स्वाभाविक ही है, अत इसमें यह सुधार और कर दिया जाय कि भू-सम्पत्ति तो बड़े लड़के को ही मिले, लेकिन वह इस सम्पत्ति की आय में से आनुपातिक भाग अपने भाइयों को भी दे। इससे उप-विभाजन की समस्या काफी हद तक सुधर जायेगी।

4. **विभाजन की न्यूनतम सीमा-निर्धारण**—सरकार को अधिनियम बना कर विभाजन की एक न्यूनतम सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए, जिससे अधिक भूमि का विभाजन न हो सके।

5 **चकबन्दी**—चकबन्दी से तात्पर्य कई छोटे-छोटे खेतों को पुनर्व्यवस्था द्वारा एक बड़े चक या खेत में परिणित करना है। इस व्यवस्था में सभी कृषकों के बिखरे हुए छोटे-छोटे खेतों को इकट्ठा कर लिया जाता है, फिर हर भू-स्वामी को उसकी आवश्यकतानुसार एक चक में खेतों का वितरण कर दिया जाता है। स्ट्रिकलैंड के अनुसार, "चकबन्दी वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा स्वामित्वधारी कृषकों को अपने इधर-उधर बिखरे हुए खेतों के बदले में उसी किस्म एव कुल उतने ही आकार के एक-दो खेतों को लेने के लिए राजी किया जाता है। इस तरह का विनिमय योरोप के सभी देशों में पिछली तीन शताब्दियों में सम्पन्न हुआ है।"[1]

(ख) सहकारी खेती (Co-operative Farming)—सहकारी खेती सामूहिक तथा व्यक्तिगत खेती के बीच वह रास्ता है डा० ओटो शिलर (Otto Schiller) के शब्दों में, 'सहकारी कृषि कृषि-व्यवस्था का वह रूप है, जिसमें भूमि का प्रयोग सयुक्त रूप से किया जाता है।'[2] जिन किसानों के पास छोटे छोटे या मध्यम आकार के खेत है, वे सहकारी कृषि समिति बना कर सहकारी ढग पर कृषि कर सकते हैं। इससे इन खेतों के छोटे आकार समाप्त हो जायेंगे और बड़े पैमाने की कृषि के लाभ प्राप्त हो सकेंगे। सहकारी कृषि मुख्यत चार प्रकार की हो सकती है—(1) सहकारी

---

1 'It is a process whereby owners of right-holding tenants are persuaded or compelled to surrender their scattered plots and receive in their place an equal area of land of the same quality in one or two bloc s An exchange of this kind has in the past three centuries been carried out in all the countries of Europe" —*Strick Land*

2. "Co operative Farming is understood as a form of farm management in which the land is used jointly." —*Otto Schilre*

संयुक्त कृषि, (ii) सहकारी उन्नत कृषि, (iii) सहकारी काश्तकार कृषि, एवं (iv) सहकारी सामूहिक कृषि। कृषक अपनी सुविधानुसार इसमें से किसी भी एक व्यवस्था को चुन कर सहकारी कृषि कर सकते हैं एवं उप-विभाजन व अपखण्डन के दोषो से बच सकते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :

(1) सहकारी संयुक्त कृषि (Co-operative Joint Farming)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत समितियाँ सदस्यों की छोटी छोटी जोतों को मिलाकर एक बड़ी जोत बना लेते है। परन्तु प्रत्येक सदस्य का अपनी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व बना रहता है। समितियाँ स्वयं अपने फार्मों पर खेती सम्बन्धी सभी व्यवस्था करती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत बड़े पैमाने की खेती के प्रायः सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं।

(2) सहकारी उन्नत कृषि (Co-operative Better Farming)—इस प्रकार की कृषि व्यवस्था के अन्तर्गत कृषक अपनी कृषि का स्वयं प्रबन्ध करते है। समिति कृषकों को खेती सुधारने के लिए अच्छे बीज, अच्छी खाद, आधुनिक कृषि-यन्त्र, सिंचाई तथा विघटन आदि की सुविधाएँ प्रदान करती है। इस प्रणाली को सेवा सहकारिता (Service Co operation) भी कहते है।

(3) सहकारी काश्तकार कृषि (Co-operative Tenant Farming)—ये समितियाँ प्रायः उन्हीं स्थानों के लिए उपयुक्त होती हैं जहाँ नई भूमि को खेती योग्य बनाया गया हो। इस व्यवस्था के अन्तर्गत खेती की योजना तो सामूहिक रूप से बनाई जाती है, लेकिन योजना का क्रियान्वयन व्यक्तिगत रूप से होता है। नई प्राप्त की गई भूमि को इस प्रणाली के अन्तर्गत कई हिस्सों में बांटा जाता है तथा प्रत्येक हिस्सा एक किसान को दे दिया जाता है। किसान समिति द्वारा निर्धारित योजनानुसार ही खेती करता है।

(4) सहकारी सामूहिक कृषि (Co-operative Collective Farming)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत सभी किसानों की भूमि आपस में मिला दी जाती है। इसके अन्तर्गत समिति न केवल खेती की ही व्यवस्था करती है अपितु भूमि की भी मालिक होती है। कृषकों का भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो जाता है। सदस्यों को उनके कार्य के लिए मजदूरी भी दी जाती है तथा उसी अनुपात में उनमें लाभ भी वितरित किया जाता है। इस प्रकार की प्रथा अभी तक हमारे देश में नहीं चालू हो पाई है।

सहकारी खेती के गुण—भारतवर्ष में भूमि सुधारों का अन्तिम लक्ष्य सहकारी खेती की स्थापना करना है। सामाजिक एवं आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहकारी कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है। महात्मा गांधी के शब्दों में, "मेरा यह दृढ विश्वास है

कि हम तब तक कृषि का पूरा लाभ नहीं उठा सकते, जब तक कि हम सहकारी खेती न करने लगें। क्या यह बात विवेक सम्मत प्रतीत नहीं होती कि एक गांव के 100 किसान परिवार जमीन को 100 हिस्सों में बाँटने के बजाय मिल कर सामूहिक खेती करें और उससे प्राप्त आय आपस में बाट लें।" स्वर्गीय प० जवाहरलाल नेहरू भी सहकारी कृषि के प्रबल समर्थक थे। सामान्यतः सहकारी कृषि से निम्नांकित लाभ प्राप्त होते है—

(1) सहकारी कृषि से कृषि उपज में वृद्धि होगी, (2) गावों में रहने वाले लोगों की गरीबी दूर होगी तथा ग्रामवासियों में इससे एक नए जीवन एवं एक नई आशा का सचार होगा, (3) सहकारी कृषि से वर्गहीन समाज (classless society) की स्थापना करना सरल एवं सुविधापूर्ण होगा, (4) खाद्यान्नों के राजकीय व्यापार (State Trading in Food grains) को बल मिलेगा, (5) जोतों की अधिकतम सीमा के निर्धारण में सहायता प्राप्त होगी, (6) सहकारी कृषि उप-विभाजन एवं अपखण्डन के दोषों को दूर कर सकेगी तथा वैज्ञानिक कृषि को सम्भव बनायेगी, (7) श्रम-शक्ति को पूर्ण रूप से उपयोग किया जा सकेगा, (8) कृषि से सम्बन्धित पूंजी, जैसे बैल, कृषि-यन्त्र, सिंचाई के साधनों का अच्छी प्रकार से उपयोग सम्भव हो सकेगा (9) सहकारी कृषि द्वारा फसलों का नियोजन (Crop-planning) सम्भव हो सकेगा (10) कृषि सम्बन्धी आकड़े एकत्रित करने में सुविधा होगी और विश्वासनीय आंकड़े प्राप्त किये जा सकेंगे, (11) सहकारी कृषि द्वारा कृषकों को सामाजिक सरक्षण, अच्छा निवास, शिक्षा, चिकित्सा आदि की सुविधायें दिलाई जा सकती है, (12) सहकारी कृषि के फलस्वरूप सरकार तथा कृषकों में अधिक सहयोग बढ़ेगा जिससे सरकार को अपनी कृषि नीति लागू करने में सुविधा होगी, जैसे खाद्यान्न वसूली की नीति, बीजों के वितरण की नीति आदि तथा (13) सहकारी कृषि के फलस्वरूप किसानों का सामाजिक एवं नैतिक स्तर ऊँचा उठेगा, सामूहिक भावना (Community spirit) पैदा होगी तथा लोकतन्त्रीय भावना का विकास होगा।

सहकारी खेती के दोष—सहकारी खेती का विरोध सामान्यतः निम्न कारणों से किया जाता है।

(1) कृषक में निजी उद्यम, उत्साह तथा उत्तरदायित्व की भावना समाप्त हो जायेगी तथा वह केवल एक श्रमिक मात्र रह जायेगा, (2) किसान का अपनी भूमि से इतना लगाव है कि वह इसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होगा, इसलिए सहकारी खेती की सफलता में संदेह है, (3) सहकारी कृषि यन्त्रीकरण को प्रोत्साहित करेगी, फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ जायेगी, (4) सहकारी कृषि समितियों के निर्माण एवं सचालन

के लिए योग्य तथा कुशल प्रबन्धकों का अभाव है, (5) सहकारी कृषि के अन्तर्गत उपज में प्राप्त लाभ तथा मजदूरी का वितरण करना कठिन कार्य होगा, (6) भारतीय कृषक रूढ़ियों में बंधा होने के कारण नए विचारों का स्वागत नहीं करता, अतः भारत का ग्रामीण क्षेत्रीय वातावरण सहकारी कृषि के अनुकूल नहीं है, तथा (7) बड़े खेतों की अपेक्षा कई देशों में छोटे खेतों से अधिक उपज प्राप्त होती है।

(ग) सहकारी ग्राम प्रबन्ध (Joint Village Management)—योजना आयोग ने उप-विभाजन एवं अपखण्डन से मुक्ति पाने के लिए अन्तिम लक्ष्य सहकारी ग्राम-प्रबन्ध रखा है। इसके अन्तर्गत समस्त गाँव को एक इकाई माना जायेगा। भूमि पर स्वामित्व तो व्यक्ति-विशेष का ही होगा, किन्तु खेती का काम सामूहिक रूप से किया जायेगा। गाँवों की सारी जमीन बड़े-बड़े हिस्सों या ब्लाकों में बाँट दी जायेगी, ताकि बड़े पैमाने की कृषि के लाभ प्राप्त हो सके। इस प्रकार भूमि के समस्त वर्तमान अधिकार तथा पैतृक सम्पत्ति के मान्य एवं सदा से चले आ रहे नियम सुरक्षित बने रहेंगे। यह व्यवस्था जनतन्त्रात्मक है तथा इसके द्वारा शान्तिपूर्ण ढंग से परिवर्तन किया जा सकता है।

अन्य सुझाव

1 औद्योगिक विकास—भारतवर्ष में बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास किया जाय तथा कुटीर उद्योगों को पुनर्जीवित किया जाय, ताकि भूमि पर से जनसंख्या का भार कम हो सके और जोतों का उप-विभाजन रुक सके।

2 जनसंख्या-वृद्धि पर नियन्त्रण—भारत में उप-विभाजन एवं अपखण्डन की समस्या, जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ जटिल होती गई है। अतः जनसंख्या वृद्धि पर रोक लगाने के लिए प्रभावशाली कदम उठाये जाने चाहिए, ताकि भूमि का उप-विभाजन और न हो पाये।

3. शिक्षा का प्रसार—शिक्षा के प्रसार से लोग उन्नत खेती के महत्व को समझेंगे, जिससे भूमि का उप-विभाजन व अपखण्डन नहीं होने देंगे। साथ ही सहकारी खेती एवं चकबन्दी जैसी व्यवस्थाओं में रुचि लेने लगेंगे।

4 नये क्षेत्रों में खेती की जाय—कृषि में अभी तक काम में न आ रही ऊसर एवं बंजर भूमियों को कृषि योग्य बनाना चाहिए, जिससे कृषि क्षेत्रों का विस्तार हो सके। कृषि-हीन ग्रामीण कृषकों को ऐसी भूमि के विकास के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

5 भूमि का राष्ट्रीयकरण—कुछ विद्वानों का मत है कि भारत की समस्त भूमि का राष्ट्रीयकरण करके सरकारी कृषि व्यवस्था प्रचलित की जाय, पर यह सुझाव व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता।

सरकार द्वारा उठाये गये कदम :

(1) अधिकतम जोत की सीमा का निर्धारण–भारत के विभिन्न राज्यों में जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित करने वाले अधिनियम पारित हो चुके है। ये अधिनियम निर्धारित करते हैं कि कोई व्यक्ति कितनी अधिकतम भूमि रख सकता है। साथ ही ये भविष्य में भूमि प्राप्त करने पर भी रोक लगाते है।

इस व्यवस्था को लागू करने के कारण राज्य-सरकारों को बड़ी मात्रा में भूमि प्राप्त हुई है, जिसका बटवारा भूमिहीन किसानों में किया जा रहा है।

(2) भावी उप-विभाजन पर रोक—भविष्य में भूमि के और अधिक टुकड़े न हो सकें, इसलिए विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा ऐसी न्यूनतम सीमायें निर्धारित कर दी गई हैं, जिससे नीचे उप-विभाजन नहीं हो सकता। कुछ राज्यों में न्यूनतम क्षेत्र इस प्रकार हैं—देहली 8 एकड़, उत्तर प्रदेश $3\frac{1}{4}$ एकड़, मध्य प्रदेश 5 एकड़ सिंचित एवं 15 एकड़ असिंचित भूमि।

(3) चकबन्दी की व्यवस्था—जोतों की चकबन्दी का अर्थ है, बिखरे हुए खेतों के स्थान पर किसान को एक चक या उन खेतों के कुल मूल्य के बराबर एक खेत प्रदान करना है। उप-विभाजन एवं अपखण्डन की समस्या का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण समाधान है। चकबन्दी किसानों द्वारा स्वेच्छा से की जा सकती है, सहकारी संस्थाओं के माध्यम से की जा सकती अथवा सरकारी अधिकारियों द्वारा ग्राम पचायत के सहयोग से की जा सकती है। भारत सरकार ने पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत चकबन्दी की व्यवस्था पर पर्याप्त जोर दिया है। द्वितीय योजना के अन्त तक 1 20 करोड़ हैक्टर भूमि की चकबन्दी हो चुकी थी। तीसरी योजना में 2 4 करोड़ हैक्टर भूमि की चकबन्दी की जानी थी। मार्च 1969 तक 2 96 करोड़ हैक्टर भूमि की चकबन्दी की जा चुकी थी। चतुर्थ पचवर्षीय योजना 1969-74 में 3 90 करोड़ हैक्टर भूमि पर चकबन्दी की जाने की योजना है। चकबन्दी का कार्य पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान व महाराष्ट्र में सतोषजनक रहा है, जबकि गुजरात, मैसूर व बिहार में इसकी प्रगति धीमी रही है। भारतवर्ष में चकबन्दी सबंधी अधिनियम 13 राज्यों एवं संघीय क्षेत्रों में पारित किये जा चुके है। आसाम, जम्मू व काश्मीर तथा पश्चिमी बगाल में अभी तक चकबन्दी का कार्य प्रारम्भ नहीं हुआ है। आशा है कि ये राज्य भी इस क्षेत्र में शीघ्र कदम उठायेंगे।

(4) सहकारी कृषि एवं सहकारी ग्राम-प्रबन्ध—सरकार ने कृषि के विकास में सहकारी कृषि के महत्व को स्वीकार करते हुए पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सहकारी कृषि के विकास की व्यवस्था की है। प्रथम पचवर्षीय योजना में प्राय: सभी राज्यों में सहकारी कृषि के सम्बन्ध में आवश्यक नियम बनाये गये। द्वितीय योजना-

वधि में सहकारी कृषि के विकास हेतु उचित व दृढ़ नींव रखी गई। तृतीय योजना के अन्त तक 5,300 कृषि (सहकारी) समितियां बनी थीं। मार्च 1966 के अन्त तक 2,749 सहकारी कृषि समितियां मार्गदर्शी परियोजनाओं (pilot-projects) के क्षेत्रों में स्थापित हो चुकी थीं और 2.77 लाख एकड़ कृषि क्षेत्र उनके अधिकार में था। 30 जून 1969 तक भारतवर्ष में कुल 8143 सहकारी कृषि समितियां थीं, जिनकी सदस्य संख्या 2.2 लाख थी। केवल 2 प्रतिशत कृषकों ने ही सहकारी कृषि समितियां स्थापित की है तथा ये कुल क्षेत्र के नगण्य भाग अर्थात् .4 प्रतिशत की काश्त करती हैं। इन समितियों के अन्तर्गत 4.5 लाख हैक्टर कृषि क्षेत्र था।

फरवरी 1960 में प्रकाशित निजलिंगप्पा समिति की रिपोर्ट में सहकारी समितियों को सफल बनाने के सम्बन्ध में कहा गया है, "असफल सहकारी समितियों का अध्ययन यह बतलाता है कि वे जिन कारणों से असफल हुई, उन्हें दूसरी सहकारी समितियों से दूर किया जा सकता है और सफल सहकारी समितियों का उदाहरण हमारे इस विश्वास की पुष्टि करता है कि सहकारी खेती छोटे और मध्यम वर्ग के कृषकों के लिए अच्छी है और यह सफल हो सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार और जनता दोनों मिल कर इस दिशा में निरन्तर प्रयास करें।"[1]

(5) बेकार भूमि को खेती के योग्य बनाने के लिए प्रयत्न—बेकार भूमि को खेती के योग्य बनाने और कृषि श्रमिकों को बसाने की केन्द्र-प्रयोजित योजना के अन्तर्गत मार्च 1968 तक 1,83,468 हैक्टर बेकार भूमि खेती योग्य बनाई जा चुकी थी। इसमें से सबसे अधिक 50,738 हैक्टर भूमि महाराष्ट्र में तथा उसके बाद 44,528 हैक्टर भूमि पंजाब में है। इस भूमि पर एक लाख से अधिक भूमिहीन श्रमिक अधिक बसाये जा चुके हैं। सबसे अधिक परिवार अर्थात 40,039 परिवार पंजाब में बसाये गये हैं। भूमि-सुधार व्यय तथा ऋण व अनुदान के रूप में बसाने के प्रारम्भिक व्यय पर सरकार ने 4 करोड़ 59 लाख रुपये खर्च किये।

अभी केन्द्र प्रयोजित योजनाओं का लाभ अधिकां भूमिहीन कृषि श्रमिकों को ही मिल रहा है। ऐसे क्षेत्रों में कृषि कार्य संयुक्त खेती सहकारी समितियों के द्वारा किया जा रहा है। सुधारी गई भूमि के अधिकांश भाग में खेती की जा रही है।

---

1 Unsuccessful societies offer experience which can be avoided in others and successful ones confirm our belief that co-operative farming is good for small and medium cultivators and can be a success. What is needed is the sustained and continuous efforts on the part of the people and the government.'

उप-विभाजन एव अपखण्डन भारतीय कृषि के लिए अभिशाप बना हुआ है। इससे छुटकारा पाना हमारे लिए आवश्यक है, अन्यथा हमारी कृषि की अवस्था पिछड़ी रह जायेगी। खेतो के उप-विभाजन एवं अपखण्डन को रोकने के जिन उपायों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, उनमें सहकारी कृषि ही सर्वोत्तम है एवं देश की परिस्थितियो के अनुकूल है। अतः इस दिशा में प्रगतिशील कदम उठाये जाने की आवश्यकता है।

प्रश्न

1. आर्थिक जोत किसे कहते है? भारत में कृषि जोतों के उप विभाजन तथा अपखण्डन के कारण और दोष संक्षेप में समझाइये तथा इस समस्या के उपचार के लिए सुझाव दीजिए। (राजस्थान टी० डी० सी० प्रथम वर्ष कला 1964)

2. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—(i) भारत में कृषि जोत।

(राजस्थान टी० डी० सी० प्रथम वर्ष कला 1965)

3. भारत में अलाभकारी कृषि जोतों की समस्या का विवेचन कीजिए। इसके उपचार के लिए क्या उपाय किये जा रहे हैं? (आगरा बी० ए० 1965)

4 भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से कृषि-जोतों के विभाजन और अपखण्डन की समस्या को दूर करने के लिए जो उपाय ग्रहण किये गये हैं, उनका विवरण दीजिए। (राजस्थान टी० डी० सी० प्रथम वर्ष कला 1968)

11

भारत में सिंचाई, उर्वरक एवं अन्य कृषिगत आदान

(Irrigation, Fertilizers and other Agricultural Inputs in India)

"The need for providing irrigation facilities to all villages cannot be emphasised too greatly This is the foundation upon which agriculture depends for its progress and in the absence of which it remains a gamble."

—**Mahatma Gandhi**

भारत कृषि-प्रधान देश है। कृषि-उपज पानी की उपलब्धि पर निर्भर करती है। सामान्यत पानी वर्षा से प्राप्त होता है, परन्तु वर्षा भारत में अनिश्चित रहती है और कृषि को केवल वर्षा के सहारे ही नहीं छोड़ा जा सकता। अत. कृषि-उत्पादन-क्षेत्र के लिए सिंचाई का महत्व बढ़ जाता है। सिंचाई के अभाव में भारतीय कृषि वर्षा के हाथ का जुआ ही बनी रहेगी। अत कृषि-विकास के लिए सिंचाई के पर्याप्त साधनों का होना परमावश्यक है। सर चार्ल्स ट्रैवीलियन के शब्दों में

"भारतवर्ष में सिंचाई ही सब कुछ है। जल सोने से अधिक मूल्यवान है, क्योंकि जब भूमि पर जल पड़ता है, तो भूमि की उर्वरा-शक्ति में कम से कम 6 गुनी वृद्धि होती है और वह भूमि जो कभी बंजर पड़ी रहती थी, उपजाऊ हो जाती है। अत भारत में सिंचाई ही सब कुछ है।"[1]

इसी सदर्भ में श्री नानावटी व अंजारिया के ये विचार उल्लेखनीय हैं, "भारतीय कृषि वर्षा के हाथ का जुआ है। किसी वर्ष वर्षा होती ही नहीं और यदि होती भी है तो समय से बहुत पहले या समय से बहुत बाद में, यहा तक कि सामान्य

---

1 'Irrigation is everything in India. Water is more valuable in India than gold, because when water is applied to land, it increases its productivity at least six fold and generally a great deal more.'

वर्षा के वर्ष में भी समय पर वर्षा के न आने व वर्षा के मौसम के असमान वितरण के कारण भी अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।"[1]

भारत में सिंचाई की सुविधाओं के विकास की आवश्यकता एवं महत्व

भारत में सिंचाई के लिए साधनों का बहुत अधिक महत्व है, क्योंकि यहां की कुल जनसंख्या का 70 प्रतिशत भाग खेती पर आश्रित है और यहां की खेती स्वयं सिंचाई पर आश्रित है। भारत में सिंचाई के महत्व के कारण निम्न हैं—

1 वर्षा की अनिश्चितता—भारत में वर्षा अनिश्चित रहती है। कभी समय से बाद में वर्षा होती है, कभी समय से पहले ही निकल जाती है। कभी यदि प्रारम्भ में ठीक समय पर वर्षा हो गई, तो बाद के महीनों में वर्षा नहीं होती। फलस्वरूप भारतीय कृषि मानसून का जुआ बन कर रह जाती है। वर्षा की अनिश्चितता से कृषि की रक्षा सिंचाई-व्यवस्था ही कर सकती है।

2 वर्षा का असमान वितरण—भारत के सभी भागों में वर्षा का समान वितरण नहीं है। यदि चेरापूंजी में 500 तक पानी बरस जाता है तो राजस्थान के कई हिस्सों में 5 से भी कम पानी बरसता है। अतः कम वर्षा वाले क्षेत्रों में खेती के लिए सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है।

3 वर्षा का असामयिक वितरण—भारत में अधिकांश जल-वृष्टि जून से अक्टूबर तक होती है। सर्दियों में बहुत थोड़ी वर्षा होती है। वह भी सब स्थानों में नहीं होती। अतः जिन महीनों में वर्षा होती है, उनको छोड़कर अन्य महीनों में खेती के लिए सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है।

4 अधिक जल चाहने वाली फसलें—गन्ना, चावल, कपास आदि कुछ ऐसी फसलें हैं, जिन्हें पर्याप्त मात्रा में नियमित रूप से जल चाहिए। ये फसलें केवल उन्हीं जगहों पर उगाई जा सकती हैं, जहां सिंचाई की पर्याप्त सुविधा हो। सर्दियों में वर्षा की कमी या अभाव के कारण रबी की फसल के लिए सिंचाई परमावश्यक है।

5 कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिये—भारत में अन्य देशों की तुलना में कृषि-उपज प्रति एकड़ बहुत कम है। सिंचाई के साधनों में वृद्धि करके इसे बढ़ाया जा

---

[1] 'Indian agriculture has been called a gamble in rains In any year, not only may the rains not arrive, but they may arrive too early or too late Even a year of normal average rainfall may, thus witness famine condition because of the untimely commencement or end of the Monsoon and the uneven distribution of rainfall over the season '

—*Nanawati and Anjaria*

सकता है। उत्तम बीज, खादों तथा आधुनिक यन्त्रों के प्रयोग का लाभ उसी समय उठाया जा सकता है जब पर्याप्त सिंचाई सुविधायें उपलब्ध हो।

6 **कृषि-योग्य क्षेत्र के विस्तार के लिए** भारत मे बहुत सी भूमि सिंचाई के साधनों के अभाव मे बेकार पड़ी हुई है। यदि सिंचाई की व्यवस्था समुचित प्रकार से हो जाय तो इन क्षेत्रों को लहलहाते खेतों मे परिवर्तित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, राजस्थान नहर के बन जाने से राजस्थान मे कई जगह नयी भूमि पर खेती प्रारम्भ की गई है। इसी प्रकार बंजर जमीन को भी सिंचाई के साधनों द्वारा कृषि योग्य बनाया जा सकता है।

7 **अकाल निवारण के लिये** भारत जैसे अकाल-ग्रस्त देश में सिंचाई के साधनों का विकास करके, मानसून पर निर्भरता समाप्त की जा सकती है और वर्षा के अभाव से पड़ने वाले अकालों से बचा जा सकता है।

8 **कृषि नियोजन की सफलता के लिये** कृषि नियोजन से देश की अर्थव्यवस्था सुधारी जा सकती है, परन्तु स्वयं कृषि नियोजन उसी समय सफल हो सकता है, जब वर्षा पर कृषि की निर्भरता समाप्त की जाय और सिंचाई के साधनों का विकास किया जाय।

9 **उद्योगों के लिए कच्चे माल की उपलब्धता के लिये** बहुत से उद्योग कृषि क्षेत्र के कच्चे माल पर निर्भर होते है। कच्चे माल की निरन्तर उपलब्धि तभी सम्भव हो सकती है, जबकि वर्षा का सहारा छोड़ कर सिंचाई के साधनों द्वारा कृषि की जाय।

10 **सरकारी आय मे वृद्धि** सिंचाई के साधनों के विकास के फलस्वरूप कृषि-उत्पादन मे वृद्धि होती है। इससे व्यापार, उद्योग, परिवहन आदि सभी को लाभ होता है। समस्त आर्थिक क्षेत्र के विकास के फलस्वरूप सरकार को प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों रूपों में लाभ पहुँचता है।

11 **बढ़ती हुई जनसंख्या मे राहत पाने के लिये** देश मे उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जनसंख्या की उदर पूर्ति के लिये अधिक खाद्यान्नों की आवश्यकता पड़ती है। अधिक खाद्यान्न उत्पादन बढ़ा कर ही प्राप्त किये जा सकते हैं। उत्पादन बढ़ाना सिंचाई के साधनों पर निर्भर करता है।

12 **बेरोजगारी एवं अर्द्ध बेरोजगारी की समस्या के हल के लिये** भारत के ग्रामीण क्षेत्रों मे फैली हुई बेरोजगारी एवं अर्द्ध बेरोजगारी की समस्या को भी सिंचाई सुविधाओं के विस्तार से कुछ सीमा तक हल किया जा सकता है, क्योंकि इन सुविधाओं के विकास से भूमि पर कई प्रकार के काम मिल सकेंगे।

13 **अन्य कारण** उपर्युक्त कारणों के अलावा भारत मे सिंचाई सुविधाओं

के विकास मे अन्य कई लाभो की सम्भावना है, जैसे (i) इससे चरागाहों का विकास हो सकेगा, (ii) कृषकों व कृषि श्रमिकों के जीवन स्तर मे सुधार हो सकेगा, (iii) कृषि-उपज मे वृद्धि के फलस्वरूप विदेशी विनिमय संकट की समस्या हल हो सकेगी ।

अत सिचाई के साधनो का भारत मे बडा महत्व है और अन्य देशो की अपेक्षा यहा इन साधनो के विकास की बहुत अधिक आवश्यकता है । इस सम्बन्ध मे श्री नोल्स (Knowles) के निम्नांकित वाक्यांश महत्वपूर्ण हैं

"सिंचाई के कार्यों ने जीवन की रक्षा का प्रबन्ध किया है, क्योंकि भूमि की उपज उसके मूल्य तथा उससे प्राप्त आय मे वृद्धि हुई है । अत दुर्भिक्ष के समय इस सहायता की अत्यधिक आवश्यकता पडती है और यह सम्पूर्ण क्षेत्रो को सम्य बनाने मे सहायक हुई है ।"[1]

सिंचाई के महत्व पर प्रकाश डालते हुए चतुर्थ योजना (1969–74) के प्रारूप में कहा गया है, "पर्याप्त मात्राओं एव ठीक समय पर जल उपलब्ध होना कृषि उत्पादकता के प्रमुख निर्धारकों मे से है । सघन कृषि की सम्भावनाओं का लाभ उठाने मे सबसे प्रमुख कठिनाई यह है कि वर्ष भर जल की सुविधायें प्राप्त नहीं होती । देश के कुल फसली क्षेत्र का भाग $\frac{3}{4}$ पूर्णत वर्षा पर ही निर्भर है जो कि वर्ष के कुछ ही महीनों में सकेन्द्रित रहती है । कहीं-कहीं वार्षिक जल वर्षा तो पर्याप्त है, किन्तु नमी की उपलब्धता इतनी अपर्याप्त होती है कि बहु फसलें प्राप्त करने में कठिनाई रहती है । 70 प्रतिशत फसली क्षेत्र मे वर्षा कम और अनिश्चित है, जिस कारण प्रमुख फसली ऋतुयें भी सघन कृषि सम्भव नहीं हो पाती । इस प्रकार सिंचाई का विकास भारतीय कृषि की प्रगति मे एक महत्वपूर्ण भूमिका रखती है ।"[2]

भारत मे जल की सम्भावनाएँ (Water Potential in India)

अनुमान है कि भारत मे जमीन के ऊपर 1672 अरब 60 करोड घन मीटर (एक अरब 35 करोड 60 लाख एकड फुट) पानी है । जमीन के नीचे भी पानी का बडा भडार है जिसका अभी अनुमान नहीं लगाया गया है । भूमि की सतह के ऊपर के पानी के सम्बन्ध मे सरकारी तौर पर अध्ययन करके पहले यह अनुमान लगाया गया था कि करीब 555 अरब घन मीटर (45 करोड एकड फुट) पानी सिंचाई के योग्य है । लेकिन 1972 मे सिंचाई आयोग द्वारा दिए गए अनुमान के अनुसार 666 अरब घन मीटर (54 करोड एकड फुट) पानी सिंचाई के योग्य है । जमीन के

1 Dr Knowles Economic Development of British Empire Overseas, Vol I pp 367-368.

2 Fourth Five Year Plan (Draft 1969 74) p 182

नीचे 204 अरब घन मीटर (16 करोड़ 50 लाख एकड़ फुट) पानी सिंचाई के काम आ सकता है। सन् 1971 तक सिंचाई के काम में जमीन के ऊपर के जल साधनों में से 246 अरब 70 करोड़ घन मीटर (20 करोड़ एकड़ फुट) पानी तथा जमीन के नीचे के जल साधनों में से 98 अरब 60 करोड़ घन मीटर (8 करोड़ एकड़ फुट) पानी का उपयोग होने लगा था। सिंचाई वाले क्षेत्र का क्षेत्रफल पहली योजना (1951) के प्रारम्भ में 2 करोड़ 26 लाख हैक्टर था, जो बढ़ कर 3 करोड़ 90 लाख हो गया।[1]

भारत में सिंचाई के साधन भारत जैसे विशाल देश की भौगोलिक रचना एकसी नहीं है इसीलिए यहां पर विभिन्न साधनों द्वारा सिंचाई की जाती है। एक ओर यदि उत्तरी भारत के कुओं और नहरों की प्रधानता है, तो दूसरी ओर दक्षिणी भारत में तालाबों की भरमार है। संक्षेप में सिंचाई के विभिन्न साधनों का विवरण इस प्रकार है

1 कुओं द्वारा सिंचाई (Well Irrigation) भारतवर्ष में यह अति प्राचीनकाल से सिंचाई का साधन रहा है। अनुमान है कि देश में 25 लाख से भी अधिक कुएं हैं जिनमें से आधे से अधिक उत्तर प्रदेश में हैं शेष तामिलनाडु पंजाब व महाराष्ट्र प्रान्तों में पाये जाते हैं। औसतन एक कुआं 5 एकड़ भूमि की सिंचाई कर सकता है। भारत में कुओं व ट्यूब वैलों से विशुद्ध बोये गये क्षेत्र के लगभग 5 4% भाग पर सिंचाई होती है। ट्यूब वेल 60 फुट से लेकर 300 फुट तक गहरा होता है और प्रति घण्टा 3,300 गैलन पानी खींच सकता है। एक ट्यूब वेल से 500 एकड़ की सिंचाई आसानी से की जा सकती है। ट्यूबवैल द्वारा सिंचाई के लिए उत्तर प्रदेश, बिहार पंजाब गुजरात तथा महाराष्ट्र के क्षेत्र बड़े उपयुक्त है, क्योंकि वहां भूमि की निचली सतह में जल है तथा भूमि भी उपजाऊ है। सन् 1965-66 तक सरकार द्वारा स्थापित ट्यूब वैलों की कुल संख्या 10,000 थी। जमींदारों द्वारा लगाये गये ट्यूब-वैलों की संख्या भी पर्याप्त है। एक अनुमान के अनुसार भारत में अब तक 11 लाख ट्यूब वेल निर्मित किये जा चुके हैं। कुएं उत्तर प्रदेश के अलावा बिहार गुजरात, पंजाब, महाराष्ट्र तथा मध्य प्रदेश में काफी संख्या में पाये जाते हैं। कुल सिंचित क्षेत्र के लगभग 34% भाग में केवल कुओं से ही सिंचाई की जाती है।

2 तालाबों द्वारा सिंचाई नदियों या वर्षा के जल को संचित करके तालाबों का निर्माण किया जाता है। सिंचाई का यह साधन भी पुराना है। भारत में

---

1. के एन राव योजना 7 फरवरी, 1973 पृ 27 28

विशुद्ध बोये गये क्षेत्र के लगभग 3.4% भाग में तालाबों द्वारा सिंचाई की जाती है। तालाब कुओं की भांति व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं हो सकते, बल्कि सरकार अथवा समाज के होते हैं। भारत में तालाबों द्वारा सिंचाई के क्षेत्र हैं—तामिलनाडु, आन्ध्र, मैसूर, महाराष्ट्र, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश। तालाबों के निर्माण में नहरों अथवा कुओं की अपेक्षा कम पूंजी लगती है तथा इनका उपयोग तुरन्त होने लगता है। इनमें सिंचाई करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि वर्षा के अभाव में पानी नहीं बच पाता और सिंचाई नहीं हो सकती है। भारत में शुद्ध सिंचित क्षेत्र की लगभग 1 7 प्रतिशत सिंचाई तालाबों द्वारा की जाती है।

3 नहरों द्वारा सिंचाई : सिंचाई की दृष्टि से वर्षा के बाद नहरों का ही स्थान है। भारत में नहरें सिंचाई का महत्वपूर्ण साधन है। भारत में विशुद्ध बोये गये क्षेत्र के 7 7% भाग पर तथा कुल सिंचित क्षेत्र के लगभग 42 प्रतिशत भाग पर नहरों द्वारा सिंचाई होती है। भारत में नहरें सस्ती, सुविधाजनक एवं सुनिश्चित सिंचाई का साधन होने से अत्यधिक लोकप्रिय हो रही है। लम्बाई की दृष्टि से भारत में नहरें सर्वाधिक है। भारत म उत्तर प्रदेश, पंजाब, तामिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश में नहरों से सिंचाई होती है। नहरें तीन प्रकार की होती हैं

(क) बारहमासी या स्थायी नहरें ये नहरें सदैव सिंचाई के लिए पानी बनाये रखती है तथा इनके द्वारा सिंचाई नियमित व समयानुकूल होती रहती है। सरकार इस प्रकार की नहरों के निर्माण पर जोर दे रही है।

(ख) मौसमी या अस्थायी नहरें इनमे केवल वर्षा ऋतु म ही पानी आता है। फलस्वरूप ये वर्षा के मौसम म ही जल प्रदान कर सकती है।

(ग) बांध की नहरें ये वे नहरें हैं जिनमें घाटियों के दोनों किनारों पर बांध लगा कर पानी इकट्ठा किया जाता है और सूखे मौसम में उसका सदुपयोग किया जाता है।

4 नदी-घाटी-योजनाओं द्वारा सिंचाई · "नदी घाटी-योजनाएं वर्तमान भारत के तीर्थ-स्थान हैं" स्वर्गीय प० नेहरू के इस वाक्य से नदी-घाटी योजनाओं के महत्व की झलक मिलती है। भारत सरकार ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात देश के आर्थिक उत्थान में कृषि के महत्वपूर्ण योगदान को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए बहुउद्देशीय नदी घाटी योजनायों के निर्माण का बीड़ा उठाया है। इन योजनाओं से एक से अधिक उद्देश्यों की पूर्ति होगी, यथा-सिंचाई की सुविधा, जलविद्युत का निर्माण, नौकानयन, बाढ़-नियन्त्रण, भूमि-कटाव-नियन्त्रण, वृक्षारोपण, मत्स्य उद्योग का विकास आदि।

भारत की प्रमुख नदी-घाटी योजनाए : भारत की प्रमुख नदी-घाटी योजनाए अग्रलिखित हैं :

1 **भाखरा नांगल योजना** यह भारत की सबसे बड़ी बहुउद्देशीय योजना है। इससे पंजाब, हरियाणा एव राजस्थान राज्य को लाभ प्राप्त हो रहा है। इस पर 175 60 करोड रुपये की लागत की सम्भावना है। यह योजना सन् 1948 ई० मे प्रारम्भ की गयी थी और लगभग पूरी हो चुकी है। इस योजना के अन्तर्गत प्रति वर्ष लगभग 67 6 लाख एकड भूमि पर सिचाई की जा रही है। इस योजना का सर्वाधिक महत्व यह रहा है कि उत्तरी राजस्थान व पूर्वी पंजाब के रेतीले भागो को सिचाई का लाभ मिलने लगा है जिसके कारण ये क्षेत्र अकाल की परिधि के बाहर हो गये।

2 **दामोदर घाटी योजना** दामोदर घाटी योजना भी एक बहु उद्देशीय योजना है जो पश्चिमी बंगाल और बिहार राज्यो मे दामोदर घाटी क्षेत्र के विकास के लिए बनाई गई है। जल सग्रह करने के उद्देश्य से इस योजना के अन्तर्गत नदी पर चार स्थानो पर बाध बनाए गए हैं और नदी के दोनो ओर नहरें निकाली गई है। नहरो से लगभग 973 लाख एकड भूमि पर सिचाई होने की सम्भावना है। इस योजना मे सिचाई का लाभ बगाल को तथा अन्य लाभ बिहार को भी प्राप्त होता है।

3 **तुगभद्रा योजना** इस योजना को आन्ध्र प्रदेश व मैसूर राज्य मिल कर क्रियान्वित कर रहे हैं। यह योजना लगभग 3 93 लाख हेक्टर भूमि को सिचाई का लाभ दे सकेगी तथा इस पर 19 27 करोड रुपय के व्यय का अनुमान है। यह योजना चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सम्पन्न हो जायेगी। इस परियोजना से 3 83 लाख एकड भूमि की सिचाई प्रारम्भ हो चुकी है।

4 **हीराकुण्ड योजना** यह उडीसा राज्य की योजना है तथा इस योजना के अन्तर्गत महानदी पर हीराकुण्ड जलाशय बनाया गया है जो लम्बाई मे सभी जलाशयो से विश्व म बडा है। यह जलाशय 15 748 फुट लम्बा है और इससे 63 फुट एकड जल का सग्रह हो सकता है। इस योजना को दो भागो मे पूरा किया जा रहा है। प्रथम भाग पूरा हो चुका है। इस पर 67 82 करोड रु० व्यय हो चुके है और 24 3 लाख हैक्टर भूमि की सिचाई की सुविधायें मिलने लगी है। दूसरे भाग से 6 38 लाख हैक्टर भूमि की सिचाई हो सकेगी तथा इस पर 14 95 करोड रु० के व्यय का अनुमान है।

5 **राजस्थान नहर परियोजना** जुलाई 1957 मे स्वीकृत राजस्थान नहर योजना राजस्थान की मरु भूमि की सिचाई करेगी तथा इस योजना को पूरा करने मे 184 करोड रुपये की लागत का अनुमान है। आशा है कि नहर से लगभग 26 लाख एकड भूमि मे सिचाई होगी तथा बाधो के पूरा हो जाने पर सिंचित क्षेत्र 36 लाख

एकड के लगभग हो जायेगा। सिचाई की सुविधा के साथ साथ इससे गगानगर, बीकानेर तथा जैसलमेर जिलो का विशाल रेगिस्तान हरियाली से लहलहा उठगा और धन-धान्य से परिपूर्ण हो जायेगा। राजस्थान नहर की कुल लम्बाई 3,100 मी होगी। इस नहर को दो चरणो मे बनाने का प्रस्ताव है। पहले चरण मे 122 मील तक मुख्य नहर और इसकी वितरण प्रणाली का निर्माण किया जाएगा। राजस्थान नहर 182 मील की लम्बाई तक (फीडर सहित) पूरी हो चुकी है और इसके नीचे का 22 मील का निर्माण-कार्य प्रगति पर है।

6 **चम्बल योजना** चम्बल योजना राजस्थान और मध्यप्रदेश की सरकार की मिली जुली योजना है। इस योजना के अन्तर्गत चम्बल पर 3 बाध बनाये जायेंगे। पहला बाध कोटा म कोटा बैरेज के नाम से, दूसरा बाँध गांधीसागर के नाम से तथा तीसरा राणाप्रताप सागर बाध के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना से राजस्थान की 7 लाख एकड भूमि को सिचाई की सुविधा प्राप्त होगी। कोटा बाध का कार्य पूर्ण हो चुका है तथा 20 नवम्बर सन् 1960 से सिचाई के लिए पानी मिलने लगा है। दूसरे और तीसरे चरण पर कार्य चल रहा है। कुल योजना के पूर्ण होने पर 2 66 लाख हैक्टर भूमि की सिचाई की सुविधायें प्राप्त होगी।

7 **गण्डक योजना** यह भारत व नेपाल सरकार की मिली जुली योजना है जिस पर दोनो सरकारो द्वारा 4 दिसम्बर, 1959 को हस्ताक्षर किये गये थे। इस योजना से भारत म उत्तरप्रदेश और बिहार को तथा नेपाल को लाभ प्राप्त होगा। इस योजना से लगभग 14 90 लाख हैक्टर भूमि की सिचाई हो सकेगी। यह योजना अधिकाशत चौथी योजना के अन्त तक पूर्ण हो जायगी।

8 **कोसी योजना** इस योजना स भी बिहार तथा नेपाल को सिचाई की सुविधाये प्राप्त हो सकेंगी। इस योजना पर लगभग 68 करोड व्यय होने का अनुमान है तथा इसमे बिहार व नेपाल राज्य की 31 लाख एकड भूमि की सिचाई की जा सकेगी।

उपर्युक्त योजनाओ के अतिरिक्त अन्य कई और योजनाय प्रगति के पथ पर है और उन पर काम चल रहा है। इन योजनाओ मे काकड़ापाड़ा योजना तथा मयूराक्षी ब्याम, नागार्जुन सागर आदि योजनाओ पर कार्य चल रहा है। इन तमाम योजनाओ के पूर्ण हो जाने पर भारत म कृषि-योग्य सिचित भूमि का भाग काफी बढ जायेगा।

सरकार एव सिचाई की सुविधायें स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात देश की कृषि-व्यवस्था को मजबूत बनाने के उद्देश्य से ही भारत सरकार ने सिचाई के साधनो के विकास की ओर ध्यान दिया। देश मे कई बहुउद्देशीय योजनाओं को चालू किया

गया जिनमे अन्य लाभो के अतिरिक्त कृषि-क्षेत्र की सिंचाई का महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त हो रहा है। बडी योजनाओ के साथ-साथ सरकार ने अनेक छोटी योजनाओ को भी लागू किया है। इनके अन्तर्गत कुओ, नलकूपो, तालाबो एव नहरो के निर्माण कार्य था। ये योजनायें शीघ्र लाभ पहुचाने वाली और अपेक्षाकृत कम खर्चीली रही है।

प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने से पूर्व सन् 1950–51 मे भारत मे सिंचित क्षेत्र केवल 2 26 करोड हैक्टर था जो कुल कृषित क्षेत्रफल का 17 6% अर्थात् पाचवें भाग से भी कम था। प्रथम तीन पचवर्षीय योजनाओ में, बडी, मध्यम तथा छोटी सिचाई परियोजनाओ पर लगभग 1830 करोड रुपये खर्च किए गए। इन तीनो योजनाओ में बड व मध्यम सिचाई कार्यक्रमो पर क्रमश: 300,380 व 576 करोड रुपय व्यय किए गए। छोटी सिंचाई योजनाओ पर प्रथम द्वितीय व तृतीय योजना मे क्रमश 70,250 व 260 करोड रुपये व्यय हुए।[1] इन योजनाओ के अन्तर्गत सिचाई के क्षेत्र मे उठाये गए कदमो के फलस्वरूप सन् 1965–66 मे कुल सिंचित क्षेत्रफल मे 83 लाख हैक्टर भूमि की वृद्धि हुई। इस प्रकार सन् 1965–66 मे सन् 1950–51 की तुलना मे कुल सिंचित क्षेत्रफल में लगभग 36.5 प्रतिशत की बढोतरी हुई।

सन् 1966 से 1969 तक अपनाई गई वार्षिक योजनाओ क्रमश 134 5, 132 3, व 169 9 करोड रु बडी व मध्यम सिचाई योजनाओ पर खर्च किए गए। फलस्वरूप कुल सिंचाई क्षमता 375 लाख एकड हो गई। इस प्रकार 1950–51 से 1968–69 के मध्य सिचाई सुविधाओ मे 67% वृद्धि हुई।

अप्रैल सन् 1969 मे केन्द्रीय सरकार ने श्री अजीत प्रसाद जैन की अध्यक्षता मे एक सिचाई आयोग का गठन किया था। आयोग ने निम्न बातो पर विचार किया: (1) सन् 1903 से लेकर अब तक भारत मे सिचाई के विकास की समीक्षा करना तथा सिंचाई के फलस्वरूप उत्पादकता मे वृद्धि के योगदान पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करना, (2) सूखा एव अभावग्रस्त क्षेत्रो मे सिचाई की व्यवस्था का अध्ययन करना तथा सुधार के लिए सुझाव देना, (3) खाद्यान्नो की दृष्टि से देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिए सिचाई के सभी साधनो के विकास की विस्तृत रूपरेखा बनाना तथा इसके लिए आवश्यक कोषो का अनुमान लगाना, (4) विभिन्न सिंचाई परियोजनाओ के लिए पानी की उपलब्धि देखना, (5) सिचाई के कार्यो के प्रशासनिक व सगठनात्मक पक्ष की जाँच करना जिससे परियोजनाओ को शीघ्र पूरा किया जा सके, (6) सिंचाई परियोजनाओ की स्वीकृति के आधार को सुझाना, तथा (7) सिचाई से सम्बन्धित किसी अन्य विषय की जाच करके उपयोगी सुझाव देना।

1. Draft Fourth Five Year Plan (Original) 1966 p 214

सिंचाई आयोग ने अप्रेल 1972 में अपना विस्तृत प्रतिवेदन सरकार को दे दिया है। इस प्रतिवेदन में सिंचाई, की नई सुविधाओं के विकास के लिए अनेक सुझाव दिए गए हैं।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सिंचाई : तृतीय योजना की समाप्ति के पश्चात् सूखे की स्थिति के कारण यह अनुभव किया जाना लगा कि वर्षा की अनिश्चितता की समस्या को लघु सिंचाई योजनाओं द्वारा हल किया जा सकता है। फलस्वरूप तृतीय व चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के मध्य की अवधि में कुओं व नलकूपों के विकास पर अधिक बल दिया गया। इस योजना में सिंचाई की छोटी परियोजनाओं पर 516 करोड़ रु तथा बड़ी व मध्यम श्रेणी की परियोजनाओं पर 951 करोड़ रुपये व्यय किए जाने का प्रावधान किया गया जिनमें से 38.4 प्रतिशत धनराशि योजना के प्रथम दो वर्षों में खर्च की जा चुकी है। छोटी योजनाओं पर कुल व्यय की जानी धनराशि का भी 58 प्रतिशत भाग प्रथम 3 वर्षों में व्यय किया जा चुका है। चौथी योजना के दौरान 48 लाख हैक्टर अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई की सुविधा प्राप्त होने लगेगी इस प्रकार सन् 1973–74 में 1950–51 की तुलना में सिंचाई क्षमता लगभग दुनी हो जायगी। इस योजना में छोटे कृषकों के लाभार्थ योजनाओं को प्राथमिकता दी जायेगी तथा भूमि गत जल के सर्वेक्षण व विकास पर जोर दिया जायेगा। इस योजना में वर्षा व सिंचाई व्यवस्था के अभाव वाले क्षेत्रों को भी प्राथमिकता देने की व्यवस्था है।

भारत अब तक तीन पंचवर्षीय योजनाएं तीन वार्षिक योजनाएं पूरी कर चुका है। इस अवधि में 88 बड़ी और 488 मझली योजनाओं का कार्य हाथ में लिया गया जिनके द्वारा कुल क्रमश 1 करोड़ 64 लाख हैक्टर और 36 लाख हैक्टर भूमि की सिंचाई हो सकेगी। इनमें 22 बड़ी तथा 329 मझोली योजनाएं पूरी हो है। शेष पर चुकी विभिन्न चरणों में काम चल रहा है। इसके अतिरिक्त अनेक छोटे काम भी पूरे किए जा चुके है, जैसे छिछले या गहरे कुए खोदना, नलकूप लगाना, तालाबों की मरम्मत और छोटे स्रोतों नदी-नालों का सुधारना काम आदि। इस सारी अवधि में (1951–71) सभी आकार की परियोजनाओं, पर कुल 38 अरब 23 करोड़ 20 लाख रुपये खर्च हो चुके हैं।

भारतीय सिंचाई व्यवस्था की कमियां :

भारतीय सिंचाई व्यवस्था में कई दोष व कमियाँ पाई जाती हैं जिनमें से प्रमुख निम्नांकित हैं

1 नियोजन के वर्षों बाद भी, अभी तक सिंचित क्षेत्र कुल क्षेत्र का केवल 23 प्रतिशत भाग ही है जो आवश्यकता से अत्यधिक कम है। आज भी भारतवर्ष में लगभग 77 प्रतिशत कृषि क्षेत्र मानसून की दया पर निर्भर करता है।

2 कुल सिंचित क्षेत्र के आधे से अधिक भाग पर कुओ तथा तालावो से सिंचाई होती है जो स्वय वर्षा पर निर्भर करते है। यदि वर्षा न हो तो ये साधन भी बेकार हो जाते है।

3 नालियो की यथोचित व्यवस्था के अभाव मे, कई स्थानो पर पानी के जमाव (Water logging) की समस्या पैदा हो जाती है, जो भूमि की सतह पर रेह वाली मिट्टी (alkaline) को जन्म देती है।

4 अधिकाश बडी बडी नहरो मे पर्याप्त जल उपलब्ध नही हो पाता।

5 सिंचाई की उपलब्ध सुविधाओ का भी कई कारणो से यथोचित उपभोग नही हो पाता।

भारत में सिंचाई के साधनो के विस्तार में बाधाए भारतवर्ष के कृषि-विकास के लिए तीव्र गति से सिंचाई की सुविधाओ का विकास करना आवश्यक है, परन्तु इस विकास के मार्ग मे कई कठिनाइया है, जो इस प्रकार है

1 **धन सबधी कठिनाई** सिंचाई की विविध योजना के विस्तार के लिए बहुत बडी धन राशि की आवश्यकता पडती है। दुर्भाग्यवश हमारा देश निर्धन है और बहुत अधिक धन राशि व्यय करने मे असमर्थ है। किसान भी निर्धन है और उनसे करो के द्वारा सिंचाई के लिए अतिरिक्त कर प्राप्त करने मे कठिनाई होती है।

2 **तकनीकी शिक्षा की कमी** बडी बडी योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए प्राय हमे विदेशो से विशेषज्ञो को बुलाना पडता है जो अत्यधिक खर्चीला है।

3 **कृषको में दायित्वहीनता** भारतीय कृषक नहरी पानी को सरकारी पानी समझ कर उसका अपव्यय करते है। साथ ही व पहले तो वर्षा की ओर आशान्वित होकर बैठ रहते है। जब वर्षा नही आती तब देर से नहरो या नलकूपो के पानी के लिए भाग दौड करते है, फलस्वरूप फसलो को ठीक समय पानी नही मिल पाता।

4 **सिंचाई के लिए आवश्यक सामग्री का अभाव** सिंचाई की योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए इस्पात मशीनें एव सीमेट की बहुत बडी मात्रा मे आवश्यकता पडती है। इनकी कमी के कारण हमारी सिंचाई योजनाओ की प्रगति मन्द पड जाती है।

5 **अनुसधान के क्षेत्र में शिथिलता** सिंचाई की विविध योजनाओ से सम्बन्धित अनुसधान के कार्य को प्राय उपेक्षित रखा गया है। प्राय योजनाओ को बिना पूरी तरह अन्वेषण किये ही प्रारम्भ कर दिया जाता है। फल यह होता है कि

या तो धन की बरबादी होती है या योजना विशेष को बीच मे ही छोड दिया जाता है।

6 राजनैतिक उद्देश्यों की प्रधानता प्राय नेतागण अपने अपने क्षेत्र मे इस प्रकार की बडी-बडी योजनाओं को चालू करने के बारे मे ऐसी खीचातानी करते हैं कि मानो ये योजनाए राष्ट्र की न होकर उनकी व्यक्तिगत योजनाए हो। उनका दृष्टिकोण वोट प्राप्त करने का होता है और इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे केवल अपने ही क्षेत्र का विकास चाहते है। इस प्रकार जिन क्षेत्रो मे सिचाई की सचमुच ही आवश्यकता रहती है, वे क्षेत्र प्राय योजनाओं की परिधि मे ही नही आ पाते।

7 भ्रष्टाचार भारत मे भ्रष्टाचार की एसी भरमार है कि इसकी चपट मे बडे-बडे इजीनियर तक आ जाते है। देश के हित व कल्याण का ध्यान न रख कर, ठेकेदारो से मिल कर पैसे खा जाते है। फल यह होता है कि एक ओर योजना की लागत बढ जाती है और दूसरी ओर योजनाओं के कभी भी टूटने या क्षति ग्रस्त होने की आशका बनी रहती है।

8 जन सहयोग की कमी यद्यपि सिचाई सम्बन्धी योजनाए जनता के लाभ के लिए ही बनाई जाती है तो भी जनता इनके प्रति उदासीनता का दृष्टिकोण रखती है। इसका कारण सम्भवत यह हो सकता है कि इन योजनाओं के बनने मे उनसे राय नहा ली जाती है तथा योजना के निर्माण की धीमी प्रगति एव फैले हुए भ्रष्टाचार से भी उनका उत्साह मारा जाता है।

सुझाव मैसूर राज्य के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री निजलिंगप्पा की अध्यक्षता मे एक समिति का गठन, सिचाई सम्बन्धी योजनाओं को और अधिक लाभकारी बनाने के सम्बन्ध मे सुझाव देने के लिए, किया गया था। इस समिति ने जनवरी सन् 1965 म अपनी रिपोर्ट पेश कर दी थी और सिचाई व्यवस्था को सुधारने के सम्बन्ध मे निम्नाकित सुझाव दिये थे

1 नई योजनायें खाद्यान्नो के उत्पादन के दृष्टिकोण से बनाई जाय। उन्ही योजनाओं को लिया जाय जो पैदावार व राष्ट्रीय हित की अधिकतम वृद्धि कर सके।

2 सिचाई योजनाओं में लाभ का दृष्टिकोण भी रहना चाहिए समिति के मतानुसार यह लाभ की दर 1 5 1 अर्थात् 100 रुपयो के विनियोग पर 150 रु० की उत्पत्ति-दर से होना चाहिए। यह लाभ दर सामान्य क्षेत्रो के लिए है। पिछडे क्षेत्रो मे भी लाभ प्राप्त करना उद्देश्य होना चाहिए, चाहे लाभ की दर प्रारम्भ मे कम ही क्यों न हो।

3. विभिन्न योजनाओं में समन्वय समिति ने छोटी, मध्यम व बडी योज-

नाओं में समन्वय स्थापित करने की सिफारिश की है, ताकि सिंचाई योजना को अधिकतम लाभकर बनाया जा सके।

4 व्यय का स्थानान्तरण सिंचाई पर खर्च की निर्धारित राशि अन्य क्षेत्रों म स्थानान्तरित न की जाय।

5 पहले पुरानी योजनाओं को पूरा किया जाय नई योजनाओं को उसी समय लिया जाय जब पुरानी योजनाए पूर्ण हो जाय।

6 जल-शुल्क की वसूली सिंचाई से होने वाले लाभों के 25 से 40% भाग को जल शुल्क के रूप मे वसूल किया जाय।

7 सुधार शुल्क देने वाले क्षेत्रों को प्राथमिकता जिन क्षेत्रो के किसान सुधार शुल्क देने को तैयार हो, उन क्षत्रो को नई सिचाई योजनाओं म प्राथमिकता दी जाय।

अन्य सुझाव

1 सरकार द्वारा ऋण एवं अनुदान किसानों व सहकारी समितियों को तालाबों, कुओं व नलकूपों को बनाने के लिए सहायता के रूप मे ऋण एव अनुदान दिया जाय।

2 राज्य सरकारों को अधिक अनुदान केन्द्रीय सरकारो को चाहिए कि वह राज्य सरकारो को अधिक अनुदान देकर विविध प्रकार की सिचाई की योजनाओं के विकास को सफल बनाये।

3 श्रमदान का उपयोग जिन क्षत्रों मे सिचाई की सुविधाओं के विकास का कार्य किया जाय, वहा की जनता को श्रमदान के लिए प्रेरित किया जाय।

4 अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहन—अनुसन्धान केन्द्रों की संख्या मे वृद्धि की जाय तथा इसे प्रोत्साहन दिया जाय।

5 अनुचित उपयोग पर रोक पानी की फिजूलखर्ची को रोकने के लिए सिचाई कर पानी के प्रयोग की मात्रा के आधार पर लिया जाय।

उपसंहार

भारतवर्ष में सन् 1968–69 ई० तक कुल 35 9 मि हैक्टर भूमि पर छोटी मध्यम तथा बडी योजनाओं द्वारा सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध थी, परन्तु देश की विशालता को देखते हुए ये सुविधाये अपर्याप्त हैं। भारत में अब भी भूमि का एक विशाल भाग जो सिंचाई योग्य है, सिंचाई की सुविधाओं से वंचित है। अत यदि देश को अकाल, अभाव, भुखमरी से बचाना है और देश को धन धान्य से परिपूर्ण करना है, तो सिंचाई के साधनों का विकास तेजी के साथ करना ही होगा। सिंचाई की सुविधाएं मिलने पर हजारों एकड बंजर भूमि लहलहाते हुए खेतो मे बदल जायेगी। देश

का खाद्य संकट जो हमेशा हमें भयभीत किये रहता है, हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त हो जायेगा।

रासायनिक उर्वरक
(Chemical Fertilizers)

स्वर्गीय प्रधानमन्त्री जवाहरलाल ने ठीक ही कहा था कि यदि हमारी खाद्य-समस्या नहीं सुलझती, तो हमारी सभी योजनाएं बेकार हो जायेंगी। खाद्य-समस्या को सुलझाने के लिए पैदावार बढ़ाना आवश्यक है और पैदावार बढ़ाने के लिए उर्वरकों का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। यदि उन्नत कृषि विधियों और उत्तम जल-निकासी विधियों तथा कीड़ा मकौड़ों से फसलों की रक्षा करने के लिए प्रभावशाली उपायों के साथ-साथ रासायनिक उर्वरकों का उपयोग करें तो देश में कृषि-उपज को बहुत तेजी से बढ़ाया जा सकता है।

फसलों का आहार के रूप में नत्रजन, फासफोरस और पोटाश की आवश्यकता होती है। ये समस्त पौष्टिक तत्व कई प्रकार के रासायनिक उर्वरकों में मिल जाते हैं, जिनमें अमोनिया सल्फेट, कैल्शियम, अमोनिया नाइट्रेट, यूरिया क्यूरेट आफ पोटाश तथा सल्फेट आफ पोटाश मुख्य हैं। अमरीका में इन्हीं रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग मात्र से कृषि उत्पादन में 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। निश्चय ही भारत में इन उर्वरकों का प्रयोग बढ़ा कर कृषि उपज में आशातीत वृद्धि की जा सकती है।

भारत में उर्वरकों का प्रयोग विगत 20 वर्षों में भारत में उर्वरकों के उत्पादन में यथेष्ट वृद्धि हुई है, किन्तु अब भी भारत में प्रति एकड़ उर्वरक की औसत खपत विश्व का कुल ½ भाग है। भारतीय कृषक खाद का प्रयोग नाम मात्र के लिए करते हैं। पशुओं की खाद को तो वे प्रायः ईंधन के रूप में जला डालते हैं और रासायनिक खाद खरीदने की उनमें सामर्थ्य नहीं है, फलस्वरूप भारत में कृषि योग्य क्षेत्र में प्रति हैक्टर उर्वरक का उपयोग विश्व के अन्य देशों की तुलना में बहुत कम था, जैसा निम्न तालिका से ज्ञात होता है

उर्वरकों का प्रति हैक्टर उपयोग (किलोग्राम में)
(1966–67 में)

देश	प्रति हैक्टर	देश	प्रति हैक्टर
नीदरलैंड	610	चीन (ताइवान)	270
बेल्जियम	520	विश्व	34
न्यूजीलैंड	503	भारत	8
जापान	354		

यदि अखिल भारतीय औसत की तुलना में हम विभिन्न राज्यों द्वारा उपभोग किए जाने की स्थिति का अवलोकन करें तो कुछ राज्यों में उर्वरकों का प्रयोग अधिक मात्रा में हो रहा है, जैसे, जम्मू व काश्मीर, तामिलनाडू, केरल, पंजाब व आन्ध्र-प्रदेश में क्रमश. 41·82, 36 14, 23 24, 18 73 व 16 80 किलो उर्वरक प्रति हैक्टर उपभोग में लाया जाता है, जबकि कुछ अन्य राज्यों में इसका इतना उपभोग नहीं होता। उदाहरणार्थ, राजस्थान, उड़ीसा, मध्य-प्रदेश व असम में प्रति हैक्टर केवल 2 16, 2·02, 1 95 व 0 98 किलोग्राम ही उर्वरक का प्रयोग किया जाता है। देश में 'हरित क्रान्ति' को सफल बनाने के लिए उर्वरकों का निरन्तर उपयोग बढ़ता जा रहा है।

उर्वरकों का उत्पादन एवं आयात—भारतवर्ष में सुपर फॉस्फेट व एमोनिया सल्फेट द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व भी पैदा किया जाता था, लेकिन उर्वरक उद्योग का वस्तुत विकास पिछले 12 वर्षों में ही अधिक तेजी से हुआ है। इस समय देश में उर्वरकों का उत्पादन सार्वजनिक व निजी दोनों ही क्षेत्रों में हो रहा है। निजी क्षेत्र में उर्वरक पैदा करने के कारखाने, एन्नोर, वाराणसी, बड़ौदा, विशाखापट्टनम, कोटा व कानपुर में है। सार्वजनिक क्षेत्र में भारतीय उर्वरक निगम (Fertiliser Corporation of India) खाद का सबसे बड़ा उत्पादक है। इसकी स्थापना 1 जनवरी, 1961 में की गई थी। इस निगम के अन्तर्गत सिंदरी (बिहार), नागल (पंजाब), ट्राम्बे (महाराष्ट्र), गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) तथा नामरूप (आसाम) में पाच इकाइया उर्वरकों का उत्पादन कर रही है। निगम की 4 नई परियोजनाओं पर काम चल रहा है जो शीघ्र ही उत्पादन कार्य प्रारम्भ कर देंगी। ये परियोजनायें दुर्गापुर (पश्चिमी बगाल), बरौनी (बिहार), नामरूप (असम), व सिंदरी (बिहार) में है।

इनके अलावा निगम ने तीन उर्वरक कारखाने स्थापित करने का उत्तरदायित्व भी सम्भाला है। कोयले पर आधारित ये कारखाने ससार में सबसे बड़े होंगे। इनकी स्थापना रामगुण्डम (आन्ध्र प्रदेश), तल्चेर (उड़ीसा) और कोरबा (मध्य प्रदेश) में की जायेगी। रामगुण्डम व तल्चेर में कार्य प्रारम्भ हो चुका है। कोयले पर आधारित प्रत्येक कारखाने की लागत लगभग 75 करोड़ रुपये होगी और उनकी दैनिक क्षमता 900 टन अमोनिया व 1500 टन यूरिया बनाने की होगी। यदि नाइट्रोजन बनाए तो इनमें से प्रत्येक कारखाना प्रति वर्ष 2,28,000 टन नाइट्रोजन बना सकेगा। सरकार ने सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया है कि हल्दिया (पश्चिमी बगाल) में 73 करोड़ रुपये की लागत से एक उर्वरक परियोजना प्रारम्भ की जायेगी। यह कारखाना देश में उपलब्ध ईंधन-तेल पर आधारित होगा और इसकी वार्षिक उत्पादन

क्षमता 3,77,000 टन नाइट्रोफाम्फेट, 1,65,000 टन यूरिया और 60,000 टन सोडा एश होगी और नाइट्रोजन के हिसाब से इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता 1,50,000 टन होगी और फास्फेट के हिसाब से 6000 टन।

भारतवर्ष में रासायनिक खाद के उत्पादन व आयात की स्थिति का अनुमान निम्न आकड़ो से लगाया जा सकता है :

(पोषण के हज़ार टनो मे)

वर्ष	नाइट्रोजन खाद		फास्फेट खाद		पोटाश खाद
	उत्पादन	आयात	उत्पादन	आयात	आयात
1951–52	16	29	11	—	8
1965–66	232	326	111	14	85
1969–70	716	667	222	94	120
1970–71	830	477	229	32	120

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि योजनाकाल में रासायनिक खादो की पूर्ति मे काफी वृद्धि की गई है। चतुर्थ योजना के प्रारम्भ के दो वर्षों में नाइट्रोजन खाद की उत्पादन क्षमता 10 2 लाख टन से बढ़ कर 13·4 लाख टन हो गई है। इसका उत्पादन लक्ष्य योजना के अन्त तक अब सशोधित करके 24 लाख टन रखा गया है। उत्पादन में वृद्धि के बावजूद भी हाल के कुछ वर्षों में उर्वरकों का काफी आयात किया गया है। लगभग 130 रु० का वार्षिक आयात हुआ है।

उन्नत बीज—कृषि उपज में वृद्धि के लिए उन्नत बीजो का प्रयोग आवश्यक है। इनके प्रयोग से उत्पादन में 10–12 प्रतिशत वृद्धि की जा सकती है। भारतवर्ष में 1966 से अपनाई जा रही नई कृषि नीति के अन्तर्गत विभिन्न फसलो में नई किस्म के बीजो का प्रयोग बढ़ाया जा रहा है। कृषि विभाग एव कृषि अनुसधान की भारतीय परिषद ने उन्नत किस्म के बीजो का विकास करने एव उन्हे लोकप्रिय बनाने के लिए अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं। धान, मक्का, ज्वार, बाजरा, गेहू की विश्व प्रसिद्ध किस्मो का भारतवर्ष में विकास किया जा रहा है। द्वितीय योजना में प्रत्येक विकास खण्ड में बीज फार्मों का निर्माण किया गया ताकि उन्नत किस्म के

बीजों की बढ़ी हुई माग को पूरा किया जा सके। सरकार ने उन्नत किस्म के बीजों के उत्पादन एव वितरण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय बीज निगम (National Seeds Corporation) की स्थापना की है। सन् 1970-71 तक 146 लाख हैक्टर भूमि उन्नत बीजों के अन्तर्गत लाई जा चुकी है, जबकि चतुर्थ योजना के अन्त तक 250 लाख हैक्टर भूमि को उन्नत बीजों के अन्तर्गत लाने का लक्ष्य है।

कृषि का यन्त्रीकरण
(Mechanisation of Agriculture)

कृषि यन्त्रीकरण से तात्पर्य खेती की समस्त क्रियाओं से हल चलाने से लेकर फसल के काटने व बेचने तक मशीनों का प्रयोग करना है। इसके अन्तर्गत जहा भी सम्भव होता है, पशु एव मानव शक्ति की जगह यन्त्रों का कृषि कार्यों में प्रतिस्थापन किया जाता है। पाश्चात्य देशों में कृषि में यन्त्रीकरण के कारण ही कृषि क्रान्ति हुई। वहाँ के कृषक आजकल उन्नत एव आधुनिकतम कृषि यन्त्रों का प्रयोग करते है तथा कृषि को लाभदायक उद्योग के रूप मे अपनाए हुए है, जबकि दूसरी ओर भारतीय कृषकों द्वारा प्रयोग मे लाए जाने वाले कृषि औजार एव कृषि कार्य के लिए अधिक उपयुक्त नही है।

विगत वर्षों मे भारतवर्ष मे फार्म मशीनरी एव ट्रैक्टरो का उपयोग बढ़ता जा रहा है। भारतवर्ष मे एक ओर तो ट्रैक्टरो का उत्पादन बढ़ाया जा रहा है तथा दूसरी ओर इनकी कमी की पूर्ति आयात करके की जा रही है। सन् 1970 मे भारत मे ट्रैक्टरो का उत्पादन 20500 हुआ था। देश मे कृषि यन्त्रों की माग उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, जिसे पूरा करने के लिए पावर टिलर्स, डिस्क हैरोज आदि कृषि यन्त्रो के आयात की भी व्यवस्था की जा रही है। भारत के विभिन्न राज्यों मे कृषि यन्त्रो के वितरण की व्यवस्था के लिए कृषि उद्योग निगम स्थापित किए गए हैं। ये निगम ट्रैक्टर व अन्य फार्म मशीन को आसान शर्तों पर बेचते है या किराए पर देते हैं तथा सेवा केन्द्रो की व्यवस्था करते है।

कृषि यन्त्रीकरण के विपक्ष में तर्क बहुत से विद्वानो का मत है कि भारत मे कृषि के क्षेत्र मे यन्त्रीकरण उपयुक्त नही है। यन्त्रीकरण के विपक्ष मे प्राय. ये तर्क दिये जाते है (1) भारत मे खेतो का आकार इतना छोटा है (3 से 12 एकड के बीच) कि यन्त्रीकरण के लिए कोई जगह नही, (2) कृषि यन्त्रीकरण लाखों कृषको को बेरोजगारी के गर्त मे ढकेल देगा। पूर्ण यन्त्रीकरण की स्थिति मे भारत मे उपलब्ध कुल क्षेत्रफल को 30 से 40 लाख कृषको द्वारा जोता जा सकता है, (3) कृषि यन्त्री-

करण से हमारी पशु सम्पत्ति फाल्तू हो जायेगी, (4) पूर्ण कृषि यन्त्रीकरण के लिए, बड़े पैमाने पर फार्म मशीनरी को प्राप्त करना कठिन है क्योंकि विदेशी मुद्रा के संकट के कारण न तो इसका आयात हो सकता है और न निर्माण ही, (5) फार्म मशीनरी के परिचालन के लिए पेट्रोल, डीजल तथा मिट्टी के तेल की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ेगी, जिसकी हमारे देश में कमी पाई जाती है।

कृषि यन्त्रीकरण के पक्ष में तर्क कृषि यन्त्रीकरण के विपक्ष में दिये गये तर्कों का उत्तर दिया जा सकता है। इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं (1) भारत की वर्तमान तकनीकी परिस्थितियों में 20 से 50 एकड़ के आकार के खेतों के लिए उपयुक्त कृषि मशीनरी प्राप्त की जा सकती है अर्थात छोटे-छोटे खेतों पर भी यन्त्रों का उपयोग हो सकता है, (2) आंशिक रूप से यन्त्रीकरण करने पर बेरोजगारी का अत्यधिक भय उत्पन्न नहीं होगा। साथ ही यन्त्रीकरण के परिणाम स्वरूप कोयले, लोहे, इस्पात परिवहन आदि की अधिक माग होने से नए रोजगार के अवसर उपलब्ध हो सकेंगे, (3) कृषि मशीनरी का उत्पादन देश में ही किया जा सकता है तथा आयात पर निर्भरता समाप्त की जा सकती है, (4) पेट्रोल, डीजल व मिट्टी के तेल का उत्पादन स्वयं भारत में बढ़ाया जा सकता है, (5) कृषि यन्त्रीकरण से बड़े पैमाने की मितव्ययिताएं प्राप्त की जा सकती हैं, (6) कृषि यन्त्रीकरण कृषकों को भारी थका देने वाले कामों से छुटकारा दिला सकता है, (7) कृषि यन्त्रीकरण से प्रति व्यक्ति एवं प्रति एकड़ उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है (8) कृषि यन्त्रीकरण उद्योग, परिवहन आदि के क्षेत्र में रोजगार के साधन बढ़ा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि यन्त्रीकरण एक अच्छी नीति है। कृषि में यन्त्रों का उपयोग धीरे धीरे बढ़ाने से उत्पादकता में वृद्धि होगी और रोजगार के साधनों का भी अन्ततोगत्वा विकास होगा।

प्रश्न

1 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए (अ) भारत में बहुउद्देशी नदी घाटी योजनाएं। (राज० टी० डी० सी० प्र० वर्ष कला 1966)

2 भारतीय कृषि के लिए सिंचाई का क्या महत्व है? पिछली दो योजनाओं में सिंचाई के विकास का मूल्यांकन कीजिए।

(सागर, बी० ए० 1963)

3 भारत में सिंचाई के विभिन्न साधनों का वर्णन कीजिए और उनके आर्थिक महत्व पर प्रकाश डालिये। (गोरखपुर बी० ए० 1960)

4. "नदी—घाटी योजनाएं वर्तमान भारत के तीर्थस्थान हैं।" विवेचन कीजिए। (राज० बी० ए० 1864)

5. 'राजस्थान नहर' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (राज० बी० ए० 1964)

6 "भारत मे कृषि-उन्नति के लिए सिंचाई के साधनों की उन्नति सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व है। उसके बिना खाद्य समस्या सुल्झ नही सकती।" इस कथन की चर्चा कीजिए। (राज० टी० डी० सी० प्रथम वर्ष कला 1968)

7 Describe the steps taken during recent year for extention of irrigation facilities with particular reference to Rajasthan, (Raj B A Second Yr 1960)

12

भूमि–व्यवस्था एवं भूमि–सुधार

(Land Tenures and Land Reforms)

'A land reform, which has stopped half-way or has been only half-heartedly undertaken, almost inevitably creates conditions which are inimical to justice as well as to overall development."

—Prof . D R. Gadgil

भूमि-व्यवस्था से हमारा आशय उस व्यवस्था से है, जिसमे किसानो के भूमि सम्बन्धी अधिकारो एव उत्तरदायित्वो की व्यवस्था होती है। किसान सदैव से ही अपनी भूमि के प्रति आकर्षित रहा है। जिस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि पर उसका अधिकार होता है उस व्यवस्था मे वह जी-जान लगाकर उत्पादन बढाने की कोशिश करता है। जहाँ भूमि मे उसे कोई अधिकार नही दिया जाता, वहा वह कृषि के प्रति उदासीन हो जाता है, फलस्वरूप उत्पादन भी कम हो जाता है। सक्षेप मे, किसान को भूमि मे अधिकार दिये बिना, कृषि-उपज बढाने की सभी योजनाए बेकार साबित होगी। अत कृषि-उपज बढाने मे भूमि-व्यवस्था एव भूमि-सुधारो का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

स्वतन्त्रता के समय भारत मे प्रचलित भूमि-व्यवस्था

स्वतन्त्रता के पूर्व भूमि-व्यवस्था या भूमि-स्वामित्व प्रणाली की तीन प्रथायें, भारत मे प्रचलित थी, जो सक्षेप मे निम्नलिखित हैं ·

(क) रैयतवाडी प्रथा (Ryotwari System) इस प्रथा को थामस मुनरो ने सर्वप्रथम सन् 1972 ई० मे मद्रास मे लागू किया था। धीरे-धीरे यह प्रथा बम्बई, बरार, कुर्ग, मध्य प्रदेश तथा आसाम मे प्रचलित की गई। इस पद्धति मे किसान का सम्बन्ध सीधे सरकार से होता है तथा बीच मे कोई मध्यस्थ नही होता है। किसानो को स्वय अपने खेतो का लगान सरकारी खजाने मे जमा करना पडता है। जब तक वह लगान देता है, तब तक वह भूमि का स्वामी बना रहता है, परन्तु लगान न देने की स्थिति मे भूमि पर राज्य का स्वामित्व हो जाता है। किसानो को इस प्रथा मे अपनी भूमि को प्रयोग मे लाने, बदलने व छोडने का पूरा अधिकार होता है। इस

व्यवस्था मे पहले मध्यस्थ नही थे, परन्तु जनसख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण इस प्रथा मे भी काश्तकार व उप-काश्तकार पैदा हो गये। फलस्वरूप यह व्यवस्था भी मध्यस्थो से अछूती न रही। यह प्रथा मद्रास, गुजरात, महाराष्ट्र तथा मध्यप्रदेश मे प्रचलित है।

(ख) महालवाडी प्रथा (Mahalwari System) : इस प्रथा का प्रचलन सर्वप्रथम आगरा व अवध मे सन् 1833 ई० म 'रेगुलेशन एक्ट' के आधार पर हुआ। बाद मे इसे पजाब व मध्य प्रदेश के कुछ भागो मे भी लागू कर दिया गया। 'महाल' शब्द का अर्थ है गाव। इस प्रथा में महाल या गाँव से सम्बन्धित किसानो का एक समूह सयुक्त व व्यक्तिगत रूप से अपना लगान चुकाता है। प्रत्येक गाव का एक नम्बरदार होता है जो मालगुजारी सरकारी कोष मे जमा कराता है। इस प्रथा को 'सम्मिलित ग्राम स्वामित्व प्रथा' भी कहते है। भूमि पर सभी लोगो का स्थायी सम्पत्ति के रूप मे अधिकार होता है। इस प्रथा मे गाँव की बेकार व बजर भूमि, कुए, वृक्ष आदि सभी किसानो की सयुक्त सम्पत्ति होते है। यदि कोई किसान अपनी भूमि छोडता है, तो सम्पूर्ण भूमि गाँव वालो की हो जाती है। यह प्रथा उत्तर-प्रदेश, पजाब, तथा मध्यप्रदेश के अधिकाश भागो मे पाई जाती है।

(ग) जमीदारी प्रथा (Zamindari System) [1] भारतवर्ष मे जमीदारी प्रथा मुगलो के समय से चली आ रही है, परन्तु वर्तमान जमीदारी प्रणाली के श्रीगणेश करने का श्रेय लार्ड कार्नवालिस को है, जिसने सन् 1793 ई० मे भारतीय किसान को एक निश्चित रकम देने के बदले भूस्वामित्व अधिकार दिये थे। यह प्रथा उस समय इगलैण्ड मे प्रचलित प्रथा पर आधारित थी। इस प्रथा मे समस्त भूमि का मालिक जमीदार होता है जो स्वय भूमि को नही जोतता है, वरन् भूमि को लगान पर उठा देता है। इस प्रकार कानूनी तौर पर लगान देने की जिम्मेदारी जमीदार के ऊपर ही होती है जो सरकार एवं काश्तकारो के मध्य मध्यस्थता का कार्य करता है। जमीदार द्वारा सरकार को दिये जाने वाले लगान की मात्रा दो प्रकार से निश्चित होती है : (क) स्थायी प्रबन्ध इसमे लगान की मात्रा हमेशा के लिए एक ही बार निश्चित कर दी जाती है, तथा (ख) अस्थायी प्रबन्ध–इसमे लगान की मात्रा समय पर निश्चित की जाती है।

जमीदारी प्रथा को लागू करने से ब्रिटिश सरकार को निम्नलिखित लाभो की सम्भावना थी —

(1) सरकारी आय मे स्थिरता एव निश्चितता, (2) भूमि उन्नति की सम्भावना (3) एक स्वामी-भक्त शक्तिशाली वर्ग का निर्माण, (4) सरकारी आय की वसूली मे सरलता।

1 जमीदारी अब प्राय सभी राज्यो मे समाप्त कर दी गई है।

जमींदारी प्रथा के दोष : समय एवं परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ इस प्रथा में अनेक दोष पैदा हो गये, फलस्वरूप, सर्वसाधारण जनता इस प्रथा की विरोधी हो गई। इसके मुख्य दोष निम्नलिखित है:

1. **कृषकों का शोषण :** जमीदारी ने अनुचित एवं अत्यधिक लगान लेकर तथा भेटें, बेगार एवं नजरानों की प्रथाओं द्वारा निर्धन एवं जर्जर कृषक वर्ग का शोषण किया।

2 **समाज पर अनुत्पादक वर्ग का भार**—यह वर्ग कोई कार्य नहीं करता था। किसानों की गाढ़ी कमाई को छीन कर विलासितापूर्ण जीवन बिताना एवं ऐशोआराम करना ही इनकी दिनचर्या रह गई थी।

3 **भूमि सुधार में बाधा** जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत भूमि-सुधार पर तो न जमींदारों ने कोई सुधार किया और न किसानों ने, क्योंकि किसानों को हमेशा ही बेदखली का भय बना रहता था।

4. **देशद्रोही कार्य** जमींदार अंग्रेज शासकों के सच्चे भक्त थे। भारत के स्वतन्त्रता आंदोलन को दबाने के लिए इन्होंने देशभक्तों के ऊपर नाना प्रकार के अत्याचार किये।

5 **सरकार को आर्थिक हानि** एक ओर तो जमींदार किसानों से उनकी उत्पत्ति का लगभग 50 से 60% भाग लगान के रूप में लेता था और दूसरी ओर वह सरकार को सदा के लिए निश्चित लगान देता था जो प्राय. उनके द्वारा वसूले गये लगान से बहुत कम होता था। फलस्वरूप सरकार को मालगुजारी में कम रकम मिलती थी।

6 **ग्रामीण समाज में दो वर्गों का उदय :** इस प्रथा के परिणामस्वरूप ग्रामीण समाज दो वर्गों में बट गया, धनी एवं निर्धन वर्ग। धनी अर्थात जमींदार वर्ग सम्पन्न था एवं समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। दूसरी ओर किसानों के अधिकार छिन गए तथा उन्हें दासों की भांति जीवन-यापन करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

7 **सरकार एवं कृषक वर्ग में दूरी .** जमींदारी प्रथा के फलस्वरूप सरकार का ध्यान केवल मालगुजारी वसूल करने पर ही रहा। मालगुजारी भी उसे जमींदारों से मिलती थी, न कि कृषकों से नही। परिणामतः सरकार का कृषक वर्ग से प्रत्यक्ष सम्पर्क समाप्त हो गया।

8. **मुकदमेबाजी में वृद्धि :** जमींदारी प्रथा में जमींदार अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रायः किसानों को बेदखल कर दिया करते थे तथा खेत दूसरे किसानों को ऊंची लगान दर पर उठा दिया करते थे। किसान ऐसी बेदखली का विरोध करते थे जिससे मुकदमेबाजी में वृद्धि होती गई।

9. सामाजिक असतोष में वृद्धि जमीदार धन के नशे मे दुराचारी बनते चले गए। भूखे, नगे, दरिद्र, किसानो की गाढी कमाई पर विलासितापूर्ण जीवन बिताने के कारण, वे जनता मे घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे। उनके दुष्कार्यो का परिणाम यह हुआ कि समाज मे भीषण असतोष की ज्वाला धधक उठी, जिसने ब्रिटिश सरकार की नीव हिला दी।

10 अनेक मध्यस्थों का जन्म जमीदारी प्रथा मे जमीदारो की विलासी प्रवृत्ति के कारण वे इसका कार्य स्वय न देखते थे, बरन् अपने कारिदो पर छोड देते थे। कारिन्दे अपने लाभ को ध्यान मे रखते थे और बडे-बडे किसानो को उप-किसानो मे भूमि बाटने की छूट दे देते थे, फलस्वरूप कई मध्यस्थ पैदा हो जाते थे। इस सम्बन्ध मे फ्लाउड कमीशन ने बताया है कि बगाल के मालिकजमीदार तथा खेती करने वाले वास्तविक किसानो के बीच 50 से भी अधिक मध्यस्थ थे।

इस प्रकार जमीदारी प्रथा ने देश के कृषक वर्ग का लगातार शोषण किया तथा उसे भूखा, नगा और कगाल बना दिया। प्राचीन काल म खेती और खेती करने वाले को समाज मे जो उच्च स्थान प्राप्त था, उससे उसे नीचे गिरा कर गुलामो की भाति जीवन-यापन करने पर बाध्य कर दिया गया। जमीदारो की ज्यादतिया इतनी बढ गई थी कि सिवाय इस प्रणाली को समाप्त करने के और कोई चारा ही न था। बिना जमीदारो एव जमीदारी प्रथा के समाप्त किये, कृषि की हीन अवस्था को सुधारा ही नही जा सकता था, जमीदार समाज का अनुपयोगी एव अनुत्पादक अग बन गये थे। जमीदारी प्रथा एक अनुपस्थित जमीदारी थी जिसके विषय मे कार्वर (Carver) ने बड उपयुक्त शब्दो मे कहा है, "युद्ध, अकाल और महामारी के बाद गावो को जिस दुर्भाग्य का सामना करना पड सकता है, वह है अनुपस्थित जमीदारी।"[1]

भारतवर्ष मे भूमि-सुधार (Land Reforms in India)

"न तो वैज्ञानिक कृषि और न सहकारिता ही प्रगति कर सकती है, जब तक कि भूमि प्रणाली मे सुधार न किया जाय"। भूमि-सुधार के सम्बन्ध मे डा० राधा कमल मुखर्जी के ये विचार पूर्णत तर्क सगत है —

भारतवर्ष मे भूमि-सुधार सम्बन्धी कदम यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भी उठाये गये थे, तथापि वे प्रभावशाली न थे और भूमि-व्यवस्था प्राय ज्यो की त्यो चली आ रही थी। आजादी के पश्चात देश की लोकप्रिय सरकार ने इस सम्बन्ध मे कई महत्वपूर्ण कदम उठाये।

1 "Next to war, famine and pestilence the worst thing that can happen to the rural community is absentee land-lordism"

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद कृषि उत्पादन में वृद्धि का कार्यक्रम बनाते समय यह अनुभव किया गया कि हमारी भूमि-व्यवस्था में कई गम्भीर दोष हैं और उन्हें दूर किए बिना कृषि विकास सम्भव नहीं। इन दोषों को दूर करने के लिए 1947 के पहले भी कुछ कानूनी उपाय किए गए थे, पर ये अपर्याप्त सिद्ध हुए। *स्थिति की गम्भीरता को और संविधान में प्रदत्त सामाजिक न्याय के वचनों को* देखते हुए भूमि-व्यवस्था में तुरन्त सुधार करने को उच्च प्राथमिकता दी गई। इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भूमि-सुधार कार्यक्रम को एक निश्चित दिशा मिली। देश की पंचवर्षीय योजनाओं में, प्रारम्भ से ही, भूमि-सुधारों के महत्व पर बल दिया गया और यह स्पष्ट रूप में घोषित किया गया कि जब तक देश में भूमि-सुधारों की उल्लेखनीय सफलता नहीं प्राप्त की जाती, देश की कृषि व्यवस्था नहीं सुधर सकती।

भूमि-सुधार के उद्देश्य (Objectives of Land Reforms) :
भूमि सुधार कार्यक्रम के प्रमुख उद्देश्य निम्नांकित हैं —

(i) भू-स्वामित्व तथा वितरण की विषमताओं को मिटा कर आर्थिक विषमता को कम करना, (ii) भूमि-क्षेत्र से वैधानिक दोषों का निवारण करके कृषि-व्यवस्था के विकास के मार्ग को प्रशस्त करना, (iii) कृषि उत्पादन के मार्ग की सभी कठिनाइयों को दूर करके अधिक उत्पादन के मार्ग को प्रशस्त करना, (iv) भूमि प्रबन्धक की कुशल व्यवस्था को सम्भव बनाना, (v) आय तथा अवसर की सामाजिक विषमताओं को मिटाना आदि।

पंचवर्षीय योजना में भूमि सुधार प्रथम योजना में पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर भूमि नीति निर्धारित की गई जिसकी प्रमुख बातें थीं–(i) राज्य तथा किसानों के बीच सभी प्रकार के मध्यस्थों को समाप्त करना, (ii) बड़े-बड़े भूस्वामियों की भूमि की सीमा निर्धारित करना और इस प्रकार प्राप्त हुई अतिरिक्त भूमि को बाटना; (iii) छोटे-छोटे तथा मध्य वर्ग के भूस्वामियों के उत्पादन में वृद्धि करने के लिये जोतों की चकबन्दी करना, भूमि के उपविभाजन एवं अपखण्डन को रोकना तथा सहकारी कृषि को अपनाने के लिए प्रोत्साहन देना, (iv) काश्तकारी कानूनों में सुधार जिससे लगान में कमी की जा सके तथा किसानों को इनके द्वारा जोती जाने वाली भूमि खरीदने की सुविधा प्रदान की जा सके, तथा (v) खेतिहर श्रमिकों की स्थिति में सुधार करना। इस योजना काल में मध्यस्थों के उन्मूलन के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रगति हुई और प्राय सभी राज्यों में इस सम्बन्ध में कानून पास किए गए। देश की कुल भूमि का प्राय 43 प्रतिशत भूमि मध्यस्थों के अधीन थी जो अब राज्य

के अधीन आ गई थी। लेकिन अन्य भूमि सुधार कार्यक्रमो-जैसे-लगान का नियमन व कमी तथा चकबन्दी आदि, के सम्बन्ध मे विशेष प्रगति नही हुई।

द्वितीय पचवर्षीय योजना मे भूमि सुधार को विशेष महत्व दिया गया। खेतो की चकबन्दी को शीघ्रता से लागू करने की सिफारिश की गई। जोतो की अधिकतम सीमा निर्धारण करने का कार्य भी तीन या 4 वर्षों मे समाप्त करने का सुझाव दिया गया। इस योजना मे सहकारी खेती अपनाने पर बहुत जोर दिया गया था। राज्य सरकारो को ऐसा कदम उठाने के लिए कहा गया ताकि 10 वर्षों मे ही देश के अधिकतर कृषि क्षेत्र मे सहकारिता के आधार पर कृषि की जा सके।

नागपुर का भूमि-सुधार प्रस्ताव (Nagpur Resolution on Land Reforms) : द्वितीय योजनावधि मे ही जनवरी 1959 मे होने वाले नागपुर अधिवेशन मे भूमि सुधार की पूर्ण रूप रेखा प्रस्तुत की गई, जिसकी प्रमुख बातें निम्नांकित हैं —

(i) ग्रामीण सगठन, ग्राम पचायत तथा ग्राम-सहकारिता पर आधारित हो जिनके पास पर्याप्त अधिकार व साधन हो।

(ii) कृषि का भावी ढाचा सयुक्त सहकारी कृषिपर आधारित होना चाहिए।

(iii) वर्तमान तथा भावी जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए। इसके फलस्वरूप जो जमीन सरकार के कब्जे मे आए उस पर पचायतो का अधिकार होना चाहिए तथा उसका प्रबन्ध भूमिहीन किसानो की सहकारिता के हाथ मे होना चाहिए।

(iv) कृषक को उचित लाभ दिलाने की दृष्टि से हर फसल का उसकी बुआई के मौसम से काफी पहले न्यूनतम मूल्य निश्चित कर देना चाहिए और आवश्यकता पडने पर पैदावार को सीधे खरीदने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(v) बजर भूमि को कृषि योग्य बनाने पर जोर दिया जाना चाहिए।

(vi) खाद्यान्नो के थोक व्यापार को राज्य के हाथ मे सौपना चाहिए।

तृतीय योजना मे भूमि सुधार के सम्बन्ध मे प्रधान उद्देश्य उन कार्यक्रमो को कार्यान्वित करना था, जिन्हे द्वितीय योजना मे प्रारम्भ किया गया था। योजना मे भूमि सुधार कार्यक्रमो को यथा शीघ्र पूर्ण करने पर जोर दिया गया।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे भी भूमि सुधार को कृषि विकास की योजना का एक आवश्यक अग माना गया है। इस योजनाकाल मे भूमि सुधारो की दिशा मे निम्न कदम उठाये जाने की व्यवस्था है. (i) योजनाकाल मे भूमि सुधारो को कार्यान्वित करने पर विशेष बल दिया जायेगा, (ii) राज्य सरकारें लगान के प्रचलित स्तरो एव पट्टेदारो से सम्बन्धित अन्य शर्तों मे सशोधन करेगी ताकि उत्पादन पर

अनुकूल प्रभाव पड सके; (iii) योजनाकाल मे भू-अधिकारो का अभिलेखा तैयार करने की विशेष व्यवस्था की जायेगी; (iv) राज्यो की योजनाओ मे भूमि की छोटी-छोटी इकाइयो को मिलाने पर 28.4 करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई है। (v) इस योजनाकाल मे कृषि श्रमिक को बसाने पर राज्य सरकारो की योजनाओ पर 5.54 करोड रु. व्यय करने की व्यवस्था की गई है; (vi) योजनावधि मे भूमि सुधार कार्यक्रम का सामयिक मूल्याकन किया जायेगा।

भारत मे भूमि-सुधार के उपाय (Land Reform Measures in India): स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भूमि-सुधार की दिशा मे एक के बाद एक नये-नये कदम उठाये गये, जिनमे से कुछ महत्वपूर्ण निम्नलिखित है :

(क) मध्यस्थो की समाप्ति (Abolition of Intermediaries)

(ख) काश्तकारी कानूनो मे सुधार (Tenancy Reforms)

(ग) जोतो का सीमा निर्धारण (Ceiling of Land Holdings)

(घ) कृषि का पुर्नसगठन (Reorganisation of Agriculture)

(क) **मध्यस्थो की समाप्ति** (*Abolition of Intermediaries*); मध्यस्थो की समाप्ति एव 'भूमि उसकी जो उसे जोते-बोये', काँग्रेस पार्टी की कृषि-नीति के ये महत्वपूर्ण आधार थे। अत स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद काग्रेस पार्टी ने अपने प्रथम चुनाव घोषणा-पत्र मे यह स्पष्ट कर दिया था कि वह मध्यस्थो को उचित मुआवजा देकर, उनके भू-स्वामित्व के अधिकारो को हमेशा हमेशा के लिए समाप्त कर देगी।[1] फलस्वरूप शक्ति मे आते ही इसने जमीदारी, जागीरदारी व अन्य नामो से फैली मध्यस्थता को समाप्त कर दिया। ये मध्यस्थ देश की समस्त भूमि के 43 प्रतिशत भाग मे फैले हुए थे। भारत के विभिन्न राज्यो ने अपने अपने क्षेत्रो मे अधिनियम पारित करके मध्यस्थो को समाप्त कर दिया है। जहाँ पहले जमीदारो के पास देश के कृषि योग्य क्षेत्र का 43% था, वहाँ अब केवल 5% ही रह गया और 38% क्षेत्र पर जमीदारी समाप्त कर दी गई। लगभग 2 करोड से अधिक किसानो का अब सरकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

जमीदारी प्रथा को समाप्त करने के लिए जो कानून पास किए गए है, उनकी प्रमुख बाते निम्नाकित है :

(i) जमीदारो से उनकी भूमि लेने के बदले मे उन्हे मुआवजे के रूप मे धन दिया गया। यह धन उनकी भूमि की शुद्ध आय का कुछ गुना है। इस मुआवजे का

1. "*The reform of land system, which is so urgently needed in India, involves the removal of intermediaries between the peasant and the State. The rights of such intermediaries should, therefore, be acquired on payment of equitable compensation.*" —Land Reforms in India, p. 75.

आधार तथा दर विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न थी। ज्यों-ज्यों आय बढ़ती जाती, त्यों त्यों दिए जाने वाले मुआवजे की दर घटती जाती है।

(ii) मुआवजे की रकम नगद या बाँड के रूप में दी जाने की व्यवस्था की गई थी तथा इनके चुकाने का समय 10 से 30 वर्ष रखा गया था। आसाम, आन्ध्र प्रदेश, मध्यप्रदेश, तामिलनाडु, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल आदि राज्यों ने क्षतिपूर्ति या मुआवजा नगद देने का निश्चय किया, जबकि राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, गुजरात व महाराष्ट्र राज्यों ने नगद व बाँड के रूप में मुआवजा देने का निश्चय किया। बड़े-बड़े मध्यस्थों को प्रायः बाँड देने का सिद्धान्त अपनाया गया तथा छोटे मध्यस्थों को नकद में ही मुआवजा देने का निर्णय किया गया।

(iii) जमीदारों को खुद खेती करने के लिए भूमि रखने की अनुमति दी गई है तथा अधिकतम भूमि की सीमा निश्चित कर दी गई है।

(iv) किसानों के लिए कृषि सम्बन्धी शर्तें पूर्ववत् ही हैं, अन्तर केवल इतना है कि अब उनका सरकार से सीधा सम्बन्ध है। अपने निश्चित लगान का कुछ गुना धन देकर वे भूस्वामित्व के अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

(v) मुआवजे के रूप में अब तक 570 करोड़ रुपयों में से केवल 320 करोड़ रुपये ही नकद या बाँडों के रूप में चुकाये गये हैं। इस प्रकार देश के 43 प्रतिशत क्षेत्र में जमीदारी, जागीरदारी व इनाम के रूप में फैले हुए मध्यस्थों के अधिकारों को समाप्त किया जा चुका है। इन सुधारों के बाद सरकार का लगभग दो करोड़ काश्तकारों से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। यद्यपि जमीदारी प्रथा अब समाप्त हो चुकी है, तथापि योजना आयोग की भूमि सुधार समिति के अनुसार अभी भी भूमि का बहुत सा भाग अनुपस्थित भूस्वामियों के पास है। इसे भी शीघ्र ही समाप्त किया जाना चाहिए। निजी कृषि की व्यवस्था सही ढंग से की जानी चाहिए जिसके अन्तर्गत न केवल भू-स्वामी का गाँव में रहना ही जरूरी हो, अपितु वह भूमि पर काम भी स्वयं करें। जमीदारी प्रथा के उन्मूलन हो जाने से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि कृषि विकास स्वतः हो जायेगा। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "यह तो केवल विकास के मार्ग की एक बड़ी बाधा को हटाना है। इस बाधा के दूर हो जाने के पश्चात् भूमि व्यवस्था ऐसी की जानी चाहिए, जिसके फलस्वरूप भूमि के उप-विभाजन एवं अप खण्डन के दोष दूर हो सकें तथा कृषि उत्पादन अधिकाधिक हो सके।

(ख) काश्तकारी कानूनों में सुधार (Tenancy Reforms) इस व्यवस्था के अन्तर्गत निम्नांकित सुधार आते हैं

(1) भू जोतों की सुरक्षा (Security of Tenure),

(ii) लगान में कमी (Reduction in Rents),

(iii) किसानों को भू स्वामित्व दिलाना (Ownership for Tenants)

(iv) स्थायी सुधारों के लिए मुआवजा (Compensation for Permanent Improvements)

(v) लगान से छूट (Remission of Rent), तथा

(vi) अन्य सुधार (Miscellaneous Improvements)

(i) भू जोतों की सुरक्षा (Security of Tenure) लगभग सभी राज्यों में या तो कानून बना कर भू-जोतों की सुरक्षा कर दी गई है या की जा रही है। योजना आयोग का यह दृढ़ मत है कि भूमि सुधारों का उस समय तक कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, जब तक कि किसानों को उनकी जोतों के सम्बन्ध में सुरक्षा न प्रदान की जाय।[1] भू जोतों की सुरक्षा आवश्यक है तथा किसानों को इस सम्बन्ध में पूर्ण आश्वासन मिलना चाहिए कि उनकी जमीन को किसी बहाने से कोई भी न ले सकेगा तथा जब तक वे मालगुजारी देते रहेंगे, उन्हें बेदखल न किया जा सकेगा। इसका अच्छा परिणाम यह निकलेगा कि किसान अपने खेतों को हमेशा हमेशा के लिए अपना समझ कर उन पर स्थायी सुधार करने के लिए प्रोत्साहित होंगे। इससे भूमि में स्थायी सुधार होंगे। कृषक व कृषि की दशा में आश्चर्यजनक सुधार होंगे। कृषक को भूमि पर स्थायी अधिकार मिलने से देश की कृषि अवस्था में आश्चर्यजनक प्रगति होगी। श्री आर्थर यंग ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है 'निजी सम्पत्ति का जादू रेत को सोना बना देता है। किसी व्यक्ति को रूक्ष चट्टान का सुरक्षित अधिकार दे दीजिए और वह इसे उपवन में बदल देगा, उसे नौ वर्ष के ठेके पर एक उपवन दे दीजिये और वह इसे मरुस्थल में बदल देगा।'[2]

प्रायः देश के सभी राज्य भू जोतों की सुरक्षा के महत्व से परिचित है। 12 राज्यों में सभी संघीय क्षेत्रों में भू जोतों की सुरक्षा सम्बन्धी कानून बन चुके हैं। देश की कुल काश्त में आने वाली भूमि के 9% भाग को पूरी सुरक्षा मिल चुकी है। 59% भाग में आंशिक सुरक्षा तथा 19% भाग में अस्थाई सुरक्षा प्राप्त हो चुकी है। अभी 12% भाग में सुरक्षा की व्यवस्था नहीं हो सकी है परन्तु इस ओर भी प्रयत्न जारी है।

---

1 Planning Commission Progress of Land Reforms p 7

2 "The magic of private property turns sand in o gold Give a man a secure possesion of black rock and he will turn it into a garden Give him a nine years lease of a garden and he will convert it into a desert"

—Arther Young

(ii) लगान में कमी (Reduction in Rents) : भूमि-सुधार कार्यों में एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी किया गया है कि लगान की दरें कम करदी गई हैं। पहले साधारणत कुल उपज का आधा भाग लगान के रूप में ले लिया जाता था। प्रथम पचवर्षीय योजना मे योजना आयोग ने किसान से कुल उपज का केवल $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{5}$ भाग तक ही लगान के रूप मे लिए जाने की सिफारिश की थी। द्वितीय योजना मे भी इस बात पर काफी बल दिया गया था। परिणामस्वरूप विभिन्न राज्य सरकारो ने अपने-अपने राज्यो मे लगान की दरें निर्धारित कर दी है। इन दरो मे समानता नही पाई जाती। आसाम, बिहार, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, मैसूर, उडीसा, राजस्थान तथा सघीय क्षेत्रो मे लगान कुल उपज का या तो 1/4 भाग है या इससे भी कम है। आन्ध्र प्रदेश, तामिलनाडु, पजाब, हरियाणा, प बगाल व जम्मू व कश्मीर मे लगान अब भी कुल उपज के 1/3 भाग से लेकर 1/2 भाग तक है, जो अनुचित रूप से अधिक है। उत्तर प्रदेश मे काश्तकार वही लगान दे रहे है जो पहले वे जमीदारो को देते थे।

(iii) किसानो को भू-स्वामित्व दिलाना (Ownership for tenants) : भूमि सुधार कार्यो मे एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी किया गया है कि खेती करने वाले किसानों को खेतो के स्वामित्व का अधिकार दिला दिया गया है। प्रारम्भ मे यह किसानो की इच्छा पर था कि वे भूमि-सम्बन्धी अधिकार खरीदें, परन्तु तीसरी पचवर्षीय योजना मे ऐच्छिकता की भावना को हटाने का सुझाव दिया गया था। बगाल, गुजरात, केरल, मध्य-प्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर, उडीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा उन क्षेत्रो मे जो केन्द्रीय सरकार के आधीन है, किसानो के भू-स्वामित्व सम्बन्धी कानून बन चुके है। कुछ राज्य अभी ऐसे बच गये है, जहाँ इस प्रकार की कानूनी व्यवस्था अभी तक नही हुई है, जैसे आसाम, बिहार, जम्मू व काश्मीर एव तामिलनाडू मे अब भी इस सम्बन्ध मे कानून बनने शेष हैं। चौथी योजना की रूपरेखा मे यह बताया गया था कि किसानो को भू-स्वामी बनाने के लिए अन्य कई राज्यो मे भी व्यवस्था कर दी गई है। फलस्वरूप 30 लाख खेतिहर व बटाईदार 70 लाख एकड भूमि के मालिक बन गए है। आशा है कि निकट भविष्य मे देश के सभी भागो मे खेती करने वाले कृषक खेतो के स्वामित्व अधिकार को प्राप्त कर लेगे।

(iv) स्थाई सुधारो के लिए मुआवजा (Compensation for Permanent Improvements). देश के कई राज्यो मे इस प्रकार के नियम बना दिए गए है कि भूमि छोडने के समय काश्तकारो के खेतो मे बनाए गए घर, नालियां, कुओं तथा पेड लगाने आदि से सम्बन्धित भूमि सुधारो के लिए काश्तकारो को मुआवजा दिया जायेगा।

(v) **लगान से छूट** (Remission of Rent) : प्राकृतिक सकटो, जैसे बाढ़, सूखा, अकाल आदि के समय काश्तकारो का लगान माफ कर दिया जाता है।

(vi) **अन्य सुधार** (Miscellaneous Improvements) : काश्तकारो से ली जाने वाली बेगार को अब गैर-कानूनी ठहरा दिया गया है। यदि कभी लगान न देने की स्थिति मे नीलामी आदि करनी पड़ी तो वर्तमान फसल, हल, बैल तथा अन्य कृषि यत्र नीलाम नही किए जायेंगे।

(ग) **जोतो की अधिकतम सीमा का निर्धारण** (Ceiling on Landholdings) *भारत के अधिकाश राज्यों में कृषि-जोत की अधिकतम सीमा के निर्धारण* से सम्बन्धित अधिनियम पारित किये जा चुके है। प्रत्येक राज्य मे भूमि की स्थिति एव उर्वरा शक्ति को ध्यान मे रख कर अधिकतम जोत की सीमा निर्धारित की गई है। जोतो की अधिकतम सीमा निर्धारण मे दो प्रकार की सीमाओं का निर्धारण होता है, यथा (क) भूमि की जोत की भावी उच्चतम सीमा, अर्थात भविष्य मे कोई किसान अधिकतम कितनी भूमि रख सकेगा या खरीद सकेगा, (ख) वर्तमान जोतो की उच्चतम सीमा, अर्थात् वर्तमान समय मे किसान कितनी अधिकतम भूमि रख सकता है। जोतो की अधिकतम सीमा निर्धारित करके कई लाभो की अपेक्षा की गई है, जैसे (i) सभी किसानों को भूमि का कुछ न कुछ भाग मिल जाय, (ii) बहुत बड़े-बड़े खेतो को उचित आकार मे बदल दिया जाय, ताकि उनका प्रबन्ध आसानी से हो सके, (iii) अधिकतम सीमा निर्धारण के फलस्वरूप जो जमीन सरकार को बच रहेगी, उसमे और अधिक लोगो को रोजगार मिल सकेगा, (iv) भूमिहीन श्रमिको को भूमि-स्वामित्व मिलने के फलस्वरूप उत्पादन मे वृद्धि होगी, (v) भूमि स्वामित्व पहले की *अपेक्षा अधिक समान हो जाने से खेतो की चकबन्दी करना सरल हो जायगा,* (vi) भूमि के समान वितरण से सहकारी कृषि के लिए अनुकूल वातावरण तैयार होगा, (vii) आर्थिक समानता समाजवादी समाज की स्थापना के लिए अनुकूल वातावरण *तैयार करेगी।*

जोतो की अधिकतम सीमा निर्धारित करने से कुछ दोष उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है, अत कुछ विद्वानो ने अधिकतम जोत निर्धारित करने के विपक्ष मे तर्क प्रस्तुत किए है। ये तर्क है

(i) इस प्रकार प्राप्त की हुई भूमि से भूमिहीन श्रमिको की समस्या का *समाधान नहीं हो सकेगा, (ii) भूमि ऐसे लोगो के पास चली जायेगी, जिनके पास खेती करने के लिए पर्याप्त साधन नही है (iii) बड़-बड़े सुव्यवस्थित खतो के जिन पर* वैज्ञानिक ढग से आधुनिक खेती की जा सकती है, टुकड हो जायेंगे, (iv) जब शहरी आय पर सीमा लगाना उचित नही समझा जाता है तो ग्रामीण क्षेत्र मे जोत की अधिक-

तम सीमा निर्धारित करना न्यायपूर्ण नहीं है, (v) छोटे-छोटे भू-स्वामी होने से बाजार मे आकर बिकने वाली उपज की मात्रा (Marketable Surplus) कम हो जायेगी; (vi) आपसी बैर-विरोध मे वृद्धि से सरकार के वित्तीय बोझ मे वृद्धि तथा प्रशासन व्यवस्था आदि की भी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

वस्तुत: उच्चतम सीमा के विरोध मे दिए गए तर्क भ्रमपूर्ण एव आधार-रहित है। जमीदारी उन्मूलन के पश्चात् भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित करना न केवल उचित है, अपितु आवश्यक भी है।

देश के विभिन्न राज्यो मे अधिकतम जोत की जो सीमाए वर्तमान व भविष्य के लिए निर्धारित की गई हैं, वे अग्रलिखित है :

भारत के विभिन्न राज्यो में भूमि की उच्चतम जोत

राज्य	भावी जोतो की उच्चतम सीमा	वर्तमान जोतो की उच्चतम सीमा
आन्ध्र प्रदेश	10 से 216 एकड	27 से 324 एकड
आसाम	50 एकड	50 एकड
बिहार	20 से 60 एकड	20 से 60 एकड
गुजरात	19 से 132 एकड	19 से 132 एकड
जम्मू व कश्मीर	22 75 एकड	22 75 एकड
केरल	15 से 36 एकड	15 से 36 एकड
मध्य प्रदेश	25 से 75 एकड	25 से 75 एकड
तामिलनाडु	24 से 120 एकड	24 से 120 एकड
महाराष्ट्र	18 से 126 एकड	18 से 126 एकड
मैसूर	18 से 144 एकड	27 से 216 एकड
उडीसा	20 से 80 एकड	25 से 80 एकड
पजाब	30 प्रमाणित एकड[1]	30 प्रमाणित एकड
राजस्थान	22 से 336 एकड	22 से 336 एकड
उत्तर प्रदेश	12 5 एकड	40 एकड
पश्चिमी बगाल	25 एकड	25 एकड
हिमाचल प्रदेश	30 एकड	30 एकड

1 प्रमाणित एकड से तात्पर्य ऐसे क्षेत्र से है, जिससे 10 मन गेहूं या इसके मूल्य के बराबर अन्य कोई दूसरी उपज पैदा होती हो।

योजना आयोग ने सिफारिश की है कि निम्न प्रकार के खेत उच्चतम जोत कानूनों के अन्तर्गत छोड दिए जाए

(i) चाय कहवा, रबड आदि के खेत, (ii) फलदार वृक्षो के सगठित बगीचे, (iii) विशेष क्षेत्र (Specialised farms) जैसे कि पशु-पालन, दूध व मक्खन बेचने के लिए पशु रखना तथा ऊन के लिए भेडें पालना आदि, (iv) सुव्यवस्थित सगठित खेत (Efficiently managed farms consisting of complete blocks), तथा (v) चीनी की मिलो के आधीन गन्ने के खेत।

(घ) **कृषि का पुनर्संगठन** (Re organisation of Agriculture) इसके अन्तर्गत जो कार्य किए गए हैं, उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

1 **चकबन्दी** (Consolidation of holdings) किसान के बिखरे हुए खेतो को एक बडे खेत मे परिवर्तित करने की प्रक्रिया को चकबन्दी कहते है। इसमे उप-विभाजन व अपखण्डन सम्बन्धी तमाम दोष दूर होते है। भूमि-सुधार कार्यक्रमो के अन्तर्गत चकबन्दी के कार्यों पर बल देने पर जोर दिया गया है। लेकिन सभी राज्यो मे चकबन्दी की दिशा मे समान प्रगति नही हुई है। सन् 1957 से चकबन्दी के कार्यों को बढावा देने के लिए भारत सरकार ने राज्य सरकारो मे चकबन्दी सबधी व्यय का 50 प्रतिशत भाग देना स्वीकार कर लिया। द्वितीय योजना के अन्त तक 2 96 करोड एकड भूमि की चकबन्दी हुई थी। प्रथम तीन योजनाओ मे लगभग 6 करोड एकड भूमि की चकबन्दी की गई। चतुर्थ योजना मे चकबन्दी के लिए 28 4 करोड रुपय का प्रावधान किया गया है। पजाब व हरियाणा राज्यो मे चकबन्दी सम्बन्धी प्राय सभी कार्य पूरा हो चुका है, जबकि उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, मैसूर, आन्ध्र प्रदेश आदि राज्यो मे चकबन्दी का कार्य द्रुत गति से चल रहा है। चकबन्दी के कार्य मे विभिन्न राज्यो मे हुई प्रगति का अन्दाजा निम्न तालिका से लगाया जा सकता है[1]

राज्य	चकबन्दी (लाख हैक्टर भूमि मे)
हरियाणा	सम्पूर्ण कार्य पूरा हो गया
पजाब	सम्पूर्ण कार्य पूरा हो गया
उत्तर प्रदेश	94 80
आन्ध्र प्रदेश	3 39
बिहार	0 85

1 हिन्दुस्तान समाचार वार्षिकी, पृष्ठ 222

राज्य	चकबन्दी
गुजरात	10 11
जम्मू व काश्मीर	0 25
मध्य प्रदेश	29 15
महाराष्ट्र	53·47
मैसूर	8 07
राजस्थान	17 52
दिल्ली	0 68
हिमाचल प्रदेश	1 55

2 सहकारी खेती कांग्रेस के सन् 1959 ई० के अधिवेशन मे सहकारी कृषि सम्बन्धी प्रस्ताव पास किए गए थे। उत्तर प्रदेश, राजस्थान व महाराष्ट्र मे सहकारी खेती की दिशा मे उल्लेखनीय प्रगति हुई है तथा इन राज्यो मे सहकारी सलाहकार बोर्ड स्थापित किए गए है। जून 1969 तक 8143 सहकारी कृषि-समितियां स्थापित हो चुकी थी, जिनमे 2 19 लाख सदस्य थे और जिनके अन्तर्गत 4 25 लाख हैक्टर भूमि आ चुकी थी।

3 **भूमि प्रबन्ध मे सुधार** · प्रथम व द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ मे भूमि के कुशल प्रबन्ध पर बल दिया गया है। इसके अन्तर्गत बेकार पड़ी भूमि का उपयोग, उत्तम बीजो का प्रयोग तथा ऐसे कार्यक्रम सम्मिलित किए जाते है, जिनसे बीमारियो एव कीटाणुओ पर रोक लगाई जा सके। भूमि-प्रबन्ध मे सुधार से सम्बन्धित कार्यों की प्रगति धीमी रही है और अभी तक केवल दो राज्यो व राजीय क्षेत्रो मे ही इस सम्बन्ध मे कानून बने हैं।

4 **भू-दान आन्दोलन** · सन् 1951 ई० मे महात्मा गांधी के परम शिष्य आचार्य विनोबा भावे ने भूमि के असमान वितरण तथा सम्बन्धित अन्य समस्याओ के निदान के लिए भू-दान आन्दोलन प्रारम्भ किया था। यह आन्दोलन देश के लगभग 1 करोड से अधिक भूमिहीन किसान-परिवारो को बड़े भू-स्वामियो से दान मे भूमि प्राप्त करके भूमि दिलाने में ससार मे एक अद्वितीय मिसाल है। भू-दान के साथ-साथ ग्राम-दान भी प्रारम्भ हो चुका है। भू-दान व ग्राम-दान आन्दोलनो के पीछे भूमि के उचित वितरण का उद्देश्य है जो बजाय क्रांति के शांतिमय तरीको से सफल बनाया जायेगा। मार्च 1967 के अन्त तक कुल 42.7 लाख एकड भूमि भूदान मे मिली, जिसमे से 12 लाख एकड भूमि बाटी जा चुकी है। अगस्त 1967 तक 39,672 ग्राम ग्राम-

दान आन्दोलन के अन्तर्गत दान मिल चुके थे ।[1] सन् 1969 के बाद भूदान कार्यक्रम और अधिक तेजी से लागू किया गया है। इस समय भूमिहीन मजदूरों को मकान बनाने के लिए भी भूमि देने से सम्बन्धित कार्यक्रम भी अपनाए जा रहे हैं।

भूमि-सुधार कार्यों की प्रगति की समालोचना भारतवर्ष में भूमि-सुधार, सम्बन्धी किये गये अनेक कार्यों के फलस्वरूप मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति हो गई है। किसानों को भू-स्वामित्व प्राप्त हुआ है तथा उनकी जोतों को सुरक्षा प्राप्त हुई है। उनका लगान अब अपेक्षाकृत कम हो गया है। खेत जोतने वाला ही अब खेतों का मालिक भी है। साथ ही सीमा निर्धारण, चकबन्दी, सहकारी खेती आदि के क्षेत्र में भी उत्तरोत्तर प्रगति होती जा रही है, परन्तु यह बड़े दुःख की बात है कि इन तमाम सुधारों का क्रियान्वयन सन्तोषजनक नहीं रहा है। इनके क्रियान्वयन में कई दोष हैं जो निम्न हैं —

(i) भूमि-सुधार कार्यों के बीच समुचित समन्वय का अभाव पाया जाता है।

(ii) भूमि-सुधार नीति विलम्बपूर्ण रही है। मध्यस्थों के उन्मूलन में 10 वर्ष का समय लग जाना उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जमींदारों व जागीरदारों को कानून से बच निकलने का सुअवसर प्राप्त हो गया।

(iii) भूमि सुधारों के फलस्वरूप मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिला है, जिससे काफी समय व धन की बरबादी हुई है।

(iv) भूमि सुधार सम्बन्धी नीति देश के लिए काफी महंगी पड़ी, क्योंकि राज्य सरकार को कई सौ रुपए मुआवजे के रूप में देने पड़े।

(v) भूमि सुधार सम्बन्धी अधिनियमों में अलग-अलग राज्यों में भिन्नता पाई जाती है तथा इनमें अनेक दोष रह गये हैं। डा० डेनियल थोर्नर के अनुसार, "सच्ची बात तो यह है कि भारतवर्ष में भूमि सम्बन्धी कानून की कल्पना ही गलत ढंग से की गई है। विधान सभाओं में पेश किये गए विधेयकों में काफी कमियां थीं, फिर इन विधेयकों में अनेक घातक संशोधन करके उन्हें और भी कमजोर कर दिया गया।"[2]

(vi) भूमि सुधार सम्बन्धी नीति ने भू-स्वामियों में अनिश्चितता की भावना पैदा कर दी। फलस्वरूप कृषि विनियोग व उत्पादन कम हो गया।

(vii) राज्य, जिला, खण्ड और ग्राम स्तर पर सरकारी अधिकारियों का नकारात्मक रुख भूमि सुधारों के मार्ग में रोड़ा अटकाता है। राजस्व अधिकारी, खास कर पटवारी पट्टेदारों के प्रति उपेक्षा बरतते हैं।

---

1 India 1968 P 251

2 Dr Daniel Thorner, Land and Labour in India P 8

(viii) सार्वजनिक कानून 480 (P. L. 480) के अन्तर्गत अमेरिका से खाद्यान्नों की प्राप्ति हो जाने के फलस्वरूप, शासन तन्त्र भूमि-सुधारों को गम्भीरता-पूर्वक लागू करने की आवश्यकता ही नहीं अनुभव करता, जबकि कृषि-विकास के कार्यक्रमों को लागू करने की जिम्मेवारी विशेषत उन्ही पर है।

(ix) भूमि-सुधार की कल्पना और भूमि-सुधार नियम बनाने मे काफी समय लगता है और साथ ही साथ भूमि-सुधार नियम बनाने और लागू होने मे भी काफी समय लग जाता है।

(x) भूमि सुधारो की प्रगति के मूल्याकन के लिए समय समय पर विभिन्न राज्यो मे की गई जाचो से पता चला है कि भूमि-सुधार कानूनो का लाभ विस्तृत क्षेत्रों मे वास्तविक काश्तकार को बहुत कम मिल पाया है।

(xi) जमीदारी उन्मूलन कानून मे रही अपूर्णताओ के कारण बडे जमीदारों ने खुद काश्त की आड मे काफी भूमि स्वय रख ली है।

(xii) भूमि सुधार कानून मे काश्तकारो को प्राप्त सरक्षण के बावजूद भी देश के कुल कृषि क्षेत्र के काफी बडे भाग पर गैर कानूनी काश्तकारी (जैसे बटाई प्रथा) जारी है।

(xiii) अपूर्ण प्रलेखो के कारण काश्तकार अपने दावे सिद्ध करने मे अपने को असमर्थ पाते है, फलस्वरूप आज भी काश्तकारो की बेदखली जारी है।

(xiv) सामाजिक न्याय तथा भूमिहीन कृषि श्रमिको व छोटे किसानो की सहायता के लिए जोतो की उच्चतम सीमा के निर्धारण मे भी विलम्ब हुआ है। उच्चतम सीमा निर्धारण से कृषको को अभी तक कोई लाभ नही प्राप्त हो सका है। केरल, उडीसा व मैसूर मे तो सीमा लगाने का कार्य अभी तक शुरू भी नही किया गया है। राजस्थान व आन्ध्र मे ये कानून लागू तो हो गये है, पर अब तक अतिरिक्त भूमि विशेष परिणाम मे नही मिल सकी है। मध्य प्रदेश व असम मे प्राप्त भूमि वितरित की जा चुकी है पर यह बहुत कम है।

डा० बलजीत सिंह ने भूमि सुधार सम्बन्धी दोषो का वर्णन करते हुए लिखा है कि भूमि-सुधार कार्यो के अन्तर्गत भूमि वितरण की समस्या को अच्छी तरह से सुलझाने का प्रयास नही किया गया। भूमि को अब भी दूसरो से जुतवा कर लोग लाभ उठा रहे है। लगान भी किन्हीं प्रान्तो मे अधिक लिया जा रहा है।[2]

---

2 "Not only have the recent land reforms not touched the issue of land distribution but they have also failed in preventing sub-letting and rack-renting. Quite many of those who till the soil have no land rights whereas many of those who do not cultivate still own and possess land." *Prof. Baljit Singh*

सुझाव : भूमि-सुधारो के दोषो को दूर करने के लिए फोर्ड फाउन्डेशन के कृषि-उत्पादन-दल ने कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। ये सुझाव हैं : (1) भूमि-सुधारों के विषय में अनिश्चितता समाप्त की जाय, (2) कृषि-व्यवस्था मे लोच होनी चाहिए, ताकि रोजगारो मे वृद्धि के समय भूमि जोतो के आकार मे सरलता से संशोधन किया जा सके, (3) रोजगार के अन्य साधनों को भी खोजना चाहिए, (4) कृषको को भूमि-व्यवस्था में रुचि लेने के लिए प्रेरित किया जाय, (5) भूमि-संरक्षण की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए, तथा (6) अधिकतम जोत निर्धारित करने के साथ-साथ न्यूनतम प्रसाधनो को भी निश्चित कर देना चाहिए आदि।

भूमि-सुधार के उपर्युक्त सुझावो के अलावा भूमि प्रलेखो में भी संशोधन किया जाना चाहिए। इनमें सही व ताजा जानकारी का समावेश किया जाना चाहिए। जिन राज्यो के प्रलेखो मे त्रुटियां हैं, उन्ही राज्यो के भू-स्वामियो के भू-अधिकार सुरक्षित हैं। उन सभी राज्यो में जहां बटाईदार को काश्तकार नही माना गया है, बटाईदारों के नाम प्रलेखो में शामिल करके उन्हे काश्तकारो का स्तर प्रदान किया जाना चाहिए। रोजगार के वैकल्पिक साधनो के अभाव तथा बहुत से बटाईदारो के भू-स्वामियो की जोतें अनार्थिक होने के कारण बटाईदारो का एकदम भू-स्वामी बनना सभव नही है। ऐसी स्थिति मे बटाइदारों को बेदखली से बचाने के लिए भूमि पर खेती करने का मौसमी अधिकार दिया जाना चाहिए। बटाईदारो का लगान भी उपज का अंश न होकर नक्द होना चाहिए तथा लगान का निर्धारण राजस्व अधिकारियों द्वारा किया जाना चाहिये। लगान सम्बन्धी मामलो की सुनवाई दीवानी अदालतो के बजाय राजस्व अदालतो मे होनी चाहिए। 'खुद-काश्त' की परिभाषा भी संशोधित करके युक्तिसंगत बनाई जानी चाहिए। 1948 में पारित बम्बई काश्तकारी कानून मे दी गई खुद काश्त की परिभाषा को आदर्श माना जा सकता है।

भूमि-सुधार के अन्तर्गत राज्य सरकारो को चाहिए कि वे जोतो की सीमा नीची करने के लिए तत्काल कदम उठाए। किसी स्थिति मे भूमि की अधिकतम सीमा पारिवारिक जोत के तिगुने से ऊपर नही होनी चाहिए। इसके लिए प्रत्येक पंचायत में नागरिक समिति बननी चाहिए और भूमि-हदबन्दी के पक्ष मे जनमत तैयार करना चाहिए, क्योकि केवल सरकारी तंत्र से क्रांतिकारी भूमि सुधार कानून को लागू करना सम्भव नही है।

राजस्थान मे भूमि-सुधार सन् 1949 से पूर्व राजस्थान कई छोटी-छोटी रियासतो मे बटा हुआ था। हर राज्य के अपने-अपने नियम थे। सामान्यतः

लगभग 40 प्रतिशत कृषकों का राज्य से सीधा सम्बन्ध था। शेष 60% भूमि मध्यस्थों के पास थी जो एक ओर तो किसानों से काफी मालगुजारी वसूल करते थे और दूसरी ओर सरकारी कोष में बहुत कम जमा कराते थे। प्राय कुल उपज का 50% भाग मालगुजारी के रूप में वसूल किया जाता था, परन्तु राजस्थान राज्य बन जाने के पश्चात् यहां द्रुत गति से भूमि-सुधार कार्य किये गये।

सर्वप्रथम सन् 1949 में The Rajasthan (Projection of Tenants) Ordinance जारी किया गया। इसमें किसानों को बेदखली से बचाने की व्यवस्था की गई। सन् 1951 में Rajasthan Produce Rents Regulation Act पारित किया गया। इस अधिनियम में किसानों से कुल उपज के 1/6 भाग अधिक म अधिक माल-गुजारी के रूप में, लिये जाने की वैधानिक व्यवस्था की गई। लगान या मालगुजारी सम्बन्धी एक और अधिनियम सन् 1954 में पारित किया गया। इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि मध्यस्थ किसानों से निर्धारित लगान के दूने भाग से अधिक लगान नहीं ले सकेंगे।

सन् 1955 ई० में राजस्थान काश्तकारी कानून (Rajasthan Tenancy Act 1955) पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा काश्तकारों व उप-काश्तकारों को भूमि सम्बन्धी अधिकार प्रदान किया गया। अब खातेदार किसान भूमि को बेच सकते थे तथा गिरवी रख सकते थे। इस अधिनियम के अन्तर्गत किसानों व कृषि श्रमिकों को गाव में नि शुल्क भूमि मकान आदि बनाने के लिए दी जा सकती थी। बेगार प्रथा को भी समाप्त कर दिया गया था।

सन् 1959 ई० में जमींदारी व बिस्वेदारी उन्मूलन एक्ट (Rajasthan Zamidari and Biswedari Act, 1959) पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा राजस्थान में जमींदारी व बिस्वेदारी की प्रथा को हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त कर दिया गया। लगभग 3, 24,587 जमींदार जमींदारी से मुक्त कर दिए गए तथा उन्हें लगभग 8 करोड मुआवजे देने की व्यवस्था की गई। जागीरदारी को समाप्त करने से सम्बन्धित अधिनियम सन् 1952 ई० में ही पास किये जा चुके थे, लेकिन कुछ वैधानिक कठिनाइयों के कारण इन्हें देर से लागू किया जा सका। जागीरदारों को लगभग 44 करोड रुपये की राशि मुआवजे के रूप में दी गई।

राजस्थान में चकबन्दी के सम्बन्ध में भी अधिनियम पारित किया जा चुका है तथा अब तक 20 लाख एकड भूमि की चकबन्दी की जा चुकी है। भूमि की सीमा-निर्धारण के सम्बन्ध में भी सन् 1960 ई० में अधिनियम पारित किया

जा चुका है तथा संशोधन सहित अब ये नियम लागू किये जा चुके हैं। इन अधिनियमों के अनुसार राजस्थान में एक कृषक परिवार 22 से 336 साधारण एकड़ भूमि से अधिक नहीं रख सकेगा।

मूल्यांकन इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भूमि-सुधारों की दिशा में राजस्थान में काफी काम किया गया है। अब राजस्थान से जागीरदार, जमींदारी एवं बिस्वेदारी सभी प्रथायें समाप्त हो चुकी हैं और लगभग 90% से भी अधिक किसानों को भू-अधिकार प्राप्त हैं। परन्तु भूमि-सुधार कार्यक्रम में कुछ त्रुटियां भी हैं जिनकी ओर योजना आयोग की शाध-कार्यक्रम समिति ने ध्यान दिलाया है। इस समिति के अनुसार राजस्थान में भमिकर तथा भू-राजस्व का ढांचा वैज्ञानिक नहीं है तथा भूमि कानून जटिल तथा भ्रामक है। समिति ने सुझाव दिया है कि किसानों की सुविधा के लिए सम्बन्धित कानून हिन्दी में प्रकाशित किये जाने चाहिए। समिति ने अपनी सर्वेक्षण रिपोर्ट में भूमि विषयक अधिनियमों को सरल बनाने, भू राजस्व की दरों में संशोधन करने तथा कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने की भी सिफारिश की है। आशा है कि इन सुझावों को दृष्टिगत रखते हुए राज्य सरकार भूमि-सुधार क्षेत्र में आवश्यक सुधार करेगी। राज्य सरकार ने भूमि-सुधार सम्बन्धी नीति को गम्भीरतापूर्वक लागू करने का जो विचार किया है, इससे यह विश्वास किया जा सकता है कि निकट भविष्य में भूमि सुधार के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति होगी।

संक्षेप में राजस्थान में जागीरें वापिस ले ली गई हैं और जमींदारी तथा बिस्वेदारी पट्टे समाप्त कर दिए गए हैं। भूतपूर्व शासकों के स्टेटों का अधिग्रहण करने के लिए कानून बनाया जा चुका है। प्रत्येक रैयत को वार्षिक 1200 रु० की न्यूनतम आय वाले क्षेत्र के पट्टे की पूर्ण सुरक्षा प्राप्त है और उसे स्वामित्व का अधिकार भी है। जोत की सीमाएं 22 से 336 एकड़ तक निश्चित हैं। अतिरिक्त भूमि के अधिग्रहण के लिए कार्यवाही अभी की जानी है।

निष्कर्ष इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भूमि-सुधार कार्यक्रम बड़े ही उत्साह के साथ प्रारम्भ किए गये हैं। विभिन्न राज्यों से जमींदारी, जागीरदारी या अन्य मध्यस्थों का उन्मूलन इस दिशा में क्रांतिकारी पग रहा है। लेकिन भूमि सुधार कानूनों में अब भी कई त्रुटियां हैं। कानून बनाने और उन्हें क्रियान्वित करने में बहुत विलम्ब हुआ है। देश के कई भागों में अब भी बहुत सी भूमि पर खेती बटाई पद्धति पर की जाती है। ऐच्छिक परित्याग के नाम पर अब भी काश्तकारों की बेदखली होती है। उचित लगान सम्बन्धी धाराओं को

भी प्रभावशाली ढग से लागू नही किया गया है। भूमिहीन एवं छोटे किसानो के पास आज भी कृषि-कार्य के लिए भूमि उपलब्ध नही है। इन सबके बावजूद भी हम यह नही कह सकते कि भूमि-सुधार की दिशा मे कोई कार्य नही हुआ है। कार्य अवश्य हुआ है, लेकिन उसकी गति धीमी रही है। इस सन्दर्भ मे प्रो० दान्तवाला का यह कथन बडा ही उपयुक्त है, "भूमि-सुधार के लिए उठाए गए अब तक के कदम निश्चय ही सतोषजनक है, किन्तु इन्हे उचित रूप मे लागू करने के अभाव मे इनका परिणाम सतोषजनक नही हो पाया है।"[1]

भूमि-सुधार कार्यक्रमो को और अधिक प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार देश की सभी राज्य सरकारो से कहा है कि वे भूमि-सुधार अधिनियमो की त्रुटियो को दूर करे तथा भूमि-सुधार कार्यक्रमो को प्रभावशाली ढग से लागू करें, ताकि देश के बहुसख्यक किसानो का कल्याण हो तथा कृषि उत्पादन बढाया जा सके।

प्रश्न

1 स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत मे सम्पन्न भूमि-सुधार के प्रमुख लक्षणो का वर्णन कीजिए। (राज० टी० डी० सी० प्रथम वर्ष कला 1967)

2 टिप्पणी लिखिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत मे भूमि-सुधार। (राज० टी० डी० सी० प्रथम वर्ष कला 1966)

3 स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत मे सम्पन्न भूमि-सुधार के प्रमुख लक्षणो का वर्णन कीजिए। इस सम्बन्ध मे राजस्थान का विशेष उल्लेख कीजिए। (राज० टी० डी० सी० प्रथम वर्ष कला 1965)

4 राजस्थान मे भूमि-सुधार की प्रगति से आप कहा तक सतुष्ट है? कृषको के सतोष के लिए और अधिक क्या करना चाहिए? (राज० टी० डी० सी० तृतीय वर्ष कला 1965)

5 कृषि अर्थ-व्यवस्था मे भूमि-सुधार का क्या महत्व है। राजस्थान मे हुये भूमि-सुधार पर विशेष प्रकाश डालते हुए, भारत मे आज तक हुए भूमि-सुधार का वर्णन कीजिए। (राज० टी० डी० सी० तृतीय वर्ष कला 1967)

---

1 "By and large, land reforms in India enacted so far and those contemplated in the near future . . . are in the right direction and yet due to lack of implementation, the actual results are far from satisfactory."

Prof. Dantwala

6 स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरात राजस्थान में जो भूमि-सुधार किए गए है, उनकी विवेचना कीजिए। अपने उद्देश्यो को पूरा करने में ये कहा तक सफल हुए है? इस सदर्भ मे राज्य मे भूमि की जोतो पर जो अधिकतम जोत अधिनियम लागू किया गया है, उसकी विवेचना कीजिए। (राज० बी० ए० आनर्स 1967)

7 अपने देश म जमीदारी उन्मूलन से ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था किस प्रकार प्रभावित हुई है? (राज० टी० डी० सी० प्रथम कला 1967)

8 सहकारी कृषि से क्या अर्थ है? भारत मे इसके महत्व तथा प्रगति का उल्लेख कीजिए। (राज० टी० डी० सी० प्रथम वर्ष कला 1965)

9 State clearly the directions in which land reforms have been introduced in our country and examine their results

(Raj B A Honours, 1966)

13

खाद्यान्नों की उत्पत्ति एवं खाद्य नीति

(Production and Food Policy)

'It is amazing how at the present moment in India, the vital basic importance of agricultural production, and more especially Food Production, is the one firm thing on which every thing has to rest. When I come back to this the whole success and failure of our Planning hangs by that single thread of our agricultural production and especially food production.'

Pt Jawahar Lal Nehru

भोजन मानव की सर्वप्रथम सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। जिस देश मे खाद्यानों का अभाव होता है, वह देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ माना जाता है। जिस देश की सरकार अपनी जनता को पेट भर भोजन नहीं दे सकती, वह सरकार अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। वह देश कभी भी सम्मानपूर्वक अपना सिर उठा कर नहीं चल सकता, जिसे भोजन के लिए दूसरे देशों का मुंह ताकना पड़े। दुर्भाग्यवश, भारत कृषि प्रधान देश होने के बावजूद भी खाद्यानों के मामले मे आत्मनिर्भर नहीं है। हमे अपने देश के लोगों को खाद्य सामग्री दिलाने के लिए प्रति वर्ष करोड़ो रुपयो का खाद्यान्न विदेशों से मगाना पड़ता है। निश्चय ही यह लज्जाजनक बात है कि देश की लगभग दो-तिहाई श्रम-शक्ति कृषि उपज मे लगी हुई है, फिर भी हमारे देश मे पर्याप्त खाद्यान पैदा नहीं होता। विलियम टी टर्नर ने ठीक ही कहा है

"प्रजातन्त्र के जीवित रहने के लिए पर्याप्त खाद्यान्न की पूर्ति होना आवश्यक है, क्योंकि अन्य स्वतन्त्रताओं का उपभोग करने के लिए भूख से स्वतन्त्रता पाना परमावश्यक है।"

भारत मे खाद्य समस्या केवल खाद्यान्नो के अभाव की ही समस्या नहीं है, वरन बड़ी विकट समस्या है तथा इस पर भारत का भविष्य निर्भर करता है। भूख मनुष्य की एक ऐसी मूलभूत आवश्यकता है जिसकी पूर्ति किसी भी मूल्य पर होना आवश्यक

है। "पर्याप्त एवं पोष्टिक भोजन के अभाव में भारत की विशाल जनसंख्या के कल्याण का आदर्श उनके लिए सामाजिक न्याय प्राप्त करना तथा जनतन्त्रात्मक समाजवाद की स्थापना करना बिल्कुल असम्भव है।"[1] प्रो० दन्तवाला ने ठीक ही कहा है, "मेरा यह निश्चित विचार है, कि हम एक संकट का सामना नहीं करता है, अपितु एक दीर्घकालीन रोग का उपचार करना है।[2]

खाद्य समस्या का स्वरूप

भारतवर्ष में खाद्य-समस्या के स्वरूप को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रख कर अध्ययन किया जा सकता है

1 खाद्यान्नों की मात्रा में कमी भारतवर्ष की कुल जनसंख्या के लगभग एक तिहाई भाग को पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। डॉ राधाकमल मुखर्जी के मतानुसार भारत में अनाज की कमी होती जा रही है। इस कमी को पूरा करने के लिए हम हर वर्ष खाद्यान्नों का विदेशों से आयात करना पड़ता है। सन् 1947 से सन् 1961 ई० तक भारत ने औसतन प्रति वर्ष 30 लाख टन खाद्यान्नों का आयात किया है। एक अनुमान के अनुसार यदि देश के समस्त लोगों को पर्याप्त भोजन दिया जाय तो लगभग प्रति वर्ष 75 लाख टन खाद्यान्नों की अतिरिक्त मात्रा की आवश्यकता होती है। जिसे विदेशों से मगाकर पूरा किया जाता है। इसम 60 लाख टन अन्न की और शेष 15 लाख टन दालों की कमी होती है। सन् 1966 व 1971 में खाद्यान्नों का आयात क्रमश 1 करोड़ 4 लाख टन व 87 लाख टन हुआ। ये दोनों वर्ष सूखे के वर्ष थे। सन् 1968 से पैदावार में वृद्धि होने के कारण आयात में कमी हुई। सन 1968, 1969, 1970 व 1971 में क्रमश 57, 39, 36 व 21 लाख टन खाद्यान्नों का आयात किया गया।

2 खाद्यान्नों के मूल्यों में उत्तरोत्तर वृद्धि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सन् 1955-56 से खाद्यान्नों के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि हुई है। प्रथम योजना काल में खाद्यान्नों के मूल्य में वृद्धि की अपेक्षा कमी रही। थोक मूल्यों के सूचकांकों का आधार वर्ष 1952 53 को मानकर हम देखते हैं कि मार्च 1951 के अन्त में खाद्यान्नों के थोक मूल्यों का सूचनांक 100 था, जो मार्च 1955 के अन्त तक केवल 70 रह गया था। जुलाई 1955 के बाद से खाद्यान्नों के मूल्य में जो वृद्धि होनी प्रारम्भ हुई, वह निरन्तर बढ़ती चली गई। मार्च 1956 के अन्त में सूचनांक 86

1 Without enough food, India's hope for improving her welfare achieving social justice and securing democracy will become almost impossible of attainment

Ford Foundation Team

2 M. L. Dantwala India's Food Problem (1961) p 1

हो गया दूसरी योजना की अवधि मे (1956-61) मे खाद्यान्नो के मूल्य मे 38 प्रतिशत की वृद्धि हुई। तृतीय योजना काल मे अनाज के भाव ड्योढे से भी अधिक हो गए। थोक मूल्यों के सूचनांकों का आधार वर्ष 1961 62, मानने पर 1967-68 व 1968-69 मे अनाज के सूचनांक क्रमश. 228 व 201 रहे। 1970-71 मे मे यह 207 हो गया। इस प्रकार 1961-62 से 1970-71 के वर्षों में खाद्यान्नो के भावो मे दुगनी से भी अधिक वृद्धि हुई।[1]

खाद्यान्नो के मूल्य मे जिस अनुपात मे वृद्धि हुई है, प्रति व्यक्ति आय मे इसी अनुपात मे वृद्धि नही हुई, फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के पास खाद्यान्न खरीदने के लिए क्रय-शक्ति की कमी हो गई।

3 भोजन में पौष्टिक तत्वो का अभाव भारत के निवासियो को प्रतिदिन 3000 कैलोरीज की आवश्यकता है, किन्तु उसे केवल 2200 कैलोरीज ही उपभोग के लिए मिल पाती है। सन् 1940 मे सर जॉन मेगा (Sir John Megaw) ने अनुमान लगाया था कि भारत मे केवल 39% लोगो को उपर्युक्त भोजन प्राप्त होता है, 41% लोगों को निम्न कोटि का और 20% लोगो को अत्यन्त न्यून कोटि का भोजन प्राप्त होता है। इस सबका असर यह होता है कि भारतीयों को पौष्टिक भोजन नही मिलता, फलस्वरूप वे प्राय रोगग्रस्त रहते है और देश मे मृत्यु-दर भी अधिक है। भारत के प्रत्येक व्यक्ति के लिए सतुलित आहार की व्यवस्था करने के लिए हमे दालो के उत्पादन मे 28 5%, सब्जियो मे 65 3% फलो मे 55 9%, दूध मे 54 9%, तिलहन मे 72 3%, घी मे 100% तथा अडो मे 93 1% की वृद्धि करनी होगी।

4 खाद्यान्न वितरण व्यवस्था का दोषपूर्ण होना परिवहन के साधनो का विकास देश के सभी क्षेत्रो मे नही हुआ है। अत कई क्षेत्र अब भी देश मे ऐसे है, जहा समय पर खाद्यान्न परिवहन के साधनो के अभाव के कारण, नही पहुँच पाता। यही नही मूल्य नियन्त्रण भी प्रभावशाली नही है, फलस्वरूप घूस-खोर और चोर बाजारिये मनमानी भावो पर खाद्यान्न बेचते है। इस प्रकार यदि देश मे अनाज उपलब्ध भी हो तो वह जन-साधारण को उचित मूल्य पर नही मिल पाता, अत भारत मे खाद्यान्न की समस्या केवल उत्पादन की ही नही है अपितु सुव्यवस्थित वितरण के अभाव की भी है।

5 निर्धन जनसख्या के लिए खाद्य-सामग्री की व्यवस्था भारत के निवासी इतने अधिक निर्धन है कि ये अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक खाद्यान्न भी नही खरीद पाते। अत उन्हें केवल खाद्यान्न ही नहीं दिलाना आवश्यक है, वरन् सस्ती दर से दिलाना जरूरी है, अन्यथा वे भूख से पीडित रह जायेंगे। इस प्रकार भारत

1 Economic Survey 1971 72 pp 118-119

की वर्तमान खाद्य समस्या का एक प्रमुख कारण सामान्य जनता में यथोचित क्रय-शक्ति का अभाव है।

भारत में खाद्यान्नों का उत्पादन
(Food Production in India)

भारत वर्ष में खाद्यान्नों का उत्पादन इसकी माग की तुलना में बहुत कम है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भी भारत में उतना खाद्यान्न नहीं पैदा होता था जितनी इसकी माग थी फिर भी ब्रिटिश सरकार ने खाद्यान्नों के अभाव को मुक्त रूप से स्वीकार नहीं किया। 19वीं शताब्दी में भी खाद्यान्नों का उत्पादन आवश्यकता से कम था। सन 1873 से 1908 के बीच खाद्यान्नों के फुटकर मूल्य में, अभाव के कारण ही खाद्यान्नों के मूल्य में ढाई गुने से भी अधिक वृद्धि हुई थी।

बीसवीं शताब्दी में खाद्यान्नों का अभाव सर्वप्रथम 1921 में गम्भीरता से महसूस किया गया जबकि हमारे देश में खाद्यान्नों का आयात, निर्यात से बढ गया। सन् 1936 में बर्मा के भारत से अलग हो जाने से चावल उत्पादन क्षेत्र में कमी आ गई और खाद्यान्नों का उत्पादन 13 लाख टन से घट गया। सन 1947 में देश के विभाजन के परिणाम स्वरूप 77 लाख टन से खाद्यान्नों की कमी हो गई। विभाजन के फलस्वरूप भारत में जनसख्या तो 82 प्रतिशत रह गई जबकि चावल, व गेहूं के अन्तर्गत बोई जाने वाली भूमि का भाग क्रमश केवल 68 व 65 प्रतिशत ही रह गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से अब तक देश में खाद्यान्नों का उत्पादन इतना नहीं हो पाया है कि हम इनके आयातों से मुक्ति पा सकें।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात देश में खाद्यान्नों के उत्पादन में प्राय उतार-चढाव आते रहे हैं। सन 1950-51 में खाद्यान्नों का उत्पादन लगभग पाच करोड 51 लाख टन हुआ जो प्रथम योजना के अन्त म 6 करोड 92 लाख टन तक पहुच गया। द्वितीय योजना के अन्त में यह 8 करोड 22 लाख टन हो गया। तृतीय योजना के अन्त में सूखा एव अकाल की स्थिति के कारण खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी हुई और उत्पादन घटकर 7 करोड 24 लाख टन रह गया। सन 1967-68 के बाद से खाद्यान्नों के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होती रही है। नियोजन काल में खाद्यान्नों के उत्पादन से सम्बन्धित आकड़ों का यदि विश्लेषण किया जाय तो विदित होगा कि 1964-65, 1967 68, 1969-1970 तथा 1970-71 के वर्ष खाद्यान्नों के उत्पादन की दृष्टि से सतोषजनक रहे हैं, जैसा कि अगले पृष्ठ पर दिये गये आँकड़ों से ज्ञात होता है :

के बाद मे तो कभी समय के पहले हो जाती है। कभी वर्षा आवश्यकता से कम तो कभी ज्यादा होती है। इस सबका असर यह होता है कि अन्नोत्पादन कभी आवश्यकतानुरूप नही होता और खाद्यान्नों की कमी हो जाती है।

3 दैवी प्रकोपो की बहुलता भारत की कृषि पर सदैव प्रकृति का प्रकोप छाया रहता है। प्रतिवर्ष लाखो टन खाद्यान्न बाढ, भूकम्प, आधी, ओले या अत्यधिक वर्षा से नष्ट हो जाता है। कभी कभी टिड्डी दलो के हमलो के कारण भी बहुत सा अनाज नष्ट हो जाता है।

4 देश का विभाजन बर्मा व पाकिस्तान के अलग हो जाने के परिणामस्वरूप देश के चावल व गेहू पैदा करने वाले काफी क्षेत्र इन देशो म चले गये। 1947 मे देश के विभाजन से भारत अनाजो के आधीन भूमि का क्षेत्रफल केवल 75%, चावल उपजाने का क्षेत्र 68%, गेहू उपजाने का क्षेत्र 65% तथा सिंचाई का क्षेत्र केवल 69% ही रह गया जबकि जनसंख्या 82% देश मे रह गई। यही नही, बहुत बडी संख्या मे शरणार्थियो के आ जाने के कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ गया, जिससे खाद्यान्नो की कमी महसूस होने लगी। इस प्रकार विभाजन के फलस्वरूप देश मे खाद्यान्न की कमी मे वृद्धि हो गई और देश को खाद्यान्नो के आयात के लिए विवश होना पडा।

5 प्रति एकड कम उपज भारतीय कृषि पिछडी होने के कारण प्रति एकड उत्पादन अन्य देशो की तुलना मे बहुत कम है। भारत मे कृषि की जाने वाली कुल भूमि के प्राय 80 प्रतिशत भाग मे खाद्यान्नो की खेती होती है, फिर भी खाद्य फसलो की प्रति एकड कम उपज के कारण देश म यथोचित मात्रा मे खाद्यान्न का उत्पादन नही हो पाता फलस्वरूप देश मे खाद्य सकट की स्थिति बनी रहती है।

6 फसलो के स्वरूप में परिवर्तन भारत मे किसानो का दृष्टिकोण व्यवसायिक होता जा रहा है। मूल्यो मे उतार चढाव को ध्यान म रख कर किसान वही फसल बोता है जो उसे अपेक्षाकृत अधिक लाभ दे। फलस्वरूप अब खाद्यान्न फसलो गेहू जौ चना मटर आदि के स्थान पर वह व्यापारिक वस्तुए, यथा कपास, जूट तिलहन गन्ना आदि पैदा करता है, जिसके परिणामस्वरूप देश मे खाद्यान्नो का अभाव हो गया है।

7 दूषित वितरण व्यवस्था भारत मे खाद्यान्नो का वितरण प्राय व्यापारी वर्ग के माध्यम से होता है। ये लोग अपने लाभ को बढाने के लिए अनाज सग्रह कर लेते है और बाजार मे कृत्रिम कमी उत्पन्न कर मुनाफाखोरी करते है जिससे खाद्यान्नो की पूर्ति कम रह जाती है। सरकार द्वारा खाद्यान्नो के वितरण की प्रणाली भी बडी शिथिल है। कभी कभी तो यहा तक होता है कि सरकार के पास अन्न के पर्याप्त

भण्डार होने के बावजूद भी उनको उपभोक्ताओं तक ठीक समय पर नहीं पहुँचाया जाता।

8 किसानों के उपभोगस्तर में वृद्धि व्यापारिक फसलें बोने के कारण कृषकों को अब अपेक्षाकृत अधिक पैसे मिलने लगे हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनका उपभोग स्तर बढ़ गया है। इस प्रकार एक ओर तो वे अधिक खाद्यान्नों का उपभोग करने लगे हैं और दूसरी ओर उनके द्वारा खाद्यान्नों की उपज कम हो गई है, फलस्वरूप खाद्यान्नों का अभाव पाया जाता है।

9 अन्न की बरबादी भारत में एक ओर यदि लोगों को खाने को पर्याप्त भोजन नहीं मिलता तो दूसरी ओर सम्पन्न लोगों द्वारा बड़ी बड़ी दावतों और भोजों में अन्न की बरबादी होती है। अन्ध विश्वास के कारण लोग कीड़ों, चूहों, बन्दरों व अन्य जीव-जन्तुओं के मारने के विरोधी हैं। फलस्वरूप ये पशु पक्षी खाद्यान्नों के एक बहुत बड़ा भाग का सफाया कर जाते हैं। सेन्ट्रल फूड टक्नोलोजिक रिसर्च इन्स्टीटयूट Central Food Technological Research Institute) के अनुसार देश के कुल खाद्य उत्पादन का 10 प्रतिशत भाग, जिसका मूल्य लगभग 4,600 करोड़ रुपये होगा कीड़ों, कुतर कर खाने वाले जानवरों तथा दोषपूर्ण संग्रह-व्यवस्था के कारण नष्ट हो जाता है।[1]

10 उपभोग-सम्बन्धी आदतों में परिवर्तन डा० राधाकमल मुखर्जी के मतानुसार उपभोग सम्बन्धी आदतों में परिवर्तन भी खाद्यान्नों के अभाव के लिए उत्तरदायी है। एक ओर तो किसानों में पौष्टिक खाद्यान्नों के स्थान पर घटिया खाद्यान्नों के उत्पादन की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है दूसरी ओर बढ़िया खाद्यान्नों का उपभोग बढ़ रहा है, जिससे खाद्यान्नों की कमी महसूस होती है।

11 जनता की निर्धनता भारतवर्ष की अधिकांश जनसंख्या निर्धन है। निर्धनता के कारण जन साधारण गेहूँ, चावल तथा अन्य पौष्टिक खाद्यान्न खरीदने की स्थिति में नहीं है। जब देश में खाद्यान्नों के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है, तो निर्धन लोग महँगाई के फलस्वरूप यथोचित मात्रा में खाद्यान्न नहीं खरीद पाते और उनके लिए खाद्य समस्या अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार कभी-कभी देश में खाद्यान्नों के होने के बावजूद भी खाद्य-समस्या उपस्थित हो जाती है। सन् 1943 का बंगाल का भीषण अकाल इसका ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है।

1 *Statesman, Dec 10, 1965*

12. समस्या के प्रति उदासीन दृष्टिकोण. थियोडोर शुल्जी एवं एडवर्ड मैमन ने भारत की खाद्य समस्या का एक कारण यह भी बतलाया है कि सन् 1964-65 तक भारत सरकार एवं जनता ने इस समस्या को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया। चूंकि भारत को पी. एल. 480 के अन्तर्गत अमरीकी अनाज सरलता से मिलता रहा है फलस्वरूप यहां कभी भी स्वावलम्बन की दिशा में बढ़ने के लिए ईमानदारी से प्रयास नहीं किए गए।

खाद्य समस्या को हल करने के सुझाव

भारत की खाद्य समस्या कोई साधारण संकट नहीं है, अपितु एक पुरानी बीमारी है। प्रो. दान्तवाला ने ठीक ही कहा है, "हमें एक संकट को नहीं, अपितु पुरातन रोग को ठीक करना है और इसके उपचार सामान्य हैं, असामान्य नहीं।"[1]

भारत जैसी विकासशील अर्थ-व्यवस्था में, जिसमें जनसंख्या और आय के बढ़ने के कारण खाद्यान्नों की मांग में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है, एक उपयुक्त राष्ट्रीय खाद्य नीति की आवश्यकता है जिसके प्रमुख उद्देश्य होने चाहिए, (i) खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना (ii) खाद्यान्नों का न्याय-पूर्ण वितरण, तथा (iii) खाद्यान्नों के मूल्य को उचित स्तर पर स्थिर रखना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं

1 उत्पादन में वृद्धि भारत में खाद्यान्नों की उत्पत्ति में वृद्धि किये बिना खाद्य समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता। अतः सिंचाई की सुविधायें बढ़ाना, उत्तम बीज व खाद की व्यवस्था करना, चकबन्दी व गहरी खेती को अपनाना आदि ऐसे तरीके हैं जिनसे कृषि उपज में वृद्धि हो सकती है। श्री बर्न्स के अनुसार वैज्ञानिक तरीकों के प्रयोग द्वारा भारतीय कृषि उपज में सामान्यतः 20 से 30 प्रतिशत तक वृद्धि की जा सकती है 20% उचित खाद के प्रयोग द्वारा, 5% उत्तम बीजों के प्रयोग द्वारा तथा 5% कीड़े-मकोड़ों से फसलों की रक्षा के द्वारा।[2]

2 खेती के क्षेत्र का विस्तार बंजर, दलदल भूमि, तराई की भूमि आदि को खेती के योग्य बनाकर खेती के क्षेत्र का विस्तार किया जाना चाहिए। भूमि सम्बन्धी उपलब्ध आकड़ों के अनुसार देश में 600 लाख एकड़ कृषि योग्य भूमि बेकार है जिसका उद्धार कर कृषि-योग्य बनाया जा सकता है। ऐसी भूमि के उपयोग से देश की खाद्य समस्या का कुछ हद तक समाधान किया जा सकता है।

---

1. "What we have to cure is not a crisis but a chronic malady and the remedies for it are of a routine nature rather than of spectacular nature"
—*Prof. M L Dantwala*

2. Burn Technical Possibilities of Agricultural Development in India.

3 **जनसंख्या नियंत्रण** जनसंख्या पर रोक लगाये बिना इस समस्या का निराकरण सम्भव नहीं है क्योंकि जनसंख्या और खाद्य-सामग्री यदि अपनी वर्तमान गति से बढ़े, तो जनसंख्या खाद्य सामग्री से काफी आगे बढ़ जायेगी। अतः 'Grow more Food' के साथ-साथ 'Grow less Children' आन्दोलन भी चलाया जाना चाहिए।

4 **उपभोग की आदतों में सुधार** भारतीय अपने भोजन में मुख्यतः अन्न का ही उपभोग करते हैं। उन्हें अन्न का उपभोग कम करना चाहिए और फल, शाक-सब्जी, दाल, मांस-मछली का उपभोग उत्तरोत्तर बढ़ाना चाहिए।

5 **वितरण व्यवस्था में सुधार** सरकार को खाद्यान्न वितरण की व्यवस्था ऐसी बनानी चाहिए जो भ्रष्टाचार, चोर-बाजारी व लाल फीताशाही से मुक्त हो और लोगों को उचित मूल्य पर खाद्यान्न प्राप्त हो सके। सरकार का उचित दर वाली सरकारी दुकानों पर अनाज बेचने की व्यवस्था करनी चाहिए।

6 **देश का औद्योगीकरण** इससे भूमि पर जनसंख्या का दबाव कम पड़ेगा। कृषि की उत्पादकता बढ़ेगी उद्योगों के विकास से राष्ट्रीय आय भी बढ़ेगी। उस समय विदेशों से भी अनाज मंगाना अनुपयुक्त होगा।

7 **खाद्यान्नों के मूल्य की गारन्टी** इससे किसानों को अपनी फसल का उचित मूल्य मिल जायेगा फलस्वरूप वह उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहेगा।

8 **कृषि प्रशासन में सुधार** प्रशासनिक लाल फीताशाही को दूर करना, अनुसंधान, फसल निर्धारण कृषि ऋण एवं अनुदान व्यवस्था में सुधार करना, तथा राज्य के कृषि कर्मचारियों को सक्रिय बनाना परमावश्यक है, अन्यथा कृषि में सुधार नहीं हो सकेगा और न ही उत्पादन में वृद्धि होगी।

9 **ग्रामीण उद्योगों को बढ़ावा देना** किसानों में फैली बेकारी और अर्द्ध-बेकारी को दूर करने के लिए कुटीर एवं लघु उद्योगों का पुनर्गठन किया जाना चाहिए। इससे दो लाभ होंगे। एक तो जनसंख्या का भूमि पर दबाव कम हो जायेगा और दूसरे किसानों की आमदनी बढ़ जायेगी, जिसे वे उत्पादन बढ़ाने में प्रयुक्त कर सकेंगे।

10 **सामुदायिक योजनाओं द्वारा प्रयत्न** सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा अपने प्रयत्नों में तेजी लाकर खाद्य-समस्या को सुलझाया जा सकता है। सामुदायिक विकास खण्डों के कार्यकर्त्ता किसानों को नई कृषि विधियों की शिक्षा देकर एवं अन्य प्रकार की व्यावहारिक सुविधाएं देकर कृषि उपज बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

11. उचित भण्डार-व्यवस्था : सरकार देश के कुल खाद्यान्न उत्पादन एवं उपभोग के अनुमानों के आधार पर मात्रा में जितनी अधिक खाद्यान्नों की आवश्यकता हो, उसे आयात करके अपने भण्डार पहले से ही भर ले, ताकि संकटकाल में इन्हीं भण्डारों से खाद्यान्नों की पूर्ति की जा सके।

12. राज्यों में सहयोग की भावना का विकास : इस समस्या के निदान के लिए देश के सभी राज्यों को मिल कर प्रभावशाली कदम उठाने चाहिए। अतिरेक वाले राज्यों की सरकारें अपने दायित्व को समझें तथा राजनीतिक एवं क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति के लिए अभावग्रस्त राज्यों से असहयोग न करें।

13 अन्य सुझाव : उपरोक्त सुझावों के अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य सुझावों की ओर भी ध्यान देने से समस्या सुलझ सकती है, यथा—(1) पंचायत समितियों की स्थापना एवं उत्पादन बढ़ाने का उत्तरदायित्व उनके कन्धों पर डालना, (2) कृषि सहकारी समितियों का विकास करना, (3) बड़ी योजनाओं के अलावा छोटी व मध्यम आकार की सिंचाई योजनाओं का निर्माण करना, (4) भूमि-व्यवस्था के साथ खिलवाड़ करने के बजाय, भूमि-सुधार सम्बन्धी कानूनों को कार्यान्वित करना, (5) गाय, भैंस, मुर्गियों आदि को अधिकाधिक संख्या में पाल कर भोजन में पौष्टिक तत्वों की वृद्धि करना, (6) सरकार द्वारा खाद्यान्न की जमाखोरी व सट्टेबाजी को रोकने के लिए प्रभावशाली कदम उठाना, (7) खाद्यान्नों के मूल्यों में वृद्धि न होने देने के लिए सरकार द्वारा पर्याप्त 'बफर स्टाक' का निर्माण किया, तथा (8) सरकार द्वारा राष्ट्रीय खाद्य बजट (National Food Budget) का निर्माण आदि।

खाद्य-समस्या को हल करने के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न :

1. खाद्यान्नों के मूल्यों पर नियन्त्रण : जब खाद्यान्न स्थिति खराब होने लगती है, तब सरकार उचित वितरण के उद्देश्य से खाद्यान्नों के मूल्य पर नियन्त्रण लगा देती है। भारत में सन् 1942 ई० में पहली बार इस प्रकार का नियन्त्रण लगाया गया था, परन्तु सन् 1947 ई० में गांधीजी के अनुरोध पर हटा लिया गया था। इसे सन् 1948 में पुनः लागू किया गया। आज भी किसी न किसी रूप में मूल्य-नियन्त्रण या राशनिंग व्यवस्था लागू है।

2. अधिक अन्न-उपजाओ-आन्दोलन : यह आन्दोलन भी सन् 1942 ई० में प्रारम्भ किया गया था, परन्तु उस समय यह सफल नहीं हुआ था। स्वतन्त्रता के बाद इसे नया रूप दिया गया तथा प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास कार्यक्रम से मिला दिया गया।

3. खाद्य स्वावलम्बन आन्दोलन : सन् 1947 ई० में एक खाद्य स्वावलम्बी आन्दोलन चालू किया गया था। श्री के. एम. मुन्शी ने इस आन्दोलन को सफल

बनाने के लिए कई सुझाव दिये। सन् 1952 ई० तक इस आन्दोलन के द्वारा देश को खाद्यान्नो के मामले मे स्वावलम्बी बनाने का लक्ष्य रखा गया था, जो पूरा न हो सका।

4 **खाद्यान्नो के निर्यात पर रोक** केन्द्रीय सरकार ने बगाल के अकाल के पश्चात् खाद्यान्नो के निर्यात पर रोक लगा दी है। खाद्यान्नो के निर्यात न होने से देश के लिए खाद्यान्नो की उपलब्धता अब बढ जायेगी।

5 **अन्न बचाओ आन्दोलन** अन्न-बचाओ आन्दोलन के अन्तर्गत किसानों और व्यापारियो को अनाज को सुरक्षित भण्डारो मे रखने के वैज्ञानिक तरीके बताये जाते हैं, ताकि गल्ले-गोदामो मे कीडों, चूहो आदि से अनाज की रक्षा की जा सके। इस आन्दोलन को भी भारत सरकार ने ही चलाया है।

6 **विदेशो से खाद्यान्नो का आयात** खाद्यान्न की कमी को पूरा करने के लिए सरकार विदेशो से बडी मात्रा मे खाद्यान्नो का आयात करती है। सरकार ने अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, बर्मा तथा सोवियत रूस से विगत वर्षों मे खाद्यान्नो का आयात किया है। अधिकतर अनाज अमेरिका से, सार्वजनिक नियम 480 के अन्तर्गत आयात किया गया है। सन् 1951 से 1971 की अवधि में लगभग 9 करोड टन खाद्यान्न का आयात किया जा चुका है। विगत वर्षों मे भारत मे खाद्यान्नो के आयात की स्थिति का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है

वर्ष	खाद्यान्नो का आयात (मिलियन टनो मे)
1951	6 9
1956	1
1961	6
1966	10 4
1967	8 7
1968	5 7
1969	3 9
1970	3 6
1971	2 1
1972	4[1]

7 **खाद्यान्नो का सरकार द्वारा वितरण** सरकार ने देश भर मे सस्ते अनाज की दुकानें खोली है, जिनके माध्यम से उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर खाद्यान्न उपलब्ध कराये जाते है। अगस्त सन् 1965 ई० मे सरकार ने उन सभी नगरों मे राशनिंग प्रारम्भ कर दी, जिनकी आबादी 10 लाख से ऊपर थी। विगत वर्षों मे सरकार द्वारा वितरित किया गया खाद्यान्न अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका मे दिखाया गया है।

1. अनुमानित 31 अक्टूबर 1972 तक हिन्दुस्तान 6 जुलाई, 1973

सरकार द्वारा खाद्यान्नों का वितरण

वर्ष	वितरण (लाख टन में)	वर्ष	वितरण (लाख टन में)
1960	49 4	1966	140 8
1961	39 8	1967	130 0
1962	43 7	1968	101 0
1963	51 8	1969	95 0
1964	86 7	1970	89 0
1965	100 8	1971	77 0
		1972	105 0

8 **खाद्यान्नों की जमाखोरी एवं मुनाफाखोरी पर रोक** सरकार ने बड़े पैमाने पर खाद्यान्नों का संग्रह करने वाले व्यापारियों एवं उत्पादकों को सजा देने के लिए कानूनी व्यवस्था की है। आवश्यक पदार्थ अधिनियम (Essential Commodities Act) तथा भारतीय प्रतिरक्षा नियम (D fence of India Rules) के अन्तर्गत उन व्यापारियों एवं उत्पादकों के विरुद्ध कार्यवाहियाँ की जा सकती हैं जो अनुचित लाभ उठाने के लिए जमाखोरी का अपराध करते हैं।

9 **भारतीय खाद्य निगम की स्थापना** देश भर में खाद्यान्नों का न्यायपूर्ण वितरण करने के लिए तथा अनाज के मूल्यों को स्थिर बनाये रखने के लिए भारत सरकार ने जनवरी 1965 ई० में खाद्य निगम (Food Corporation of India) की स्थापना की। यह सरकारी प्रतिनिधि के रूप में खुले बाजार में खाद्यान्नों का क्रय-विक्रय करता है। खाद्यान्नों के न्यायोचित वितरण के साथ साथ यह निगम कृषि उपज बढ़ाने में भी महत्वपूर्ण योगदान देता है।

भारतीय खाद्य निगम द्वारा विगत वर्षों में खाद्यान्नों के क्रय विक्रय की दिशा में किए गए कार्यों का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है

भारतीय खाद्य निगम की प्रगति

(लाख टनों में)

वर्ष	क्रय	विक्रय
1869 68	87 1	66 4
1969-70	97 3	88 5
1970-71	88 1	75 4

सन् 1970 71 में निगम ने 739 करोड़ रु का खाद्यान्न खरीदा एवं 684 करोड़ रुपए का खाद्यान्न बेचा।

10 **अन्य प्रयत्न** सरकार द्वारा खाद्य समस्या को सुलझाने के लिए अन्य कई कदम भी उठाये गये हैं, जैसे, (1) तृतीय योजना के अन्त में नई कृषि विकास

की विधि का अपनाया जाना, (ii) खाद्य नियंत्रण एवं खाद्य की क्षेत्रीय व्यवस्था; (iii) विशाल अन्न भण्डारों का निर्माण, (iv) सरकार द्वारा खाद्यान्नों की वसूली (v) खाद्यान्नों के संग्रह के लिए बैंकों के ऋण पर प्रतिबन्ध, (vi) रिजर्व बैंक द्वारा अनाज का सट्टा बाजार रोकने के लिए साख नियंत्रण आदि।

सरकार द्वारा उठाए गए उपर्युक्त वर्णित कदमों के बावजूद भी हमारी खाद्य समस्या में सुधार नहीं हो सका है तथा खाद्य नीति प्राय असफल रही है जिसके कई कारण हैं जैसे –(i) राजनीतिक दबाव में आकर कृषि मूल्य आयोग की सिफारिशों की अवहेलना, (ii) शीघ्र प्रतिफल देने वाली योजनाओं की ओर अधिक ध्यान न देना, (iii) जनसंख्या के नियंत्रण में असफलता (iv) सरकार की नीतियों में अस्थिरता एवं इसका शीघ्र सन्तुष्ट हो जाना, (v) राज्यों में पारस्परिक सहयोग का अभाव, (vi) भ्रष्ट एवं प्रभावहीन प्रशासन आदि।

पंचवर्षीय योजनाएं एवं खाद्य नीति (Food Policy under Five year Plans)·

भारत सरकार ने खाद्य समस्या को सुलझाने के लिए नियोजन काल में कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाए हैं, जिनका विवरण नीचे दिया जा रहा है —

प्रथम योजना प्रथम योजना में सन् 1955-56 तक अधिक अन्न उत्पादन का लक्ष्य 76 मि० टन रखा गया, ताकि प्रति व्यक्ति 14 औंस आहार दिलाया जा सके। सन् 1952 ई० में अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन की जांच के लिए कृष्णमाचारी समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति ने बताया कि इस आन्दोलन के अपेक्षित परिणाम नहीं निकले। इस समिति का मत था कि गाँव के लोगों के जीवन का उन्नत करने के लिए कृषि सुधार पर जोर दिया जाना चाहिए। आयात समाप्त करने से समस्या नहीं सुलझ सकती। इस योजना के अन्तर्गत खाद्य नीति में तीन बातों पर जोर दिया गया–(i) खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि, (ii) खाद्यान्न के वितरण की उचित व्यवस्था, (iii) खाद्यान्न के आयात को यथासम्भव कम करना। इस योजना के अन्तर्गत कृषि विकास कार्यक्रम की मुख्य बातें थीं (i) सामुदायिक विकास परियोजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा (Community Development Projects and National Extension Service) का प्रारम्भ किया जाना, (ii) सिंचाई के छोटे बड़े साधनों का प्रयोग करना, (iii) भूमि-सुधार सम्बन्धी कानून पास कराना, तथा (iv) कृषि वित्त तथा खेती के लिए खाद, यन्त्र आदि विविध प्रकार की सामग्री जुटाना। अनुकूल जलवायु एवं कृषि विज्ञान कार्यक्रमों के फलस्वरूप खाद्यान्नों का उत्पादन वर्ष 1950-51 में 5.5 करोड़ टन से बढ़कर सन् 1955-56 ई० में 6.9 करोड़ टन हो गया। अच्छी फसल के फलस्वरूप खाद्यान्न का आयात सन् 1951 ई० में लगभग 69 लाख टन से घट कर सन् 1955 ई० में केवल 10 लाख टन रह गया।

द्वितीय योजना . इस योजना में अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य एक करोड टन रखा गया था, अर्थात् सन् 1955-56 मे 6 9 करोड टन से उत्पादन बढा कर सन् 1960-61 मे 7 5 करोड टन करना था। बाद में राष्ट्रीय विकास परिषद तथा केन्द्र व राज्यो के कृषि मन्त्रियो द्वारा पुनर्विचार के बाद लक्ष्य बढा कर 8 00 करोड टन कर दिया गया। कृषि उपज बढाने के उन्ही तरीको पर जोर दिया गया, जिन्हे प्रथम योजना के अन्तर्गत सुझाया गया था। योजना काल के दौरान खाद्यान्नो के मूल्य मे अत्यधिक वृद्धि के कारणो की जाँच करने के लिए 24 जून, 1957 ई० को श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता मे एक खाद्यान्न जाँच समिति (Food Grains Enquiry Committee) की नियुक्ति की गई। इस समिति ने खाद्यान्नो के लिए एक प्रभावशाली मूल्य-स्थिरीकरण नीति को लागू करने के लिए एक उपयुक्त सगठन अर्थात खाद्यान्न स्थिरीकरण सगठन (Food Grains Stabilisation Organisation) नियुक्त करने का सुझाव दिया। अल्पकालीन सुझाव के तौर पर समिति ने गल्ले के वितरण के लिए 'फेयर प्राइज शाप' तथा सहकारी समितियों को प्रधानता देने की सिफारिश की। समिति ने ग्रामीण एव लघु उद्योगो के विकास पर तथा बाढ नियत्रण एव सिंचाई की योजनाओं के क्रियान्वयन पर भी जोर दिया। समिति खाद्यान्न के उत्पादन बढाने के लिए कोई सक्रिय सुझाव न दे सकी। सरकार ने समिति के अधिकाश सुझावो को स्वीकार कर लिया। लेकिन इन प्रयत्नो के बावजूद भी इस योजना मे अधिक सफलता न मिली तथा सन् 1960-61 ई० मे खाद्यान्न उत्पादन 8 22 करोड टन हुआ। इस योजना के दौरान सन् 1958-59 ई० मे तो खाद्य समस्या ने भीषण रूप धारण कर लिया था।

तृतीय योजना इस योजना मे सन् 1965-66 तक खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य 10 करोड टन रखा गया था, ताकि प्रति व्यक्ति उपलब्ध खाद्यान्न की मात्रा के 1961-62 ई० मे 16 औंस से बढा कर 1965-66 ई० मे 17 5 औंस तक की जा सके। खाद्यान्नो के उत्पादन में वृद्धि के लिए सरकार ने इस योजना मे कई महत्वपूर्ण कदम उठाय, यथा (i) कृषि पदार्थों के उत्पादन मे वृद्धि को प्रोत्साहित करने के लिए केन्द्र म केन्द्रीय खाद्य एव कृषि मन्त्री की अध्यक्षता मे कृषि उत्पादन परिषद (Agricultural Production Board) की स्थापना की गई, (ii) जन 1965 ई मे भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India) की स्थापना की गई। यह निगम खाद्यान्नो के क्रय विक्रय, सचय तथा वितरण की व्यवस्था करेगा। (iv) जून 1965 ई मे ही एक कृषि-मूल्य परिषद (Agricultural Price Commission) की स्थापना की गई जो सरकार को मूल्य नीति के सम्बन्ध मे आवश्यक परामर्श देगी। जलवायु की प्रतिकूलता एव देश के ऊपर युद्ध-सकट के बादलो के परिणामस्वरूप तृतीय योजना के लक्ष्य भी प्राप्त न किए जा सके। तृतीय योजना के अन्त मे

खाद्यान्न उत्पादन लगभग 7 42 करोड़ टन था, जो लक्ष्य से कम था। खाद्यान्न-उत्पादन की कमी के कारण खाद्य समस्या ने भयंकर रूप ले लिया। देश को अकाल से बचाने के लिए अमेरिका, कनाडा एवं आस्ट्रेलिया से अधिक मात्रा में खाद्यान्नो का आयात करना पड़ा।

खाद्यान्न नीति समिति 1966

15 मार्च 1966 को श्री बी वेंकटपैया की अध्यक्षता में एक विशेषज्ञ समिति का गठन किया गया, जिसे प्रचलित क्षेत्रीय व्यवस्था और अनाज की वर्तमान वसूली व वितरण की जाँच करने तथा देश के विभिन्न राज्यों व वर्गों के बीच उचित मूल्यो पर खाद्यान्नो के वितरण के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए कहा गया था। इस समिति के प्रमुख सुझाव थे, (i) राष्ट्रीय खाद्य बजट बना कर, उपलब्ध अनाज का नियोजित वितरण किया जाय, (ii) खाद्य बजट के निर्माण, इसकी समीक्षा, संशोधन, व कार्यान्वन के लिए एक राष्ट्रीय खाद्य परिषद का गठन किया जाय, (iii) भूमिहीन कृषको को अन्न उपलब्ध कराने के लिए गावो में उचित मूल्य की दुकानें खोली जाय, (iv) मूल्य स्थिरता के लिए कम से कम 40 लाख टन खाद्यान्नो का बफर स्टाक आगामी 3–4 वर्षो में निर्मित किया जाय तथा इसका प्रबन्ध भारतीय खाद्य निगम को सौंपा जाय, (v) अनाज संग्रह के लिए गोदामो का तीव्रगति से निर्माण किया जाय तथा खाद्यान्न वसूली को प्राथमिकता दी जाय, (vi) उचित वितरण व मूल्य की स्थिरता के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अन्तर्राज्यीय गतिशीलता पर नियन्त्रण रक्खा जाय, (vii) भारतीय खाद्य निगम सभी राज्यो में प्रादेशिक कार्यालय स्थापित करे तथा दिन-प्रतिदिन की वसूली एवं वितरण से सम्पर्क रखे तथा (viii) खाद्यान्नो के न्यूनतम मूल्य निर्धारित किए जाय, लेकिन वसूली का मूल्य (Procurement-prices) न्यूनतम मूल्य से ज्यादा होना चाहिए।

एकवर्षीय योजनाएं (1966–69) तृतीय योजना के पश्चात् देश में एक-एक वर्ष को तीन योजनाएं क्रियान्वित की गई। सन् 1966-67, 67-68 एवं68 69 में नई कृषि नीति अपनाए जाने के कारण खाद्यान्नो का उत्पादन क्रमशः 74 2, 95 1 व 94 0 करोड़ टन हुआ। इन वर्षो में अच्छी वर्षा, अधिक उपज देने वाले बीजो, रासायनिक खादो, कृषि नाशक दवाइयो आदि के अतिराधिक उपयोग के कारण खाद्यान्नो के उत्पादन में वृद्धि हुई।

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969–74) में **खाद्य नीति** चौथी योजना में खाद्य नीति के मुख्य उद्देश्य निम्नांकित हैं :

(1) उपभोक्ता मूल्यो की स्थिरता सुनिश्चित करना तथा विशेष रूप से कम उपभोक्ताओ के हितो की सुरक्षा करना।

(2) उत्पादको के लिए उचित मूल्य सुनिश्चित करना और उन्हे उत्पादन बढाने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन देना।

(3) अनाजों का पर्याप्त समीकरण भण्डार यानी 'बफर स्टाक बनाना,' ताकि कम और बढ़ती या गिरती कीमतों का मुकाबला किया जा सके।

इस योजना में उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा के लिए सहकारी समितियों तथा उचित मूल्य वाली दुकानों के माध्यम से खाद्यान्न वितरित किया जायेगा तथा निजी व्यापार को नियमित किया जायेगा। सरकार किसानों से खाद्यान्न भारतीय खाद्य निगम, सहकारी समितियों तथा ऐसी अन्य संस्थाओं से खरीदेगी, ताकि किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य प्राप्त हो सके।

पर्याप्त समीकरण भण्डार बनाने के लिए कार्य प्रारम्भ हो चुका है। 1968 69 में इसके लिए 20 लाख मीट्रिक टन अनाज एकत्र किया गया। इस भण्डार को बढ़ाकर 50 लाख मीट्रिक टन ले जाने का लक्ष्य है। प्रतिवर्ष 80 लाख से लेकर 1 करोड़ मीट्रिक टन तक अवश्य अनाज वसूल किया जायेगा। अनाज पर क्षेत्रीय प्रतिबन्ध लगाने की नीति को भी व्यावहारिक रूप दिया जायेगा।

चौथी योजना के तत्वावधान में उत्पादन का लक्ष्य 12.9 करोड़ टन रखा गया है। खाद्यान्नों की वृद्धि के लिए कृषि उपज बढ़ाने पर जोर दिया जायेगा तथा कई महत्वपूर्ण कदम उठाये जायेंगे, यथा (i) सिंचाई सुविधाओं का विस्तार, (ii) अच्छे किस्म के बीजों के उत्पादन में वृद्धि, (iii) कृषि उपकरणों की व्यवस्था, (iv) रासायनिक उर्वरकों की पूर्ति में वृद्धि (v) भूमि संरक्षण एवं भूमि सुधार पर जोर, तथा (vi) अधिक उपज देने वाली फसलों पर जोर आदि।

भारत सरकार की वर्तमान खाद्य-नीति भारत सरकार की वर्तमान खाद्य-नीति की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं

(क) **खाद्यान्नों की क्षेत्रीय व्यवस्था**—इसके अन्तर्गत अनेक राज्यों के भौगोलिक क्षेत्र मिला कर एक क्षेत्र निर्मित किया गया। इस प्रकार के अनेक क्षेत्र गेहूँ व चावल के लिए निर्मित किए गए, ताकि एक क्षेत्र विशेष में प्रतिरेक व अभाव के राज्य आ सकें तथा खाद्य के क्षेत्र विशेष में स्वतन्त्र रूप से आवागमन हो सके। अनेक अर्थशास्त्रियों के द्वारा क्षेत्रीय व्यवस्था के विरोध किए जाने के कारण 4 अप्रेल 1970 को गेहूँ के क्षेत्र समाप्त कर दिए गए हैं।

(ख) **समीकरण भंडार** (Buffer Stocks) का निर्माण करना ताकि खाद्यान्नों के मूल्य में स्थिरता लाई जा सके। सन् 1968–69 में 16 लाख टन के स्टाक से यह कार्य प्रारम्भ किया गया था, जो 1971–72 तक 49 लाख टन तक पहुँच चुका था तथा जिसका मूल्य 431 करोड़ रुपए था।

(ग) **खाद्यान्नों में सरकारी व्यापार**—भारतीय खाद्य निगम के माध्यम से सरकार अनाज का क्रय-विक्रय करती है, ताकि मूल्यों में अनुचित उतार-चढ़ाव को रोका जा सके। हाल ही में कई राज्य सरकारों ने अनाज के थोक व्यापार को अपने हाथ में लेने की घोषणा की है।

(घ) सस्ते अनाज की दुकानों तथा नगरों में राशनिंग के माध्यम से सरकार उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर अनाज के वितरण की व्यवस्था कर रही है।

(ङ) रिजर्व बैंक अनाज का सट्टा व्यापार रोकने के लिए प्रभावशाली साख नियन्त्रण की नीति अपना रही है।

(च) जनता की खाद्य–आदतों (Food habits) में परिवर्तन एवं सन्तुलित भोजन के लिए प्रचार का कार्य किया जा रहा है।

(छ) निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या पर रोक लगाने के लिए सरकार राष्ट्रीय स्तर पर परिवार नियोजन कार्यक्रमों पर जोर दे रही है।

(ज) खाद्यान्नों के उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से ही सरकार ने कई महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं जिनमें नई कृषि विकास नीति (New Agricultural Strategy) महत्वपूर्ण है। अतः हम निकट भविष्य में खाद्यान्नों के मामले में आत्म निर्भर होने की कल्पना कर सकते हैं।

अनाज के सम्बन्ध में आत्मनिर्भरता पर बल देते हुए प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के निम्नांकित विचार बड़े महत्वपूर्ण हैं

अब समय आ गया है जब हमें अनाज में आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ठोस कार्यवाही करनी चाहिए। ऐसा करना इसलिए जरूरी है, क्योंकि विदेशों पर निर्भर रहने में अनेक कठिनाइयां पैदा होती हैं। आत्मनिर्भरता को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय उत्पादन में वृद्धि और वसूली के कार्यक्रम को और कुशल बनाना है। हम मिलजुल कर काम करेंगे तो इससे आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त होगा। [1]

—श्रीमती इन्दिरा गांधी

प्रश्न

1 टिप्पणी लिखिये भारत में खाद्य समस्या।

(राज टी डी सी प्रथम वर्ष कला 1965 67)

2 "खाद्य समस्या का युद्ध स्तर पर मुकाबला करना चाहिये।" विवेचन कीजिये। (राज बी ए 1965)

3 'Even after fifteen years of economic planning, India faces at present a serious food crisis Give reasons and outline the measures taken by the Government to solve the food problem in country (Raj B A Honours, 1966)

4 भारतीय खाद्य समस्या को सुलझाने के लिए आप कौन-कौन से उपाय सुझायेंगे? उन्हें सविस्तार समझाइये। (राज प्रथम वर्ष टी डी सी कला 1969)

1 आर्थिक समीक्षा 20 जुलाई 1967

14
नवीन कृषि नीति
(New Agricultural Strategy)

"The government should realise the urgency of the agricultural reorganisation problem and draw up a new agrarian policy, based on through institutonal changes for the "dynamisation of the rural sector

—Alak Ghosh

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहा की अर्थ-व्यवस्था का आधार कृषि है। जनसख्या का लगभग तीन-चौथाई भाग कृषि पर आश्रित है। देश की राष्ट्रीय आय मे इसका महत्वपूर्ण भाग रहता है। परन्तु इतना सब कुछ होने के बावजूद भी यहा कृषि की अवस्था शोचनीय है। कृषि देश की 55 करोड जनता को भरण-पोषण करने मे असमर्थ है। कृषक, जो कृषि-कार्य सम्पादित करता है, स्वय निर्धन है। दिन भर के अथक परिश्रम के बाद दो वक्त का भोजन भी नसीब नही होता। कृषि का यह पिछडापन स्वय कृषक ही के लिए अभिशाप नही है, अपितु सारे देश के लिए भी लज्जा की बात है। नि सन्देह आज कृषि का पिछडापन सरकार के लिए चुनौती है। यदि सरकार इस चुनौती का उचित उत्तर देने मे समर्थ है, तो देश खुशहाली की कल्पना कर सकता है, अन्यथा देश का भविष्य वर्तमान से भी अधिक बुरा होगा। सरकार ने यह भली भाति समझ लिया है कि कृषि के विकास मे और अधिक सम्बन्धित परीक्षण नही किये जा सकते। अब नई एव दृढ नीति अपनाकर कृषि का शीघ्र विकास परमावश्यक है। यदि देश मे कृषि-विकास नही हो पायेगा तो देश आपेक्षित आर्थिक उन्नति नही कर पायेगा।

स्वतन्त्र भारत मे कृषि-विकास एव कृषि सम्बन्धी नीति

अधिकाश अल्प-विकसित देशो मे, जिन्हे अत्यधिक जनसख्या वृद्धि का सामना करना पड रहा है, माग की तुलना मे खाद्य-पदार्थ और कृषिगत कच्चे माल की अत्यधिक कमी है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन देशो मे प्रति एकड उत्पादन और प्रति व्यक्ति उत्पादन बहुत कम है। कृषि उपज बढाने की विविध योजनाओ

के बावजूद भी बहुत कम देश खाद्य उत्पादन में वृद्धि की दर दीर्घकाल तक बनाये रखने में सफल हुये है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रांस में क्रमश आठ प्रतिशत व पच्चीस प्रतिशत जनसंख्या खेती के व्यवसाय में लगी हुई है, फिर भी ये देश अपनी समस्त जनता के लिये खाद्यान्न उपलब्ध करने की स्थिति में है। इसके विपरीत अल्प विकसित देशों में लगभग 61 से 70 प्रतिशत जनसंख्या खेती करती है, लेकिन फिर भी ये देश अपनी जनता के लिये पूरा खाद्यान्न पैदा करने की स्थिति में नहीं है और उन्हें दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् उन्नत देशों से खाद्यान्न आयात करने की आवश्यकता पड़ती रही है। भारतवर्ष भी ऐसा ही एक अल्प-विकसित कृषि प्रधान देश है, जहा पर 70 प्रतिशत के लगभग जनसंख्या खेती से ही अपना जीवन-यापन करती है। लेकिन फिर भी खाद्यान्न के मामले में भारत को अन्य देशों का मुंह ताकना पड़ता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत की लोकप्रिय सरकार ने खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्म निर्भरता प्राप्त करने के लिए कृषि विकास सम्बन्धी एक व्यापक एवं प्रभावशाली नीति अपनाई। आजादी के साथ ही साथ देश का विभाजन हुआ, फलस्वरूप जूट, कपास जैसी महत्वपूर्ण फसलों के उत्पादक क्षेत्रों का बहुत बड़ा भाग पाकिस्तान में चला गया। अत स्वतन्त्र भारत में, देश की सरकार को ऐसी नीति अपनाने की आवश्यकता पड़ी जिससे जनता के लिये खाद्यान्नों एवं देश के कारखानों के लिये कच्चे माल की पर्याप्त उपज हो सके और देश कृषिजन्य पदार्थों में स्वावलम्बी बन जाय। इस दिशा में प्रभावशाली प्रयत्न, देश के आर्थिक नियोजन के साथ-साथ प्रारंभ हुए। देश की पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया और यह सर्वथा उचित भी था, क्योंकि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषि के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि

भारत में आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए कृषि विकास अत्यन्त आवश्यक है। योजना आयोग के शब्दों में, "देश के नियोजित आर्थिक विकास के किसी भी कार्यक्रम की सफलता के लिये कृषि पुनर्गठन एवं सुधार आधारभूत महत्व का है। यद्यपि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विविध अंग एक दूसरे से काफी सम्बन्धित है तथा उन्हें भी योजना अधिकारियों द्वारा समन्वित ध्यान देना चाहिये, तथापि सम्पूर्ण योजना उसी समय सफल हो सकेगी, जब कृषि में लगी हुई श्रम, शक्ति एवं भूमि का अधिकतम लाभदायक उपयोग हो। इस अर्थ में कृषि का महत्व आधारभूत एवं बड़ा व्यापक है।"[1]

---

[1] In any scheme of planned economic development of the country agricultural reorganisation and reform hold position of basic importance,....While the

प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे बडी तथा मध्यम सिचाई की योजनाओं द्वारा कुल 63 लाख एकड अतिरिक्त भूमि मे सिचाई की सुविधाए उपलब्ध हुई। छोटी सिचाई योजनाओ द्वारा इसी अवधि मे कुल 100 लाख एकड अतिरिक्त भूमि मे सिचाई सुविधा प्राप्त हुई। प्रथम योजनावधि मे खाद तथा उर्वरक के उपयोग मे पर्याप्त वृद्धि हुई। अमोनियम सल्फेट की कुल खपत 2 लाख 75 हजार टन से बढकर 6 लाख टन हो गई। फासफोरस खादो की खपत 43,000 टन से बढ कर 78,000 टन हो गई। योजनावधि मे केन्द्रीय ट्रैक्टर सघ (Central Tractor Organisation) द्वारा लगभग 12 लाख एकड भूमि का उद्धरण (Reclamation) किया गया, राज्यो के अपने ट्रैक्टर सघो के द्वारा लगभग 28 लाख एकड भूमि का उद्धरण किया गया। भूमि सुधार कार्यों के लिए किसानो को अनुदान एव ऋण प्रदान किए गए, फलस्वरूप लगभग 50 लाख एकड भूमि का उद्धार हुआ। देश के विभिन्न भागो मे बीज उत्पादन केन्द्रो को खोला गया। ताकि किसानो को उन्नत बीज प्राप्त हो सके। इस योजनावधि मे जापानी तरीके से धान की खेती पर जोर दिया गया। सामुदायिक विकास योजनाओ (Community Development Projects) एव राष्ट्रीय विस्तार सेवाओ (National Extensive Service) के अन्तर्गत लगभग 40 प्रतिशत ग्रामीण जनसख्या को लाभ प्राप्त हुए। प्रथम योजना काल मे कृषि विकास सम्बन्धी विविध प्रयत्नो के फलस्वरूप कृषि पदार्थो के उत्पादन मे 17 प्रतिशत तथा खाद्यान्नो के उत्पादन मे लगभग 120 लाख टन की वृद्धि हुई। प्रथम योजनाकाल मे कुछ वस्तुओ के उत्पादन मे निर्धारित लक्ष्यो से अधिक वृद्धि हुई, जबकि कुछ वस्तुओ के उत्पादन मे लक्ष्य भी पूरे नहीं किए जा सके, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है

फसले	1950–51 मे उत्पादन	1955–56 मे उत्पादन-लक्ष्य	1955-56 मे वास्तविक उत्पादन	वास्तविक वृद्धि लक्ष्य के आधार पर
खाद्यान्न (लाखटन मे)	540	616	658	+ 42
तिलहन (लाखटन मे)	51	55	56	+ 1
गन्ना (गुड)(लाखटन मे)	56	63	60	— 3
कपास (लाख गाठो मे)	29	42	40	— 2
जूट (लाखटन मे)	33	54	42	—12

पिछले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम योजनावधि में खाद्यान्नों के उत्पादन में लक्ष्य से काफी अधिक वृद्धि हुई। तिलहन व कपास के उत्पादन में भी लक्ष्य लगभग पूरे हो गये, लेकिन गन्ने व जूट के उत्पादन में आशातीत वृद्धि नहीं हुई तथा उत्पादन लक्ष्य से कम हुआ।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि के नियोजित विकास की दिशा में भारत में पहली बार प्रयास किया गया था अतः कुछ त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक था। प्रथम योजना में कृषि विषयक कार्यक्रम का प्रथम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण दोष यह था कि *योजना बनाते समय देश में कृषि साख सम्बन्धी कोई व्यापक योजना नहीं* बनाई गई। कृषि सम्बन्धी कार्यक्रम का दूसरा दोष यह था कि योजना में सहकारी कृषि पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया था। योजना कृषि आन्दोलन को सफल बनाने के लिए सहकारी ग्राम व्यवस्था को कृषि तथा ग्रामीण संगठन के क्षेत्र में अन्तिम आदर्श के रूप में अपनाया था, परन्तु योजनावधि में सहकारी खेती को *आशातीत सफलता प्राप्त नहीं हुई। सहकारी कृषि आन्दोलन की असफलता का मुख्य* कारण यह था कि सरकार के पास उस समय भूमि-सुधार की कोई विस्तृत योजना नहीं थी। प्रथम योजनाकाल में भूमि के उप विभाजन एवं अपखण्डन की बुराइयों को दूर करने के लिए कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठाये गये, फलस्वरूप कृषि की औसत जोत प्रायः अनार्थिक ही बनी रही।

उपर्युक्त दोषों के बावजूद भी कृषि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई, जिसके लिये कुछ सीमा तक प्रकृति के सहयोग को श्रेय दिया जा सकता है। योजनाकाल में कृषि में सस्थागत परिवर्तन नहीं किए जा सके, जो कृषि के स्थायी विकास के लिये आवश्यक थे और जिनके फलस्वरूप कृषि उत्पादन में सम्भवतः आश्चर्यजनक वृद्धि हुई होती।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि—भारत की *द्वितीय पंचवर्षीय योजना* उद्योग प्रधान योजना थी। इस योजना में कृषि को अपेक्षाकृत कम महत्व दिया गया। योजना आयोग का विचार था कि चूंकि प्रथम योजना में कृषि को काफी सबल बनाया जा चुका है, अतः देश के संतुलित विकास को दृष्टि में रखते हुए उद्योगों को इस योजना में प्राथमिकता देना आवश्यक था। द्वितीय योजना में कुल 4,800 करोड़ रुपये व्यय किये जाने थे, जिनमें से 1 0्54 करोड़ रुपये कृषि विकास के लिए प्रस्तावित *किये गये थे। इस प्रकार जहां प्रथम योजना में कृषि कार्यक्रमों पर 31 प्रतिशत व्यय* का प्रावधान था वहां दूसरी योजना में यह प्रतिशत घट कर 20 प्रतिशत ही रह गया। द्वितीय योजना में कृषि विकास पर वस्तुतः 950 करोड़ रुपये ही व्यय किए जा सके। इनमें से 530 करोड़ रुपये कृषि तथा सामुदायिक विकास पर खर्च किए

गए तथा शेष 420 करोड़ रुपए सिंचाई की बड़ी व छोटी योजनाओं पर खर्च किए गये। द्वितीय योजना में कृषि, पशुपालन, वन व भूमि संरक्षण, मत्स्य उद्योग, सहकारिता व विविध कृषि कार्यक्रमों में क्रमशः 170, 56, 47, 12, 47 व 9 करोड़ रुपए व्यय किए गए। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इन्हीं मदों पर क्रमशः 197, 22, 10, 4, 7, व 1 करोड़ रुपये का व्यय किया गया था। इस प्रकार यद्यपि द्वितीय योजना में प्रथम योजना की तुलना में कृषि को कम महत्व दिया गया, तथापि द्वितीय योजना में कृषि पर कुल व्यय सापेक्षिक रूप से अधिक था। द्वितीय योजना में कृषि कार्यक्रमों पर होने वाले व्यय निम्न तालिका में दिखलाये गये हैं . (करोड़ रुपये)

मद	प्रस्तावित व्यय	वास्तविक व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत
योजना पर कुल व्यय	4800	4600	100
कृषि तथा सामुदायिक विकास	568	530	11
सिंचाई तथा बाढ़ नियन्त्रण	486	420	9
कृषि पर कुल व्यय	1054	951	20

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि सम्बन्धी प्रमुख तत्व थे (i) भूमि के प्रयोग का नियोजन, (ii) अल्प-कालीन व दीर्घकालीन लक्ष्यों का निर्धारण, (iii) विकास कार्यक्रमों और सरकारी सहायता में समायोजन, तथा (iv) एक उचित मूल्य नीति। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि उत्पादन में जो प्रगति हुई, वह निम्नांकित तालिका में दी गई है

फसलें	1955–56 में उत्पादन	1960–61 में उत्पादन का लक्ष्य	1960–61 में वास्तविक उत्पादन	वास्तविक वृद्धि लक्ष्यों के आधार पर
खाद्यान्न (लाख टन)	658	805	797	—8
तिलहन (लाख टन)	56	76	65	—11
गन्ना गुड़, (लाख टन)	60	78	104	+26
कपास (लाख गांठ)	40	65	54	—11
पटसन (लाख गांठें)	42	55	40	—15

पिछले पृष्ठ पर दी गई नीचे की तालिका के अध्ययन से स्पष्ट है कि गन्ने के उत्पादन को छोड कर, अन्य कृषि वस्तुओं के लक्ष्य नहीं प्राप्त किये जा सके। इसके लिए प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियाँ काफी हद तक जिम्मेदार थी। यह भी आरोप लगाया जाता है कि राज्य सरकारों द्वारा कृषि क्षेत्र मे आवश्यक विनियोग न किए जाने से भी कृषि-विषयक लक्ष्य नहीं प्राप्त किए जा सके। योजना आयोग कृषि उत्पादन बढाने के महत्व से परिचित था, लेकिन फिर भी इसकी यह धारणा गलत साबित हुई कि कृषि पर अपेक्षाकृत कम व्यय करने पर भी कृषि उत्पादन पर बुरा असर न पडेगा और कृषि क्षेत्र मे उत्पादन बढता ही रहेगा।

द्वितीय योजना काल मे सिचाई सम्बन्धी लक्ष्य भी प्राप्त नही किए जा सके। सन् 1955-56 ई० मे कुल 562 लाख एकड भूमि को सिचाई की सुविधा उपलब्ध थी। लक्ष्य यह था कि द्वितीय योजना के अन्त तक 840 लाख एकड भूमि पर सिंचाई की जा सकेगी। किन्तु द्वितीय योजना के अन्त में लगभग 700 लाख एकड भूमि मे ही सिंचाई की सुविधा प्राप्त हो सकी। भू-सरक्षण सम्बन्धी कार्य भी आशातीत प्रगति न कर सके। उर्वरकों के प्रयोग मे, योजना के अन्तिम वर्ष को छोड कर, वृद्धि नही की जा सकी। सक्षेप मे द्वितीय योजना की अवधि में कृषि उत्पादन मे सन्तोषजनक प्रगति न हो सकी और यह योजना कुछ हद तक इस दिशा मे असफल रही।

तृतीय पचवर्षीय योजना मे कृषि—तृतीय पचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने पुन कृषि विकास को पर्याप्त महत्व दिया। योजना आयोग ने इस तथ्य को स्वीकार किया कि 'तृतीय योजना की सफलता मुख्यत कृषि के क्षेत्र मे उसकी सफलता पर निर्भर करती है। योजना आयोग के अनुसार ही, तृतीय योजना मे कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई थी। वास्तव मे द्वितीय योजना ने इस बात को पूर्णत स्पष्ट कर दिया था कि कृषि के उत्पादन मे कमी आर्थिक विकास के मार्ग मे सबसे बडी बाधा है, जिसे किसी भी तरह दूर करना आवश्यक है।' इसलिए कृषि उत्पादन को यथा सम्भव अधिकतम करना होगा और कृषि उत्पादन को बढाने के लिए तृतीय योजना मे पर्याप्त साधन उपलब्ध करवाने होगे। तृतीय योजना मे ग्राम-अर्थ-व्यवस्था के विकास के कार्यक्रम तैयार करते तथा क्रियान्वित करते समय मार्गदर्शक सिद्धान्त यह होना चाहिए कि जो कुछ भी भौतिक रूप से व्यवहार्य है, उसे वित्तीय रूप से व्यवहार्य बनाया जाय और इस प्रकार प्रत्येक प्रदेश की क्षमता का विकास अधिकतम सभव सीमा तक करना होगा।

नवीन कृषि नीति

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि विकास कार्यक्रमों पर कुल 1281 करोड़ रुपए का प्रावधान किया गया था, जैसा कि निम्न तालिका में दिया गया है :—[1]

कृषि उत्पादन पर व्यय व्यवस्था (करोड़ रु०)

मद	व्यय की जाने वाली धनराशि	वास्तविक व्यय
कृषि उत्पादन	226 07	1760
छोटी सिंचाई योजनाएं	176 76	
भूमि संरक्षण	72 73	
सहकारिता	80 10	
सामुदायिक विकास	126 00	
बड़ी और माध्यम सिंचाई योजनाएं	599 34	
कुल व्यय	1281 00	1760

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि, लघु सिंचाई योजनाओं एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर 1103 करोड़ रुपए व्यय किये गये। मध्यम तथा बड़े आकार की सिंचाई योजनाओं पर तृतीय योजनावधि में 657 करोड़ रुपए खर्च किए गए। इस प्रकार तृतीय योजना काल में कृषि कार्यक्रमों पर कुल 1760 करोड़ रुपए का व्यय किया गया। जो इस योजना के कुल प्रस्तावित व्यय का 22 प्रतिशत भाग था। तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि उत्पादन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सिंचाई, भू संरक्षण, भूमि उद्धार, शुष्क खेती, अच्छे एवं सुधरे यन्त्रों के प्रयोग तथा खाद एवं उर्वरकों के प्रयोग पर पर्याप्त जोर दिया गया। पौधों के संरक्षण, बीजों के उत्पादन एवं वितरण तथा वैज्ञानिक क्रियाओं के प्रयोग के कार्यक्रम को अपनाया गया।

1. तृतीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ 317

तृतीय पचवर्षीय योजना म कृषि उपज के लक्ष्य एव वास्तविक उत्पादन को निम्नलिखित तालिका म दिया गया है।[1]

फसलें	1965-66 ई० म उत्पादन का लक्ष्य	1965 66 म वास्तविक उत्पादन
खाद्यान्न (लाख टन म)	1000	723 0
तिल्हन (लाख टन म)	100	61 4
गन्ना, गुट (लाख टन मे)	102	121 0
कपास (लाख गाठें)	70	48 0
जूट (लाख गाठें)	62	45 0
तम्बाकू (हजार टन)	325	400 0
चाय (हजार टन)	408	373 0

ततीय पचवर्षीय योजना म कृषि विकास के क्षत्र म बडी निराशा हुई। गन्ने व जूट के लक्ष्यो को छोड कर अन्य फसलो के लक्ष्यो को प्राप्त नहा किया जा सका। वर्षा की अनिश्चितता और सूखे की स्थिति ने खाद्यान्नो के उत्पादन एव उद्योगो के लिए कच्चे माल के उत्पादन को धक्का पहुँचाया। इस योजनावधि म कृषि क्षत्र म वाछित सस्थागत परिवर्तन नही किय जा सके और न ही खतो के उप विभाजन व अपखण्डन के दाषो का दूर किया जा सका। कृषि सुधार के विभिन्न कायक्रमा को भी पूरो तरह से लागू नहो किया जा सका। इस योजना की अवधि मे ही चीन व पाकिस्तान के हमल न भी कृषि विकास के मार्ग मे बाधा पहुँचाई।

तृतीय पचवर्षीय योजनाकाल मे खाद्यान्न उत्पादन की स्थिति बजाय सुधरने के बिगडती चली गई। सन 1961 62 मे कुल खाद्यान्न उत्पादन 8 1 करोड था परन्तु यह घट कर सन 1962 63 व 1963-64 ई मे क्रमश 7 8 व 7 9 करोड टन ही रह गया। सन् 1964 65 व 1965 66 ई० मे खाद्यान्नो का उत्पादन क्रमश 8 9 व 9 0 करोड टन ही रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि ततीय योजना के कृषि उत्पादन सम्बन्धी लक्ष्य पूरे नहा हा सके।

तृतीय पचवर्षीय योजना मे देश के 15 चुने हुये जिलो मे सघन कृषि कार्यक्रम को भी चालू किया गया। इस प्रकार के कार्यक्रम के लिए प्रत्येक राज्य मे से एक जिला चुना गया, जिसमे सिचाई की दशाए अनुकूल थी, वर्षा निश्चित रूप से होती थी तथा जहा सहकारी आन्दोलन दृढ आधार पर स्थापित हो चुका था। इस नए

1 Fourth Five year Plan Draft Outline

कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्राम पंचायतों एवं सहकारी समितियों द्वारा सभी किसानों को उर्वरक, उन्नत बीज तथा तकनीकी सहायता आदि देकर कृषि के सर्वांगीण विकास का प्रयत्न किया गया। कृषि कार्यक्रमों पर पर्याप्त जोर देने के बावजूद भी तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि के क्षेत्र में सतोषजनक प्रगति न हो सकी। खाद्यान्नों की उपज कम हो जाने के कारण इनके मूल्यों में वृद्धि हुई। खाद्यान्नों के मूल्य में जो वृद्धि तृतीय योजना काल में प्रारम्भ हुई, वह उत्तरोत्तर बढ़ती गई और आज भी इस समस्या का समाधान नहीं हो सका है।

सन् 1966-67, 1967-68 व 1968-69 की वार्षिक योजनाओं में कृषि कार्यक्रमों पर क्रमश 287, 321 व 304 करोड़ रुपये व्यय किए गए। इस अवधि के दौरान सामुदायिक एवं सिंचाई के अन्तर्गत क्रमश 170, 167 व 166 करोड़ रुपये और खर्च किए गए। इन वर्षों में खाद्यान्न उत्पादन क्रमश 74 2, 95 6 तथा 98 मिलियन टन हुआ।

चतुर्थ योजना (1969-74) में कृषि के लिए सरकारी क्षेत्र में 3817 करोड़ रु० तथा निजी क्षेत्र में 1800 करोड़ रु० के विनियोजन का प्रावधान है। इस योजना के अन्तर्गत कृषि उत्पादन, लघु सिंचाई, भू संरक्षण, वित्तीय सहायता, सहकारिता, सामूहिक विकास एवं पंचायतों पर क्रमश 510, 476, 151, 263, 151 तथा 116 करोड़ रु० व्यय किये जायेंगे। सन् 1974 में अर्थात् चतुर्थ योजना के अंत में खाद्यान्न उत्पादन के 12 90 मिलियन टन तक पहुँच जाने की आशा है। योजना आयोग ने चतुर्थ योजना में कृषि नीति के अन्तर्गत दो प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किए हैं, प्रथम, आगामी वर्षों में प्रति वर्ष लगभग 5 प्रतिशत की दर से वृद्धि करने के लिए आवश्यक वातावरण तैयार करना तथा द्वितीय छोटे किसानों तथा शुष्क क्षेत्र के किसानों सहित अधिक से अधिक ग्रामीण जनता को इस योग्य बनाना कि वे विकास कार्यक्रमों में भाग ले सकें तथा इससे लाभ उठा सकें।

चतुर्थ योजना में कृषि उपज के निम्न लक्ष्य निर्धारित किए गए

फसल	अनुमानित लक्ष्य
1 खाद्यान्न (दस लाख मी० टन)	129 0
2 तिलहन (,, ,,)	10.5
3 गन्ना गुड़ (,, ,,)	15 0
4 कपास (दस लाख गाँठें)	8 0
5 जूट (,, ,,)	7 4

उपर्युक्त विवेचन के अन्तर्गत हमने यह देखा है कि भारतवर्ष में कृषि उपज अथवा खाद्यान्न उत्पादन में, आयोजन काल के अन्तर्गत बड़े उतार-चढ़ाव हुए हैं। भारत जैसे प्रकृति पर निर्भर रहने वाले देशों में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। जब तक देश की प्रगति पर निर्भरता समाप्त या कम नहीं कर दी जाती, तब तक सम्भवत कृषि आज की इस अस्थिरता से मुक्ति नहीं मिल सकती। नियोजन काल के दौरान भारत में होने वाले खाद्यान्न उत्पादन को आगे की सारणी में दिखाया गया है।

नियोजन-काल में खाद्यान्न-उत्पादन

वर्ष	उत्पादन (मिलियन टनों में)	वर्ष	उत्पादन (मिलियन टनों में)
1951–52	55	1960–61	82
1952–53	61	1961–62	82
1953–54	72	1962–63	80
1954–55	70	1963–64	81
1955–56	69	1964–65	88
1956–57	72	1965–66	72
1957–58	66	1966–67	74
1958–59	78	1967–68	95
1959–60	76	1968–69	94
		1970–71	108
		1971–72	112

कृषि विकास सम्बन्धी सरकार की नई नीति की प्रस्तावना—भारतवर्ष में कृषि की दिशा अब तक सन्तोषजनक नहीं रही है। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि हमारे देश में इस समस्या को सुलझाने के लिए न तो सामूहिक प्रयत्न किये गये और न ही कृषि को परम्परागत तरीकों से छुड़ाने के लिए बड़े स्तर पर कार्य किया गया। श्री परेशनाथ चटर्जी के शब्दों में, "दरअसल भारतीय कृषि की स्थिति में अभी तक सुधार न होने के कारणों में एक कारण यह है कि परम्परागत कृषि-पद्धति से छुटकारा पाने के लिए वृहद स्तर पर सभी राज्यों द्वारा एकाग्रचित होकर पूरी तरह से कदम नहीं उठाये गये। आश्चर्य की बात तो यह है कि भारतीय कृषि के बारे में अभी तक लोग यह नहीं जानते कि इस क्षेत्र में क्या क्या काम हो रहा है। कृषि सम्बन्धी आंकड़ों में भी कई कमियाँ रह गई हैं, जिनके कारण सरकारी क्षेत्रों में भी आशंकाएं व्यक्त की जाने लगी हैं। खेती के क्षेत्र में हुई उपलब्धियों के भौतिक

पहलू या लक्ष्य मात्र खेती की आधारभूत कठिनाइयों या कमियों पर काबू पाने के लिए काफी नहीं है।"[1] अतः चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कुछ व्यावहारिक कदम उठाये जायेंगे और कृषि विकास के लिए नई नीति अपनाई जायेगी। चौथी योजना की प्रस्तावित रूपरेखा में कहा गया है, "यदि हमें अपने खाद्यान्नों के आयात पर निर्भरता समाप्त करनी है, तो उत्पादन की आधुनिक विधियों का अधिकाधिक प्रयोग करना तथा कृषि विज्ञान द्वारा प्रदत्त ज्ञान एवं सुविधाओं का उपयोग करना आवश्यक है। यदि हम अल्पकाल में ही परिणाम हासिल करना चाहते हैं तो कृषि विकास के लिए नई नीति (Strategy) अपनानी होगी।"[2]

कृषि-विकास की वर्तमान व्यूह रचना—(Present Strategy of Agricultural Development) : कृषि विकास की वर्तमान व्यूह रचना (Strategy) के अन्तर्गत कृषि विकास के क्षेत्र में जिन मुख्य कार्यक्रमों को अपनाया गया है, वे निम्नलिखित हैं

1 **सिंचाई सम्बन्धी नया दृष्टिकोण**—सरकार द्वारा स्वीकृत मूल सिद्धान्तों में सिंचाई व्यवस्था के बारे में प्रमुख परिवर्तन हुआ है। अभी तक सिंचाई व्यवस्था मुख्यतः अनावृष्टि के दिनों में नुकसान से बचने का एक साधन माना जाता था, लेकिन अब इस सिद्धान्त के आधार पर दूसरा सिद्धान्त अपनाया गया है। इसके अनुसार सिंचाई व्यवस्था को कृषि-उपज बढ़ाने का एक प्रमुख साधन माना गया है। इस सन्दर्भ में दूसरी प्रमुख बात यह है कि सभी क्षेत्रों पर समान रूप से ध्यान न देकर, कुछ चुने हुये क्षेत्रों में, जहां सुविधाएं उपलब्ध हों, विशेष ध्यान दिया जायेगा। अब यह अनुभव किया जा रहा है कि छोटी सिंचाई की योजनाओं पर एक

---

1 "Indeed one of the reasons of the poor state of the Indian agriculture has been the inadequacy of concerted attention and action on a massive scale to cause a break away from tradition. Curiously, Indian agriculture has all along remained a dark continent nobody knowing exactly what has really happened. Agricultural statistics have been fraught with a number of weaknesses on which doubts have been expressed even in official circles. Sophisticated exercises in targetry in the physical aspects of achievements have not been able to transcend the basic difficulties and inaccuracies." Kareshna b Chatterji Approach to Agriculture in the Fourth Five Year Plan AICC Economic Review, Aug 68

2. "If our dependence on imported foodgrains has to cease, it is necessary to make far greater use of modern methods of production and to bridge the gap between demand and production by the application of the latest advances in the science and agriculture. A new strategy of approach is needed if we are to achieve results over a short span of time." —Fourth Five Year Plan A Draft Outline, P 175

ओर तो कम पैसा खर्च होता है और दूसरी ओर ये योजनाएं शीघ्र फल देने वाली होती हैं, अत: अब इनके विकास पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इन्डो-अमेरिकन सहायता कार्यक्रम के आधीन स्पिल ओवर ट्यूबवेल प्रोजेक्टस (Spill Over Tube-well Projects) आरम्भ किये गये है। देश के विभिन्न भागों में नलकूपों को खोदा जा रहा है। जमीन के भीतर के पानी का पता लगाने के लिए Ground Water Exploration Projects चलाये जा रहे है। इस प्रकार वर्षा और नहरी सिंचाई के अभाव को दूर करने के प्रयास किये जा रहे हैं, ताकि जल साधनों का अधिकतम उपयोग किया जा सके तथा प्रति एकड़ उपज बढ़ाई जा सके। 1966–67 और 1967–68 के दो वर्षो में लगभग 28 लाख हेक्टर भूमि को छोटी सिंचाई की योजनाओं के अन्तर्गत लाया गया है और 1968–69 में 14 लाख हेक्टर भूमि को छोटी सिंचाई योजनाओं के अन्तर्गत लाया जाना था।[1]

2 उन्नत बीजों के प्रयोग पर बल—तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में कुछ नए प्रकार के बीजों को प्राप्त किया गया था, जिन्हें अब उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयुक्त किया जाएगा। उन्नत किस्म के चावल बीज 1970-71 तक 51 लाख हेक्टर भूमि में प्रयुक्त किए जाने की सम्भावना थी। चावल के उन्नत बीज काम में लाने से प्रति हेक्टर 3363 से 6725 किलोग्राम उपज हुई है। मैसूर तथा केरल प्रान्तों में ताइचुंग न 365 तथा तायमान न 3 के बीज से प्रति हेक्टर 5484 किलोग्राम से 6725 किलोग्राम चावल पैदा हुआ है। इसी प्रकार पटसन के एडीटी 27 नम्बर के बीज से प्रति हेक्टर 4484 किलोग्राम से 5650 किलोग्राम तक उपज हुई। यहां तक कि सूखाग्रस्त क्षत्रों में उन्नत किस्म के बीजों से 7 07 लाख हेक्टर भूमि पर खरीफ की फसल के लिए खेती की जा रही है और बची हुई भूमि पर रबी की फसल लगाई जा रही है तथा इस समचे क्षेत्र में उन्नत बीज काम में लाने की व्यवस्था कर दी गई है। राज्यों में बीज निगम स्थापित किए जा रहे है, जिससे कि बीजों के उत्पादन, प्रभावीकरण और वितरण में समन्वय स्थापित हो सके। सरकारी भण्डारों व सहकारी समितियों के माध्यम से बीजों का वितरण किया जा रहा है। अनेक राज्यों में 'बीज बहुगुणन फार्म' बनाए गए हैं। राष्ट्रीय बीज निगम की भी स्थापना की गई है।

3 कीट नाशक औषधियों के प्रयोग पर बल—भारत में कृषि फसलों को कीड़े मकोडों से विशेष हानि होती है। नई कृषि योजना में सरकार कीटाणु नाशक

---

1 श्री अन्नासाहब पी शिन्दे, भू० केन्द्रीय राज्य मन्त्री खाद्य एव कृषि कृषि विकास योजना का नया चरण आर्थिक समीक्षा 26 जनवरी, 1969.

औषधियों और पौधों की रक्षा के उपकरण तैयार करने के लिए तेजी से कदम उठा रही है तथा औषधियों के वितरण करने की भी पर्याप्त व्यवस्था की जा रही है। देश में पौध संरक्षण निर्देशालय के अन्तर्गत 14 केन्द्रीय पौध संरक्षण केन्द्रों द्वारा फसलों के कीड़ों, रोगों आदि का नियन्त्रण करने के लिए परामर्श दिया जाता है तथा कीड़ों के विनाश सम्बन्धी प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियों की सेवाएं उपलब्ध कराई जाती है। विभिन्न राज्यों के कृषि विभागों को कीटाणु नाशक औषधियों और पौध संरक्षण से काम आने वाले यन्त्र दिए गए है। निर्देशालय के विमान फसलों पर कीटाणुनाशक औषधियां छिड़कते है तथा टिड्डी दलों के आक्रमण से फसलों की रक्षा करते है। सन् 1965-66 मे 1 करोड़ 65 लाख हेक्टर भूमि को पौध संरक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत लाभ पहुचाया गया था। सन् 1967-68 मे इन कार्यक्रमों से 3 करोड़ 64 लाख हेक्टर भूमि को लाभ पहुचा। सन् 1968-69 ई० मे पौध संरक्षण कार्यक्रमों के अन्तर्गत ५ करोड़ 46 लाख हेक्टर भूमि लाने का कार्यक्रम रखा गया था।[1] कीटाणुनाशक औषधियों और पौध संरक्षण उपकरणों की पर्याप्त मात्रा मे पूर्ति करने का आश्वासन भी सरकार द्वारा दिया गया है।

4 उर्वरकों के प्रयोग पर बल––भारत मे गोबर के जलाने से प्रतिवर्ष 3 अरब 82 करोड़ 50 लाख रुपये की बर्बादी हो रही है। खाद की बर्बादी को रोकने के लिए तथा नए उर्वरकों के उत्पादन व प्रयोग की वृद्धि करने के लिए नई कृषि नीति मे बल दिया गया है। देश मे उर्वरक उद्योग को प्रोत्साहित किया जा रहा है। रासायनिक खाद के मामले मे स्वावलम्बी होने मे अभी कई वर्ष लग सकते है। रासायनिक खाद के उत्पादन को बढ़ाने के लिए तथा इनकी कमी को पूरा करने के लिए भारत सरकार ने आवश्यक विदेशी मुद्रा की व्यवस्था की है। जिन क्षेत्रों को इन पदार्थों की सर्वाधिक आवश्यकता है, वहा रासायनिक खाद पदार्थ वितरित किए जा रहे है। सभी प्रान्तो मे उर्वरकों के उत्पादन की योजनाए चालू है। मल-मूत्र युक्त पानी के उपयोग की योजनाए भी विभिन्न नगरों और कस्बों मे चल रही है। कम्पोस्ट खाद तथा नाइट्रोजन युक्त कम्पोस्टिंग की वृद्धि की जा रही है। हड्डी की खाद को भी प्रोत्साहन दिया जा रहा है तथा किसानों के मध्य हरी खाद के बीजों का वितरण किया जा रहा है। उर्वरकों की कई किस्मों के मूल्यों पर नियन्त्रण किया जा रहा है तथा इनके निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। इस समय देश में सिंदरी, नागल, ट्राम्बे, रूरकेला तथा अलवाय (केरल) मे रसायनिक खाद का उत्पादन हो रहा है तथा कोटा व गोरखपुर मे भी हाल ही मे कार्य प्रारम्भ किया गया है।

---

1. Ibid

उर्वरकों के और नए कारखाने स्थापित करने की दिशा में कदम उठाये जा रहे हैं। भारत में प्रति हैक्टर कृषि भूमि 2 3) किलोग्राम रासायनिक खाद की खपत है, जबकि विश्व का औसत 22 19 किलोग्राम है। अतः उर्वरकों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए निजी व सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में प्रयास किए जा रहे हैं। 1965 66 में भारतवर्ष में उर्वरकों का उत्पादन 7 8 लाख टन था, जो 1967-68 में 16 84 लाख टन हो गया। 1968 69 के उर्वरक उत्पादन का लक्ष्य 28 लाख टन रक्खा गया था।[1]

5 **कृषि यन्त्रों के प्रयोग पर बल**—लगभग 20 वर्षों के अनुभव के आधार पर अब सभी यह स्वीकार करने लगे हैं कि खेती और उद्योगों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध होना चाहिए। कृषि का विकास बिना औद्योगिक विकास के सम्भव नहीं है, क्योंकि कृषि यन्त्र तथा आवश्यक सामग्री उद्योगों से प्राप्त होती है तथा उद्योगों को कृषि से व्यापारिक फसलों की प्राप्ति होती है। नई कृषि नीति के अन्तर्गत खेती के लिए कृषि यन्त्रों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं। कृषि उद्योग निगम खेती की मशीनों और औजारों के निर्माताओं तथा किसानों के बीच सम्पर्क स्थापित करने का काम करेगा। इसके साथ-साथ यह निगम खेती के औजारों को खरीदने, रुपये पैसे की व्यवस्था करने तथा मशीनों और उपकरणों की मरम्मत कराने की भी व्यवस्था करेगा। मुख्यतः छोटे किसानों की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान दिया जाएगा। छोटे किसानों के लाभ के लिए औजारों के छोटे-छोटे कारखाने, ट्रैक्टर मरम्मत करने के केन्द्र, इत्यादि नई कृषि नीति को सफल बनाने के लिए खोले जा रहे हैं। इस समय देश में देश के बने हुए ट्रैक्टरों की खपाई 13000 है, जबकि कुल ट्रैक्टरों की संख्या 65000 है। यन्त्रीकरण की दिशा में पहली तीन योजनाओं में पूंजी की कमी, ऊंची निर्माण लागत, प्रचार की कमी आदि के कारण कोई विशेष प्रगति नहीं की जा सकी। इन कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए चौथी योजना में 250 चुने गए जिलों में से प्रत्येक में जिला स्तर पर एक कृषि औजारों का केन्द्र खोलने का प्रस्ताव है जहां उन्नत कृषि औजारों का उत्पादन, वितरण, मरम्मत एवं प्रचार का कार्य किया जाएगा। चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक देश में कम से कम 20 प्रतिशत कृषकों को उन्नत कृषि उपकरण, औजार एवं यन्त्र प्रदान करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

6 **कृषि वित्त को सुदृढ़ बनाने पर बल**—कृषि उपज बढ़ाने के लिए कृषि साख का महत्वपूर्ण स्थान है। सरकार नवीन कृषि नीति के अन्तर्गत किसानों को

---

1 Ibid

आसान शर्तों पर अधिकाधिक मात्रा में ऋण उपलब्ध कराने के लिए प्रयत्न करेगी। चौथी योजनावधि में सरकारी साख के ढांचे में फसल-ऋण-प्रणाली (Crop Loan System) को अपनाया जाएगा। इस योजना के अन्तर्गत उत्पादन की आवश्यकताओं के अनुसार ऋण दिलाने का पूरा प्रबन्ध किया जायगा। इस प्रणाली के अन्तर्गत उधार लेने वाले कृषक को भूमि के मूल्य के आधार पर ऋण नहीं दिया जाएगा, वरन् बीज, खाद, औजार व कीटनाशक पदार्थों के रूप में ऋण दिए जायेंगे तथा ऋणों को विपणन से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया जाएगा। सामान्यत. कृषि ऋण सहकारिता के माध्यम से दिए जायेंगे, लेकिन जिन भागों में सहकारी आन्दोलन अविकसित दशा में है, वहां कृषि साख निगमों (Agricultural Credit Corporations) को पूरक साधन के रूप में खोला जाएगा। दीर्घकालीन ऋण केन्द्रीय भूमि विकास बैंकों द्वारा दिए जायेंगे, जिनके ऋण पत्र रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक व बीमा निगम द्वारा खरीदे जायेंगे। व्यापारिक बैंकों को भी कृषि के लिए वित्त दिलाने के लिए कहा जा रहा है, ताकि वह भी इस ओर ध्यान दें तथा कृषि कार्यक्रमों को सफल बनाने में आवश्यक योगदान दें।

7 भूमि सुधार एवं भू संरक्षण पर बल—देश के प्राय' सभी भागों में मध्यस्थों का उन्मूलन हो चुका है तथा अब भूमि के मालिक प्राय. वे ही लोग हैं जो वास्तव में भूमि जोतते हैं। पट्टेदारी प्रथा में सुधार किया गया है। उचित लगान निश्चित करने की दशा में कदम उठाए गए हैं। जोतों की अधिकतम सीमा निश्चित की जा चुकी है तथा इससे बची भूमि को भूमिहीन कृषकों में बांट दिया गया है। जोतों की चकबन्दी और उनके टुकड़े-टुकड़े होने पर रोक लगा दी गई है तथा सरकारी व सहकारी ग्राम प्रबन्ध के विकास को प्रोत्साहन दिया गया है। भूमि सुधार के क्षेत्र में अब तक ये सब कार्य किये जा चुके हैं। नयी कृषि नीति के अन्तर्गत, चौथी पचवर्षीय योजना में भूमि सुधार कार्यक्रम के दोषों को दूर करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। भू संरक्षण योजना के आधीन भूमि का सर्वेक्षण किया जा रहा है तथा देश के विभिन्न भागों में भू-संरक्षण के कार्यक्रमों को तेजी से लागू किया जा रहा है।

8 सहायक खाद्यान्नों के उत्पादन वृद्धि पर बल—औसत भारतवासी के भोजन में पोषक तत्वों को बढ़ाने के लिए सहायक अन्न पैदा करने के कार्यक्रम को भी बढ़ाया जायेगा। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आलू, शकरकन्द, टैपेओ और केले जैसे फल तथा मछली और दूध की पूर्ति बढ़ाने की व्यवस्था की जायेगी। साथ ही साथ व्यावसायिक फसलों की विविध योजनाओं पर भी अमल किया जा रहा है। इन सब फसलों के उत्पादन के लिए समुचित सुविधाएं भी उपलब्ध कराई जा रही हैं।

9 अनुकूल क्षेत्रों की उत्पादन क्षमता के बढ़ाने पर जोर—गहन कृषि जिला

कार्यक्रम तथा पैकेज प्रोग्राम—सन् 1959 ई० में भारत सरकार ने फोर्ड फाउन्डेशन (Ford Foundation) के विशेषज्ञों की एक समिति को आमन्त्रित किया, जिसका मुख्य कार्य भारतीय कृषि की समस्याओं का अध्ययन करना तथा उनका समाधान करना था। इन विशेषज्ञों ने देश के विभिन्न भागों का विधिवत अध्ययन करके अपनी रिपोर्ट 'India's Food Crisis and Steps to meet it' प्रेषित की। इस समिति ने बताया कि :

(1) यद्यपि देश के कृषि उत्पादन में पिछले कुछ वर्षों में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है, परन्तु प्रति एकड़ उपज नहीं बढ़ सकी है। इसके लिए तकनीकी प्रयोगों को और भी अधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

(2) लक्ष्यों को अति शीघ्र प्राप्त करने के लिए हमें सभी कृषि उन्नत करने के तरीकों को ऐसी जगहों में काम में लाना चाहिए, जहाँ पर इनसे शीघ्र ही फल प्राप्त होने लगे। खास कर ऐसे स्थान चुने जाय, जहाँ सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध हों और साथ ही फसलों की दैवी प्रकोप से रक्षा की जा सके।

फोर्ड फाउन्डेशन की उपर्युक्त सलाह मानते हुए भारत सरकार ने देश के खाद्योत्पादन में 50 से 60 प्रतिशत वृद्धि करने के लक्ष्य को ध्यान में रख कर गहन कृषि जिला कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme) तथा पैकेज कार्यक्रम (Package Programme) सन् 1960–61 से प्रारम्भ किया। यह कार्यक्रम उन जिलों में कार्यान्वित किया गया, जहाँ पर सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी तथा प्राकृतिक प्रकोपों की सम्भावना सबसे कम थी तथा साथ ही ऋण एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहकारी समितियां और पंचायतें पूर्ण उन्नत थी। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सर्वप्रथम सात जिलों को चुना गया। ये थे—तंजोर (मद्रास), पश्चिमी गोदावरी (आन्ध्र प्रदेश), शाहाबाद (बिहार), रायपुर (मध्य प्रदेश), अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश), पाली (राजस्थान), लुधियाना (पंजाब)। गहन कृषि जिला कार्यक्रमों की सफलता को देख कर इस कार्यक्रम को धीरे-धीरे शेष सभी राज्यों में भी प्रारम्भ कर दिया गया है। इस प्रकार इस समय केरल को छोड़ कर यह कार्यक्रम देश के प्रत्येक राज्य के एक-एक जिले में चल रहा है। केरल राज्य में इस कार्यक्रम को दो जिलों में चालू किया गया है।

इस कार्यक्रम के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. इस कार्यक्रम के पूर्व देश में ऋण एवं अन्य कृषिगत आवश्यकताएं समय पर समुचित रूप में पूरी नहीं होती थीं। लेकिन इस कार्यक्रम में कृषक की आवश्यकतानुसार सभी सामग्री उपलब्ध कराई जायेगी।

2. रासायनिक खाद, उन्नत बीज, यन्त्र तथा कीटनाशक पदार्थ आवश्यकतानुसार पूर्ण मात्रा में सहकारी समितियों के माध्यम से उपलब्ध कराये जायेंगे।

3. कृषि उपज की बिक्री से सम्बन्धित सभी बाधा को दूर किया जायेगा। इन क्षेत्रों में सहकारी विपणन की व्यवस्था होगी, जिससे कृषकों को अपनी फसलों का अच्छा मूल्य मिल सके।

4 भण्डार गृहों की सुविधाएं उपलब्ध कराई जायेगी।

5 खेती करने के उन्नत ढंग को किसानों तक पहुंचाने के लिए प्रदर्शनों का आयोजन किया जायेगा।

6 सम्बन्धित क्षेत्रों मे परिवहन के साधनों मे समुचित सुधार एव विकास किया जायेगा।

7 अधिक उत्पादन के लिए सम्पूर्ण गाव की एक योजना तैयार की जायेगी जिसमे उनके सामाजिक, आर्थिक जीवन को उठाया जायेगा तथा पशुओं के उत्थान पर भी बल दिया जायेगा।

8 प्रत्येक जिले मे अच्छे-अच्छे यन्त्रों के निर्माण, बीज-परीक्षण एव भूमि-परीक्षण प्रयोगशालाए भी स्थापित की जायेंगी।

9 योजना के पूरी हो जाने पर इस कार्यक्रम की सफलता अथवा असफलता जानने के लिए इसका मूल्यांकन किया जायेगा।

10 कार्यक्रम मे लगे कार्यकर्त्ताओं का स्थानान्तरण एव उन्नति उनकी पाँच वर्षों की प्रगति को ध्यान मे रख कर ही की जावेगी।

इस प्रकार गहन-कृषि-जिला-कार्यक्रम एक दस-सूत्रीय योजना के रूप मे चालू किया गया है। वर्तमान समय मे जबकि प्राकृतिक परिस्थितियां तथा विपरीत ऋतु-दशाओं ने हमे कृषि उत्पादन के लक्ष्यों मे पीछे छोड दिया है, गहनता की नीति ही एकमात्र इन समस्याओं से निपटने का उपाय है।

10 गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम—(Intensive Agricultural Area Programme) भारत मे 'गहन कृषि जिला कार्यक्रम' को कुछ सीमित क्षेत्रों मे ही अपनाया गया है, जिसके कारण इसकी उपयोगिता भी कुछ सीमित क्षेत्रों को ही मिल पायी है। अत इनके अनुभव के आधार पर पैकेज रीति (Package System) को देश के अन्य सभाव्य क्षेत्रों मे चालू किया गया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत भी कृषि-विकास-कार्य प्राय उसी प्रकार चलाए जाते हैं, जिस प्रकार गहन कृषि जिला कार्यक्रम चलाए जाते हैं। अन्तर सिर्फ इतना है कि इसके कार्यक्रम छोटे पैमाने पर होते हैं तथा व्यय मे भी बचत होती है। इसी कारण गहन कृषि विकास कार्यों को चालू करना अपेक्षाकृत कम खर्चीला है। भारत मे ये कार्यक्रम 1960–61 से चालू किये गये थे। इस कार्यक्रम का भी प्रमुख उद्देश्य प्रति एकड उपज बढाने के लिए

किसानों को कुछ उन्नत कृषि-रीतियों को एक साथ अपनाने को प्रोत्साहित करना है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 75 जिलों में 646 खण्ड धान के लिए 54 जिलों में 356 खण्ड ज्वार-बाजरे के लिए और 30 जिलों में 200 खण्ड गेहूँ के लिए छाँटे जा चुके हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत सरकार ने अपनी नवीन कृषि-नीति में कृषि उत्पादन वृद्धि के विषय में व्यावहारिक एवं शीघ्र फल देने वाली नीति अपनाई है। 1968 के प्रारम्भ होते-होते अल्पकालिक फसल लगाने, अधिक प्रतिफल देने वाले बीज खेती के क्षेत्र में डालने, छोटी योजनाओं का राष्ट्रीय आधार पर निर्माण करने, रासायनिक खाद जैसे उत्पादन साधनों (inputs) की पूर्ति और उत्पादन के लिए संगठन बनाने, सार्वजनिक खाद, कीटाणुनाशक औषधियों, खेती के औजारों, सुधरे हुये बीज तथा ऋण की व्यवस्था करने इत्यादि के रूप में, देश में वृहद् कार्यक्रम शुरू किया गया है। सरकार की इस नवीन नीति का किसानों ने सामान्यतः स्वागत किया है और वे नीति में प्रस्तावित कार्यक्रमों को उत्साह से अपनाने लगे हैं। इस प्रकार के बहुमुखी कार्यक्रमों से, देश निश्चय ही कुछ वर्षों में पैदावार बढ़ाने के लिए नए स्तरों तक पहुँच जायेगा।

नई कृषि नीति की समीक्षा—भारत में नई कृषि नीति देश के अनुकूल है अथवा नहीं है, इस पर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वान तो इसे देश की वर्तमान परिस्थितियों में आवश्यक मानते हैं, जबकि कुछ अन्य विद्वानों ने इस नीति की सफलता पर संदेह व्यक्त किया है। अतः दोनों प्रकार की विचारधाराओं का विवेचन करना उचित होगा।

नई नीति के समर्थकों का मत—इस नीति के समर्थकों के विचार है—

(1) इस नीति को अपनाकर हम अल्पकाल में ही 25 मिलियन टन अतिरिक्त खाद्यान्न का उत्पादन करके चौथी योजना के अन्त तक खाद्यान्नों के मामले में आत्म-निर्भर हो जायेंगे।

(2) भारत में कृषि उपज बढ़ाने वाले साधनों की पूर्ति सीमित है। इसलिए सीमित साधनों को चुने हुए क्षेत्रों में उपयोग करके हम सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त कर सकते हैं।

(3) नई नीति में उर्वरकों के प्रयोग पर अधिक जोर दिया गया है, इससे कृषि क्षेत्र में वर्तमान प्रतिफल प्राप्त हो सकेंगे।

(4) इस नीति के अन्तर्गत अपनाए जाने वाले IADP व IAAP कार्यक्रमों को धीरे-धीरे व्यापक बनाया जा सकेगा। उन्नति कृषि अवस्था को देखकर देश के

अन्य भागों के लोगों को इसी प्रकार के कार्यक्रम अपनाने के लिए आकर्षित किया जा सकता।

(5) यह नीति अ तोतगत्वा खाद्यान्नो की उपज में वृद्धि करने, विदेशी विनिमय को बचाने मे मदद देगी, जो अभी खाद्यान्न आयात करने मे चुकानी पडती है।

नई नीति के विरोध मे तर्क— भारत की नवीन कृषि नीति की आलोचना भी की गई है। प्रमुख आलोचना निम्न बातो को लेकर की जाती है —

(1) डी वी के आर वी राव का मत है कि नई नीति से क्षेत्रीय असमानताएँ उत्पन्न हो जायेंगी। इससे 6 करोड़ किसान परिवारो मे असन्तोष फैलेगा।

(2) नई नीति से सम्पन्न कृषक परिवारों म सम्पन्न क्षत्रो को अधिक लाभ पहुँचेगा और यह बात समाजवादी विचारधारा के प्रतिकूल होगी।

(3) श्री आर एस सावले (R S Savale) का मत है कि नई नीति मे उर्वरको पर सिंचाई से भी अधिक जोर दिया गया है, जो उचित नही है। कृषि विकास मे सिचाई को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त होना उत्पादन की दृष्टि से आवश्यक है।

(4) डा० पान्से (V G Panse) तथा कुछ अन्य विद्वानो ने उर्वरको की प्रस्तावित मात्राओ को अत्यधिक बतलाया है।

(5) कुछ विद्वानो ने नई नीति की इस आधार पर आलोचना की है कि इसमें भूमि सुधारों पर आवश्यक जोर नही दिया गया है।

(6) गहन कृषि जिला कार्यक्रम (IADP) के अ तर्गत कृषि उत्पादन मे आशानुकूल वृद्धि नही हुई है। अत यह कार्यक्रम अपने लक्ष्यो को प्राप्त कर सकेगा, इसके सम्बन्ध मे कुछ विद्वान आशान्वित नही है।

(7) डा पान्स ने विदेशी किस्म के बीजो की भारतीय परिस्थितियो मे बोये जाने की भी आलोचना की है। उनका मत है कि नवीन नीति के अधीन विदेशी बीजो को बगैर पर्याप्त प्रयोग एव अनुभव के बोना खतरे से खाली नही है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारत मे नवीन कृषि नीति का मिला जुला स्वागत हुआ है। यह सही है कि इस नीति के द्वारा अन्तोतगत्वा हमे कृषि उत्पादन के लक्ष्यो की प्राप्ति मे सफलता मिलेगी, लेकिन यह तभी होगा जब इस नीति को सोच समझ कर तथा परिस्थितियो का ध्यान मे रखते हुय अपनाया जाय। चूकि सरकार कृषि विकास के बारे मे व्यावहारिक कदम उठा रही है तथा किसानों मे भी

उत्पादन की नई विधि अपनाने में जोश दिखाई पड़ रहा है। अत ऐसी आशा की जा सकती है कि कृषि विकास की नई व्यूह रचना निश्चय ही भारतीय कृषि की उन्नति के पथ पर अग्रसर करेगी।

नवीन कृषि नीति की सफलता के लिए सुझाव व सफलता की शर्तें : भारतवर्ष में कृषि विषयक नवीन नीति उसी समय सफल हो सकती है, जबकि निम्नलिखित शर्तों का पालन किया जाय

(1) नवीन कृषि नीति से उसी समय अच्छे परिणामों की आशा की जा सकती है, जबकि उचित प्रकार के रसायनिक उर्वरकों का प्रयोग उचित मात्रा में तथा उचित समय पर किया जाय। इसलिए यह आवश्यक है कि उर्वरकों के वितरण की यथोचित व्यवस्था की जाय तथा इनके प्रयोग के सम्बन्ध में किसानों को समुचित प्रशिक्षण दिया जाय।

(2) भारत जैसे विशाल देश में मिट्टी में विविधता पाई जाती है। इसलिए जो बीज एक प्रकार की मिट्टी में अच्छे परिणाम देता है, यह आवश्यक नहीं है कि अन्य मिट्टियों में भी उससे अच्छे परिणाम प्राप्त हों। अत कृषि वैज्ञानिकों को मिट्टी का पर्यवेक्षण करना चाहिए तथा स्वल्प क्षेत्रों के लिए स्वल्प बीजों के विकास को प्रोत्साहित करना चाहिये।

(3) कृषि कार्यों के लिए कृषकों को कम ब्याज दर पर उचित मात्रा में उचित समय पर ऋण दिलाने की व्यवस्था की जानी चाहिए, अन्यथा कृषक नवीन कृषि नीति का फायदा नहीं उठा पायेंगे।

(4) चूंकि नवीन कृषि में परम्परावादी कृषि की अपेक्षा अधिक जोखिम है, अत इसकी सफलता के लिए कृषि मूल्यों की स्थिरता पर बल दिया जाना चाहिए, ताकि कृषकों को उनकी मेहनत व विनियोग का उचित पारिश्रमिक मिल सके।

(5) नवीन कृषि नीति की सफलता के लिए सरकारी विभागों, पंचायतों, सहकारी समितियों व अन्य इसी प्रकार की संस्थाओं में समन्वय स्थापित कराया जाना चाहिए तथा इन्हें नवीन नीति की सफलता के लिए उत्तरदायी ठहराना चाहिये।

(6) नवीन कृषि नीति को क्रियान्वित करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि इससे केवल धनी कृषक ही लाभान्वित न हों, अन्यथा इससे आय की असमानता में वृद्धि होगी। प्रगतिशील किन्तु निर्धन किसानों को, जो बहुसंख्यक हैं, को अधिकाधिक इस नीति को अपनाने के लिए प्रेरित करना चाहिये।

(7) फसलों को कीड़ों से बचाने के लिए प्रभावशाली कदम उठाये जाने चाहिए। इस दिशा मे कृषि रोग निरोधक उपायों को तथा फसल बीमा योजना को अपनाना चाहिए।

(8) भूमि सुधार कार्यक्रमो के अन्तगत जो कमिया रह गई है, उन्हे शीघ्रातिशीघ्र दूर किया जाना चाहिए। नवीन कृषि नीति की सफलता मुख्यत इस बात पर निर्भर करेगी कि कृषक की खुद काश्त सम्बन्धी समस्या शीघ्रातिशीघ्र हल की जाय।

प्रश्न

1 भारत म कृषि के सुधार के लिए गत कुछ वर्षो मे क्या कदम उठाए गए है ? उनके परिणामो की जाच कीजिए।

(राजस्थान वि वि द्वितीय वर्ष टी डी सी 1969)

2 भारतीय अर्थ–व्यवस्था म कृषि के महत्व पर प्रकाश डालिए। विगत पचवर्षीय योजनाओ म कृषि की दशा सुधारने के लिए उठाये गए महत्वपूर्ण कदमो का उल्लेख कीजिए।

3 भारतीय कृषि विकास की नवीन व्यूह रचना (New Agricultural Strategy) की समीक्षा कीजिए।

4 "भारतीय कृषि की दशा, पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत उठाए गए कदमो के बावजूद भी, शोचनीय ही बनी हुई है। आप इस कथन से कहा तक सहमत है ? भारत मे कृषि नीति की सफलता के लिए अपने सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

5 भारत मे कृषि विकास की नवीन व्यूह रचना के पक्ष व विपक्ष मे तर्क देते हुए अपने सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

6 निम्नलिखित पर टिप्पणिया लिखिए—

(क) पैकेज कार्यक्रम (Package Programmes)

(ख) गहन कृषि जिला कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme, IADP)

(ग) सामुदायिक विकास (*Community Development*)

(राजस्थान वि वि द्वितीय वर्ष टी डी सी कला 1969)

15

भारत में कृषि–साख

(Agricultural Credit in India)

"The lesson of universal history is that essential of agriculture is credit Neither the condition of the country, nor the nature af land tenure, nor the position of agriculture affects the one great fact that agriculturists must borrow"

—F. Nicholson

कृषि-क्षेत्र के लिए साख उपलब्ध कराने की व्यवस्था परमावश्यक है। साख की दृष्टि से स्वावलम्बी बन जाने के लिए सन् 1970–71 की अवधि तक देहाती क्षेत्रों की ऋण सम्बन्धी आवश्यकता लगभग 2,400 करोड रुपये आंकी गई थी। परन्तु भारतीय किसानों को कृषि-उपज बढाने के लिए सस्ती एवं समय पर साख उपलब्ध नही हो पाती। "आजकल जिस प्रकार कृषि-साख उपलब्ध है, वह उचित मात्रा से कही कम है, उचित प्रकार की नही है और आवश्यकता की कसौटी के सम्बन्ध मे प्राय सही व्यक्ति तक नही पहुच पाती।"[1] अत यह आवश्यक है कि सरकार कृषि-साख समस्या की चुनौती को स्वीकार कर, कृषकों को सस्ती एवं समय पर साख सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान करे। ग्रामीण साख सर्वेक्षण (Rural Credit Survey) के विवरण मे ठीक ही कहा है, "साख कृषक की उसी प्रकार से सहायता करती है जैसे फासी पर लटकते हुए व्यक्ति को जल्लाद की रस्सी।"[2]

कृषको की साख सम्बन्धी आवश्यकताएं अन्य उद्योगों की भांति कृषि उद्योग मे सफलता के लिए भी सस्ते एवं पर्याप्त ऋण की आवश्यकता है। भारतीय

1 'To-day the Agricultural credit that is supplied falls-short of the right quality, is not of right type does not e ve the right purpose and by c iterion of need often fails to go to the right people'
All India Rural Credit Survey

2 'Credit supports the farmer as th hangman s rope supports the hanged.'
Rural Credit Survey

किसान बहुत ही छोटी जोत पर जीवन निर्वाह के लिए कृषि कार्य करता है। उसकी आय इतनी कम होती है कि वह भूमि पर स्थायी सुधार नहीं कर सकता। वह दिन-प्रतिदिन के कृषि कार्य के ऊपर भी अपने पास से कुछ नहीं लगा सकता। फलस्वरूप भारतीय कृषि में साख-व्यवस्था को सुधारे बिना किसी प्रकार की उन्नति की कल्पना करना निराशाजनक होगा। भारतीय किसान के लिए साख की उपलब्धि नितान्त आवश्यक है। कृषकों की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं के बारे में श्री निकल्सन ने लिखा है, "किसानों को चालू खर्चों यथा बीज, खाद आदि का क्रय, पशु, औजार एवं कच्चे माल का क्रय, ऋण चुकाने, नयी भूमि खरीदने, सिंचाई एवं जल-निकासी की व्यवस्था करने, मकान आदि बनवाने, भोजन-वस्त्र खरीदने, मालगुजारी चुकाने विवाह एवं अन्य सामाजिक उत्सवों पर खर्च करने, गहने खरीदने, मुकदमे लड़ने आदि के लिए साख की आवश्यकता पड़ती है।"

भारतवर्ष में कृषि साख की पूर्ति के लिए कोई संस्थागत रूप नहीं है। ऋण देने के लिए महाजनों अथवा साहूकारों की तो कमी नहीं है, लेकिन उचित ब्याज-दर पर समयानुसार संगठित साख की कोई व्यवस्था नहीं है। प्रो० हैमिल्टन ने ठीक ही कहा है, "यहाँ गावों में बहुत बैंकर है, किन्तु बैंक एक भी नहीं है।"[1]

कृषि साख के प्रकार : यदि खेती से सम्बन्धित आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाय तो किसानों को निम्न तीन प्रकार के साख की आवश्यकता पड़ती है

1. अल्पकालीन ऋण - ये 15 माह से कम, अल्प अवधि के लिए, लिये जाते है। इनकी आवश्यकता खेती के चालू खर्चों जैसे बीज, खाद आदि को खरीदने फसल-कटाई एवं मजदूरी चुकाने, मालगुजारी देने आदि के लिए पड़ती है। अल्प-कालीन ऋण फसल के बाद चुका दिये जाते हैं या इनके चुकाये जाने की आशा की जाती है। इसे मौसमी ऋण भी कहा जाता है। केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति के अनुमान के अनुसार किसानों की अल्प-कालीन साख की वार्षिक आवश्यकता कम से कम 3 से 4 अरब रुपये तक है। डा० बल्जीतसिंह ने 3 से 6 अरब रुपये आका है।

2. मध्यकालीन ऋण मध्य-कालीन ऋण प्राय 15 महीनों से 5 वर्षों तक की अवधि के लिए लिये जाते है। इनकी आवश्यकता प्राय कुओं के निर्माण, पशु व कृषि के यन्त्र मोल लने, छोटे-छोटे कृषि-सुधार करने आदि के लिए पड़ती है।

3. दीर्घकालीन ऋण · ये ऋण प्राय 5 वर्षों से अधिक के लिए लिये जाते है। इस प्रकार के ऋणों की आवश्यकता पक्के कुओं, नलकूप लगवाने, तालाबों, बाधों

1. "People have many bankers but no bank."

Hamilton

एव पानी मोडने की नालिया बनवाने, ऊसर एव पहाडी क्षेत्रो को समतल करने जगलो को साफ करने, नहरें बनाने, भूमि सुधार, बाड लगाने, महगी व भारी मशीनें जैसे ट्रैक्टर खरीदने, आदि के लिए पडती है। केन्द्रीय जाच समिति के अनुसार किसानो की दीर्घकालीन साख की वार्षिक आवश्यकता कम से कम 2 अरब रुपये है।

भारत मे कृषि-साख के साधन रिजर्व बैंक के अनुसार भारत मे कृषि साख के निम्नलिखित साधन है —

ऋण का स्त्रोत	कुल साख का प्रतिशत (1951–1952)	कुल साख का प्रतिशत (1961–1962)
(अ) राजकीय एव सहकारी साधन		
(1) सरकार	3 3	2 6
(2) सहकारी समितियाँ	3 1	15 5
(3) व्यापारिक बैंक	0 9	0 6
		—— 18 7
(आ) व्यक्तिगत साधन		
(1) सम्बन्धियो से ऋण	14 2	8 8
(2) जमीदार	1 5	0 6
(3) कृषक महाजन	24 9	36 0
(4) पेशेवर महाजन	44 8	13 2
(5) व्यापारी एव आढतिया	5 5	8 8
(6) अन्य व्यक्ति	1 8	13 9
		—— 81 3
कुल योग	100 0	100 0

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारतीय कृषक को अपनी साख सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मुख्यत महाजनो पर निर्भर रहना पडता है, जो उसकी लगभग आधी ऋण-आवश्यकता की पूर्ति करते है। सहकारी समितियो एव अन्य सस्थाओ का योगदान बहुत कम है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण के अनुसार भारतीय किसान सभी प्रकार के कार्यों के लिए सभी साधनो से अनुमानत 150 करोड रुपयो का प्रति वर्ष ऋण लेता है।

(1) **सरकार द्वारा ऋण :** भारतवर्ष में राज्य सरकारें कृषकों को अल्प तथा दीर्घ-कालीन, दोनों प्रकार के ऋण देती है, जिन्हें तकावी ऋण (Taccavi Loans) कहते हैं। ये ऋण भूमि-सुधार अधिनियम 1883 एवं कृषक ऋण अधिनियम 1884 के अन्तर्गत दिये जाते हैं। प्रथम अधिनियम के अन्तर्गत किसान को भूमि में स्थायी सुधार करने के लिए दीर्घकालीन ऋण 20 वर्षों तक के लिए दिये जाते हैं, जिनकी अदायगी वार्षिक किश्तों में ब्याज (6 से 6½% ब्याज दर तक) सहित होती है। दूसरे अधिनियम के अन्तर्गत किसानों को उनकी चालू आवश्यकताओं, यथा, बीज, बैल, खाद, हल आदि खरीदने के लिए अल्प-कालीन ऋण दिये जाते है। ये बहुधा एक या दो वर्षों के लिए दिये जाते हैं और इन पर ब्याज-दर भी कम होती है।

सरकारी ऋणों के दोष—सरकार द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की पद्धति दोषपूर्ण है, फलस्वरूप ये ऋण किसानों में लोकप्रिय नहीं हो सके है। ये दोष इस प्रकार हैं—(i) इनके देने में बहुत समय लगाया जाता है, (ii) ये कुछ विशिष्ट कार्यों के लिए ही दिये जाते हैं, (iii) इन पर ब्याज दर अपेक्षाकृत अधिक है, (iv) इनको प्राप्त करने में कई वैधानिक कार्यवाहियाँ करनी पड़ती हैं, (v) सरकारी कर्मचारी अवैध रूप से इनमें से अपना कमीशन काट लेते हैं, (vi) इन ऋणों को वसूल करने में कठोरता बरती जाती है, तथा (vii) छोटे किसानों को ऋण कठिनाई से प्राप्त होता है।

तकावी ऋणों को उपयोगी बनाने के लिए सरकार को चाहिए कि वह इन्हें समय पर दे, इनका प्रचार जनता में करे तथा इन्हें वसूली करने में सख्ती न बरते।

(2) **सहकारी साख समितियाँ** (Co-operative Credit Societies) गाँवों में सहकारी साख समितियों की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य किसानों को साहूकारों एवं महाजनों के चंगुल से छुड़ाना है। यही एक ऐसा साधन है जो कि ग्रामीण क्षेत्रों में साहूकारों के एकाधिकार को समाप्त कर उन्हें उचित ब्याज दर पर ऋण देने के लिए बाध्य कर सकता है। इस समय देश में दो लाख से अधिक कृषि साख समितियाँ है, जिनकी सदस्यता दो करोड़ से भी अधिक है। ये समितियाँ ऋण-सम्बन्धी सुविधाओं के साथ-साथ किसानों का मानसिक एवं नैतिक उत्थान भी करती हैं। *एक अनुमान के अनुसार ये समितियाँ ग्रामीण परिवारों की 15 से 26 प्रतिशत* माँग की पूर्ति करती है। ये समितियाँ अल्पकालीन, दीर्घकालीन एवं अनुत्पादक—तीनों प्रकार के ऋण देती हैं। इन समितियों को सरकारी सहायता प्राप्त होती रहती है।

सन् 1951–52 में, रिजर्व बैंक के ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण के अनुसार सहकारी ऋण समितियाँ किसानों के कुल ऋण का केवल 3 प्रतिशत भाग ही देती थीं। तब से सहकारी ऐजेन्सी को सबल बनाने के लिए कई प्रयास किये गये, ताकि

वह अधिकाधिक मात्रा में कृषि ऋण देने में समर्थ हो सके। फलस्वरूप सन् 1961–62 में किसानों के कुल वार्षिक उधार में सहकारी समितियों द्वारा दिये गये ऋण का अनुपात 15.5 प्रतिशत हो गया, अर्थात् उस वर्ष इन समितियों ने कुल मिला कर 244 करोड़ रुपये का ऋण दिया। इन समितियों द्वारा दी जाने वाली ऋण की मात्रा में हाल के वर्षों में काफ़ी वृद्धि हुई है। सन् 1967–68 में इन समितियों द्वारा वितरित अल्प एवं मध्य-कालीन ऋणों की राशि 460 करोड़ रुपये थी। इसके अलावा इन समितियों के द्वारा 75 करोड़ रु० दीर्घ-कालीन ऋण के रूप में दिये गये। सन् 1969–70 में लगभग 540 करोड़ रुपये के ऋण सहकारी समितियों द्वारा अल्प व माध्यम काल के लिए दिए गए। इसी वर्ष, केन्द्रीय भूमि विकास बैंकों के माध्यम से 153.3 करोड़ रुपये की दीर्घकालीन साख दिलाई गई।

सहकारी साख समितियों की कमियां सहकारी साख समितियाँ भी आशानुकूल लोकप्रिय नहीं हो सकी है और आज भी ग्रामीण जनता महाजनों के चंगुल से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाई है। सहकारी साख समितियों की असफलता एवं कमियों के सम्बन्ध में सहकारी योजना समिति तथा अन्य कई विद्वानों ने निम्न कारण बतलाये है

(i) सहकारी उदासीनता, (ii) जनता की निरक्षरता, (iii) आन्दोलन का कृषकों के सम्पूर्ण जीवन पर न फैल पाना, (iv) प्रारम्भिक साख समितियों के आकार का छोटा होना, (v) अवैतनिक सेवाओं पर निर्भर होना, (vi) दोषपूर्ण सचालन, (vii) सड़कों व भण्डारों का अभाव, (viii) असीमित उत्तरदायित्व, (ix) सदस्यों का दोषपूर्ण चुनाव, (x) आन्तरिक मतभेद, (xi) पक्षपात, तथा (xii) अनियमित भुगतान इत्यादि।

सहकारी साख समितियों के उक्त दोषों को दूर करके इन समितियों में नये जीवन के सुधार करने की आवश्यकता है, तभी ये संस्थायें और अधिक लोकप्रिय हो सकेंगी।

3 साहूकार या महाजन (Money Lenders) किसानों को साख प्रदान करने वाले स्रोतों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्रोत ग्रामीण साहूकार या महाजन है। अति प्राचीन समय से यह किसानों को ऋण देते आये हैं और आज भी हमारी कृषि-सम्बन्धी साख का सर्वाधिक भाग इन्हीं के द्वारा दिया जाता है। साहूकार दो प्रकार के होते हैं—(i) पेशेवर एवं (ii) गैर-पेशेवर। वे साहूकार जो रुपये के लेन-देन के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्रों में माल खरीदने व बेचने का धंधा भी करते है, पेशेवर साहूकार कहलाते हैं। कृषि साख के क्षेत्र में ये महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। गैर-पेशेवर साहूकार में जमींदार या समृद्ध किसान आते है, जिनका व्यवसाय रुपया

उधार लेना-देना तो नहीं है, परन्तु धन पास होने पर ये धरोहर रख कर रुपया उधार दे देते हैं।

ये दोनों वर्ग मिल कर कृषकों की साख सम्बन्धी 49% आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। पेशेवर महाजन तो व्यक्तिगत साख पर उत्पादन या अनुत्पादन, दोनों ही प्रकार के ऋण, बिना किसी खास लिखा-पढ़ी के तुरन्त दे देते हैं।

ऋण की साहूकारी प्रथा के दोष इस प्रथा में धीरे-धीरे दोष आने लगे और साहूकारों ने स्वार्थवश ग्रामीण समाज का शोषण करना शुरू कर दिया। साहूकार प्रथा के कुछ दोष इस प्रकार हैं (i) ऋण देते समय अग्रिम वर्ष तक का ब्याज काट लेना, (ii) ऋण देने से पहले 'गिरह खुलाई' अर्थात् दक्षिणा की माँग करना, (iii) कोरे कागज पर किसान से दस्तखत करा लेना या अगूठे का निशान लगवा लेना, ताकि नियमित रूप से ब्याज न वसूल होने पर मनमानी रकम लिखी जा सके, (iv) ब्याज या मूलधन प्राप्ति की रसीद नहीं देना, (v) ऋण सम्बन्धी लिखा-पढ़ी में ऋण से अधिक रकम दर्ज कर लेना, (vi) ब्याज की दर बहुत अधिक होना और चक्रवृद्धि दर से ब्याज वसूल करना। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) ने ठीक ही कहा है "ऋण देने में उसे जो असुविधा, जोखिम उठानी पड़ती है, उनको देखते हुए उनके द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर बहुत अधिक प्रतीत होती है।" (vii) ये महाजन किसानों को अनुत्पादक कार्यों के लिए भी सुगमता से ऋण दे देते हैं, तथा (viii) ऋणों को भूमि या जायदाद का बिक्रीनामा पहले से ही दस्तखत कराके रख लेते हैं, ताकि भुगतान न मिलने पर वे उनकी जायदाद हड़प सके।

साहूकारों द्वारा दी जाने वाली साख के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए प्रो॰ स्ट्रिकलैण्ड ने कहा है, "साहूकार द्वारा प्रदान की जाने वाली साख का प्रमुख दोष यह नहीं है कि ब्याज-दर ऊँची होती है अथवा हिसाब-किताब झूठे होते हैं, वरन यह है कि वे अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण देते हैं और फसल होने पर भी वे अपने ऋण के भुगतान के लिए आग्रह नहीं करते। स्वभावतः उनका उद्देश्य केवल यह होता है कि उनका रुपया उचित प्रकार से विनियोजित होता रहे और वे केवल ब्याज पर ही जीवित रहे।"

साहूकारों की इसी शोषण-प्रवृत्ति की ओर बम्बई बैंकिंग जाँच समिति ने ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है, "साहूकार के लेन-देन का ढंग इस प्रकार का है कि एक बार उसके फेर में पड़ कर उससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है।"

सुझाव कृषि वित्त उप-समिति (गाड्गिल समिति) ने ऋण की महाजनी प्रथा के दोषों को दूर करने के अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं, यथा—(i) महाजनों

का अनिवार्य पंजीयन (रजिस्ट्रेशन), (ii) महाजनों को लाइसेंस देना, (iii) निर्धारित विधि के अनुसार हिसाब-किताब रखा जाना, (iv) महाजनों के बहीखातों व हिसाब-किताब का समय-समय पर निरीक्षण किया जाय, (v) महाजनों द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर सीमित की जाय (vi) अनुचित वसूलियों का निषेध किया जाय, (vii) प्राप्त किये धन की रसीद देना, तथा (viii) ऋण लेने वालों को समय समय पर ब्यौरा देना आदि।

उक्त सिफारिशें व्यावहारिक न होने के कारण क्रियान्वित नहीं की जा सकी हैं। साहूकारी प्रथा के दोष अब भी बने हुये हैं और इसके हाथों किसानों का शोषण हो रहा है। कृषकों में शिक्षा तथा सहकारिता की भावना के प्रसार से ही इस प्रथा से मुक्ति मिल सकती है। बंगाल अकाल आयोग (Bengal Famine Commission) ने साहूकारी प्रथा में सुधार करने का सुझाव देते हुए कहा था, "व्यक्तिगत महाजन अभी बहुत समय तक गाव में ऋण बांटने के काम को मुख्य रूप से करता रहेगा। इस बात को स्वीकार कर लेने के आधार पर ही ग्रामीण साख के सम्बन्ध में कोई नीति बनाई जानी चाहिए, साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इस प्रणाली में भी सुधार करना पड़ेगा।

4 **व्यापारिक बैंक** (Commercial Banks) इन बैंकों का कृषकों से सीधा सम्बन्ध नहीं है। सहकारी साख समितियों तथा सरकारी एजेन्सियों को सहयोग देकर ये बैंक परोक्ष रूप से किसानों को वित्तीय सहायता दे सकते हैं। ये बैंक कृषि-विकास योजना के लिये आर्थिक सहायता देने वाले 'लैंड मार्टगेज बैंकों' के ऋण पत्रों में रकमें लगाते हैं। इसके अलावा ये बैंक उन उद्योगों में भी रकम लगाते हैं, जो उर्वरक तथा खेती के औजार सबंधी जरूरतों की पूर्ति करते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से कृषकों को ऋण देने में ये बैंक पूर्णतः असमर्थ है। अभी तक स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने ही इस सबंध में कुछ कार्य किया है। अन्य बैंकों ने ग्रामीण वित्त में कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं दिया है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने व्यापारिक बैंकों के सम्बन्ध में ठीक ही कहा था, "जैसे-जैसे व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली कृषक की ओर बढ़ती है, वैसे-वैसे वह धीमी पड़ने लगती है और कृषक के द्वार पर पहुंच कर तो नितान्त गति-शून्य हो जाती है।" सन् 1967 ई० में रिजर्व बैंक ने एक देहाती ऋण समीक्षा समिति की रचना की थी। इस समिति का मुख्य काम तो ऐसे तौर-तरीकों को सुझाना था, जिनके जरिये वर्तमान कृषि ऋण व्यवस्थाओं को मजबूत बनाया जा सके, ताकि पंचवर्षीय योजना में बढ़ती हुई कृषि ऋण सम्बन्धी मांग को पूरा किया जा सके। इस समिति में खास तौर से कहा गया था कि वह कृषि ऋण के सम्बन्ध में व्यापारिक बैंकों के योग-दान की जांच करे। अक्टूबर 1967 में इस समिति के साथ

बैंक वालो की लाभप्रद बातचीत हुई थी। आशा है कि इन विचार-विमर्शों से बैंक वालो को कृषि क्षेत्र के प्रति अपने नये रुख अपनाने मे मदद मिलेगी।[1] सन् 1968 ई० मे व्यापारिक बैंको ने कृषको को अधिक ऋण देने का फैसला किया था। सन् 1969 ई० मे बैंको के राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप यह आशा की जाने लगी है कि स्टेट बैंक आफ इण्डिया तथा अन्य व्यापारिक बैंक अब किसानो को सीधे ऋण प्रदान करने लगेंगे। हाल ही मे रिजर्व बैंक द्वारा व्यापारिक बैंको को कृषि के लिए ऋण देने के लिए नई सुविधाए तथा प्रोत्साहन देने की घोषणा की गई थी। सन् 1969-70 मे व्यापारिक बैंको ने ग्रामीण क्षेत्रो मे 1300 नए बैंक खोले थे। राष्ट्रीयकरण के बाद से व्यापारिक बैंको द्वारा कृषि वित्त की दिशा मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई गई है। जून 1971 मे किसानो के खातों की सख्या 8 लाख से भी अधिक हो गई थी। जून 1971 तक व्यापारिक बैंक द्वारा कृषि साख के रूप मे 6 अरब 43 करोड रुपये के ऋण दिए जा चुके थे।

5 सम्बन्धियो से ऋण (Debts from Relatives) किसानो को अपने सम्बन्धियो से भी ऋण प्राप्त होता है। सन् 1951-52 के ऋण सर्वेक्षण के अनुसार किसानो को अपने सम्बन्धियो से कुल ऋण का 14 प्रतिशत भाग प्राप्त होता था। सन् 1961 62 मे यह भाग घट कर 8 8 प्रतिशत रह गया। इस प्रकार के ऋणो पर सामान्यत ब्याज नही लिया जाता तथा इनकी वसूली की शर्तें भी आसान होती है। इस प्रकार के ऋण किसानो को सुविधाजनक लगते है।

6 **भूमि बन्धक बैंको द्वारा कृषि-साख की व्यवस्था** किसानो की दीर्घ-कालीन ऋणो की आवश्यकता भूमि बन्धक बैंको द्वारा पूरी होती है। ये बैंक किसानो की भूमि को धरोहर म रख कर उन्हे दीर्घ-कालीन ऋण प्रदान करते हैं। भूमि-बन्धक बैंको से मिलने वाले ऋण की ब्याज की दर कम होती है और उसको काफी समय बाद लौटाया जाता है। इस प्रकार ये ऋण कृषि विकास मे बहुत सहायक हो सकते है। यद्यपि गत कुछ वर्षो मे भूमि-बन्धक बैंको ने काफी प्रगति की है, तथापि किसानो की साख-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति म उनका योगदान कम रहा है। इन बैंको द्वारा प्रति वर्ष जो रुपया दीर्घ-कालीन ऋणो के रूप मे दिया जाता है, वह सर्वथा अपर्याप्त होता है। केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंको की सख्या 1951-52 मे 6 थी जो 1969-70 मे बढ कर 19 हो गई, जबकि प्राथमिक भूमि विकास बैंको की सख्या इसी अवधि मे 289 से बढकर 809 हो गई। इसी अवधि मे इनके द्वारा उधार दिए गए ऋणो की मात्रा 3 करोड रुपये से बढ कर 153 करोड रुपये हो गई।

7 **कृषि-साख के क्षेत्र मे रिजर्व बैंक का योगदान** रिजर्व बैंक प्रत्यक्ष रूप से

---

1 'कृषि वित्त वाणिज्यिक बैंको के लिए चुनौती,' डॉ० ए० सी० शाह, उद्यम, जुलाई, 1968

कृषकों को ऋण नहीं देता, वरन् राज्य सहकारी बैंकों के माध्यम से देता है। राज्य सहकारी बैंकों से केन्द्रीय सहकारी बैंक को और प्राथमिक सहकारी समितियों को ऋण मिलता है और ये संस्थायें अन्ततोगत्वा किसानों को ऋण देती हैं। सन् 1950-51 में रिजर्व बैंक द्वारा 3 करोड़ रुपये का ऋण दिया गया था, जबकि सन् 1970-71 में ये बढ़कर 420 करोड़ रुपया हो गया। रिजर्व बैंक की राशि का वितरण सहकारी साख समितियों के माध्यम से होता है।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति 1954 के सुझाव पर दीर्घकालीन कृषि-साख की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक ने दो कोषों की स्थापना की :

(क) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long-term Operations) Fund] : यह कोष 3 फरवरी, 1956 को स्थापित किया गया। इस कोष में सरकार ने प्रारम्भ में 10 करोड़ रुपया जमा के रूप में दिये तथा अगले पाँच वर्षों में रिजर्व बैंक द्वारा प्रतिवर्ष 5 करोड़ रुपया जमा करने की व्यवस्था थी। इस कोष के उद्देश्य हैं : (i) राज्य सरकार को 20 वर्ष की अवधि के लिए ऋण तथा अग्रिम देना ताकि वे सहकारी संस्थाओं के अंश खरीद सकें; (ii) राज्य सहकारी बैंकों को 15 महीने से 5 वर्ष की अवधि के लिए मध्यकालीन ऋण देना, (iii) केन्द्रीय भूमि-बंधक बैंकों को अधिक से अधिक 20 वर्षों की अवधि के लिए ऋण देना, तथा (iv) रिजर्व बैंक द्वारा केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र खरीदना।

30 जून 1971 को इस कोष में 190 करोड़ रुपये जमा थे और इसमें से कुल 66 करोड़ रुपये उधार दिया हुआ था।

(ख) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund] इस कोष को 30 जून, 1956 को स्थापित किया गया था। इस कोष का उपयोग राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण तथा अग्रिम देने के लिए किया जाता है। इस कोष में जून 1956 से अगले 5 वर्षों में प्रतिवर्ष 1 करोड़ रुपया रिजर्व बैंक द्वारा जमा किये जाने की व्यवस्था थी। 30 जून 1971 तक इस कोष में 30 करोड़ रुपये जमा थे और इनमें से 5 करोड़ रुपये के ऋण बकाया थे।

रिजर्व बैंक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्र खरीद कर, कृषि पुनर्वित्त निगम के अंश खरीदकर, सहकारी बैंकों के कर्मचारियों को प्रशिक्षित कर तथा इन बैंकों का निरीक्षण आदि करके कृषि साख के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है। इस प्रकार भारतवर्ष में कृषि-साख के क्षेत्र में रिजर्व बैंक एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

8 **कृषि-साख के क्षेत्र मे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का योगदान :** स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना सन् 1955 मे हुई (इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके)। यह बैंक कृषि-साख के क्षेत्र मे निम्न कार्य कर रहा है (i) इसने किसानों मे बैंक प्रवृत्ति को लोकप्रिय बनाने के लिये ग्रामीण क्षेत्रो मे अपनी शाखाये खोली है। 30 दिसम्बर सन् 1971 तक इन शाखाओं की संख्या 2477 थी, (ii) यह बैंक सहकारी साख समितियो को कम ब्याज-दर पर अल्पकालीन ऋण देता है, (iii) यह बैंक सहकारी विपणन एव विधायन समितियो को कृषि-वस्तुओ के विपणन मे सहायता देता है, तथा (iv) यह बैंक वस्तुओं के संग्रह के लिये गोदामो के निर्माण को प्रोत्साहित करता है (v) यह बैंक भूमि-बन्धक बैंको को सहायता देता है।

स्टेट बैंक ने सन् 1969 मे छोटे किसानो की चालू पूँजी सम्बन्धी आवश्यकता पूरी करने के लिए एक योजना लागू की है, जिसके अन्तर्गत पशु-पालन एव कुटीर उद्योगो के विकास के लिए उधार दिया जा सकता है। इस योजना के अन्तर्गत भूमि विकास के लिए मध्यमकालीन ऋण भी दिए जा सकते है। लघु कृषक योजना की सफलता के लिए स्टेट बैंक कुछ गाँवो को (बालक की भाँति) गोद ले लेता है और उनमे रहने वाले सभी सजग किसानो को सभी प्रकार के कृषि कार्यो के लिए आर्थिक सहायता देता है।

9 **कृषि पुनर्वित्त निगम** 8 मार्च 1963 को भारत सरकार ने रिजर्व बैंक की सहायता से कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना की है। इसका उद्देश्य कृषि के लिए मध्यकालीन एव दीर्घकालीन ऋणो की व्यवस्था करना है। यह निगम सहकारी व अन्य कृषि वित्त संस्थाओ को ऋण देकर उनके साधनो को बढाता है। यह निगम 5 करोड रुपये की पूँजी से प्रारम्भ किया गया था। 5 करोड रुपये इसे केन्द्रीय सरकार ने ब्याज-मुक्त-ऋण के रूप मे दिया था। निगम की अधिकृत पूँजी 25 करोड रुपये है। इसके अशदाता मे रिजर्व बैंक, केन्द्रीय सहकारी बैंको, भूमि-बधक बैंको, जीवन बीमा निगम, अनुसूचित बैंको के नाम उल्लेखनीय है। निगम का प्रबन्ध 9 सदस्यो के एक सचालक मण्डल द्वारा किया जाता है, जिसके अध्यक्ष रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग के डेप्युटी गवर्नर है।

यह निगम मुख्यत कृषि साख की पुनर्वित्त संस्था है। यह कृषि विकास के बडे-बडे कार्यक्रमो के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करता है, जिनके लिए केन्द्रीय सहकारी बैंको तथा भूमि बन्धक बैंको से पर्याप्त सहायता नही मिल पाती। इस निगम द्वारा जिन कार्यों के लिये सहायता दी जाती है वे है: (i) भूमि को कृषि-योग्य बनाने के लिये ऋण देना ताकि उपलब्ध सिंचाई सुविधाओ का उपयोग पूरी तरह किया जा सके, (ii) सुपारी, काजू, इलायची, अगूर आदि विशेष प्रकार की फसलो

के विकास के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करना, (iii) यान्त्रिक खेती के लिये आवश्यक कृषि-यन्त्र, जैसे ट्यूब-वैल तथा पम्पिंग सेटों द्वारा बिजली के प्रयोग के लिए आर्थिक सहायता, तथा (iv) पशुपालन, डेरी फार्मों तथा मुर्गी पालन आदि योजनाओं के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करना।

इस निगम से केन्द्रीय भूमि-बंधक बैंक, राज्य सहकारी बैंक, अनुसूचित बैंक तथा सहकारी समितियाँ ऋण व अग्रिम के रूप में अधिक से अधिक 25 वर्षों तक के लिए वित्तीय सहायता प्राप्त कर सकती हैं। या तो इन संस्थाओं को उचित व पर्याप्त जमानत देने की आवश्यकता पड़ती है अथवा मूलधन व ब्याज के भुगतान के लिये सरकार के आश्वासन पर ही ऋण दिया जाता है। 30 जून 1970 को समाप्त होने वाले वर्ष में इस निगम ने काफी प्रगति दिखाई। इस समय तक इसने कुल 59 करोड़ रुपए की राशि वितरित की थी। 1969-70 में इसने 142 योजनाएँ स्वीकृत की थी जिनमें कुल 92.78 रुपए व्यय किए जाने थे। 1969-70 में इसने 28.60 करोड़ रुपए की राशि वितरित की थी।

10 **कृषि वित्त निगम**—इसकी स्थापना अप्रैल 1968 में की गई। इसकी अधिकृत पूंजी 100 करोड़ रुपए तथा परिदत्त पूंजी > करोड़ रुपये हैं। यह निगम व्यापारिक बैंकों को कृषि साख बढ़ाने में सहयोग प्रदान करता है। इस निगम ने राज्य बिजली बोर्डों, केरल बागान निगम लिमिटेड आदि को वित्तीय सहायता प्रदान की है। इसकी वित्तीय सहायता के फलस्वरूप ही पम्प सेटों की बिक्री में वृद्धि हुई है। इस निगम ने विभिन्न साख प्रदान करने वाली संस्थाओं में समन्वय स्थापित करके कृषि वित्त की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि कृषि साख के क्षेत्र में कई संस्थायें अपना योगदान दे रही है, तथापि इनके सम्मिलित प्रयासों के बावजूद भी ये सुविधायें, देश के कृषि क्षेत्र की विशालता को देखते हुए कम है। किसानों को पर्याप्त मात्रा में एवं सस्ती ब्याज दर पर ऋण की उपलब्धि कराना परमावश्यक है, क्योंकि वर्त्तमान समय में साहूकारों पर प्रतिबन्ध लग जाने के फलस्वरूप तथा जमींदारी प्रथा के समाप्त हो जाने के कारण, किसानों को इन स्रोतों से ऋण नहीं प्राप्त हो रहा है और दूसरी ओर कृषि-विकास को प्रोत्साहन देने के कारण इनकी साख सम्बन्धी मांगें बढ़ गई हैं। कृषि वित्त की मांग वास्तव में क्रमागत मांग है, जो बढ़ती हुई कृषि के साथ बढ़ती जायेगी। अतः कृषि साख के विस्तार के लिये और अधिक प्रयत्न किये जाने चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव महत्त्वपूर्ण है :—

1. सहकारी साख समितियों का विस्तार किया जाना चाहिये, क्योंकि ये समितियां कृषि साख के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। इन

समितियों या प्रबन्ध कुशल कर्मचारियों के हाथ में होना चाहिए तथा इन्हें वसूल न होने वाले तथा लगातार बढ़ने वाले ऋणों की संख्या घटानी चाहिये। सहकारी साख समितियों तथा सहकारी बिक्री संस्थाओं में समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए तथा कृषकों में उपज ऋण (Crop Loans) को बढ़ावा देना चाहिये। किसानों को अपनी उपज सहकारी बिक्री समितियों के माध्यम से ही बेचनी चाहिये।

2 तकावी ऋण व्यवस्था को सरल बनाना चाहिये। इसके अन्तर्गत अधिक एवं समय पर ऋण मिल जाने चाहियें। यदि ये ऋण भी सहकारी साख समितियों के माध्यम से दिलाये जायें तो इनके दोष दूर हो जायेंगे और सहकारिता को बल मिलेगा। भारत सरकार को अमरीकी सरकार की तरह प्रत्याभूत ऋण निगम (Guaranteed Credit Corporation) खोलने चाहिये, जो किसानों की ऋण सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

3 रिजर्व बैंक को मध्य एवं दीर्घकालीन ऋणों की अधिकाधिक व्यवस्था करनी चाहिये। *इसे चाहिये कि यह देशी बैंकों को अपने आधीन ले ले। रिजर्व बैंक* विभिन्न संस्थाओं से किसानों को दिये जाने वाले ऋणों में समन्वय का कार्य भी कुशलतापूर्वक कर सकती है।

4 व्यापारिक बैंकों को कृषि-साख के क्षेत्र में अधिकाधिक सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

5 लाइसेन्स-शुदा गोदामों (Licensed Ware Houses) की सुविधाओं में विस्तार किया जाना चाहिये, ताकि किसान इन गोदामों में अपनी उपज जमानत पर रख कर बैंकों से सस्ती ब्याज दर पर ऋण प्राप्त कर सकें।

6 ग्रामीण क्षेत्रों में बचत के लिये किसानों को उत्साहित करना चाहिए और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए डाकखानों को गाँव-गाँव तक पहुँचाना चाहिये तथा सहकारी समितियों का विकास किया जाना चाहिये।

7 भूमि-बन्धक बैंकों का अधिक विस्तार किया जाना चाहिये तथा इनका व्यापक जाल बिछाना चाहिये। इन्हें कुशल स्टॉफ रखना चाहिये। किश्तों की समय पर वसूली होनी चाहिए तथा इन्हें भूमि के क्रय एवं सुधार पर जोर देना चाहिये।

8 महाजनों को साख-सम्बन्धी कार्य करने के लिए लाइसेंस लेना चाहिये तथा उचित ब्याज लेने के लिए उन्हें बाध्य किया जाना चाहिये। रिजर्व बैंक को चाहिये कि वह इन पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखें, जिससे किसानों का शोषण न हो।

9. कृषि-वित्त के क्षेत्र में सहयोग करने वाली तमाम संस्थाओं को उत्पादक ऋणों पर ही जोर देना चाहिए।

10 सन् 1950 ई० में ग्रामीण ऋण जाँच समिति ने सन् 1954 ई० में ग्रामीण पर्यवेक्षण समिति, सन् 1960 ई० में बैकुण्ठ लाल समिति तथा अन्य समितियों

ने ग्रामीण वित्त व्यवस्था को सुधारने के लिए जो महत्वपूर्ण एवं व्यावहारिक सुझाव दिये हैं, उन्हें शीघ्रातिशीघ्र अपनाना चाहिए।

11 किसानों द्वारा लिया गया ऋण कृषि कार्य को प्रोत्साहित करता है अथवा नहीं, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यदि किसानों को नकद ऋण न देकर वस्तुओं के रूप में दिया जाय, तो यह कृषि कार्य में ही व्यय किया जायेगा।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि साख

(Agricultural Credit in the Five Year Plans,

प्रथम पंचवर्षीय योजना इस योजनावधि में सरकार तथा सहकारी संस्थाओं द्वारा 1955-56 ई० तक 43 करोड़ रुपए का कृषि-साख प्रदान किया गया। इसमें से 30 करोड़ रुपए अल्पकालीन, 10 करोड़ रुपए मध्यकालीन तथा 3 करोड़ रुपए दीर्घकालीन ऋण के रूप में दिए गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना सरकार तथा सहकारी समितियों द्वारा इस योजनावधि में कुल 241 करोड़ रु० कृषि साख के रूप में प्रदान किए गए। इसमें 203 करोड़ रुपए अल्प एवं मध्यकालीन साख के रूप में दिए गये तथा शेष 38 करोड़ रुपए दीर्घकालीन साख के रूप में थे।

तृतीय पंचवर्षीय योजना इस योजनावधि में सरकार तथा सहकारी समितियों द्वारा कुल 550 करोड़ रुपयों का ऋण प्रदान किया गया। इसमें से दीर्घ तथा मध्यम कालीन साख की मात्रा 400 करोड़ रुपए तथा अल्पकालीन साख की मात्रा 150 करोड़ रुपए थी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना 1969–74 इस योजना के अन्तर्गत सन् 1973 74 तक 1050 करोड़ रुपये के ऋण वितरित करने का लक्ष्य है, सहकारी संस्थाओं द्वारा चतुर्थ योजना में 700 करोड़ रुपए कृषि साख के लिए दिए जाने का प्रावधान है। योजनावधि में भूमि-विकास बैंकों का भी पर्याप्त विस्तार किया जायेगा। चौथी योजना में एक मुख्य प्रयत्न यह किया जायेगा कि छोटे किसानों के हित साधन के लिए सहकारी ऋण समितियों और भूमि विकास बैंकों की नीति का और कार्य प्रणालियों में अनुकूल परिवर्तन किया जाय। इस योजनाकाल में सहकारी बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में और अधिक शाखाएं खोलने में सहायता दी जायेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृषि-क्षेत्र में साख उपलब्ध कराने की समस्या हमारे लिए एक गम्भीर चुनौती बन गई है। "विभिन्न एजेन्सियों द्वारा जो कृषि साख आजकल प्रदान की जा रही है, वह ठीक मात्रा से कम है, ठीक प्रकार की नहीं है तथा आवश्यकता की कसौटी को ध्यान में रखते हुए बहुधा ठीक व्यक्तियों तक नहीं पहुंच पाती।" अतः कृषि साख के दोषों को दूर कर पर्याप्त मात्रा में, सस्ते

ब्याज पर कृषकों को ऋण दिलाने की व्यवस्था अनिवार्य है। इस क्षेत्र में सहकारी साख समितियों को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। गोरवाला समिति ने ठीक ही कहा है, "सहकारिता असफल रही है, परन्तु सहकारिता को अवश्य सफल होना है।" समय की मांग है कि ग्रामीण, ऋण उपलब्ध कराने में व्यापारिक बैंक तथा सहकारी साख समितियां मिल कर कार्य करें। इस प्रकार इनके सम्मिलित प्रयास से कृषि वित्त की समस्या सफलतापूर्वक सुलझाई जा सकती है।

ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता की समस्या
(The Problem of Rural Indebtedness)

ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के सम्बन्ध में शाही कृषि आयोग का यह कथन सर्वथा सत्य है, "भारतीय कृषक ऋण में जन्म लेता है, ऋण में अपना जीवन व्यतीत करता है, ऋण में ही मर जाता है।"[1] ऋण-ग्रस्तता किसानों के लिए अभिशाप और देश की कृषि के पिछड़ेपन का एक महत्वपूर्ण कारण है। श्रीमती वीरा एन्स्टे ने ऋण-ग्रस्तता को कृषि के पिछड़े होने का एक महत्वपूर्ण कारण बतलाया है। भारतीय किसानों की ऋण-ग्रस्तता को श्री उल्फ (Wolff) ने इस प्रकार व्यक्त किया है, "देश महाजन के चंगुल में फँसा हुआ है, ऋण की बेड़ियों ने कृषि को जकड़ रखा है।"[2]

ग्रामीण ऋण की प्रकृति : भारतीय किसानों को प्रायः तीन प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है—दीर्घ-कालीन, मध्य-कालीन एवं अल्प-कालीन। इन ऋणों की प्रकृति दो प्रकार की होती है :—

(क) उत्पादक ऋण : उत्पादन कार्यों के लिए लिये जाने वाले ऋण उत्पादक ऋण कहलाते हैं। भूमि-सुधार सम्बन्धी ऋण खाद, बीज, पशु, औजार, कुँआ आदि के सम्बन्ध में खर्च करने के लिए लिये जाने वाले ऋण, उत्पादक ऋणों की श्रेणी में आते हैं। भारत में इन ऋणों की मात्रा अपेक्षाकृत कम रही है।

(ख) अनुत्पादक ऋण : उपभोग या सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाए रखने के सम्बन्ध में लिये जाने वाले ऋण अनुत्पादक ऋण कहलाते हैं। दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये शादी-ब्याह या मुकदमेबाजी आदि के लिये जो ऋण लिये जाते हैं, वे अनुत्पादक ऋणों की श्रेणी में आते हैं।[3]

---

1. "The Indian peasant is born in debt lives dies in debt and bequeathes debt." Report of Royal Commission on Agriculture. p. 265.

2. "The country is in the grip of Mahajans. It is the bonds of debt that shackle agriculture."—*Wolff*

3. ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (गोरवाला समिति) 1951-54.

कृषि-ऋण की सीमा . समय-समय पर अनेक विद्वानों एवं समितियों ने ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता की सीमा के अनुमान लगाये है, जिससे भारत की ग्रामीण ऋण ग्रस्तता की मात्रा पर प्रकाश पड़ता है। ये अनुमान इस प्रकार है —

वर्ष	अनुमानकर्त्ता	ऋण की मात्रा (रुपयों में)
1911	सर एडवर्ड मैकलागन	300 करोड
1924	श्री एम० एल० डार्लिंग	600 ,,
1931	केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति	900 ,,
1935	डा० पी० जे० थॉमस	1,200 ,,
1935	डा० राधा कमल मुखर्जी	1,200 ,,
1937	कृषि साख विभाग—रिजर्व बैंक	1,800 ,,
1951	अ० भा० साख सर्वेक्षण समिति	750 ,,
1954	ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति	364 रुपये प्रति परिवार
1962	रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया	2,789 करोड (406 रुपये प्रति परिवार)

उक्त तालिका के अनुमानो से पता चलता है कि द्वितीय विश्व-युद्ध तक ग्रामीण ऋण की मात्रा मे उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है, किन्तु इस युद्ध के कुछ समय बाद तक ग्रामीण ऋणग्रस्तता मे कमी आई है। इसका प्रमुख कारण खाद्यान्नो एवं अन्य कृषि-उपजो के मूल्य मे वृद्धि एवं किसानो की आर्थिक स्थिति मे सुधार माना जा सकता है। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद वाले दशक मे ऋण-ग्रस्तता मे पुनः वृद्धि हुई है, जैसा कि रिजर्व बैंक की ग्रामीण ऋण एवं विनियोग सर्वेक्षण रिपोर्ट 1965, से पता चलता है। इस रिपोर्ट के अनुसार जून 1962 में भारत मे कुल ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता की मात्रा 2,789 करोड रुपए थी। ऋण-ग्रस्त व्यक्तियों मे 75% कृषक थे जिन पर 2,380 करोड रुपयें का ऋण-भार था। औसत किसान परिवार पर ऋण-भार 406 रुपये था। केवल 1961–62 के वर्ष मे ही ग्रामीण जनता द्वारा 1332 करोड रुपये ऋण लिए गए, जो कि प्रति परिवार 180 आता है। इस प्रकार हम देखते है कि भारत के गाँवो मे रहने वाले लोग अभी तक समृद्ध नही हो सके हैं। ग्रामीण ऋण केवल पुराने ही नही, वरन अब भी लिए जाते है।

ऋणग्रस्तता के कारण · भारतीय कृषकों की ऋणग्रस्तता के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं .

1 *कृषकों की निर्धनता* राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार प्रति कृषक परिवार की वार्षिक आय 500 रुपये है। आय की इस कमी के कारण किसान गरीब है और उन्हे प्रायः परिवार के भरण-पोषण के लिए ऋण लेना पडता है।

निर्धनता के कुचक्र में फँसा हुआ भारतीय किसान अपनी क्षुधा शान्त करने के लिए साहूकारों एवं किसानों से ऋण लेता है। निर्धनता किसान को ऋण लेने के लिए बाध्य करती है और निर्धनता के कारण ही वह ऋण वापस नहीं कर पाता, जो उस पर बोझ बन जाता है।

2 **अनार्थिक जोतों का बाहुल्य** देश में लगातार उप-विभाजन एवं अपखण्डन के फलस्वरूप कृषि जोतों का रूप अनार्थिक हो गया है। खेती से पर्याप्त आय नहीं प्राप्त होती, जिससे ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। श्री एम एल डार्लिंग ने ठीक ही कहा है, "बिना ऋण लिए कुछ एकड़ भूमि पर किसी परिवार का पालन-पोषण करने के लिए बुद्धि, परिश्रम तथा मितव्ययता की आवश्यकता होती है, जो प्राय गर्म देशों में नहीं पाई जाती। ऋण लिए बिना गुजर-बसर करना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार से कि अटलाण्टिक महासागर के तूफान को झेलना एक नाव के लिए असम्भव होता है। भारत में खेत बहुत छोटे व बिखरे हुए होते हैं और प्रकृति का व्यवहार भूमि पर भी विनाशक हो सकता है, जितना कि समुद्र पर।"[1]

3 **कृषि भूमि पर जनभार में वृद्धि** भारतवर्ष में प्रति वर्ष जनसंख्या एक करोड़ की वृद्धि से बढ़ रही है। इस बढ़ी हुई जनसंख्या में लगभग 70 लाख लोग ग्रामीण क्षेत्र में बढ़ते हैं इसलिए जनसंख्या का भूमि पर भार लगातार बढ़ता जा रहा है, जिससे प्रति व्यक्ति औसत आय कम होती जा रही है चूंकि अपनी आमदनी से उनका काम नहीं चलता, इसलिए बाध्य होकर कृषकों को ऋण लेना पड़ता है। ऋण लेने के साथ-साथ इनकी गरीबी बढ़ती है तथा वे ऋण चुकाने में असमर्थ हो जाते हैं।

4 **कृषि की अनिश्चितता** भारतीय कृषि वर्षा पर निर्भर करती है। ठीक समय पर एवं पर्याप्त मात्रा में वर्षा न होने पर फसल बिगड़ जाती है और जीवन-यापन के लिए ऋण का सहारा लेना पड़ता है। इसलिए भारतीय कृषि को मानसून का जुआ कहा गया है।

5 **प्राकृतिक प्रकोप** बाढ़, अकाल, फसलों के रोग एवं टिड्डी-दलों के आक्रमण के कारण उत्पादन अत्यन्त कम हो जाता है। ये प्रकोप प्राय आया करते हैं और प्रकोपों के वर्ष किसानों को ऋण जरूर लेना पड़ता है।

6 **किसान की अस्वस्थता** असन्तुलित एवं अपौष्टिक भोजन मिलने के कारण किसान प्राय बीमार रहता है। उसकी कार्यक्षमता कम हो जाती है, जिससे वह कम उत्पादन कर पाता है। एक ओर बीमारी के कारण उसकी आमदनी कम हो जाती है तथा दूसरी ओर दवा-दारू में उसका खर्चा बढ़ जाता है। फलस्वरूप उसे ऋण लेना पड़ता है।

1 M L Darling Punjab Peasantry in Prosperity & Debts, P 262

7 पैतृक ऋण : ग्रामीण ऋणों की वृद्धि का एक प्रमुख कारण यह भी है कि पैतृक ऋण न्यायोचित प्रतिबन्ध के अभाव में पिता से पुत्र को हस्तान्तरित होता रहता है। इसीलिए कहा जाता है कि भारतीय कृषक को ऋण विरासत में मिलता है। वह ऋण में ही पैदा होता है, ऋण में ही रहता है और ऋण में ही मरता है। इस प्रकार ऋण पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता है।

8 कृषकों की अशिक्षा : अशिक्षित होने के कारण वह महाजन से ऋण लेते समय अंगूठा लगा देता है। महाजन मनचाही रकम भरता रहता है और ऋण व्याज-सहित ही नहीं पाता है। अशिक्षा के कारण ही किसान अच्छे वर्षों में भी मितव्ययता नहीं कर पाते तथा आए दिन अनावश्यक खर्च करके अपने सिर पर अनावश्यक ऋण का बोझ लाद लेते हैं, जो उन्हें जिन्दगी भर ढोना पड़ता है।

9 कृषकों की फिजूलखर्ची : भारतीय किसान शादी, मृत्यु, श्राद्ध आदि सामाजिक व धार्मिक उत्सवों पर पानी की तरह पैसा खर्च करता है, जिससे वह सदैव ऋणग्रस्त रहता है। *एक अनुमान के अनुसार भारतीय किसान अपने ऋण का* 40 से 50 प्रतिशत भाग सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों पर व्यय करने के लिए लेता है। ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण (1951-52) के अनुसार कृषक के कुल ऋण का लगभग 47 प्रतिशत भाग पारिवारिक खर्चों के लिए तथा शेष खेती के कार्यों के लिए था। पारिवारिक खर्चों में से 40 प्रतिशत विवाहों तथा अन्य उत्सवों व मुकदमेबाजी के लिए, 35 प्रतिशत मृत्यु के समय व्यय के लिए, तथा 30 प्रतिशत बीमारी तथा दवाइयों के लिए था।

10 मुकदमेबाजी की आदत : किसान बहुत सा धन तो मुकदमेबाजी में ही नष्ट कर देता है। डार्लिंग के अनुसार, "अक्सर यह कहा जाता है कि एक एकड़ के एक बहुत छोटे से भाग तक के लिए, हाईकोर्ट तक मुकदमा लड़ा जाता है तथा फौजदारी के मुकदमों में हजारों रुपये व्यय कर दिये जाते हैं।"[1] मुकदमेबाजी के लिए किसानों को ऋण लेना पड़ता है, अतः अत्यधिक मुकदमेबाजी भी ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता का एक कारण है। मुकदमेबाजी के लिए भारतीय न्याय-पद्धति एवं भूमि-प्रथा भी किसी हद तक उत्तरदायी है।

11 महाजनों द्वारा शोषण : महाजन भोले-भाले किसानों को मनमाना लूटते हैं, अत्यधिक ब्याज लेते हैं, लिखा-पढ़ी में गड़बड़ी करते हैं तथा जायदादें हड़प जाते हैं। कहने का तात्पर्य है कि एक बार उनके चंगुल में फंस कर वह निकल नहीं पाता, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऋणग्रस्त बना रहता है। श्री एम० एल० डार्लिंग ने महाजनों द्वारा किसानों के इस शोषण का वर्णन करते हुए उचित ही कहा है,

1. M L Darling—Punjab Peasantry in Prosperity & Debt, p 76.

"किसान अपने लाभ से उसी प्रकार वंचित कर दिये जाते हैं, जिस प्रकार कि भेड़ अपने ऊन से वंचित कर दी जाती है।"[1]

12 पशु-धन की हानि चारे के अभाव एवं बीमारियों की भरमार के कारण पशु-धन का असामयिक विनाश हो जाता है। पशुओं के रोग संक्रामक एवं घातक होते हैं। एक साथ सैकड़ों पशु मर जाते हैं। अतः नये पशु खरीदने के लिए उसे ऋण लेना पड़ता है, क्योंकि पशुओं के बिना खेती नहीं की जा सकती।

13 सरकारी भूमि कर-नीति : श्री रमेशचन्द्र दत्त एवं अन्य अनेक विद्वानों ने ग्रामीण ऋणग्रस्तता का प्रमुख कारण भूमि-कर की अधिकता बताया है। ये कर प्रायः ऐसे समय पर एवं ऐसी कठोरता से वसूले जाते हैं कि इन्हें चुकाने के लिए किसानों को महाजनों से ऊँची दरों पर ऋण लेने पड़ते हैं। सिंचाई-करों का भी प्रायः यही असर होता है।

14 ब्याज की ऊँची दर ब्याज की ऊँची दर के कारण एक बार ऋण लेने के बाद उसे चुकाना कठिन हो जाता है। बम्बई जाँच समिति के अनुसार, "यह बात नहीं है कि कृषक बहुत कम ऋण चुकाता है। वास्तव में वह अधिक चुकाता है। ये तो ऊँची ब्याज की दर तथा महाजन की अनुचित चालें हैं, जो कि किसान की ऋणग्रस्तता में कमी नहीं होने देतीं।" भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) रिपोर्ट के अनुसार साहूकार व महाजनों द्वारा ली जाने वाली ब्याज दर कहीं-कहीं, जैसे बिहार व उत्तर प्रदेश में 30 प्रतिशत, पश्चिम बंगाल व हिमाचल प्रदेश में 40 प्रतिशत तथा उड़ीसा में 70 प्रतिशत तक पाई गई है।

15 दोषपूर्ण विपणन प्रणाली . ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात की असुविधा तथा कृषकों की निर्धनता एवं विवशता के कारण उन्हें अपनी फसल को गाँवों में ही बेचना पड़ता है। प्रायः महाजन ही समस्त फसल के आधे दाम लगा कर अपना उधार चुकता कर लेता है और किसानों को अपनी फसल का न्यायोचित मूल्य नहीं मिल पाता और वह ऋण लेने के लिए विवश होता है।

16 सहायक धन्धों का अभाव कुटीर उद्योगों का पतन हो जाने के कारण किसानों के पास अब सहायक धन्धों से प्राप्त आमदनी नहीं है, जिससे उनमें अर्द्ध-बेरोजगारी की स्थिति फैल गई है। इस स्थिति में किसानों को भरण-पोषण के लिए ऋण लेना पड़ता है। वर्ष के तीन, चार महीनों के अतिरिक्त वे प्रायः बेकार रहते हैं।

---

1 'The raiyat was as easily shorn of his gains as the sheep of its fleece.'' —*M. L. Darling, Ibid*

17 भूमि के मूल्य मे वृद्धि भारतीय किसानो मे अधिक भूमि प्राप्त करने की लालसा पाई जाती है। भूमि का मूल्य अब पहले से कई गुना बढ गया है, अत उन्हे पहले से अधिक ऋण लेने की आवश्यकता होती है।

18 खती मे उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता किसान पैदावार बढाने के लिए ऋण द्वारा अच्छे खाद, बीज, यत्र आदि का प्रयोग करता है, लेकिन पैदावार उसे आनुपातिक रूप से घटती दर पर प्राप्त होती है, जिससे ऋण बना रह जाता है।

19 कृषको की आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन अच्छी फसलो के होने तथा भूमि के मूल्य बढ जाने के कारण, किसानो की ऋण लेने की शक्ति (भूमि को धरोहर रख कर) भी बढ गई है। फलत सीधा सादा किसान अधिक ऋण लेकर ऋणी का ऋणी ही बना रहता है। श्री एम एल डार्लिंग ने ठीक ही कहा है, "फसलो की अनिश्चितता के समान ही फसलो की सम्पन्नता भी भारतीय कृषको की ऋण-ग्रस्तता का कारण बन जाती है।"

20 सरकारी नीति अग्रेजी शासन-काल मे जमीदारो द्वारा कठोरतापूर्वक लगान वसूल किया जाता था। अन्य कई प्रकार से उनका शोषण किया जाता था, जिससे कृषक ऋणग्रस्त रहता था। यही परिपाटी कई पिछडे इलाको मे अब भी पाई जाती है। किसानो को ऋण लेने की आदत सी पड गई है।

इस प्रकार भारतीय कृषक की पिछडी हुई अवस्था उसे ऋण लेने को बाध्य करती है। परिस्थितिवश वह ऋण लेने को बाध्य है। चूँकि उसके अधिकाश ऋण अनुत्पादक है तथा कृषि व्यवसाय अनिश्चित एव अल्पाभकारी है, अत उसकी ऋण-ग्रस्तता की समस्या भी स्थायी-सी ही बन गई है।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता के दुष्परिणाम

ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कई दुष्परिणाम दृष्टिगोचर होते है, जिनमे से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं— (i) कृषक अधिकाधिक निर्धन होता जाता है और उसके रहन-सहन का स्तर भी गिरता जाता है (ii) कृषि उत्पादन पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है, क्योकि किसान बेमन से काम करता है। वह जानता है कि जो कुछ पैदा होगा, महाजन ले जायेगा, (iii) उसे भूमि को गिरवी रख कर ऋण लेना पडता है जिसे अन्तत महाजन हडप जाता है, (iv) ऋणग्रस्तता से कृषको का नैतिक पतन होता है, क्योकि ऋणी होने के कारण उसे साहूकारो की कई अनुचित प्रकारो से सेवा करनी पडती है, (v) कभी-कभी ऋणग्रस्तता के कारण उसे बेगार भी करनी पडती है, (vi) ऋणग्रस्तता के कारण ही उसे अपनी उपज का पूरा मूल्य नही मिल पाता, (vii) भूमि कृषको के हाथ से अकृषक वर्ग के हाथ मे चली जाती है, जिससे भूमिहीन कृषि

श्रमिक वर्ग का उदय होता है, (viii) ऋणग्रस्तता भूमि-सुधार के मार्ग में रोड़े अटकाती है, तथा (ix) इससे राजनैतिक एवं सामाजिक असंतोष फैलता है और अन्ततः साम्यवाद को बढ़ावा मिलता है। इस संदर्भ में डा० थॉमस का निम्नलिखित कथन बड़ा उपयुक्त प्रतीत होता है "ऋणग्रस्त समाज आवश्यक रूप से एक सामाजिक ज्वालामुखी है। विभिन्न वर्गों के मध्य असंतोष पैदा होना स्वाभाविक है और यह निरन्तर बढ़ता हुआ असंतोष खतरनाक होता है। सम्भव है कि यह कभी भी क्रान्ति का रूप न ले तो भी बार बार पैदा होने वाला असंतोष क्रान्ति से भी अधिक भयंकर होता है। इससे अकुशलता स्थायी बनती है और पुनर्निर्माण के कार्य रुक जाते हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'ऋणग्रस्तता ने भारतीय किसान को आर्थिक दृष्टि से दिवालिया, सामाजिक दृष्टि से हीन तथा नैतिक दृष्टि से पतित बना दिया है।' प्रो० अलक घोष ने ठीक ही कहा है, "ऋण के भार ने किसान को कठोर बना दिया है, उसकी कार्य-क्षमता नष्ट हो गई है और अपने कार्य के प्रति उसका कोई उत्साह नहीं रहा है। इसका परिणाम कम उत्पादन, निरन्तर ऋणग्रस्तता और पैतृक ऋणों के रूप में हमारे सम्मुख है। इन सबके पारस्परिक दूषित प्रभाव के कारण भारतीय कृषि की प्रगति बिल्कुल रुक गई है और उसमें समृद्धि के दर्शन नहीं होते। ग्रामीण ऋण किसान को उसी तरह सहारा दिये हुए है, जिस तरह जल्लाद का रस्सा फांसी की सजा पाये व्यक्ति को सहारा देता है।'[1]

ऋणग्रस्तता को दूर करने के लिए सुझाव

यह ऋणग्रस्तता समाज में आर्थिक कुचक्र को जन्म देती है। अतः कृषकों को इससे मुक्ति दिलाना आवश्यक है। इस संदर्भ में ये सुझाव उचित हैं— (i) कृषकों में शिक्षा का प्रसार किया जाय (ii) पुराने ऋणों के परिशोध के लिए उचित अधिनियम बनाये जाने चाहिये, (iii) सहकारी साख आन्दोलन को सुदृढ़ किया जाय, (iv) ऋण देने वाली एजेन्सियों को केवल उत्पादक ऋण देने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, (v) कृषि उत्पादन में बाधक कठिनाइयों को दूर किया जाना चाहिए, (vi) मालगुजारी की दर कम होनी चाहिए तथा संकट के समय इससे मुक्ति की व्यवस्था होनी चाहिए (vii) आर्थिक संकट के समय कृषकों को आर्थिक सहायता;

---

1 The volume of indebtedness made him callous undermined his efficiency and destroyed his initiative for work The result was low productivity, perpetual indebtedness and ancestral debts All these worked in a vicious circle and virtually sub merged Indian agriculture in a stagnant pool devoid of progress and prosperity Rural credit supports the farmer as a hangman's rope supports the hanged'

—Alak Ghosh

(viii) कुटीर व सहायक उद्योगो का विकास किया जाना चाहिए, (ix) महाजनो की शोषण-नीति की समाप्ति; (x) किसानो की फिजूल खर्ची की आदत कम करके बचत को प्रोत्साहन देना चाहिए, (xi) मुकदमेबाजी से बचाने के लिए ग्राम पचायतो का पुनर्गठन करना चाहिए, (xii) कृषि उपज के विक्रय की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए, तथा (xiii) प्रचार द्वारा सामाजिक व्ययो को कम करके अपव्यय को रोकना चाहिए तथा सरकारी सहयोग प्रदान करना चाहिए।

ऋणग्रस्तता को दूर करने के लिए किये गये सरकारी प्रयत्न

ग्रामीण ऋणग्रस्तता से कृषि एव कृषको को मुक्ति दिलाने के लिए सरकार ने कई महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं —

भूमि के मुक्त हस्तान्तरण के फलस्वरूप किसान भूमि की जमानत के आधार पर मनमाना ऋण लेते हैं। इससे ऋण लेने-देने को प्रोत्साहन मिलता है और धीरे-धीरे किसानो की जमीन महाजनो के हाथ मे जाने लगती है।

(1) भूमि हस्तान्तरण पर रोक ऋण के बदले किसान की भूमि हड़प लेने के महाजन के प्रलोभन को रोकने के लिए राज्य सरकारो ने कानून बनाये हैं। अब यह व्यवस्था की जा चुकी है कि ऋण के बदले किसान की भूमि साहूकार को नही दी जा सकती, चाहे वह काश्तकार हो या नही। सन् 1901 ई० का पजाब भूमि बेदखली अधिनियम इस सदर्भ मे प्रथम उल्लेखनीय विधान है। आजकल भूमि के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध के साथ-साथ किसानो के औजारो, पशुओ तथा मकान के कुर्की तथा नीलामी पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। किसान की गिरफ्तारी पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया है तथा ऋणो के किस्तो मे भुगतान करने की व्यवस्था भी कर दी गई है।

(2) कृषक सहायता अधिनियम इस सम्बन्ध मे सन् 1879 ई० मे दक्षिण भारत मे एक अधिनियम पारित किया गया था, जिसका नाम दक्षिण कृषक सहायता अधिनियम रखा गया, जिसके अनुसार ऋणो के कारणो की जाच तथा ऋणदाताओ व कृषको के बीच हुए प्रसविदो की जाँच की व्यवस्था की गई। किसानो को दिवालिया घोषित करने की प्रक्रिया निर्धारित की गई। ब्याज मूलधन व ऊँची ब्याज दर को कम करने की व्यवस्था की गई।

(3) ऋण को अनिवार्य रूप से कम या समाप्त करने की व्यवस्था ऋण समझौता विधानो को कार्यान्वित करने मे स्वेच्छा के सिद्धान्त से समझौतो मे शीघ्रता नही हो पाती थी, इसीलिए इसे सुचारू रूप से कार्यान्वित करने के लिए कानून द्वारा ऋण को अनिवार्य रूप से कम करने की व्यवस्था की गई। इस सम्बन्ध मे तामिलनाडु, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, गुजरात, उत्तरप्रदेश, मैसूर तथा केरल मे अधिनियम बन चुके

है। इसके अन्तर्गत (i) ऋणो की बकाया रकमो तथा ब्याज-दरो को कम करने की व्यवस्था, (ii) आगामी वर्षों के लिए ब्याज-दर निश्चित करने की व्यवस्था, तथा (iii) बकाया ऋणों को रकम को इस प्रकार की व्यवस्था की गई है कि महाजन द्वारा वसूली की गई कुल धन-राशि मूलधन के दुगने से अधिक न हो पाए।

(4) साहूकारो पर नियत्रण. शाही कृषि आयोग ने किसानो को ऋण से छुटकारा दिलाने के लिए साहूकारो की क्रियाओ पर नियत्रण लगाने की सिफारिश की थी। अत विभिन्न राज्यो मे सन् 1930 के बाद साहूकारो व महाजनो द्वारा शोषण को रोकने के लिए कई कदम उठाये गये है। ये कदम है, (1) महाजनो की रजिस्ट्री एव लाइसेन्स ऋण लेने तथा देने के लिए, अपना व्यवसाय प्रारम्भ करने से पूर्व महाजनो को रजिस्ट्री करा कर लाइसेन्स लेना जरूरी बना दिया गया है, ताकि गडबडी करने पर उनका लाइसेन्स रद्द किया जा सके। पजाब, बिहार, बगाल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र तथा उत्तर प्रदेश मे इस सम्बन्ध मे व्यवस्था की जा चुकी है। (2) कानून द्वारा यह आवश्यक बना दिया गया है कि महाजनो को लेन-देन का हिसाब नियमित रूप से रखना चाहिए। (3) कर्ज के लिए ब्याज की अधिकतम दर निश्चित कर दी गई है तथा कई प्रान्तो मे चक्र-वृद्धि ब्याज लेने पर पाबन्दी लगा दी गई है। (4) महाजनो द्वारा अब किसान के औजार, पशु तथा मकान कुर्क नही कराये जा सकते है।

(5) ऋण समझौता विधान केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति की सिफारिशो के आधार पर महाजन तथा ऋणी दोनो के पारस्परिक समझौते के अनुसार ऋण राशि को कम करने की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार का अधिनियम सर्वप्रथम मध्यप्रदेश मे सन् 1933 मे पारित हुआ था जिसके अनुसार ऋण राशि को कम करने के लिए ऋण समझौता बोर्ड (Debt Conciliation Board) की व्यवस्था की गई थी। इसी प्रकार के अधिनियम, पजाब, बगाल, आसाम, मद्रास में क्रमश सन् 1934, 1935, तथा 1936 में पारित हुए। यद्यपि इन सभी राज्यो मे समझौता विधान की कार्यवाही भिन्न भिन्न है, फिर भी इनमे कुछ समानता पाई जाती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत 3 से 9 सदस्यों का एक समझौता बोर्ड बनाया जाता है, जिसका अध्यक्ष एक सरकारी अधिकारी होता है। इस बोर्ड मे ऋणी तथा ऋणदाता दोनो के प्रतिनिधि भी रहते है। बोर्ड के सामने दोनो पक्ष अपना मामला प्रस्तुत करते है। ऋण-दाता की आर्थिक स्थिति को दृष्टिकोण मे रखते हुए बोर्ड द्वारा ऋण की राशि कम कर दी जाती है और ऋण वसूली के लिए 15 या 20 वर्षों की किस्त निर्धारित कर दी जाती है।

ऋण समझौता बोर्डों को मध्य प्रदेश, बगाल, तमिलनाडु तथा पजाब मे काफी सफलता मिली है। लेकिन किसान के पास घटी हुई ऋण राशि चुकाने के साधन भी न होने के कारण कुछ कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसान

जब तक अपने ऋण की अन्तिम किश्त नहीं चुका देता, तब तक उसे अन्यत्र से ऋण नहीं मिल सकता।

(6) वैकल्पिक एजेन्सी की व्यवस्था सरकार ने सन् 1904 ई० से सहकारी साख आन्दोलन चला रखा है, जिसके माध्यम से सरकार ग्रामीण कृषकों को कम ब्याज पर ऋण देने की व्यवस्था करती है। इस क्षेत्र में साख समितियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन्हीं के कारण साहूकारों को भी अपनी ब्याज दर नीची करनी पड़ी है। सहकारी साख के अन्तर्गत अल्पकालीन ऋण के लिए सहकारी साख समितियों का तथा दीर्घकालीन ऋणों के लिए भूमि-बन्धक बैंकों की स्थापना की गई है।

(7) हितकारी विभागों की स्थापना इन विभागों का उद्देश्य कृषि व्यवसाय को लाभप्रद बनाना है। इनके द्वारा कृषि-सुधार के अनेक उपायों से, जैसे चकबन्दी, अच्छे औजार, कृषि उत्पादन बढ़ता है और कृषकों की आर्थिक दशा सुधरती है। फलस्वरूप उसे ऋण लेने की कम आवश्यकता पड़ती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे ऋण सम्बन्धी कानून प्रगतिशील हैं, तथा इनसे भारतीय कृषकों को बहुत कुछ राहत मिली है। सहकारी साख समितियों के खोले जाने के फलस्वरूप तथा विगत द्वितीय विश्व युद्ध में मूल्य वृद्धि के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में ऋणग्रस्तता में कुछ कमी अवश्य आई है, लेकिन यह कहना उपयुक्त न होगा कि ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या का समाधान हो गया है। ऋण सम्बन्धी कानूनों का किसानों द्वारा पूरा फायदा नहीं उठाया गया है, क्योंकि अशिक्षा एवं निर्धनता ने उनके रास्ते में बाधाएं उत्पन्न कर दी है। सरकार ने विगत कुछ वर्षों में कृषि वित्त दिलाने के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं, जिनका पहले विवेचन किया जा चुका है, लेकिन इन सभी उपायों से समस्या की गम्भीरता को ही कम किया जा सकता है, उसे पूरी तरह से सुलझाया नहीं जा सकता। इसका अन्तिम उपचार तो केवल कृषि की उन्नति में है। जब तक भारत में कृषि उद्योग को लाभदायक नहीं बनाया जाता, तब तक किसानों को ऋण लेने की आवश्यकता पड़ेगी तथा ऋणग्रस्तता भी बनी रहेगी।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या भारतीय किसानों एवं देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए एक जटिल समस्या बनी हुई है। जब तक इस समस्या पर अनेक दिशाओं से विचार नहीं किया जायेगा, तब तक इसके हल होने की सम्भावना नहीं है। सरकार द्वारा इस क्षेत्र में किये गये कार्यों से किसानों को राहत अवश्य मिली है, परन्तु इस दिशा में अभी और भी बहुत कुछ करना बाकी है। अभी इस समस्या का स्पर्श मात्र ही हुआ है। इसके स्थायी हल के लिए सरकार को अपनी सामाजिक व आर्थिक

नीतियो मे महत्वपूर्ण परिवर्तन करना पड़ेगा देश की पंचवर्षीय योजनाए तथा सामुदायिक योजनाए इस दिशा मे प्रशसनीय प्रयत्न कर रही है।

प्रश्न

1 भारत मे ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारण तथा दोष बताइये। इस समस्या को सुलझाने के लिए क्या क्या साधन अपनाये गए हैं ?

(राज० टी० डी० सी० प्रथम वर्ष, कला, 1966, 1967)

2 भारत मे बढती हुई कीमतो के कारण ग्रामीण ऋण बढ रहा है या घट रहा है ? इस समस्या के समाधान के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करें।

(राज० टी० डी० सी० कला, तृतीय वर्ष 1967)

3 ग्रामीण भारत की वर्तमान वित्त व्यवस्था पर एक टिप्पणी लिखिये। क्या स्थिति सतोषजनक है ? यदि नही, तो स्थिति सुधार के लिए अपने सुझाव दीजिए।

(राज० बी० ए० 1964)

(4) Is rural indebtedness increasing or decreasing in India ? How would you like to solve this problem ?

(Raj T D C Third Yr Arts 1964)

खण्ड-चतुर्थ

उद्योग व श्रम

16

भारत में कुटीर व लघु उद्योग

(Cottage and Small Scale Industries in India)

"In the present and foreseeable future, cottage and village industries have an essential place in Indian economy and have to be encouraged in every way India would become an industrialised nation only when there are lakhs of units of small industries functioning in different parts of the country

—**Jawahar Lal Nehru**

भारतीय अर्थ व्यवस्था मे कुटीर एव लघु उद्योगो का अत्यधिक महत्व है। महात्मा गाँधी के शब्दो मे भारत का मोक्ष उसके कुटीर उद्योगो मे ही निहित है। भारतवर्ष मे यद्यपि आज बड बडे उद्योगो का विकास हो रहा है, तथापि कुटीर एव लघु उद्योगो के महत्व पर इसका तनिक भी असर नही पडा है। भारतवर्ष की बढती हुई जनसख्या, ग्रामीण क्षत्रो की निर्धनता एव फैली हुई बेकारी तथा अर्द्ध-बेकारी के सदर्भ मे कुटीर उद्योगो का महत्व सदा बना रहेगा। सच तो यह है कि भारतवर्ष के ग्रामीण क्षत्रो की समस्याएँ उस समय तक हल नही की जा सकतो, जब तक देश मे कुटीर एव लघु उद्योग धन्धो के क्षेत्रो मे समुचित विकास नहो किया जाएगा।

अर्थ एव परिभाषा

कुटीर उद्योग ये उद्योग मुख्य रूप से परम्परागत पद्धति पर चलाए जाते है और परम्परागत वस्तुओ का उत्पादन करते है। इनमे वैतनिक श्रम का बहुत कम या बिल्कुल ही प्रयोग नही होता तथा केवल परिवार के सदस्यों की सहायता से ही चलाये जाते हैं। ये उद्योग पूर्ण कालिक अथवा अश कालिक हो सकते है। साधारणत ये उद्योग कृषि से सम्बन्धित होते हैं तथा ग्रामीण क्षत्रो मे स्थापित होते है। इस प्रकार के उद्योगो से पूजी की अपेक्षा श्रम की ही प्रधानता रहती है। शक्ति चालित मशीनो का उपयोग नही के बराबर होता है। इसकी बनी हुई चीजो की माँग प्राय स्थानीय होती है। राज्य कोषीय आयोग के अनुसार "कुटीर उद्योग वह है जो

पूर्णतया या मुख्यत परिवार के सदस्यों की सहायता से पूर्ण या आंशिक व्यवसाय के रूप में चलाया जाता हो।"[1] श्री चिन्तामणि देशमुख के शब्दों में, "कुटीर उद्योग का तात्पर्य सामान्यत बड़े उद्योगों के संगठित उत्पादन को छोड़ कर उत्पादन के अन्य सभी रूपों से लगाया जाता है। जो व्यक्ति इसमें लगे होते हैं, वे मुख्य रूप से अपने ही प्रयत्न और निपुणता पर निर्भर होते हैं तथा अपने घरों में काम करते हुए केवल साधारण औजारों का प्रयोग करते हैं। हाल ही में कुछ विशिष्ट आवश्यकताओं के फलस्वरूप इनमें से कुछ ही उद्योग सामने आए हैं। वे अधिकांशत परम्परागत क्रियाओं के रूप में हैं और उत्पादन की आधुनिक प्रविधियों और रूपों के विरुद्ध विभिन्न स्तरों पर अपने को बनाए रखने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।"

लघु उद्योग लघु उद्योग कुटीर उद्योगों से अलग होते हैं। इनमें वेतन भोगी श्रमिक कार्य करते हैं तथा मशीनों का प्रयोग किया जाता है। ये प्राय छोटे-छोटे कारखाने के रूप में विविध वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। सामान्यत ऐसे उद्योग शहरों में स्थापित किए जाते हैं, जो दूर-दूर से कच्चा माल मंगवाते हैं तथा अपना तैयार माल दूर-दूर तक भेजते हैं। ये उद्योग सामान्यत पूर्ण-कालिक होते हैं। राजस्वशोधीय आयोग के अनुसार "लघु उद्योग वह है, जो मुख्यत 10 से 15 श्रमिकों द्वारा चलाया जाता है, लेकिन यह श्रमिक के घर पर नहीं चलाया जाता है। इनमें वे सब इकाइयाँ व संस्थान शामिल कर लिये जाते हैं, जिनमें 5 लाख रुपये से कम पूंजी लगी हुई होती है।"[2] श्री चिन्तामणि देशमुख के मतानुसार, "छोटे पैमाने के उद्योग कुटीर उद्योग से कुछ भिन्न हैं, वह इस अर्थ में भिन्न हैं कि छोटे पैमाने के उद्योगों में श्रमिकों को लगाने वाले छोटे साहसोद्यमी भी सम्मिलित हैं।"

पहले लघु पैमाने के उद्योग की परिभाषा के अन्तर्गत उन उद्योगों को सम्मिलित किया जाता था, जिनमें 5 लाख रुपये से कम की पूंजी का विनियोग हुआ हो और यदि शक्ति का प्रयोग हो रहा हो तो 50 से कम तथा शक्ति का प्रयोग न हो

---

1 "A cottage industry is one which is carried on wholly or primarily with the help of the members of the family either as a whole or as a part-time occupation."

Report of the Fiscal Commission, p 104.

2. "A Small Scale Industry is one which is operated mainly with hired labour, usually with 10 to 50 hands and is not carried on in the cottage of the worker. It includes all units or establishments having a capital investment of less than 5 lakhs."

—Ibid, page, 104.

रहा हो तो 100 से कम व्यक्तियों को रोजगार दिया गया हो । लघु-उद्योग बोर्ड की सिफारिशो को मान कर भारत सरकार ने, इसकी परिभाषा मे सुधार कर दिया और अब उन उद्योगो को लघु उद्योगो के अन्तर्गत रखा गया, जो प्रति पारी शक्ति के प्रयोग के साथ 50 श्रमिको से कम को तथा बिना शक्ति के प्रयोग के 100 श्रमिकों से कम को रोजगार देते हो । भारत सरकार ने लघु उद्योगो की परिभाषा मे पुनः संशोधन कर दिया । अब कुटीर उद्योग मे ऐसी औद्योगिक इकाइयाँ सम्मिलित की जाने लगी हैं, जिनमे पूंजी विनियोग 5 लाख रुपए से कम का हो, चाहे रोजगार पाने वाले श्रमिक कितने ही क्यो न हों । केन्द्रीय लघु उद्योग बोर्ड (Central Small Scale Industries Board) की सिफारिश के आधार पर लघु पैमाने के उद्योग की परिभाषा मे 1966 मे फिर से संशोधन किया गया । नवीन संशोधित परिभाषा के अन्तर्गत पूंजी विनियोग की सीमा 5 लाख रुपए से बढा कर 7.5 लाख रुपए कर दी गई है । । पूंजी विनियोग से आशय केवल यन्त्र एवं मशीनो पर किए गए विनियोग से है, भूमि व भवन पर किया गया विनियोग सम्मिलित नही है । इस परिभाषा मे भी श्रमिकों की संख्या पर जोर नही दिया गया ।

कुटीर एवं लघु-उद्योगों का वर्गीकरण : राज-कोषीय आयोग ने कुटीर एवं लघु उद्योगो का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है.

कुटीर एवं लघुस्तरीय उद्योग

- कुटीर उद्योग
  - ग्रामीण
    - अल्प-कालीन
    - पूर्ण-कालीन
  - शहरी
    - अल्प-कालीन
    - पूर्ण-कालीन
- लघुस्तरीय उद्योग
  - शहरी
    - अल्पकालीन
    - पूर्णकालीन
  - ग्रामीण
    - अल्प-कालीन
    - पूर्ण-कालीन
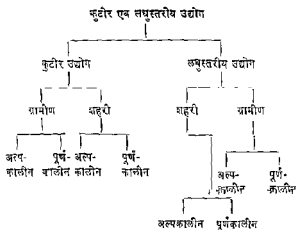
कुटीर उद्योग दो प्रकार के होते हैं—ग्रामीण एवं शहरी । ग्रामीण कुटीर उद्योग भी दो प्रकार के होते हैं—अल्पकालीन व पूर्णकालीन । अल्पकालीन कुटीर

उद्योगों के अन्तर्गत कृषि में सहायता पहुँचाने वाले उद्योग आते है, जैसे टोकरी बनाना, रेशम के कीड़े पालना, हाथकरघा आदि ।

पूर्ण-कालीन कुटीर उद्योग के अन्तर्गत वे उद्योग आते है, जिनमें गाँव के रहने वालों को पूरे समय के लिए रोजगार मिलता है, जैसे, मिट्टी के बर्तन बनाना, बढ़ईगीरी करना, लुहारगीरी, इत्यादि । शहरी कुटीर उद्योग भी दो प्रकार के हो सकते हैं—अल्पकालीन व पूर्णकालीन । सामान्यतः शहरों में पूर्णकालीन उद्योग ही पाये जाते है, जैसे सोने-चाँदी का काम, लकड़ी के खिलौने बनाना तथा रंग आदि के कार्य । अल्पकालीन कुटीर उद्योग शहरों में प्रायः कम अपनाए जाते है । पतंग बनाने का उद्योग प्रायः अल्पकालीन होता है ।

लघु-उद्योग दो प्रकार के होते हैं—(i) शहरी तथा (ii) ग्रामीण । शहरी लघु उद्योग को भी दो हिस्सों में बाटा जा सकता है—अल्पकालीन व दीर्घकालीन । अल्पकालीन शहरी लघु उद्योग में वे काम आते हैं, जिनमें कारीगरों को मौसम-विशेष में थोड़े समय के लिए काम मिलता है, जैसे ईंट बनाना । पूर्णकालीन शहरी लघु उद्योग में शहरों के स्थायी रूप से चलने वाले कारखाने आते हैं, जैसे, चमड़े के कारखाने, होजरी के कारखाने आदि । अल्पकालीन ग्रामीण लघु उद्योगों के अन्तर्गत गाँव के मौसमी उद्योग आते हैं, जैसे गुड़ या खण्डसारी बनाना । पूर्णकालीन लघु-उद्योग में वर्ष भर चलने वाले छोटे-मोटे उद्योग आते है, जैसे-जूते बनाना, कालीन बनाना इत्यादि ।

कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्व एवं आवश्यकता . भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कुटीर उद्योगों के महत्व के सम्बन्ध में महात्मा गान्धी ने कहा था, "भारत का उद्धार कुटीर उद्योग-धन्धों द्वारा ही सम्भव है ।" बड़े पैमाने के उद्योगों पर बल देने वाले स्वर्गीय प्रधान मंत्री प० जवाहर लाल नेहरू भी कुटीर व लघु उद्योगों के महत्व से अनभिज्ञ नहीं थे । एक स्थान पर उन्होंने कहा है, "भारत तभी एक औद्योगिक राष्ट्र होगा जबकि यहाँ पर लाखों की संख्या में छोटे-छोटे उद्योग हों । देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के निर्माण में इन उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान है । योजना आयोग के शब्दों में, ग्रामीण उद्योगों को विकसित करने का प्राथमिक उद्देश्य, कार्य के अवसरों में वृद्धि करना है, आय एवं रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना तथा एक अधिक संतुलित एवं एकीकृत अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना है ।"[1] इन उद्योगों का महत्व अग्रलिखित कारण से बहुत अधिक है.

1. The primary object of developing small industries in rural areas is to extend work opportunities raise incomes and standard of living and to bring about a more balanced and integrated rural economy."

—Planning Commission,

1 कुटीर व लघु-उद्योग बेरोजगारी व अर्द्ध रोजगारी को दूर करते हैं भारतवर्ष में बेरोजगारी व अर्द्ध रोजगारी की समस्या का हल बहुत कुछ हद तक कुटीर व लघु उद्योगों के विकास में ही निहित है। भारतीय किसान जो कि वर्ष में आधे से अधिक दिन तक हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता है, इन उद्योगों के द्वारा अपने खाली समय का सदुपयोग कर सकता है। बेरोजगार व्यक्ति छोटे उद्योगों की स्थापना करके अपना भरण पोषण कर सकते हैं। बड़े कारखानों की अपेक्षा छोटे उद्योग व कुटीर उद्योगों में ज्यादा लोगों को काम मिल सकता है। भारतवर्ष में इस समय अनुमानत कुटीर उद्योगों में 2 करोड़ व्यक्ति लगे हुए हैं। केवल हस्तकर्घा उद्योगों में ही 50 लाख लोग लगे हुए हैं जो सभी सगठित उद्योगों (बड़े पैमाने के उद्योग, खनिज एव यातायात उद्योग) में लगे हुए व्यक्तियों के बराबर है। अत बेरोजगारी की समस्या के समाधान की आशा केवल लघु व कुटीर उद्योगों द्वारा ही की जा सकती है।

2 कम पूजी की आवश्यकता कुटीर उद्योगों को चालू करने के लिए मूल्यवान मशीनों एव बड़ी इमारतों की जरूरत नहीं पड़ती। कुटीर उद्योग पूजी प्रधान (Capital intensive) न होकर श्रम प्रधान (Labour intensive) होते हैं। अत भारत जैसे देश के लिये जहा सामान्यत पूजी का अभाव पाया जाता है, कुटीर व लघु उद्योग बड़े अनुकूल साबित हो सकते हैं। क्योंकि इन्हे कम पूजी से चलाया जा सकता है तथा अधिक श्रमिकों को काम दिलाया जा सकता है।

3 आर्थिक विषमता का निराकरण बड़े पैमाने के उद्योगों के कारण देश में एक ओर निर्धनता का साम्राज्य विद्यमान है तथा लोग जीवन की अनिवार्यताओं को भी पूरा करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, तथा दूसरी ओर अतुल वैभव नजर आता है। यह सामाजिक न्याय की दृष्टि से अनुचित है। कुटीर उद्योगों के विकास से इस प्रकार की आर्थिक विषमता पैदा नहीं होती। कुटीर एव लघु उद्योग प्राय परिवार के सदस्यों की सहायता से चलाए जाते हैं और जहा वेतन भोगी श्रमिकों से काम कराया जाता है, वहा भी उनका अधिक शोषण नहीं हो पाता, क्योंकि उत्पादक एव श्रमिकों में निकट का सम्पर्क बना रहता है। इन उद्योगों का प्रबन्ध प्राय व्यक्तिगत अथवा साझेदारी पर आधारित होता है, जिनकी पूजी और आय दोनों ही अधिक नहीं होती, फलस्वरूप इनके स्वामी भी अधिक धनवान नहीं बन पाते।

4 भूमि पर से जनभार का कम होना भारत जैसे कृषि प्रधान देश में भूमि पर जनसख्या का भार अत्यधिक बढ़ा हुआ है। कुटीर एव लघु उद्योगों के विकास के द्वारा ग्रामीण जन सख्या के एक बहुत बड़े भाग को भूमि पर से हटाया जा सकता है और लाभदायक कामों पर लगाया जा सकता है। इससे भूमि पर भार कम हो जायेगा और कृषि जोतें आर्थिक हो जायेंगी।

5. **उद्योगों का विकेन्द्रीकरण :** उद्योगों के केन्द्रीयकरण के कारण कई नगरों में अनेक समस्याएं पैदा हो गई हैं तथा आवास की समस्या, नैतिक पतन एवं अस्वस्थ वातावरण की समस्या आदि भी इसी के परिणाम हैं। केन्द्रीयकरण की इन समस्याओं का निराकरण कुटीर उद्योगों के विकास से दूर किया जा सकता है, क्योंकि कुटीर उद्योग देश के विभिन्न क्षेत्रों में चलाये जा सकते हैं। इनके लिए किसी स्थान-विशेष में केन्द्रित होना जरूरी नहीं है। इनका विकास ग्रामीण व नगरी क्षेत्रों में समानता के साथ किया जा सकता है।

6. **औद्योगिक संघर्षों से मुक्ति :** कुटीर व लघु पैमाने के उद्योगों में पूंजीपतियों व श्रमिकों के वर्ग नहीं होते। काम करने वाले प्रायः सभी श्रमिक होते हैं। यदि कोई पूंजी लगाता भी है तो भी पैमाना छोटा होने के कारण वह अपने श्रमिकों की समस्याओं से पूर्णतः परिचित होता है। इन समस्याओं के उत्पन्न होते ही उनका समाधान कर दिया जाता है। इस प्रकार कुटीर व लघु उद्योगों के विकास से हड़तालें व ताले बन्दियां नहीं होती। औद्योगिक वातावरण संघर्षमय न होकर सहयोगमय होता है।

7. **राष्ट्रीय आय में वृद्धि :** कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास से जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग को काम मिलता है, जिससे देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो जाती है। राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) के अनुसार भारतवर्ष की राष्ट्रीय आय में, विशालकाय उद्योगों की अपेक्षा लघु-उद्योगों का योगदान प्रति वर्ष अधिक होता है।

8. **उत्पादित माल की श्रेष्ठता :** कुटीर उद्योगों के लिए भारत प्राचीनकाल से प्रसिद्ध रहा है। कुटीर उद्योगों द्वारा बना हुआ माल श्रेष्ठ होता था तथा अपनी कलात्मक प्रवृत्ति के लिए विश्व-विख्यात था। आज भी कुटीर उद्योगों द्वारा बनाया गया माल अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक एवं टिकाऊ होता है, क्योंकि इसे बनाने में कलाकार अपनी आत्मानुभूति से काम करता है, अतः सामान्यतः कुटीर उद्योगों का बना हुआ माल अपेक्षाकृत श्रेष्ठ होता है।

9. **सहायक आय का उत्तम साधन :** कुटीर एवं लघु उद्योगों को अपनाकर गाँव के खेतिहर श्रमिक और नगरों में काम करने वाले श्रमिक अपनी आमदनी को बढ़ा सकते हैं और इस प्रकार अपने रहन-सहन के स्तर को सुधार सकते हैं।

10. **कार्य की स्वतन्त्रता :** कुटीर व लघु उद्योगों में श्रमिकों को मशीन की तरह काम नहीं करना पड़ता। श्रमिक या कारीगर स्वतन्त्रतापूर्वक एवं सुविधानुसार कार्य करते हैं। भारतीय श्रमिक का स्वभाव भी कुछ ऐसा ही है कि लोग स्वेच्छा से एवं स्वतन्त्रतापूर्वक काम करना चाहते हैं। अतः कुटीर व लघु-स्तरीय उद्योग भारतीय लोगों के स्वभाव के अनुकूल पड़ते हैं।

11 समाजवादी समाज की स्थापना के अनुकूल देश में सही अर्थों में समाजवादी समाज की स्थापना उसी समय हो सकती है, जबकि बड़े-बड़े उद्योगों की बजाय कुटीर व लघु उद्योगों का विकास देश के कोने कोने में किया जाय। बड़े उद्योग आर्थिक विषमता को जन्म देते हैं, जबकि छोटे उद्योग इसे दूर करके समाजवादी समाज की स्थापना में योगदान देते हैं।

12 राष्ट्रीय आत्म निर्भरता में सहायक यदि देश को आर्थिक क्षेत्र में आत्म निर्भर बनाना है, तो यह कार्य कुटीर व लघु उद्योगों से अपेक्षाकृत अधिक सरलता से हो सकता है। ये उद्योग कम पूंजी से, विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए देश भर में चलाये जा सकते हैं। बड़े पैमाने पर हर एक चीज के उत्पादन के लिए हमारे देश में साधनों व सुविधाओं की कमी है। देश में कुटीर उद्योगों के माध्यम से सभी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है।

13 सचालन की सरलता कुटीर एव लघु उद्योगों का सचालन सरलता से किया जा सकता है क्योंकि इनके लिए न तो अधिक पूंजी चाहिए और न ही बहुत अधिक प्रशिक्षित कर्मचारी। इनके औजार भी देश में ही बनाये जा सकते है और इन्हें कच्चा माल भी ग्रामीण क्षेत्रों से मिल जाता है। श्रमिक भी आसानी से उपलब्ध हो जाते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुटीर एव लघु स्तरीय उद्योगों का सचालन अपेक्षाकृत सरल एव सुविधापूर्ण है।

14 माग के अनुरूप उत्पादन कुटीर व लघु-उद्योगों में उत्पादक व उपभोक्ता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। उत्पादक, उपभोक्ता की रुचि व माँग की मात्रा से परिचित होते हैं, अत उत्पादन उपभोक्ताओं की रुचि के अनुसार उतना ही किया जाता है, जितनी कि उनकी माग होती है। कुटीर व लघुस्तरीय उद्योगों में अत्यधिक उत्पादन या न्यून उत्पादन की समस्या पैदा नहीं होती।

15 देश की सभ्यता एव सस्कृति के अनुरूप भारतीय लोग सहयोग, सहानुभूति, समानता, सहकारिता, भाईचारे की भावना तथा सबके विकास की भावना में सदैव से ही विश्वास रखते चले आये हैं। कुटीर उद्योग इन्हीं भावनाओं के पोषक हैं। बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास से विद्वेष, स्वार्थपरता, शोषण, कटुता, गला काटने वाली प्रतिस्पर्धा आदि अमानवीय प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। अत ये उद्योग हमारी सभ्यता व सस्कृति के अनुकूल नहीं हैं।

16 देश की सुरक्षा के अनुकूल - आधुनिक युद्ध में शत्रु देश के औद्योगिक नगरों के औद्योगिक सस्थानों को पहले नष्ट करने की चेष्टा करते हैं, ताकि उस देश की अर्थ व्यवस्था को छिन्न भिन्न किया जा सके। कुटीर एव लघु-उद्योगों की प्रधानता होने से देश को इस प्रकार की असुरक्षा का सामना नहीं करना पड़ता।

17 **मानवीय मूल्यों की रक्षा :** बड़े पैमाने के कारखानों में श्रमिक भी एक प्रकार की कार्य करने की मशीन बन जाता है। बड़े पैमाने के उद्योगों की प्रगति के फलस्वरूप उत्पन्न औद्योगिक नगरों में श्रमिकों का सामाजिक एवं नैतिक उत्थान रुक जाता है तथा मानवीय मूल्यों को आघात पहुँचता है, जबकि कुटीर एवं लघु-उद्योग से सादे जीवन एवं उच्च विचार की भावना पैदा होती है तथा मानवीय मूल्यों की रक्षा होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की अर्थ-व्यवस्था में कुटीर एवं लघु-उद्योगों का विशेष महत्व है तथा इन उद्योगों के विकास की आवश्यकता बहुत अधिक है। सन् 1956 की औद्योगिक नीति के प्रस्ताव में इन उद्योगों की आवश्यकता एवं महत्व पर उल्लेखनीय जोर दिया गया है। औद्योगिक नीति प्रस्ताव में यह कहा गया था कि "कुटीर एवं लघु उद्योग बड़े पैमाने पर तात्कालिक रोजगार प्रदान करते हैं, राष्ट्रीय आय के अधिक न्यायोचित वितरण को सम्भव बनाते हैं तथा पूंजी एवं योग्यता सम्बन्धी प्रसाधनों के अधिक प्रभावपूर्ण शोषण में सहायक होते हैं। यदि देश भर में औद्योगिक उत्पादन के छोटे-छोटे केन्द्र स्थापित कर दिए जाय तो अनियोजित नागरीकरण की समस्या का बहुत कुछ समाधान हो सकता है।"[1] भारत सरकार को यदि देश की अर्थ व्यवस्था को सन्तुलित करना है तो उसे बड़ उद्योगों के साथ कुटीर उद्योगों के विकास पर भी समुचित ध्यान देना पड़ेगा। डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी के शब्दों में, "भारत गाँवों का देश है, अतः सरकार की सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास को सर्वाधिक महत्व प्रदान करना चाहिए।"

कुटीर उद्योगों का महत्व आज विश्व के सभी देशों में स्वीकार किया जा रहा है। फ्रान्स, जर्मनी, इटली तथा स्विटजरलैंड में इन उद्योगों ने उल्लेखनीय प्रगति की है। फ्रान्स में सेरीकल्चर, सिल्वी कल्चर तथा वाइन कल्चर कृषकों के प्रमुख सहायक धन्धे हैं। स्विटजरलैंड में घड़ी निर्माण सम्बन्धी कार्य सहायक उद्योग के रूप में ही चलाया जाता है। चीन एवं जापान में लाखों परिवार अपने खाली समय में कोशन पालते हैं। फ्रान्स मे प्राय सभी कारखानों में 100 से कम श्रमिक हैं। जापान में 80 प्रतिशत से भी अधिक कारखानों में 30 से कम तथा बेल्जियम में 90 प्रतिशत कारखानों में 5 से भी कम श्रमिक कार्य करते हैं। इंगलैंड में 5 से 30 व्यक्तियों

1. "They provide immediate large scale employment, they offer a better method of ensuring a more equitable distribution of national income and they facilitate an effective mobilisation of resources of capital and skill which might otherwise remain unutilised. Some of the problems that unplanned urbanisation tends to create will be avoided by the establishment of small centres of industrial production all over the country."
—Journal of Industry and Trade, Jan, 63.

को काम दिलाने वाले संस्थानों की संख्या काफी है, जिनमे कुल श्रम शक्ति के 29 प्रतिशत लोगों को रोजगार मिला हुआ है। जर्मनी मे 12 6 प्रतिशत जनसंख्या अपनी जीविका के लिए कुटीर उद्योगों पर निर्भर करती है। यहाँ तक कि अमेरिका मे सन् 1965 मे 95 प्रतिशत कारखाने लघु उद्योगो के क्षेत्र मे थे, जिनमे देश के 40 प्रतिशत लोगो को रोजगार मिला हुआ था। इस प्रकार विश्व के जब सभी देशो ने कुटीर एव लघु उद्योगो के महत्व को समझ कर इन्हे अपनाया है तो भारत मे इन उद्योगो का महत्व तो और भी अधिक है।

कुटीर एव लघु उद्योगो की कठिनाइयां एवं समस्यायें भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे कुटीर उद्योगो के महत्व को सभी स्वीकार करते है। लेकिन इन उद्योगो का विकास भारतवर्ष मे उचित रूप से नही हो पा रहा है। इन उद्योगो के विकास के मार्ग मे कई कठिनाइया एव समस्याए है। जब तक इनका निराकरण नही हो जाता, कुटीर एव लघु उद्योग पूर्ण रूप से विकसित नही हो सकते। ये कठिनाइयां अथवा समस्याए निम्नलिखित हैं

1 **वित्त सम्बन्धी कठिनाई** कुटीर व लघुस्तरीय उद्योगो को कच्चा माल खरीदने, शिल्पियो को मजदूरी देने, व तैयार माल के संग्रह के लिए अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। मशीनों, औजार व भवन निर्माण के लिए मध्य व दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता पडती है। भारतवर्ष के शिल्पी निर्धन है और वे उपर्युक्त कार्यों के लिए पूँजी नहीं एकत्र कर पाते। महाजनो, साहूकारो आदि से ऋण लेने पर एक तो ब्याज अधिक देना पडता है, दूसरे ये लोग शिल्पियों के माल को बहुत सस्ता खरीद कर उनका शोषण करते है। बम्बई आर्थिक तथा औद्योगिक जांच समिति 1940, ने अपने प्रतिवेदन मे ठीक ही लिखा है, "लघु तथा मध्यम आकार के उद्योगों की लोकव्यापी समस्या वित्त की है। अधिकांशत ये उद्योग किसी एक व्यक्ति के अधिकार मे अथवा साझीदारी मे चलाये जाते है और उनके पास अपने औजारो की दशा सुधारने के लिए पर्याप्त धन नही होता है। उनके पास कच्चे माल को खरीदने के लिए भी आवश्यक पूँजी नही होती और जब बाहर से ऋण लेना पडता है, तो उन्हे ऊची दर से ब्याज देना पडता है।"

2 **कच्चे माल की समस्या** इन उद्योगो को उचित मूल्य पर, उचित समय पर तथा उचित मात्रा मे कच्चा माल नही मिल पाता है, क्योंकि ये उद्योग भी प्राय उसी कच्चे माल पर निर्भर करते है, जिस पर बडे उद्योग निर्भर करते है। बडे उद्योग बडी मात्रा म व सगठित रूप मे कच्चे माल का क्रय करते है, अत उन्हे अच्छा, सस्ता व समय पर माल मिल जाता है, जबकि छोटे उद्योगो के साथ ये सुविधायें नही है। आयात किया हुआ कच्चा माल भी इन्हे बहुत देर से मिलता है। यही नहीं,

लघु-उद्योगों को अर्द्ध-निर्मित (Semi-finished) माल, जैसे मशीनी धागा, लोहे व पीतल की चादरें प्राप्त करने में भी कठिनाई होती है।

3 **उत्पादन की रूढ़िवादी पद्धति** हमारे कुटीर व लघुस्तरीय उद्योग अब भी प्राचीन औजारों का ही प्रयोग कर रहे हैं। उनके उत्पादन का ढंग भी वही पुराना है। इन कारणों के परिणाम स्वरूप इन उद्योगों में न तो उच्चकोटि का और न ही सस्ता सामान बन पाता है। इन उद्योगों के सम्बन्ध में अनुसंधान की सुविधाओं का अभाव है तथा उचित प्रशिक्षण की भी व्यवस्था नहीं है, जिससे शिल्पकार नवीन पद्धतियों एवं औजारों के प्रयोग से वंचित रह जाते हैं।

4 **विपणन की समस्या** इन उद्योगों को परिवहन व विज्ञापन की सुविधा नहीं होने के कारण, शिल्पियों की ऋणग्रस्तता, संगठन के अभाव तथा मध्यस्थों की अधिकता के कारण, अपने उत्पादित माल का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। प्राय लाभ का 40 प्रतिशत तक भाग मध्यस्थों द्वारा हड़प लिया जाता है।

5 **बड़े उद्योगों से प्रतिस्पर्धा** बड़े पैमाने के उद्योगों को अपने पैमाने की विशालता के कारण कारखाने का आन्तरिक व बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं। उनकी लागत व्यय बहुत कम हो जाती है। इसके विपरीत छोटे व कुटीर उद्योगों को ऊंची लागत होने के कारण सस्ता माल बेचने में कठिनाई होती है। अत वे प्रतिस्पर्धा में टिक नहीं पाते। भारतवर्ष में कई कलात्मक घरेलू उद्योग प्रतिस्पर्धा के कारण ही समाप्त हो गये हैं।

6 **संगठन का अभाव** कुटीर उद्योग को चलाने वालों में संगठन का अभाव है, जिससे कच्चे माल के खरीदने, बने हुए माल को बेचने, विज्ञापन करने, सामान लाने व ले जाने, वित्त प्राप्त करने आदि में कठिनाई होती है। बड़े पैमाने के उद्योगों को संगठन के कारण तमाम लाभ प्राप्त होते हैं, जबकि कुटीर व लघु-उद्योग संगठन के अभाव में पिछड़े हुये रह गए हैं।

7 **स्थानीय करों का बढ़ता हुआ भार** भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों में तथा छोटे-छोटे कस्बों में स्थानीय सरकारों ने अपनी आय को बढ़ाने के लिए अपने क्षेत्रों से होकर जाने वाले माल पर कर में वृद्धि की है। इससे कुटीर व लघु उद्योगों को काफी क्षति पहुँची है, क्योंकि उनकी वस्तुयें और भी अधिक महंगी हो जाती हैं।

8 **उपभोक्ताओं की अरुचि** उपभोक्ता सस्ता व अच्छा माल पसन्द करते हैं। कुटीर उद्योगों का माल अपेक्षाकृत महंगा पड़ता है। अत लोग इन्हें नहीं खरीदते। स्वदेशी भावना की भी उत्तरोत्तर कमी होती जा रही है। लोग विदेशी, सस्ते व दिखावटी माल को प्राथमिकता देते हैं। परिणाम यह होता है कि इन उद्योगों को अपने श्रम का उचित मूल्य नहीं मिल पाता।

9 **शिल्पियों की अशिक्षा** भारतीय शिल्पकार अशिक्षित है। शिक्षा के अभाव में उन्हें उचित प्रशिक्षण नहीं दिया जा सकता। अशिक्षा के कारण ही उन्हें मध्यस्थ ठगते हैं तथा वे सगठन नहीं बना पाते। शिक्षा के अभाव में ही उनका दृष्टिकोण भी सकुचित व सीमित होता है, जो उन्हें विकास की ओर नहीं जाने देता और वे रूढिवादी वातावरण में थोड़ी बहुत प्रगति करके सतुष्ट हो जाते हैं।

10 **उत्पादन का सीमित क्षेत्र** भारतवर्ष में कुटीर उद्योग जनसाधारण के लिये आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन न करके, विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। इन वस्तुओं का मूल्य ऊचा होता है और ये वस्तुएं सीमित माग रखती है। किसी समय कारीगरों को इन वस्तुओं के निर्माण से बहुत लाभ हुआ करता था, परन्तु राजाओं, नवाबों व जमीदारों का युग समाप्त हो गया है और इन वस्तुओं का ऊचा मूल्य जन-साधारण नहीं दे सकते।

11 **शिल्पियों में सहयोग व सहकारिता का अभाव** भारतवर्ष में इन उद्योगों को सहकारिता के आधार पर चलाने की चेष्टा की जा रही है। सहकारी आन्दोलन की प्रगति हमारे देश में धीमी रही है, फलस्वरूप इन उद्योगों को भी विकास के समुचित अवसर प्राप्त नहीं हुये। मर्चेन्ट व वाडिया के मतानुसार श्रमिकों में सहयोग तथा सहकारिता का अभाव कुटीर उद्योगों के विकास में बाधक बन रहा है।[1]

12 **मशीनरी तथा औजारों का अभाव** भारतवर्ष में लघु उद्योगों के लिए मशीनरी एवं औजार या तो मिलते ही नहीं और यदि मिलते हैं तो उनके लिए बहुत ऊंचे दाम देने पड़ते हैं। जिन जगहों पर लघु उद्योग विद्युत का प्रयोग करने लगे है, वहाँ प्रायः विद्युत नियमित रूप से नहीं प्राप्त होती और यदि मिलती भी है तो उसके लिये अधिक ऊँची दर देनी पड़ती है।

सुझाव .

भारतीय अर्थ व्यवस्था में कुटीर उद्योगों को एक महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। परन्तु इन उद्योगों की कठिनाइयों व समस्याओं का हल निकालने पर ही ये अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इनकी कठिनाइयों व समस्याओं को दूर करने के सुझावों में अग्रलिखित महत्वपूर्ण हैं

1 **बड़े उद्योगों के साथ सहयोग** कुटीर एवं लघु-उद्योगों एवं बड़े पैमाने के उद्योगों के मध्य पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा को दूर करने के लिये इन उद्योगों के कार्य-

---

1 *Wadia and Merchant* Our Economic Problems p 586

क्षेत्र को जहाँ तक सम्भव हो अलग कर देना चाहिए। यदि यह सम्भव न हो तो जापान की तरह हमारे देश में भी छोटे और बड़े पैमाने के उद्योगों को सम्मिलित रूप से तथा एक दूसरे के पूरक के रूप मे उत्पादन कार्य करना चाहिए।

2 **सुसंगठित बिक्री व्यवस्था** कुटीर एवं लघु उद्योगो द्वारा निर्मित माल की बिक्री के लिए यथोचित व्यवस्था की जानी चाहिए। इन उद्योगों द्वारा निर्मित माल की बिक्री के लिए नगरो मे बिक्री केन्द्र खोले जाने चाहिए। देश-विदेश में इनके माल की प्रदर्शनियाँ आयोजित की जानी चाहिए। बिक्री एवं विज्ञापन के लिए सहकारी बिक्री समीतियाँ भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

3 **तकनीक में सुधार** कुटीर एवं लघु उद्योगो की तकनीकी कुशलता बढाने के लिए, इन उद्योगो म प्रयोग मे लाये जा रहे औजारों एवं उत्पादन विधियो मे सुधार किया जाना चाहिए तथा तकनीक सुधारने के लिए अनुसधान को प्रोत्साहित करना चाहिये।

4 **उचित प्रशिक्षण** कुटीर एवं लघु उद्योगो मे लगे कारीगरो को उत्पादन की आधुनिकतम विधियों की जानकारी कराई जानी चाहिए। उन्हे यथोचित प्रशिक्षण की सुविधाये दिलाने के लिए विभिन्न हस्तकलाओ से सम्बन्धित औद्योगिक विद्यालय खोले जाने चाहिए।

5 **मशीनरी एवं औजारो की पूर्ति** कुटीर एवं लघु उद्योगो को आधुनिकतम यन्त्रों से सुसज्जित करने के लिए किस्त खरीद-पद्धति (hire-purchase system) पर औजार दिलाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इन औजारो के ग्रामीण क्षेत्रों मे प्रदर्शन किये जाते चाहिए। इस दिशा मे मार्गदर्शी वर्कशाप (Pilot Work Shops) महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है।

6 **कच्चे माल की पूर्ति** राज्य सरकारो की सहायता एवं सहकारिता के आधार पर, लघु उद्योगो को, कच्चे माल को उचित समय, उचित मात्रा एवं उचित मूल्य पर प्राप्त होने की सुविधा दिलाई जानी चाहिए।

7 **वित्त सम्बन्धी सुविधा** कुटीर एवं लघु उद्योगो को वित्त सम्बन्धी कठिनाई से बचने के लिए, अपनी सहकारी समितियाँ बनानी चाहिये, जो उचित समय पर कम ब्याज दर पर आवश्यक वित्त उपलब्ध करा सकेंगी। नगरो मे लघु उद्योगो को साख प्रदान करने के लिए राज्य वित्त निगम अच्छे साधन हैं, यदि ये अपनी कार्य प्रणाली को लालफीताशाही से बचा सकें।

8 **अनुसधान एवं सर्वेक्षण** कुटीर एवं लघु उद्योगो के सम्बन्ध में इस बात की जाँच की जानी चाहिए कि वर्तमान कुटीर एवं लघु उद्योगो मे कौन से उद्योग ऐसे हैं, जो उन्नति कर सकते है तथा कौन से नए उद्योग काम मे चलाये जा सकते हैं।

इस जांच के आधार पर प्रमुख कुटीर एवं लघु उद्योगों के लिए उत्पादन सम्बन्धी कार्यक्रम निश्चित किये जाय।

9. सस्ती बिजली की सुविधा जापान एवं स्विटजरलैंड में कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास में सस्ती बिजली की सुविधा ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भारतीय उद्योगों की प्रगति के लिए यहां भी सस्ती बिजली की सुविधा दिलाई जानी चाहिए, ताकि इनकी कार्य-कुशलता में वृद्धि हो सके।

10 अन्य सुझाव कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए उपर्युक्त वर्णित सुझावों के अतिरिक्त कुछ अन्य सुझाव भी दिये गए हैं, जैसे, (i) कुछ विशेष उत्पादन क्षेत्र लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित कर दिये जाने चाहिये, (ii) लघु उद्योगों के प्रत्येक उद्योग के लिए एक-एक ऐसी संस्था बनाई जाये जो सम्बन्धित उद्योगों की समस्याओं को हल कर सके, (iii) लघु उद्योगों के उत्पादन की श्रेष्ठता के स्तर निर्धारित किये जाने चाहिये तथा इन्हें समस्त उद्योगों पर लागू किया जाना चाहिए; (iv) कुटीर एवं लघु उद्योगों की वस्तुओं को बिक्री कर, उत्पादन कर, निर्यात कर आदि करों से मुक्त कर दिया जाना चाहिये, (v) देश में स्वदेशी भावना का लोगों में प्रसार किया जाना चाहिए, ताकि लोग इन उद्योगों की वस्तुओं को गर्व एवं चाव से खरीदें, (vi) शिल्पियों को औद्योगिक सहकारी समितियों (Industrial Co-operatives) का गठन करके अपना संगठन दृढ़ करना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन दल (International Planning Team) द्वारा दिए गए सुझाव फोर्ड फाउन्डेशन द्वारा नियुक्त किये गये अन्तर्राष्ट्रीय दल ने सन् 1954 में निम्नलिखित प्रमुख सुझाव दिए

1 देश के भिन्न भागों में चार बहुउद्देश्य तकनीकी संस्थान (Multipurpose Institute of Technology) की स्थापना की जाय। ये संस्थाएं लघु उद्योगों को व्यावसायिक प्रबन्ध, वित्त तथा विक्रय सम्बन्धी सलाह प्रदान करेंगी।

2 नमूना सम्बन्धी एक राष्ट्रीय विद्यालय (A National School of Design) की स्थापना की जाय। इस संस्था में कुटीर तथा लघु उद्योगों के लिए, नए-नए नमूने तथा डिजाइन आदि के सम्बन्ध में शिक्षा प्रदान की जायेगी।

3 लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री के लिए एक विक्रय सेवा निगम (A Marketing Service Corporation) की स्थापना की जाय, जो लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की विक्रय व्यवस्था करे।

4 एक लघु उद्योग निगम (Small Industries Corporation) बनाया जाय। उत्पादन, प्रशिक्षण एवं तकनीकी विकास के लिए प्रदर्शनार्थ छोटे-छोटे केन्द्रों को खोला जाय।

5 दो निर्यात सम्वर्द्धन कार्यालय (Export Promotion Office) खोले जाए, जिनमे से एक उत्तरी अमरीका मे तथा दूसरा यूरोप मे खोला जाय।

सरकार ने इस दल की सिफारिशो के आधार पर बहु-उद्देश्यीय क्षेत्रीय तकनीकी संस्थायें, राज्य वित्त निगम, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम और विपणन सेवा संगठन, आदि की व्यवस्थाए की हैं।

कर्वे समिति के सुझाव

प्रो० कर्वे की अध्यक्षता मे ग्राम तथा लघु-उद्योग समिति (Village and Small Scale Industries Committee) ने सन् 1955 मे अग्रलिखित सुझाव दिये

(i) लघु उद्योग सहकारिता के आधार पर स्थापित किये जाय, (ii) क्रय-विक्रय समितियों की स्थापना की जाय, (iii) राष्ट्रीय सहकारी विकास व गोदाम निगम (National Co-operative Development and Warehousing Corporation) को लघु-उद्योगो की भी सहायता करनी चाहिए, (iv) स्टेट बैंक व रिजर्व बैंक द्वारा लघु-उद्योगो को वित्तीय सहायता प्रदान करनी चाहिए, (v) राज्य वित्त निगमो द्वारा लघु-उद्योगो को दीर्घकालीन वित्त प्रदान करना चाहिए, (vi) लघु-उद्योगो के विकास के लिए केन्द्रीय सरकार को ग्राम व लघु-उद्योग मत्रालय की स्थापना करनी चाहिए, (vii) कुछ बड़े पैमाने पर चलने वाले कारखानो के उत्पादन की सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए, ताकि छोटे उद्योगो को भी बाजार प्राप्त हो सकें, (viii) बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुओ के उत्पादन पर उप कर (cess) लगा कर इससे प्राप्त रकम को कुटीर व लघु-उद्योगो के विकास के लिए खर्च किया जाना चाहिए।

अखिल भारतीय लघु उद्योग के सुझाव अखिल भारतीय लघु-उद्योग मण्डल (All India Small Scale Industries Board) ने अपनी बैठक मे जुलाई, सन् 1966 मे निम्नलिखित सिफारिशे की—(i) केन्द्र मे एक वित्तीय संस्था, वित्त-सम्बन्धी समस्या को सुलझाने के लिए स्थापित की जानी चाहिए, (ii) दुर्लभ कच्चे माल की पूर्ति का 1/3 भाग लघु उद्योगो को दिया जाय (iii) लघु उद्योगो की पूँजी-सीमा 10 लाख रुपये रक्खी जाय, (iv) केन्द्रीय लघु-उद्योग संगठन (Central Small Scale Industries Organisation) को सुदृढ बनाने के लिए योग्य तकनीकी कर्मचारियो की नियुक्ति की जाय, (v) लघु-उद्योग सम्बन्धी आकडे प्राप्त करने के लिए लघु-उद्योगो की, राज्य के उद्योग निर्देशक से रजिस्ट्री कराना अनिवार्य बनाया जाय।

सरकार द्वारा कुटीर व लघु उद्योगो के विकास के लिए उठाये गये कदम

भारत सरकार ने अपनी 1948 व सन् 1956 की औद्योगिक नीतियो मे कुटीर व लघु उद्योगो के विकास पर समुचित बल दिया और देश के औद्योगीकरण मे इनकी महत्वपूर्ण भूमिका निधारित की। इन उद्योगो के लिये निम्नांकित महत्वपूर्ण कार्य किए गये

(1) विविध मण्डलो की स्थापना यद्यपि कुटीर व लघु उद्योगो के विकास की जिम्मेदारी सामान्यत राज्य सरकारो की है, तथापि इन उद्योगो को प्रोत्साहन दिलाने के लिए भारत सरकार ने बहुत से बोर्डो की स्थापना की है, जिनके कार्य क्षेत्र अलग-अलग हैं। ये बोर्ड सम्बन्धित उद्योगो के विकास का कार्यक्रम बनाने मे सहायता देते हैं। ये बोर्ड निम्नलिखित हैं

(i) कुटीर उद्योग बोर्ड (Cottage Industries Board) इस बोर्ड की स्थापना लघु उद्योग के विकास के लिए लघु उद्योगो का सर्वेक्षण करने के लिए की गयी।

(ii) अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग बोर्ड (All India Khadi and Village Industries Board) यह बोर्ड जनवरी 1953 मे स्थापित किया गया तथा सन् 1950 मे खादी व ग्रामोद्योग आयोग की स्थापना की गई। यह आयोग खादी तथा ग्रामोद्योग के विकास के लिए कार्य करता है। इसके कार्यक्षेत्र मे कई ग्रामोद्योग सम्मिलित हैं—यथा खादी तेल साबुन, दियासलाई, गुड, मधुमक्खी-पालन आदि। प्रत्येक राज्य मे खादी तथा ग्रामोद्योग मण्डल भी इसी कार्य को सम्पादित करते हैं।

(iii) अखिल भारतीय हस्त शिल्प मण्डल (All India Handicrafts Board) इसकी स्थापना नवम्बर सन 1952 मे की गई। 1958 मे भारतीय हस्त-शिल्प विकास निगम की भी स्थापना की गई। यह बोर्ड दस्तकारी की वस्तुओ के उत्पादन तथा बिक्री मे सुधार करने की चेष्टा करता है। इसने देश भर मे 190 से अधिक भण्डार खोलकर शिल्प वस्तुओं की बिक्री की व्यवस्था की है। इसने देश मे 19 पाइलेट केन्द्र खोले है, जिनमे प्रशिक्षण, अन्वेषण, परीक्षण आदि कार्य किये जाते हैं।

(iv) अखिल भारतीय हाथ करघा मण्डल (All India Handloom Board) हाथ करघा उद्योग के लिए सन् 1952 मे इस बोर्ड की स्थापना की गई। इसने बुनकरो की सहकारी समितियो की स्थापना की है। इसने एक केन्द्रीय बाजार सगठन (Central Marketing Organisation) भी बनाया है।

(v) केन्द्रीय बिक्री सगठन (Central Marketing Organisation)—सन् 1953 मे इस सस्था की स्थापना की गई तथा इसका प्रधान कार्यालय मद्रास मे

स्थापित किया गया। राज्य सरकारो को रगाई, धुलाई एव रूपान्तर के लिए मिले-जुले कारखाने खोलने, आधुनिक औजारो की व्यवस्था करने और बिक्री केन्द्र खोलने आदि के लिए आर्थिक सहायता दी गई।

(vi) लघु उद्योग मण्डल (The Small Scale Industries Board). अन्तर्राष्ट्रीय योजना विशेषज्ञ दल के सुझावो पर सन् 1954 मे इसका गठन किया गया। यह मण्डल लघु-उद्योगो के विकास की योजनायें बनाता है, उन्हे लागू करता है तथा लघु-उद्योगो को प्राविधिक व अन्य सुविधायें देता है।

(vii) नारियल जटा मण्डल (The Coir Board) यह सन् 1954 मे गठित किया गया। यह नारियल की जटा से बनने वाली वस्तुओ को लोकप्रिय बनाता है। यह एक कारखाना भी खोलने जा रहा है, जिसमे नारियल की जटा से उत्तम कोटि की फर्श बनाई जायेगी।

(viii) केन्द्रीय रेशम मण्डल (Central Silk Board) : यह सन् 1949 मे गठित किया गया था। यह रेशम उद्योग के अनुसधान व विकास के क्षेत्र मे महत्व-पूर्ण कार्य करता है।

2. तकनीकी सहायता कुटीर एव लघु उद्योग के विकास मे तकनीकी सहायता का महत्वपूर्ण योगदान होता है। तकनीकी सहायता के लिए निम्नलिखित कार्य किए गए हैं

(i) केन्द्रीय लघु उद्योग सस्थान (Central Small Scale Industries Institute) सरकार ने केन्द्रीय लघु उद्योग सस्थान की स्थापना की है, जो अपने सेवा [illegible]नों (Service Institutes) एव प्रसार केन्द्रो (Extension Centres) के [illegible] प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियो की व्यवस्था करता है। अनेक राज्यो मे लघु उद्योग सेवा सस्थानो (Small Industries Service Institutes) का जाल सा बिछा दिया गया है, जो छोटे उद्योगपतियों को नए लघु उद्योग स्थापित करने एव उत्पादन बढाने मे तकनीकी सलाह देते हैं। इस समय भारतवर्ष मे 19 लघु-उद्योग सेवा-सस्थान कार्य कर रहे हैं।

(ii) औद्योगिक प्रसार केन्द्र (Industrial Extension Centres) इनकी स्थापना तकनीकी सुधारने के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए की गई है जिससे लघु उद्योग अपनी तकनीकी मे सुधार कर सकते हैं।

(iii) क्षेत्रीय तकनीकी सस्थान (Regional Institutes of Technology) लघु उद्योगो को अपनी तकनीकी एव प्रबन्ध मे सुधार करने से सम्बन्धित सुझाव देने के लिए देश मे चार क्षेत्रीय तकनीकी सस्थानों की स्थापना की गई है।

(iv) नन्ना सम्बन्धी एक राष्ट्रीय विद्यालय की स्थापना की गई है, जो नए-नए डिजाइन बना कर उनका लघु उद्योग केन्द्रो मे प्रदर्शन करता है, जिससे नई मशीनो का प्रयोग बढाया जा सके।

(v) ग्रामोद्योग अनुसधान सस्थान (Village Industries Research Institute) उत्पत्ति की तकनीक एव ग्रामीण उद्योगो से सम्बन्धित अनेक विषयो मे अनुसधान के लिए इसकी स्थापना की गई है।

(vi) आविष्कार प्रोत्साहन मण्डल (Inventions Promotion Board) यह मण्डल इनाम देकर व वित्तीय सहायता द्वारा शिल्पियो को आविष्कार करने के लिये प्रोत्साहित करता है।

(vii) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) इसकी स्थापना सन् 1955 मे हुई। यह निगम लघु उद्योगो को किश्तो पर मशीनें दिलवाता है तथा ब्याज की दर बहुत कम ली जाती है। यह निगम सरकारी विभागो के लिए लघु उद्योगो द्वारा बनाए गए माल की खरीद की भी व्यवस्था करता है एव आदेश के अनुसार सामान तैयार करने के लिए पूजी आदि के रूप मे सहायता देता है। इससे सम्बन्धित चार सस्थान, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास व दिल्ली मे खोले गए है।

3 वित्तीय सहायता कुटीर एव लघु उद्योगो को वित्तीय सहायता दिलाने के लिए निम्नांकित कदम उठाये गए है

(i) राज्य सरकारें उद्योगो को राजकीय सहायता अधिनियम (State Aid to Industries Acts) के अन्तर्गत ऋण प्रदान करती है। द्वितीय एव तृतीय योजनाओ मे क्रमश 13 व 17 करोड रु० इस नियमो के अन्तर्गत दिए गए। इन ऋणों की उपादेयता सीमित है, क्योकि इनकी धन राशि कम और शर्तें कडी है। (ii) सन् 1960 से बैंको व अन्य ऋण देने वाली सस्थाओ द्वारा गारन्टी दिला कर ऋण देने की इस व्यवस्था को रिजर्व बैंक चला रहा है, ताकि ये सस्थाए बिना भय के लघु उद्योगो को ऋण दे सकें। (iii) सन् 1956 से स्टेट बैंक लघु उद्योगो के विस्तार व विवेकीकरण के लिए मध्यकालीन ऋण देता है तथा मशीनो के क्रय के लिए 'किश्त साख योजना' के अधीन साख सुविधाए देता है। (iv) सन् 1951 के राज्य वित्त अधिनियम के अधीन विभिन्न राज्यो मे राज्य वित्त निगमो की स्थापना की गई है। ये निगम भी लघु उद्योगों को वित्त सुविधाए प्रदान करते है। ये निगम अचल सम्पत्ति पर 10 से 12 वर्ष तक के लिए मध्यकालीन ऋण देते है जिससे स्थाई पूजी की आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। (v) रिजर्व बैंक वित्त निगमो की पूजी मे हिस्सा लेकर व सहकारी तथा व्यापारिक बैंको के माध्यम से लघु उद्योगो की वित्त

सम्बन्धी सहायता करता है, तथा (vi) औद्योगिक सहकारी समितियाँ शिल्पकारों को लागत शर्तों पर ऋण सुविधा प्रदान करती हैं।

4 **विपणन सुविधाएँ** कर्वे समिति के सुझाव पर लघु स्तरीय एवं कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित माल को सहकारी ढंग से बेचने के लिए विपणन समितियों व विपणन संघों की स्थापना की गई है। इन उद्योगों द्वारा निर्मित माल की बिक्री बढ़ाने के लिए विभिन्न स्थानों पर बिक्री केन्द्र खोले गए है। अनेक राज्य सरकारों ने बड़े बड़े नगरों में कुटीर उद्योगों एवं हस्तशिल्पों की दुकानें खोली हैं। सरकार अपने विदेशी दूतावासों तथा अन्य संगठनों द्वारा विदेशों में प्रदर्शनियों का आयोजन करती हैं और केन्द्र खोलती हैं, ताकि इनके निर्यात में वृद्धि हो सके।

5 **औद्योगिक बस्तियों का निर्माण** लघु उद्योग बोर्ड के सुझाव पर सन् 1955 से राज्य सरकारों ने औद्योगिक बस्तियाँ (Industrial Estates) स्थापित करनी प्रारम्भ की हैं। इन बस्तियों में सरकार भवन, यातायात, जल, शक्ति आदि की सेवायें प्रदान करती हैं ताकि उद्योगों का प्रादेशिक एवं सतुलित विकास हो सके। ये बस्तियाँ 15 से 50 व 60 एकड़ तक के क्षेत्र में फैली होती हैं। सरकार यह भूमि लेकर उसे ठीक करती है सड़कें बनवाती है तथा विभिन्न फैक्टरियों का निर्माण करती है। सरकार तापीय उपचार (Heat treatment), बिजली की भट्टियों (Electric furnaces) आदि जैसी संयुक्त सेवाओं के लिए वर्कशापें स्थापित करती है, क्योंकि छोटे कारखानों से इनका प्रबन्ध सम्भव नहीं है। श्रमिकों के निवास के लिए घरों की सुविधा भी प्रदान की जाती है। या तो ये फैक्टरियाँ सीधे ही खरीद ली जाती हैं या किराया खरीद प्रणाली पर ली जाती है। अगस्त 1959 तक भारत में कुल 501 औद्योगिक बस्तियाँ विभिन्न अवस्थाओं में थी, जिनमें से 465 में उत्पादन कार्य प्रारम्भ हो चुका था।

6 **राज्य सरकारों द्वारा सहायता** उपर्युक्त सुविधाओं के अतिरिक्त राज्य सरकारों ने कुटीर व लघु उद्योगों के विकास के लिए और भी कई अन्य कार्य किये हैं यथा (i) सम्मिलित उत्पादन कार्यक्रम के अन्तर्गत बड़े उद्योगों से प्राप्त उपकर छोटे उद्योगों पर व्यय किया जाता है (ii) लघु उद्योगों को करों में छूट तथा परिवहन व्यय में रियायत दी जाती है (iii) सरकार कुछ चीजों की खरीद केवल लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की करती है, जैसे—सरकारी निम्न श्रेणी के कर्मचारियों के लिए यूनीफार्म खादी का ही बनाया जाता है। (iv) उत्पादन के कुछ क्षेत्र सुरक्षित रख कर कुटीर एवं लघु उद्योगों को कुछ समय के लिए सरक्षण दिया जाता है, (v) राज्य द्वारा आर्थिक सहायता (Subsidies) देकर लघु उद्योगों की सहायता की जाती है।

सामान्यतः लघु-उद्योगों के विकास की जिम्मेदारी राज्य सरकारों की है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी राज्यों मे उद्योग निदेशालय (Directorate of Industries) तथा अन्य सहायक वित्तीय, बिक्री एवं सांख्यिकीय संस्थाओं का गठन किया गया है। इन उद्योगों के विकास के सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार की मुख्य कार्य नीति निर्धारण करना, विकास कार्यक्रमों मे तालमेल बैठाना तकनीकी सहायता दिलाना, प्रशिक्षण दिलाना तथा आर्थिक सूचना सम्बन्धी सेवाएं प्रदान करना है।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कुटीर व लघु उद्योग

प्रथम योजना प्रथम पंचवर्षीय योजना मे ग्रामोद्योग व लघु उद्योगों पर 43 करोड रुपये खर्च किये गये थे। इस योजना के अन्तर्गत (i) कुटीर व लघु उद्योगों के लिए वित्तीय सहायता की व्यवस्था की गई। (ii) विभिन्न उद्योगों की समस्याओं के निराकरण के लिए विविध मडलो का गठन किया गया (iii) कुटीर उद्योगों को वृहत उद्योगों की प्रतिस्पर्धा से बचाने की व्यवस्था की गई। (iv) दस चुने हुये ग्रामीण उद्योगों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया। (v) वृहत उद्योगों पर उप-कर लगाए गए। (vi) सहकारी संगठन, अनुसंधान, प्रशिक्षण आदि पर बल दिया गया था।

द्वितीय योजना द्वितीय योजना मे 175 करोड रुपये व्यय किये गए। सरकार ने इस योजना मे कर्वे समिति की मुख्य सिफारिशों पर अमल करने की चेष्टा की। इस योजना मे उद्योग-विस्तार-सेवा तथा राज्यो मे लघु उद्योग सेवा संस्थायें स्थापित की गयी। 66 औद्योगिक बस्तियों का निर्माण किया गया, इनमे शक्ति का प्रयोग करने वाले लगभग 1,000 लघु-स्तरीय कारखाने खुले।

इस योजना मे कुटीर व लघु-उद्योगों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए योजना आयोग ने कहा था, "द्वितीय योजना का एक मुख्य उद्देश्य रोजगार देना है। छोटे पैमाने के तथा ग्रामीण उद्योगों के द्वारा अधिक व्यक्तियों को काम मिलता है। उतनी ही पूँजी लगा कर इन उद्योगों मे बडे उद्योगों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यक्ति खपाये जा सकते है ग्रामो की अर्थ-व्यवस्था का अधिक संतुलित तथा समन्वित विकास हो पाता है।"

इस योजनाकाल मे कई छोटे उद्योगों, जैसे—मशीनी औजार, सिलाई मशीनें, बिजली के पंखो, मोटरों, इमारती सामान और अन्य औजारों सम्बन्धी उद्योगों मे विशेष वृद्धि हुई।

तृतीय योजना तृतीय योजना मे अग्रलिखित क्षेत्रों मे प्रयत्न करने के कार्यक्रम रखते गए थे

1. उत्पादन में सुधार कर उत्पादन लागत घटाना ।
2. आर्थिक सहायता, अनुदानों, सुरक्षित बाजार आदि की व्यवस्था करना ।
3. गाँवों एवं कस्बों में इन उद्योगों का विकास करना ।
4. लघु उद्योगों को बड़े उद्योगों के सहायक के रूप में विकसित करना ।
5. कारीगरों को सहकारी ढंग पर संगठित करना ।

तृतीय योजना तृतीय योजना में इन उद्योगों पर 241 करोड़ रुपये व्यय किए गये । इन उद्योगों में 6 3 लाख व्यक्तियों को पूर्णकालीन रोजगार तथा 80 लाख व्यक्तियों को आंशिक तथा अर्द्ध-रोजगार दिलाया गया । जूते, चमड़ा, बाइसिकल, सिलाई की मशीनों बिजली के पंखों, हाथ के औजारों, रंग, वार्निश, साबुन आदि के उत्पादन में इस योजनाकाल में 25 से 50 प्रतिशत तक वृद्धि हुई । राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम ने 1965–66 में 24 4 करोड़ रुपये के मूल्य की 16,000 मशीनें दिलवाईं । इस योजना के अन्तर्गत इन उद्योगों के निर्यात में भी वृद्धि हुई । 1960–61 की तुलना में निर्यात 25 करोड़ रुपये से बढ़ कर 1965–66 में 54 करोड़ रुपयों के बराबर हो गया ।

वार्षिक योजनाओं में इन उद्योगों पर 132 करोड़ रु व्यय किए गए ।

चतुर्थ योजना (1969–74) इस योजना में सरकारी क्षेत्र में ग्राम एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए कुल 2 93 करोड़ रुपए की व्यय व्यवस्था है । इस योजनावधि में निजी क्षेत्र द्वारा लगभग 560 करोड़ रुपए की पूंजी लगाए जाने की आशा है । चौथी योजना के कार्यक्रम के उद्देश्य हैं (क) लघु उद्योगों की उत्पादन तकनीकी का तेजी से विकास करना, (ख) उद्योगों के फैलाव और विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देना तथा (ग) कृषि आधारित उद्योगों का विकास करना ।

इस योजनावधि में कुटीर एवं लघु उद्योगों सम्बन्धी अनुसंधान सुविधाएं बढ़ाई जाएंगी, उत्पादन तकनीक विकसित की जाएगी, डिजाइन को उन्नत बनाया जाएगा और औद्योगिक विस्तार सेवाओं तथा परीक्षण सुविधाओं को बढ़ाया जाएगा । बड़े-बड़े शहरों में दस्तकारी केन्द्र खोले जायेंगे । निर्यात का माल तैयार करने वाले कारखानों को ऋण एवं कच्चे माल की सप्लाई में प्राथमिकता दी जायेगी ।

हाथकरघा, शक्ति चालित करघा और खादी उद्योगों में फिलहाल अनुमानित 33,500 लाख मीटर सूती कपड़े के उत्पादन में वृद्धि होकर चौथी योजना के अन्त तक 42,500 लाख मीटर तक हो जाने की आशा है । हाथकरघा उत्पादन का निर्यात मूल्य 1967-68 में लगभग 9 करोड़ रुपये रहा और 1973-74 तक इसके लगभग 15 करोड़ रुपये तक बढ़ जाने का अनुमान है । नारियल जटा उद्योग का निर्यात मूल्य, जो 1967-68 में लगभग 13 करोड़ रुपए का था, 1973-74 तक बढ़कर लगभग 17 करोड़ रुपए हो जाएगा ।

चतुर्थ योजना में, हाथकरघे एवं शक्ति चालित करघे पर 42.98 करोड़ रु., खादी एवं ग्रामोद्योग पर 96.43 करोड़ रु. नारियल जटा उद्योग पर 4.42 करोड़ रु., रेशम के कीड़े पालने के उद्योग पर 19.37 करोड़ रु., हस्तशिल्प पर 14.52 करोड़ रु., औद्योगिक संस्थानों पर 13.15 करोड़ रु. तथा ग्रामोद्योग सम्बन्धी कार्यक्रमों पर 5.10 करोड़ रुपए व्यय किए जाएंगे। इस प्रकार इस योजना अवधि में कुटीर एवं लघु उद्योगों पर 293 करोड़ रु. व्यय किए जाने का अनुमान है।

भारतवर्ष के कुछ प्रमुख कुटीर व लघुस्तरीय उद्योग—भारतवर्ष के कुछ प्रमुख कुटीर व लघु उद्योग अग्रलिखित हैं -

(1) हाथकरघा व खादी उद्योग यह उद्योग देश का प्रमुख कुटीर व लघु स्तरीय उद्योग है। इस उद्योग में लगभग 24 लाख करघे हैं तथा 140 लाख व्यक्ति काम करते हैं। यह उद्योग देश के कुल कपड़े की माग के $\frac{1}{5}$ भाग की पूर्ति करता है। इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र हैं-बनारस, इटावा, अमरोहा, टांडा, मऊ, बाराबंकी (उत्तर प्रदेश), चन्देरी (म० प्रदेश), कर्नाटक (महाराष्ट्र), कोयम्बटूर (मद्रास) तथा नागपुर।

2 नारियल की जटा का उद्योग (Coir Industry) इस उद्योग में लगभग 2 लाख श्रमिक कार्य कर रहे हैं। यह उद्योग प्रति वर्ष 182 लाख टन नारियल जटा की रस्सी बनाता है यह उद्योग मुख्यत केरल में केन्द्रित है। इस उद्योग द्वारा निर्मित वस्तुओं का निर्यात करके भारतवर्ष विदेशी विनिमय (10-12 करोड़ रुपये का) प्राप्त करता है।

3 गुड़ व खण्डसारी उद्योग यह उद्योग बिहार व उत्तर प्रदेश में मुख्यत: केन्द्रित है। हमारे देश में गन्ने के रस से गुड़ व खण्डसारी बनाया जाता है। खजूर के रस से भी गुड़ बनाया जा रहा है। हमारे देश में प्रतिवर्ष लगभग 80 से 100 लाख टन गुड़ बनाया जाता है। इसे किसान सहायक उद्योग के रूप में अपनाते हैं।

4 तेल पेरने का उद्योग भारत में तिलहन बहुत बड़ी मात्रा में पैदा किया जाता है तथा निर्यात भी किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में घानी द्वारा तेल पेरा जाता है। शहरों में इसे छोटे-छोटे कारखानों में लघु उद्योग के रूप में चलाया जाता है।

5 रेशम उद्योग यह उद्योग 35 हजार व्यक्तियों को पूर्ण रोजगार तथा 27 लाख व्यक्तियों को अर्द्ध-रोजगार दिलाता है। भारत में प० बंगाल, आसाम, जम्मू काश्मीर, मध्य प्रदेश, बिहार आदि राज्यों में यह उद्योग चलाया जाता है। भारत सरकार ने इस उद्योग के विकास के लिए कई अनुसंधान केन्द्र खोले हैं। इस उद्योग से सम्बन्धित प्रशिक्षण देने के लिए 4 प्रादेशिक प्रशिक्षण संस्थाएँ भी खोली गई हैं।

6 बीडी-सिगरेट उद्योग भारत विश्व के तम्बाकू उत्पादन का $\frac{1}{4}$ भाग पैदा करता है। इस उद्योग में लगभग 5 लाख लोग कार्य करते हैं। भारतवर्ष में महाराष्ट्र, मद्रास, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, बंगाल, मैसूर आदि राज्यों में बीडी उद्योग चलाया जाता है। कलकत्ता, बम्बई, सहारनपुर, मुंगेर, बंगलौर आदि सिगरेट बनाने के मुख्य केन्द्र हैं।

7 चमड़े का उद्योग भारतवर्ष में विश्व के सर्वाधिक पशु पाये जाते हैं। इनके मरने पर इनके चमड़े के जूते व अन्य कई सामान कुटीर व लघु उद्योग में बनाये जाते हैं। आगरा, कानपुर, मद्रास, दिल्ली, अमृतसर आदि जूते व चमड़े की अन्य वस्तुओं के बनाने के केन्द्र हैं।

8 अन्य उद्योग भारत में अन्य बहुत से कुटीर व लघु उद्योग पाये जाते हैं यथा—बरेली होशियारपुर, कर्तारपुर में लकड़ी का फर्नीचर, मेरठ एवं जालंधर में लकड़ी के खेल के सामान, मैसूर में चन्दन की लकड़ी तथा काश्मीर में अखरोट की लकड़ी पर खुदाई का बहुत नफीस काम किया जाता है। पीतल, तांबा, कांसा व चांदी के बर्तनों के उद्योग मुरादाबाद, मिर्जापुर, बनारस, हाथरस, हरदोई, फर्रुखाबाद आदि स्थानों में पाये जाते हैं। इन उद्योगों के अतिरिक्त बेकरी का काम, बांस व बेंत का काम, छपाई, कढ़ाई, बुनाई, काँच का सामान, वाद्य-वृन्द बनाने, फलों को सुरक्षित पैक करने आदि से सम्बन्धित लघु उद्योग आदि भी हमारे देश के विभिन्न भागों में चलाए जाते हैं।

उपसंहार

भारतवर्ष में कुल रजिस्टर्ड कारखानों में से 40,000 कारखाने अर्थात् 91 6% कारखाने लघु पैमाने पर चलाये जा रहे हैं। इनमें लगभग 14 37 लाख लोगों को काम मिला हुआ है इन उद्योगों में लगभग 292 करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है, जो कुल निर्माण उद्योग पूंजी का 2 28% भाग है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था में इन उद्योगों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। उद्योग चाहे बड़ा हो या छोटा, आज के युग में सफलता उसी को मिल सकती है, जिसका माल अच्छी किस्म का होगा तथा अन्य उत्पादकों के साथ होड़ में टिक सकेगा। अत आवश्यकता इस बात की है लघु उद्योगों का पुनर्संगठन एवं आधुनिकीकरण किया जाय। कुटीर उद्योगों के मार्ग की सभी बाधायें हटा कर उन्हें ग्रामीण क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए पुन जीवित किया जाय। केन्द्रीय व राज्य सरकारें इन उद्योगों के प्रति अपना दायित्व निभाने की चेष्टा कर रही है। वह दिन दूर नहीं, जब ये उद्योग पुन अपने खोये हुये प्राचीन वैभव को प्राप्त कर सकेंगे। कुटीर एवं लघु उद्योगों के प्रबल समर्थक राष्ट्र पिता बापू ने ठीक ही कहा था

'I have no doubt in my mind that we add to the national wealth if we help the small scale industries True swadeshi consists in encouraging and reviving home industries That alone can help the dumb millions

प्रश्न

1 भारतवर्ष मे लघु उद्योगो के विकास का वर्णन करते हुये बताइये कि क्या वे समृद्ध हुये है ? यदि नही तो क्यो ? इसका कारण बताइये ।

(राज प्रथम वर्ष टी डी सी कला 1968)

2 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—'भारत मे ग्रामीण उद्योगो का महत्व' ।

(राज प्रथम वर्ष टी डी सी कला 1967)

3 भारतीय अर्थ व्यवस्था मे कुटीर उद्योगो का क्या महत्व है ? इनके उचित विकास के मार्ग मे मुख्य बाधाओं का उल्लेख कीजिये ।

(राज प्र वर्ष टी डी सी कला 1964)

4 भारत मे कुटीर उद्योगो को वित्तीय सहायता प्रदान करने वाले वर्तमान साधनो को बतलाइये । उनकी कमी को पूरा करने के सुझाव दीजिए ।

(राज बी ए 1963)

5 भारतीय अर्थ व्यवस्था मे कुटीर उद्योगो के विकास का क्या महत्व है ? इन वर्षों मे इनके विकास के लिए सरकार द्वारा क्या कदम उठाये गये हैं ?

(राज बी ए 1961, 62, 64)

17

भारत में औद्योगीकरण

(Industrialisation in India)

"The industrial programme for the Fourth Plan has to keep in view the objectives of development of backward regions and dispersal of industries with due regard to technical and economic considerations."

—A Draft Outline of Fourth Five-Year Plan.

आधुनिक ढग के औद्योगीकरण का श्रीगणेश भारतवर्ष मे उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुआ था। ब्रिटिश सरकार की उदासीनता एव उपेक्षापूर्ण नीति के कारण उद्योगो की प्रगति अपने प्रारम्भिक चरण मे बहुत धीमी रही। वस्तुतः उद्योगो के विकास की प्रक्रिया केवल प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् ही प्रारम्भ हुई। 1929 की महान मन्दी, जिसने सम्पूर्ण विश्व की अर्थ-व्यवस्था को हिला दिया, भारतीय उद्योगो के सरक्षण मिल जाने के कारण जीवित बने रहे। द्वितीय विश्व युद्ध ने औद्योगीकरण विकास मे नई चेतना का सचार किया। लेकिन उस समय तक भी भारतीय उद्योगो का विकास देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को ध्यान मे रख कर नही किया गया था। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् ही देश की लोकप्रिय सरकार ने पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत बडे उद्योगो के विकास की आधारशिला को मजबूत बना कर उनके विकास के मार्ग को प्रशस्त किया। गत वर्षो मे नियोजित ढग से औद्योगिक विकास का परिणाम यह हुआ है कि देश मे कुछ उद्योगो ने बडी तीव्र गति से उन्नति की है। आज भारतवर्ष के कुछ बडे पैमाने के उद्योग विकास की उस सीमा तक पहुच रहे हैं, जहाँ उनकी तुलना ससार के अन्य औद्योगिक राष्ट्रो से की जा सकती है।

इस अध्याय के अन्तर्गत हम देश के कुछ प्रमुख उद्योगो के विकास, उनकी समस्याओ व उनकी वर्तमान स्थिति का अवलोकन करेंगे। हम यह भी देखेंगे कि वर्तमान समय मे औद्योगिक विकास के रास्ते मे, हमारे देश मे, क्या-क्या रुकावटें

हैं, इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है तथा सरकार इस दिशा में क्या-क्या कदम उठा रही है। भारत का औद्योगिक अतीत विश्व-विख्यात था। भारत जब तक अपने उद्योगों की कठिनाइयों को दूर करके औद्योगिक मानचित्र पर अपना नाम नहीं अंकित कर देता, तब तक उसे अपनी प्रगति की गति शिथिल नहीं करनी है।

1. लोहा व इस्पात उद्योग
(Iron and Steel Industry)

परिचय

लोहा व इस्पात उद्योग, आधारभूत उद्योगों में, सर्वाधिक महत्वपूर्ण है तथा किसी भी देश का आर्थिक विकास बहुत कुछ इस उद्योग पर ही निर्भर करता है।[1] कृषि, उद्योग, परिवहन, संचार के साधन तथा दैनिक जीवन में काम आने वाली सैकड़ों वस्तुओं के निर्माण के लिए लोहा व इस्पात बहुत आवश्यक है। लोहे की उपयोगिता एवं महत्व में अंग्रेज कवि काँवरन ने ठीक ही कहा है, "सोना महल की रानी के लिए आवश्यक है, चाँदी महल की दासी के लिए और ताँबा प्रत्येक कारीगर के लिए आवश्यक होता है, लेकिन लोहा देश की समस्त अर्थ-व्यवस्था में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।" सच तो यह है, लोहा व इस्पात उद्योग न केवल औद्योगिक आधारशिला के लिए ही आवश्यक है, अपितु वर्तमान सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की आधारशिला के लिए जरूरी है। भारतवर्ष में लोहे व इस्पात उद्योग के विकास की सम्भावनाएं बहुत अधिक हैं, क्योंकि इस उद्योग के विकास के लिए हमारे देश में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है। देश में 2,100 करोड़ टन लोहे के भंडार हैं। चूना, पत्थर, मैंगनीज व डोलोमाइट जैसी धातुओं की भी प्रचुरता है। कोयले की खानें भी निकट हैं। सब मिलाकर देश की स्थिति लोहे व इस्पात उद्योग के विकास के लिए आदर्शमय है।

उद्योग का विकास (Development of Industry) . भारतवर्ष में लोहे व इस्पात के उद्योग का विकास बहुत पहले हो चुका था। प्रो. विल्सन के मतानुसार, "लोहे को ढलाई इंगलैण्ड में तो थोड़े ही दिनों से प्रारम्भ हुई है, लेकिन भारतवासी लोहे गलाने व इस्पात बनाने की कला का ज्ञान अत्यन्त प्राचीन काल से रखते हैं।" ईसा से 300 वर्ष पूर्व दिल्ली में स्थापित अशोक की लाट इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भारत में आधुनिक ढंग से लोहा बनाने का प्रयास सन् 1830 व 1875 ई में किए गए थे। 1830 में जोशिया मार्शल हीथ (Joshia Marshall Heath) ने मद्रास के पास लोहे बनाने के कारखाने के लिए असफल प्रयत्न किया था। सन्

1. Knowles Industrial and Commercial Revolution during the 19th Century, p 17.

1875 में बंगाल में बाराकर आयरन वर्क्स (Barakar Iron Works) की स्थापना की गई, लेकिन यहाँ केवल लोहा ही बनाया जा सकता था, इस्पात नहीं।

वाडिया व मर्चेन्ट के अनुसार, भारतवर्ष में चौथी व पाँचवी शताब्दी में भी टिकाऊ व सुन्दर लोहे की वस्तुओं का उत्पादन होता था तथा ये वस्तुयें विदेशों को पर्याप्त मात्रा में निर्यात की जाती थी।[1] आधुनिक युग में इस उद्योग का वास्तविक प्रारम्भ सन् 1907 ई० से माना जाता है, क्योंकि इसी वर्ष बिहार में राँची नामक स्थान पर श्री जमशेद जी टाटा ने 'टाटा आयरन व स्टील कम्पनी' की स्थापना की थी। इसने सन् 1911 व सन् 1913 में क्रमशः कच्चा लोहा व स्टील का उत्पादन प्रारम्भ किया। प्रथम विश्व युद्ध से इस उद्योग को बहुत प्रोत्साहन मिला। उत्पादन तथा माग दोनों में ही वृद्धि हुई। बढ़ती हुई माँग की पूर्ति करने के लिए टाटा आयरन व स्टील वर्क्स का विस्तार किया गया तथा सन् 1918 में बंगाल में आसनसोल के पास हीरापुर में 'इन्डियन आयरन व स्टील कम्पनी' की स्थापना की गयी। सन् 1923 में भद्रावती नामक स्थान पर एक और लोहे व इस्पात का कारखाना चालू किया गया, जिसे आजकल 'मैसूर आइरन व स्टील वर्क्स के नाम से जाना जाता है।

1922-23 में इस कारखाने को कड़ी विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप सन् 1924 में इस उद्योग को संरक्षण प्रदान किया गया, जो 31 मार्च, 1947 तक चालू रहा। 1939 में 'स्टील कारपोरेशन आफ बंगाल' की स्थापना बर्नपुर में की गयी। द्वितीय विश्व युद्ध में इस उद्योग का समुचित विकास हुआ, पर युद्ध समाप्त हो जाने के बाद ही इसे संकटों ने घेर लिया। सन् 1946 में भारत सरकार द्वारा एक 'स्टील पेनल' (Steel Panel) की नियुक्ति की गयी, जिसने यह सुझाव दिया कि यदि निजी उद्योगपति निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में असमर्थ हो तो सरकार को सार्वजनिक क्षेत्र में लोहे व स्टील कारखाने खोलने चाहिये।

सन् 1947 तक भारतीय लोहे व इस्पात उद्योग की क्षमता बहुत कम थी, यद्यपि इस्पात व लोहे की बनी हुई वस्तुओं की माँग बहुत थी। लोहे व इस्पात की वस्तु की कमी को पूरा करने के लिए इसका विदेशों से आयात करना पड़ता था। आयात मूल्य भारत में उत्पादित मूल्य की अपेक्षा अधिक हुआ करता था।

इस उद्योग में सन् 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारतवर्ष में निम्नलिखित तीन बड़े कारखाने थे (1) टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, जमशेदपुर (TISCO), (2) स्टील कार्पोरेशन ऑफ बंगाल, बर्नपुर (SCOB)[2]; तथा (3) मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स, भद्रावती।

1. Wadia and Merchant Our Economic Problems, p 379
2. इसे बाद में 1953 में बर्नपुर की इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी में मिला दिया गया।

योजनाओं के अन्तर्गत लोहा व इस्पात उद्योग का विकास सन 1948 में भारत सरकार ने अपनी पहली औद्योगिक नीति घोषित की, जिसमें भविष्य में लोहे व इस्पात उद्योग का विकास सार्वजनिक क्षेत्र में करने का प्रावधान किया। **प्रथम योजना** में इस उद्योग के विकास के लिए 30 करोड रुपयों का प्रावधान किया गया था तथा 17 लाख टन स्टील के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया था। इसी योजना में 10 लाख टन क्षमता वाले 3 बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना सम्बन्धी कार्य को भी अन्तिम रूप मिल चुका था। ये तीनों कारखाने राउरकेला (उडीसा), भिलाई (मध्य प्रदेश) व दुर्गापुर (प. बगाल) में क्रमश जर्मनी, रूस व ब्रिटेन की आर्थिक व तकनीकी सहायता से स्थापित किये जाने थे। इस योजना में पहले से ही स्थापित लोहे व स्टील उद्योगों को भी विकसित किया गया। चूंकि यह योजना मुख्यत कृषि प्रधान थी, अत. उद्योगों के विकास के लिए कुछ अधिक प्रयत्न नहीं किए जा सके। लोहे व इस्पात के उत्पादन में केवल थोडी सी वृद्धि हुई, जो कि 1951-52 में 10 लाख टन से बढ कर 1955-56 में 12 लाख टन पहुच गया।

द्वितीय योजना में इस उद्योग के विकास के लिए 431 करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया तथा 43 लाख टन स्टील के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया। सार्वजनिक क्षेत्र के तीनों कारखानों ने इस योजना में उत्पादन शुरू कर दिया था। यह कारखाने रूरकेला (उडीसा) में जर्मन, भिलाई (मध्य प्रदेश) में रूसी तथा दुर्गापुर (बगाल) में ब्रिटिश सहायता से स्थापित किए गए। इनमें से प्रत्येक कारखाने की उत्पादन क्षमता 10 लाख टन थी। सार्वजनिक क्षेत्र में इन कारखानों के चालू करने के अतिरिक्त निजी क्षेत्र में स्थापित कारखानों को वित्तीय तथा अन्य प्रकार की सहायता दिला कर उनके विस्तार को प्रोत्साहित किया गया। टाटा आयरन व स्टील ने अपनी तैयार इस्पात की क्षमता 8 लाख टन से बढा कर 15 लाख टन की। इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी ने तैयार इस्पात की क्षमता 8 लाख टन तथा मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स ने 85,000 टन तक अपनी क्षमता कर ली। सार्वजनिक क्षेत्र के तीनों कारखानों के सम्मिलित उत्पादन का लक्ष्य 30 लाख टन था, जबकि इनका वास्तविक उत्पादन 1960-61 में 6 लाख टन ही हुआ। इन तीनों इस्पात कारखानों का प्रबन्ध सरकारी प्रमण्डल हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के अन्तर्गत कर दिया गया। सन् 1960-61 में इस्पात का कुल उत्पादन 24 लाख टन था, जो निर्धारित लक्ष्य से काफी कम रह गया।

तृतीय योजना में इस्पात उत्पादन का लक्ष्य 92 लाख टन रखा गया। सार्वजनिक क्षेत्र के तीनों कारखानों की क्षमता दुनी कर देने का निर्णय लिया। 10 लाख टन क्षमता वाले एक नय कारखाने को बोकारो में स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इस योजना में उत्पादन लक्ष्य थे—इस्पात के ढोके 92 लाख

टन, तैयार इस्पात 68 लाख टन। इस योजना मे इस्पात विस्तार के कार्यक्रम पर 525 करोड रुपये खर्च किए गए। इस्पात विस्तार के कार्य का एक अन्य महत्वपूर्ण अंग 20 लाख टन मिश्रित (alloy) व विशेष इस्पात (Special Steel) बनाने की योजना थी, क्योंकि ये इस्पात मूल्यवान होते हैं तथा इनके उत्पादन से विदेशी मुद्रा में काफी बचत की सम्भावना होती है।

तृतीय योजना में इस उद्योग की प्रगति सतोषजनक नही रही। सन् 1965-66 मे इस्पात ढोको का उत्पादन 65 लाख टन तथा तैयार इस्पात का उत्पादन केवल 45 लाख टन ही रहा। सन् 1970–71 मे इस्पात ढोको का उत्पादन 61 लाख टन हुआ तथा 79 करोड रुपये का लोहा व इस्पात विदेशो को निर्यात किया गया।

17 अप्रैल, 1970 को प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने सालेम (तमिलनाडु), होसपेट (मैसूर) तथा विशाखापतनम (आन्ध्रप्रदेश) मे मिनी स्टील प्लान्ट लगाने की घोषणा की। यह तीनो कारखाने भारतीय इजीनियरो द्वारा लगाए जायेंगे।

भविष्य के कार्यक्रम इस्पात उद्योग की वर्तमान क्षमता को बढा कर 1973–74 तक 120 लाख टन कर देने का लक्ष्य है तथा उत्पादन का लक्ष्य 108 लाख टन इस्पात है। बोकारो स्टील लि० जनवरी 1964 मे स्थापित की गयी, जिसका कि प्रथम चरण 1974 मे पूरा होने की आशा है, सोवियत रूस की सहायता से बनाया जा रहा है। बोकारो कारखाने की प्रारम्भिक क्षमता 15 से 20 लाख टन होगी, जिसे बाद मे 40 लाख टन तक बढाया जा सकेगा। भिलाई की वर्तमान 20 लाख टन की क्षमता को 35 लाख टन तथा दुर्गापुर की वर्तमान 16 लाख टन की क्षमता को बढाकर 34 लाख टन करने का लक्ष्य है। रूरकेला की उत्पादन क्षमता 25 लाख टन हो जायेगी।

सार्वजनिक क्षेत्र के अतिरिक्त, निजी क्षेत्र को भी विस्तार प्रदान किया जायेगा। टाटा आयरन एन्ड स्टील कम्पनी व इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की उत्पादन क्षमता क्रमश 20 व 10 लाख टन से बढाकर चौथी योजना के अन्त तक क्रमश 30 व 13 लाख टन कर दी जायेगी।

वर्तमान स्थिति *इस समय भारतवर्ष में लोहे व इस्पात के 6 बड़े कारखाने* उत्पादन में है, जिसमे से टाटा आयरन व स्टील कम्पनी निजी क्षेत्र मे है तथा बाकी पाच कारखाने इन्डियन आयरन व स्टील कम्पनी (जिसे सरकार ने 1972 मे अपने हाथ मे लिया), मैसूर आयरन व स्टील वर्क्स तथा राउरकेला, भिलाई व दुर्गापुर के कारखाने सार्वजनिक क्षेत्र मे हैं। बिहार मे बोकारो नामक स्थ रपना

रूसी सरकार की सहायता से बोकारो लौह व इस्पात कारखाना स्थापित किया जा रहा है, जिसका प्रारम्भिक निर्माण कार्य मई 1968 से प्रारम्भ हो चुका है। सरकारी क्षेत्र में बोकारो के अतिरिक्त तीन मिनी स्टील प्लान्ट सालेम, हास्पेट तथा विशाखापटनम में भी स्थापित किए जा रहे है। इन बड़े-बड़े कारखानो के अतिरिक्त देश मे कई छोटे-छोटे कारखाने भी चल रहे हैं। यद्यपि भारत ने विगत कुछ वर्षों से इस्पात उद्योग के क्षेत्र मे काफी प्रगति की है। तथापि विश्व के इस्पात उत्पादन करने वाले देशो मे इसका 13 वा स्थान है। भारत मे कुल विश्व के इस्पात का केवल 1 42% इस्पात ही पैदा किया जाता है। प्रति व्यक्ति उपयोग की दृष्टि से भी भारत का स्थान 36 वा है। जबकि अमेरिका मे प्रति वर्ष 488 किलोग्राम, रूस मे 334, पश्चिमी जर्मनी मे 428, जापान मे 252 किलोग्राम है, भारत मे केवल 1 4 किलोग्राम है।

उद्योग की समस्याए एव सुझाव लोहे व इस्पात उद्योग को वर्तमान समय मे कई कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है जिनमे प्रमुख निम्न लिखित है

1 **अच्छे कोयले की कमी** भारतवर्ष मे लोहे को गलाने के लिये अच्छे कोयले की कमी है। इस कमी के कारण इस्पात उद्योग को असुविधा होती है। इस सम्बन्ध मे कोयले की धुलाई व दूर से अच्छे कोयले को लाने के लिये ढुलाई की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये।

2 **तकनीक व प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव** इस उद्योग के लिये उच्च कोटि की तकनीकी व प्रशिक्षित कर्मचारी देश मे नही मिल पाते। फलस्वरूप बहुत अधिक वेतन देकर विदेशो से इन्हे बुलाना पडता है। लेकिन यह समस्या भी धीरे-धीरे हल हो जायेगी, क्योकि देश मे ट्रेनिंग स्कूल व इन्जीनियरिंग कालेजो की स्थापना हो गई है। विदेशो से भी लोग प्रशिक्षण प्राप्त कर भारत आ रहे हैं।

3. **परिवहन की कठिनाई** हमारे देश मे कच्चे लोहे को इस्पात के कारखानो मे पहुँचाने के लिये सस्ते, सुगम, पर्याप्त व द्रुतगामी साधन नही है। रेलो के विकास व कारखानो तक दोहरी लाइन बिछाकर यह समस्या हल की जा सकती है।

4 **इस्पात के मूल्य निर्धारण की समस्या** भारतवर्ष मे इस्पात की माग उत्पादन से अधिक है। परिणामस्वरूप इसका आयात किया जाता है। आयात किया हुआ इस्पात महगा पडता है, अत सरकार उपभोक्ता को आयात दरो-पर ही माल बेचती है और होने वाले लाभ को, एक समताकोष के माध्यम से, इस्पात के कारखानो के आधुनिकीकरण पर व्यय करती है। इस प्रकार निश्चित किया हुआ मूल्य परिवर्तित

होता रहता है, जिससे असुविधा होती है। आत्म-निर्भरता की स्थिति में यह समस्या स्वतः दूर हो जायेगी।

5 **पूंजी का अभाव :** लोहा व इस्पात उद्योग एक भारी उद्योग है जिसमें कारखाना लगाने के लिए बहुत पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। इस्पात का एक छोटा कारखाना लगाने में भी 150 से 200 करोड़ रुपए की पूंजी लग जाती है। पुराने कारखाने में अभिनवीकरण के लिए भी बहुत पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन भारत में पूंजी की कमी है, इसलिए इस उद्योग का तेजी से विकास नहीं हो सका। पूंजी के अभाव के कारण ही इस उद्योग के कारखाने सार्वजनिक क्षेत्र में विदेशों से सहायता लेकर स्थापित किए जा रहे हैं।

उपर्युक्त कठिनाइयों के अलावा इस उद्योग के सामने कुछ अन्य समस्याएँ भी हैं, जैसे—मजदूरों की अधिकता, श्रम एवं पूंजी के मध्य तनावपूर्ण सम्बन्ध विवेकीकरण व आधुनिकीकरण का अभाव, निजी क्षेत्र के प्रति सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति आदि। चूंकि देश के आर्थिक विकास में लोहा व इस्पात उद्योग की महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है, अतः इस उद्योग की सभी कठिनाइयों एवं समस्याओं को यथा शीघ्र दूर किया जाना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में लोहा व इस्पात उद्योग दिनों-दिन उन्नति करता जा रहा है। प्राकृतिक सुविधाओं को देखते हुये यह कल्पना की जा सकती है कि भारतवर्ष निकट भविष्य में ही इस उद्योग में आत्म-निर्भर हो जायेगा। स्टील उत्पादन के सम्बन्ध में सरकार एक नई नीति अपनाने जा रही है। जिसके अन्तर्गत उद्योग के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समुचित व्यवस्था की जायेगी। सरकार विदेशों में उच्चकोटि के तकनीकी जानकारी की सेवाओं से भी लाभ उठाने की योजना बना रही है।

सूती वस्त्र उद्योग

(Cotton-Textile Industry)

श्री बुकानेन का भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के सम्बन्ध में कथन है कि "भारत का सूती-वस्त्र उद्योग देश के अतीत का गौरव, वर्तमान और भविष्य का सन्देह, किन्तु सदैव आशा की वस्तु रहा है।"[1]

सूती-वस्त्र उद्योग भारत का सबसे प्राचीन उद्योग है। प्राचीन काल से ही भारत इस उद्योग के लिए काफी विख्यात रहा है। इस बात का प्रमाण हमारा दीर्घ-

---

1. "For India cotton manufacture is ancient glory, past and present tribulation but always a hope.

—*D. H. Buchanan*

हुआ है। आधुनिक सन्दर्भ मे यह उद्योग हमारे देश में लगभग डेढ सौ वर्ष पुराना है। इस उद्योग ने अपने इस छोटे से जीवन काल मे कई प्रकार के उतार चढाव देखे हैं। वर्तमान समय मे भी यही उद्योग देश के सगठित उद्योग मे से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी, विश्व के प्रथम पाच सूती-वस्त्र उत्पन्न करने वाले देशो में, भारतवर्ष का स्थान काफी ऊँचा है। भारत विश्व के कुल सूती वस्त्र-उत्पादन का 14% भाग पैदा करता है। जापान के पश्चात् निर्यातिक देशो मे भारत का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है तथा उत्पादक देशो मे अमेरिका के पश्चात् इसका पहला स्थान है। इस प्रकार सूती वस्त्र उद्योग न केवल हमारी विशाल जनसख्या की कपडे की आवश्यकताएँ ही पूरी करता है, वरन् बहुमूल्य विदेशी मुद्रा कमाने मे भी यह काफी सहायक है। भारतवर्ष मे सूती-वस्त्र-उत्पादन दो तरह से किया जाता है—कुटीर व छोटे उद्योग के रूप मे तथा बडे पैमाने के रूप मे। कुटीर उद्योग के रूप मे, भारत मे सूती-वस्त्र उद्योग का अतीत बहुत गौरवमय था। बडे उद्योग के रूप में इसका विकास 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ही मुख्यतः प्रारम्भ हुआ।

संक्षिप्त इतिहास : आधुनिक ढग के सूती-वस्त्र उद्योग का प्रारम्भ सन् 1818 ई० से माना जा सकता है, जबकि कलकत्ते मे प्रथम मिल स्थापित हुई। लेकिन वास्तविक विकास की दृष्टि से यह उद्योग केवल सन् 1854 ई० से भारतवर्ष मे विकसित हुआ, जबकि बम्बई मे कई सूती मिलो की स्थापना हुई। प्रथम विश्व युद्ध मे इस उद्योग को विकसित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। किन्तु युद्धोपरान्त अनेक समस्याएं आने से, जैसे—हडताल, विदेशो से विशेषकर जापान से प्रतिस्पर्द्धा, मूल्यो मे उच्चावचन, विदेशी विनिमय दरो मे परिवर्तन आदि के कारण उद्योग पर बुरा असर पडा। उद्योग के सर्वांगीण विकास को ध्यान मे रखते हुए 1927 में सरक्षण प्रदान किया गया।

सन् 1927 ई० से लेकर 1947 ई० तक इस उद्योग को सरकारी सरक्षण प्राप्त रहा। सरक्षण के अन्तर्गत इस उद्योग ने बडी तेजी से प्रगति की। देश में विविध प्रकार के सूती वस्त्र तैयार होने लगे तथा वस्त्रो के उत्पादन मे गुणात्मक सुधार हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने के समय भारत वस्त्र सम्बन्धी अपनी आवश्यकता का 10 प्रतिशत भाग विदेशो से मगाता था। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान यह उद्योग अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया। एक ओर तो जापान से प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो गई तथा दूसरी ओर मित्र देशों की सेनाओ के लिए बहुत अधिक आर्डर प्राप्त हुए। वस्त्र सम्बन्धी माग बढ गई, फलस्वरूप उत्पादन भी बढ गया। 1939 से 1944 के मध्य वस्त्रो के मूल्यो मे लगभग पाच गुनी वृद्धि हो गई। फलस्वरूप 1943 में उत्पादन तथा वितरण नियमित किया गया। सन् 1947 ई० में देश का

विभाजन हुआ, जिसके फलस्वरूप भारतवर्ष व पाकिस्तान के हिस्से में क्रमशः 380 व 14 मिलें आई । सन् 1947 ई० में कपास उत्पादन करने वाला 40 प्रतिशत भाग पाकिस्तान में चले जाने के कारण, इसी वर्ष सूती वस्त्र पर से संरक्षण हटा लिए जाने के कारण, सन् 1949 ई० में रुपये के अवमूल्यन के कारण तथा सन् 1950 ई० में हड़तालों की लहर के कारण यह उद्योग कठिनाई में रहा।

प्रथम योजना : सूती वस्त्र उद्योग के विकास के कार्यक्रम का शुभारम्भ सन् 1950–51 में प्रथम योजना के विकास के साथ हुआ। उस समय देश में 388 सूती वस्त्र मिलें थी, जिनमें 109 लाख तकुए और 1 94 लाख करघे थे। सूत का उत्पादन 118 करोड़ पौण्ड था तथा वस्त्र उत्पादन 372 करोड़ गज था। योजना के अन्त में 1955–56 ई० तक सूत का उत्पादन 164 करोड़ पौण्ड तथा कपड़े का उत्पादन 510 करोड़ गज हुआ। इस प्रकार योजनावधि में सूत के उत्पादन में 38·5 प्रतिशत तथा कपड़े के उत्पादन में 37 3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। प्रति व्यक्ति वस्त्र की खपत 1950–51 ई० में 11 8 गज से बढ़ कर 1955–56 ई० में 16·5 गज हो गई। उत्पादन में वृद्धि के कई कारण थे, जैसे–कपास की उपलब्धि में वृद्धि, कपड़े के वितरण, मूल्यों तथा उत्पादन पर नियन्त्रण का हटाया जाना व सरकार द्वारा कपड़े के निर्यात को बढ़ाने के लिए कई प्रकार के प्रोत्साहन आदि। इस योजनावधि में सूती वस्त्र उद्योग का दक्षिणी क्षेत्रों में भी विस्तार हुआ।

द्वितीय योजना दूसरी योजना का शुभारम्भ 1956 से हुआ। इस योजना में सूती वस्त्र उद्योग के उत्पादन का लक्ष्य 580 करोड़ गज रखा गया। प्रति व्यक्ति वस्त्र खपत को 16 5 गज से बढ़ा कर 18 5 गज करने का लक्ष्य रखा गया। निर्यात लक्ष्य 100 करोड़ गज कपड़ा रखा गया। सन् 1958 में श्री रमन की अध्यक्षता में सूती-वस्त्र जाँच समिति गठित की गई। इस समिति ने वस्त्र उद्योग पर उत्पादन कर कम करने, विवेकीकरण व स्वचालित करघे लगाने के सुझाव दिए। सन् 1960-61 तक देश में 479 सूती वस्त्र मिलें हो गई। कपड़े का उत्पादन केवल 515 करोड़ गज रहा जो लक्ष्य से कम था। कपड़े के निर्यात में कमी हुई। इस योजनावधि में इस उद्योग की स्थिति बिगड़ने के कई कारण थे, जैसे—जापान, चीन व पाकिस्तान से प्रतिस्पर्द्धा, लागत व्यय में वृद्धि, खाद्यान्नों के मूल्यों में वृद्धि, जिससे लोगों की वस्त्र खरीदने की क्षमता कम हुई आदि।

तृतीय योजना : तृतीय योजना में मिल क्षेत्र के कपड़े में उत्पादन का लक्ष्य 580·4 करोड़ गज तथा धागे के उत्पादन का लक्ष्य 225 करोड़ पौण्ड निर्धारित किया गया था। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए इस योजनावधि में 25,000 स्वचालित करघों के लगाने की व्यवस्था थी। इस योजना के पहले चार वर्षों में सूती कपड़े

के उद्योग ने पर्याप्त प्रगति की, लेकिन अन्तिम वर्ष निराशाजनक रहा। सन् 1965-66 मे हमारे सूती वस्त्र का उत्पादन केवल 515 करोड गज ही हुआ, जो लक्ष्य में कम था।

चतुर्थ योजना (1969–74) चतुर्थ पचवर्षीय योजना में मिल क्षेत्र मे सूती वस्त्र के उत्पादन का लक्ष्य 51,000 लाख मीटर तथा सूती धागे का उत्पादन 11,500 लाख किलोग्राम रखा गया है। योजना काल मे पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण पर 132·5 करोड रु० तथा विस्तारीकरण पर 134 करोड रु० व्यय करने का अनुमान है।

भारतवर्ष मे सूती वस्त्र उत्पादन की प्रगति निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाती है :

मिलों द्वारा उत्पादित कपड़ा

वर्ष	उत्पादन (मिलियन मीटर मे)	निर्यात (मिलियन मीटर मे)	विदेशी मुद्रा (मिलियन डालर में)
1951-52	3727	—	—
1960-61	6728	628	120·8
1965-66	7740	486	97·2
1966-67	73[illegible]3	418	80 6
1967-68	7511	450	87·1
1968-69	7902	497	94 0
1969-70	7753	437	92 9
1970-71	7596	447	100·4

वर्तमान स्थिति वर्तमान समय मे भारतवर्ष मे 672 सूती-वस्त्रों की मिलें हैं, जिनमे 381 कताई तथा 291 मिश्रित मिलें हैं। इस उद्योग का वार्षिक उत्पादन 1300-1400 करोड रुपयों का है।[1] इस उद्योग मे 10 लाख व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से तथा 30 लाख लोगों को परोक्ष रूप से रोजगार मिला हुआ है। भारत की सूती मिलों मे इस समय 170·8 करोड रुपये लगे हुए हैं तथा 209 लाख करघे काम

1. श्री मनुभाई शाह : सम्पदा, सन् 1968.

कर रहे हैं। इस उद्योग में बिजली से चलने वाले 2 लाख के लगभग करघे हैं तथा हाथ से चलने वाले करघों की संख्या 30 लाख है। इस उद्योग में लगभग 500 करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है। इस उद्योग में लगभग 120 करोड़ रु० की भारतीय कपास का प्रयोग होता है तथा भारत सरकार को इस उद्योग से प्रति वर्ष 40 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होती है।

सूती वस्त्र उद्योग की प्रमुख विशेषतायें (Main Features of Cotton Textile Industry)—*भारत के सूती वस्त्र-उद्योग की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :*

(i) हमारे देश में सूती वस्त्र उद्योग में कई क्षेत्र हैं, जैसे, मिल, बिजली के करघे तथा हाथ करघे के क्षेत्र। इन सभी क्षेत्रों में प्रतिस्पर्द्धा होती है, (ii) हमारे देश में मोटे, मध्यम, महीन तथा उत्तम प्रकार, अर्थात् सभी प्रकार के वस्त्रों का निर्माण होता है; (iii) अच्छा वस्त्र बनाने के लिए लम्बे रेशे वाली कपास का अभाव पाया जाता है, (iv) सूती वस्त्र उद्योग के उत्पादन तथा वितरण पर अनेक प्रतिबन्ध हैं; (v) इस उद्योग के अन्तर्गत कई अनार्थिक इकाइयां चल रही हैं, (vi) यह उद्योग कुछ प्रमुख नगरों में ही केन्द्रित रहा है जैसे, बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर, शोलापुर आदि। बम्बई व अहमदाबाद अभी भी इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र हैं, जहां देश के कुल कारखो व तकुओं में से आधे करघे व तकुए कार्यरत हैं, लेकिन धीरे धीरे इस उद्योग का विकेन्द्रीकरण किया जा रहा है।

उद्योग की समस्याएं एवं उपचार इस उद्योग को कई कठिनाइयों व समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, जिनमें से प्रमुख निम्नांकित है—

1. कच्चे माल की कमी यद्यपि भारतवर्ष में विभाजन के परिणामस्वरूप रुई की कमी को पूरा करने के लिए बहुत प्रयत्न किये गये हैं, तथापि हमारी तीन **पंचवर्षीय योजनाओं** में रुई का उत्पादन 21 लाख गांठों से बढ़ कर 54 लाख *गांठें हो गया तथा अब भी हमें रुई का, खास कर लम्बे रेशे वाली रुई का, आयात* करना पड़ता है। कपास की प्रति एकड़ उपज भारत में बहुत कम है। घटिया किस्म की कपास का उत्पादन भारतवर्ष में 120 पौण्ड प्रति एकड़ है। कपास की कमी को पूरा करने के लिए हम प्रति वर्ष 60 करोड़ रुपये की कपास विदेशों से मंगाते आ रहे हैं। कपास की प्रति एकड़ उपज बढ़ा कर ही इस समस्या का हल किया जा सकता है।

2 अलाभकर उत्पादन इकाइयां : भारत में इस समय सूती वस्त्र मिलों में से 45 *की हालत अच्छी नहीं है।* 31 मार्च 1969 तक 59 सूती वस्त्र मिलें बन्द थी तथा 14 ऐसी मिलें थी, जो बन्द होने की हालत में थी। अगर वे बन्द हो जायें

तो लगभग 70 हजार मजदूर बेकार हो जायेंगे। एक नवीन जाच के अनुसार 50 प्रतिशत मिलें मान्य न्यूनतम स्तर की हैं। ये प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये के घाटे पर चल रही हैं। भारत सरकार ने ऐसी अलाभकर इकाइयो की मदद के लिए 'राष्ट्रीय कपड़ा निगम' स्थापित किया है। सन् 1972 मे भारत सरकार ने कानून बना कर देश की जितनी भी बन्द मिलें थी, उनको अपने नियन्त्रण मे ले लिया है।

3 अधिक लागत व्यय कच्चे माल व मजदूरी तथा महगाई भत्तो मे वृद्धि हो जाने के परिणामस्वरूप, इस उद्योग की लागत व्यय बढ जाती है। महगाई के कारण इस उद्योग का उत्पादन-व्यय 27 प्रतिशत बढ गया है, जबकि प्राप्तियों में केवल 18 प्रतिशत ही वृद्धि हुई है। सरकार को चाहिए कि वह कच्चे माल की कीमत के बारे मे उचित नीति अपनाये तथा कपडे व सूत पर से उत्पादन शुल्क कम करे।

4 अभिनवीकरण की समस्या : भारतवर्ष मे अधिकाश मशीनें बहुत पुरानी व घिसी पिटी हुई है जो वर्तमान रुचि एव माग की पूर्ति करने मे असमर्थ हैं। बम्बई की मिलो मे लगी हुई 75 प्रतिशत के लगभग मशीनरी 25 वर्ष से भी अधिक पुरानी हैं और घिस पिट चुकी हैं। इससे इस उद्योग का उत्पादन कम हो गया है और उत्पादन लागत बढ गई है। उद्योग की कई आवश्यक मशीनें तो उपलब्ध भी नही हो रही हैं। राष्ट्रीय उद्योग निगम द्वारा इस सम्बन्ध मे दी जाने वाली सहायता बढाई जानी चाहिए तथा सन् 1959 ई० के कार्यकारी दल (Working Group) की सिफारिशो व सुझावो पर अमल किया जाना चाहिए।

5 प्रतिस्पर्द्धा की समस्या भारतवर्ष को इस समय जापान, चीन व पाकिस्तान से काफी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड रहा है। भारतीय मिलो द्वारा बढिया किस्म का कपड़ा नही बनाया जाता, जैसा कि अमेरिका और लकाशायर की मिलो मे बनाया जाता है। विदेशो मे सभ्यता के प्रसार एव जीवन-स्तर मे सुधार के कारण अब विदेशो मे मोटे तथा मध्यम किस्म के कपडे का बाजार कम होता जा रहा है। हमारी मिलो मे आधुनिक रगो का प्रयोग भी विदेशी मिलो की भांति नही किया जा रहा है, फलस्वरुप हम प्रतिस्पर्द्धा मे नही टिक पा रहे हैं। साथ ही आयात करने वाले देशों ने तरह तरह के नियन्त्रण लगा दिए है। मिश्र, तुर्की तथा पुर्तगाल आदि कई नए देश भी अपने निर्यात को बढाने की चेष्टा कर रहे हैं। इस प्रतिस्पर्द्धा का मुकाबला करने के लिए 'सूती वस्त्र निर्यात सवर्धन समिति' व 'सूती कपडा निधि समिति' इस उद्योग की सराहनीय सेवा कर रही हैं। अभिनवीकरण, प्रशिक्षण, विज्ञापन आदि से इस उद्योग को मदद मिल सकती है। किस्म मे सुधार एव लागत मे कमी करना आवश्यक है।

6 **पूँजी की कमी** भारतीय उद्योगों को आधुनिकता प्रदान करने के मार्ग में पूँजी का अभाव खटकता है। आधुनिक स्वचालित मशीनों को इस क्षेत्र में लगाने के लिए हमें लगभग 120 करोड़ रुपए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता है। गत वर्षों में स्थापित वित्तीय संस्थाओं को इस ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

7 **मिल व हाथ करघा उद्योगों के बीच उचित समन्वय की समस्या**—आजकल हाथ करघा उद्योग को बढ़ाने के उद्देश्य से सरकार बड़े उद्योगों पर उपकर लगाती है जिनसे इन्हें और क्षति पहुँचती है। हाथ करघा उद्योग लोगों में बेरोजगारी दूर करते हैं अतः सरकार के इस कार्य को अनुचित नहीं ठहराया जा सकता। फिर भी प्रयत्न यह होना चाहिए कि लघु उद्योग अपने पैरों पर खड़े हो जायें तथा बड़े उद्योगों को अनावश्यक करों से मुक्ति मिल जाय।

8 **औद्योगिक अशान्ति** अन्य उद्योगों की अपेक्षा भारतवर्ष में सूती वस्त्र उद्योगों में श्रमिक अपेक्षाकृत अधिक संगठित हैं परिणामस्वरूप आये दिन किसी न किसी बात को लेकर हड़तालें होती रहती हैं, जिससे उद्योग को क्षति पहुँचती है। औद्योगिक शान्ति स्थापित करके ही इस समस्या को सुलझाया जा सकता है।

9 **मशीनों का अभाव** भारतवर्ष की मिलों में विदेशी मशीनों से काम चल रहा है। यह सचमुच ही बड़ी लज्जा की बात है कि गत वर्षों में हम इस दिशा में निर्भरता समाप्त न कर सके। हम पोलैण्ड, जर्मनी स्विट्जरलैण्ड जैसे छोटे देशों से सूती उद्योग के लिए मशीनों का आयात करते हैं। देश की घिसी पिटी मशीनों को बदलने के लिए देश में सूती वस्त्र उद्योग सम्बन्धी मशीनों का निर्माण किया जाना चाहिए।

10 **क्षेत्रीय असमानता** भारतवर्ष में सूती वस्त्र उद्योग का विकास भारत के दक्षिणी भागों में उत्तरी भागों की तुलना में बिल्कुल ही नहीं हुआ है। इस क्षेत्रीय विषमता को दूर करने के लिए जून 1961 में सरकार ने सूती धागे के उत्पादन के लिए 5 दक्षिणी फर्मों को 50,000 तकुओं की कुल क्षमता रखने वाले कारखाने खोलने की अनुमति दी है।

11 **उत्पादन कर में वृद्धि** इस उद्योग की कठिनाइयों में एक प्रमुख कठिनाई यह भी है कि सरकार ने सूती कपड़ों व धागों पर उत्पादन कर उत्तरोत्तर लगाया है और बढ़ाती जा रही है। सन 1950–51 में उत्पादन कर 9 26 करोड़ रुपये से बढ़कर 1955–56 में 28 18 करोड़ रुपए, 1960–61 में 66 40 करोड़ रुपए तथा 1965–66 में 28 18 करोड़ और 1968–69 में 117 98 करोड़ रुपये हो गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी प्रकार के वस्त्रों के उत्पादन व्यय का ⅓ भाग उत्पादन कर (excise duty) के भेंट चढ़ जाता है। अतः इस उद्योग

पर सरकार द्वारा उत्पादन कर भार और अधिक न बढ़ाया जाना चाहिए तथा डूबते हुए उद्योग को उठाने के लिए इसे सहायता दी जानी चाहिए।

12. अन्य समस्याएं : इस उद्योग को सन् 1965 ई. से मन्दी का सामना करना पड़ रहा है। जिससे उत्पादन व उत्पादन-क्षमता कम हो गई है। श्रमिकों की कार्य-कुशलता भी अपेक्षाकृत कम है। अनुसंधान की दृष्टि से भी यह उद्योग पिछड़ा हुआ है। श्रमिकों में प्रशिक्षण व तकनीकी ज्ञान का अभाव है। अशिक्षित होने के कारण वे नई-नई विधियों का विरोध करते हैं। सूती कपड़ा उद्योग को पर्याप्त तथा निरन्तर बिजली व शक्ति न मिलने के कारण भी बहुत कठिनाई होती है। जब तक ये कठिनाइयां दूर नहीं कर दी जातीं, तब तक यह उद्योग विकास के पथ पर नहीं बढ़ सकता।

सन् 1967 में सरकार ने सूती वस्त्र कम्पनी अधिनियम (Cotton Textile Companies Act) पास किया जिससे सरकार ने एक सूती वस्त्र निगम (Cotton Textile Corporation) की स्थापना का फैसला किया। फलस्वरूप अप्रैल 1968 में एक सूती वस्त्र निगम (Cotton Textile Corporation) की स्थापना की गई। इस निगम का काम सरकार द्वारा अपने अधिकार में ली गई बीमार मिलों को चलाने की व्यवस्था करना तथा वित्त प्रदान करना है। साथ ही यह निगम आधुनिक प्रकार की नई सूती मिलें स्थापित करेगा।

भारतवर्ष से सूती वस्त्र उद्योग इस समय बड़ी दयनीय स्थिति से होकर गुजर रहा है। प्रबन्धकों की अकुशलता, श्रमिकों का असहयोगी रवैया, सरकार की विवेकहीन नीति आदि कुछ ऐसे कारण हैं, जिन्होंने भारत के इस उद्योग की स्थिति असंतोषजनक बना दी है। उद्योगपतियों ने लाभों को उद्योग में न लगा कर तथा पुरानी मशीन का प्रतिस्थापन न करके इस उद्योग की जड़ें खोद दी हैं। सरकार को शीघ्र ही इस ओर ध्यान देना चाहिये, अन्यथा यह उद्योग बहुत बड़े संकट में फंस जायेगा, जिसके फलस्वरूप देश के औद्योगीकरण की बहुत बड़ी क्षति होगी।

जूट उद्योग
(Jute Industry)

जूट उद्योग भारत का द्वितीय प्रमुख उद्योग है तथा देश की अर्थव्यवस्था में इस उद्योग का एक विशिष्ट स्थान है। यह उद्योग विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का एक प्रमुख स्रोत है। भारतवर्ष में यह उद्योग सदियों से चला आ रहा है। जूट से टाट, बोरियां, चटाइयां, कालीन, दरियां, रस्सियां, पांवदान आदि अनेक वस्तुयें बनाई जाती हैं। सन् 1947 के विभाजन से पूर्व जूट उद्योग के क्षेत्र में भारत का एकाधिकार था। देश के विभाजन के पश्चात्, पाकिस्तान हमारे इस उद्योग का प्रतिस्पर्द्धी

बन गया था। लेकिन 1971 में बगला देश एक नए राष्ट्र के रूप में उदय हो गया है, जिससे भारतके जूट उद्योग का और विकास सम्भव हो गया है। भारतवर्ष में ही जूट पैदा किया जाता है। बगाल मे श्रमिकों की अधिकता है तथा यह उद्योग मुख्यतः निर्यात पर आधारित है अत इस उद्योग का बगाल में ही स्थानीकरण हो गया है।

संक्षिप्त इतिहास सन् 1855 में श्रीरामपुर के निकट रिशराग्राम मे सर जार्ज आकलैण्ड द्वारा प्रथम आधुनिक पद्धति की जूट मिल की स्थापना की गई थी। धीरे-धीरे इस उद्योग का विकास होता रहा है। सन् 1859 में इस उद्योग ने पहली बार शक्ति चालित करघे का प्रयोग किया। 1868 से 1873 ई० के बीच इस उद्योग ने खूब धन कमाया तथा अपने अशधारियो को 25 प्रतिशत तक लाभाश दिया। इस काल मे इस उद्योग की बहुत सी नई इकाइयाँ भी चालू हुईं। सन् 1914 मे प्रथम विश्व युद्ध के दौरान इस उद्योग ने उल्लेखनीय प्रगति की तथा इस समय देश मे 60 जूट के कारखाने थे। युद्ध काल मे मित्र राष्ट्रों की सेना के लिए भारतीय मिलो ने 139 करोड बोरे, 71 करोड पौण्ड जूट के कपडे तथा 10 लाख पौण्ड सुतली तैयार की। जूट के सभी कारखानो ने इस समय बढी हुई माग को पूरा करने के लिए अपनी सम्पूर्ण क्षमता के साथ उत्पादन किया। युद्ध काल मे कारखाना अधिनियम मे ढिलाई व कच्चे जूट के निर्यात पर पाबन्दी लग जाने से इस उद्योग ने काफी लाभ कमाया। युद्ध की समाप्ति पर जूट की माँग मे गिरावट हो गयी तथा सन् 1929 की आर्थिक मन्दी का इस उद्योग पर बुरा प्रभाव पडा। आर्थिक मन्दी के कारण जूट की वस्तुओ का निर्यात घट गया। सन् 1928–29 मे जहाँ भारत 57 करोड रु की वस्तुओं का निर्यात करता था, वहा 1933–34 मे केवल 11.4 करोड रु० का सामान ही विदेशो को भेज सका। आर्थिक मन्दी के काल मे जूट के कारखानो मे कार्य के घन्टे कम कर दिए गए तथा कई करघो को बन्द कर दिया गया। 1936 मे जूट के उत्पादन मे वृद्धि करने तथा खेती सम्बन्धी अनुसधान को प्रोत्साहित करने के लिए भारतीय केन्द्रीय जूट समिति (Indian Central Jute Committee) बनाई गई। 1939 मे द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने से इस उद्योग की स्थिति स्वत सुधर गई तथा उत्पादन व लाभ दोनों मे वृद्धि हुई, क्योंकि युद्ध के कारण जूट के माल की माग बहुत बढ गई तथा जूट मिलें अपनी पूरी क्षमता के साथ कार्य करने लगी।

सन् 1947 मे देश के विभाजन का भारतीय जूट उद्योग पर बुरा असर पडा। 1947 मे देश मे 111 जूट की मिलें थीं। विभाजन के परिणामस्वरूप जूट की सभी मिलें भारतवर्ष मे ही रह गई, लेकिन जूट पैदा करने वाला 72% क्षेत्र पाकिस्तान मे चला गया जिससे देश के सामने कच्चे जूट की समस्या उत्पन्न हो

गयी। पाकिस्तान के शत्रुपूर्ण रवैये के कारण भारत को जूट उत्पादन के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की चेष्टा करनी पड़ी। 1949 में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के कारण कच्चे माल के आयात में कठिनाई हुई। इस समय 72 लाख गाठों की आवश्यकता थी, जबकि देश में 33 लाख गाठे ही पैदा होती थी।

योजनाओं के अन्तर्गत उद्योग की प्रगति प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत, कच्चे माल की दृष्टि से उद्योग को आत्मनिर्भर बनाने के लिये नये कारखानों को खोलने की अनुमति नहीं दी गई। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बगाल, बिहार व आसाम में जूट की गहरी खेती द्वारा उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न किये गये। इस योजना में जूट के उत्पादन का लक्ष्य 51 लाख गाठे रखा गया तथा जूट निर्मित वस्तुओं का लक्ष्य 12 लाख टन रखा गया था। सन् 1955–56 में कच्चे जूट का उत्पादन 42 लाख गाठे हुआ था जूट निर्मित वस्तुओं का उत्पादन 10 97 लाख टन हुआ जो लक्ष्य से कम था। जूट के सामान का निर्यात लक्ष्य 6 5 लाख टन से बढ़ाकर 10 लाख टन करने का था, लेकिन योजना के अन्तिम वर्ष में वास्तविक निर्यात 8 75 लाख टन हुआ। *द्वितीय योजना के अन्तर्गत* केवल एक नई इकाई खोलने की आज्ञा प्रदान की गई। जूट के बने हुये माल में 12 लाख टन वृद्धि का लक्ष्य रखा गया तथा कच्चे जूट के उत्पादन का लक्ष्य 65 लाख टन गाठ रखा गया। निर्यात का लक्ष्य 9 लाख टन रखा गया। योजनावधि में उत्पादन व्यय कम करने, मशीनों का आधुनिकी करण करने तथा निर्यात बढ़ाने के लिए विशेष प्रयत्न किए गए। इस योजना के अन्त में कच्चे जूट का उत्पादन केवल 43 लाख गाठ हुआ तथा जूट वस्तुओं का उत्पादन 9 70 लाख टन हुआ। *तृतीय योजना* में कच्चे जूट का उत्पादन लक्ष्य 62 लाख गाठे रखा गया तथा जूट के सामान का उत्पादन लक्ष्य 13 लाख टन रखा गया। इसके अलावा 'मेस्टा' (जूट की स्थानापन्न वस्तु) से 13 लाख गाठे प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। निर्यात का लक्ष्य केवल 9 लाख टन रखा गया है। तृतीय योजना में कच्चे माल की पूर्ति सम्बन्धी कठिनाइयों के बावजूद उत्पादन व निर्यात के लक्ष्य प्राप्त कर लिए गए। इस योजनावधि में जूट की *हरियाली उगाने के रूप में तेजी से विस्तार हुआ है तथा उद्योग के कताई, बिनाई का* पूरी तरह नवीनीकरण कर दिया गया है। चतुर्थ पचवर्षीय योजना में 74 लाख गाठे कच्चे जूट को उत्पादित करने का लक्ष्य रखा गया है। इस उद्योग की उत्पादन क्षमता नये कारखानों को खोलकर नहीं बढ़ाई जायेगी, अपितु पुराने कारखानों की मिलाओं का ही विस्तार किया जायेगा। विगत वर्षों में जूट उद्योग में होने वाले उत्पादन को निम्नलिखित तालिका में दिखाया गया है :

जूट निर्मित माल का उत्पादन (हजार टनों में)

वर्ष	उत्पादन
1950–51	837
1955–56	1071
1960–61	1097
1965–66	1302
1966–67	1117
1967–68	1156
1968–69	998
1969–70	944
1970–71	958

वर्तमान स्थिति भारतवर्ष मे इस समय 112 जूट के कारखाने है। इन कारखानो मे 101 कारखाने प. बगाल मे हैं। आन्ध्र प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश मे क्रमश. 4,3,3,1 कारखाने हैं। इन कारखानों मे 73,000 करघे लगे हुये हैं। इन समस्त कारखानों की उत्पादन-क्षमता 14 लाख टन वार्षिक है। इस उद्योग मे लगभग 2.57 लाख लोग कार्य मे लगे हुये हैं तथा लगभग 91·49 करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है। सन् 1970–71 मे 190 करोड़ रुपये की जूट की वस्तुओं का निर्यात किया गया।

जूट उद्योग की प्रमुख विशेषताए
(Special Features of the Jute Industry)

भारतीय जूट उद्योग की प्रमुख विशेषताए निम्नलिखित है : (i) यह उद्योग पश्चिमी बगाल मे ही केन्द्रित है क्योंकि अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा यहां कच्चा माल, पानी तथा बिजली सरलता से प्राप्त हो जाती है, (ii) भारत के जूट उद्योगो का उद्भव एव विकास ब्रिटिश पूंजी से हुआ है, (iii) भारतीय जूट उद्योग अपने विकास के लिए निर्यात एव विदेशी बाजारो पर निर्भर है। भारत मे उत्पादित जूट के माल का 80 से 90 प्रतिशत भाग का निर्यात कर दिया जाता है ; (iv) इस उद्योग का नियत्रण प्रबन्धक एजेन्सियों के आधीन है। जूट उद्योग की उत्पादन क्षमता का लगभग 1/4 भाग दो प्रबन्धक एजेन्सियो के आधीन है (v) बगाल मे स्थापित जूट मिलो के आकार बडे हैं जबकि अन्य क्षेत्रो मे स्थापित मिलो के आकार छोटे हैं; (vi) जूट के उत्पादन एव वितरण पर सरकार ने कभी किसी प्रकार का नियत्रण नही लगाया है, तथा (vii) विगत कुछ वर्षों से जूट उद्योग का उत्पादन व निर्यात प्रायः स्थिर सा है।

जूट उद्योग की कठिनाइयाँ एवं समस्याएँ तथा सुझाव : भारतीय जूट उद्योग के सामने निम्नलिखित प्रमुख समस्यायें हैं—

1. **कच्चे माल का अभाव :** भारतवर्ष के जूट के समस्त कारखानों को अपनी सम्पूर्ण उत्पादन क्षमता का उपयोग करने के लिए कम से कम 72 लाख गांठों की आवश्यकता होती है। कच्चे जूट का उत्पादन इतना नहीं होता, उदाहरणार्थ 1966–67 में कच्चे जूट की केवल 62 गाठें ही उत्पादित की गई थी। इस समस्या का निदान केवल यही है कि प्रति एकड़ उपज बढाने की चेष्टा की जाय, क्योंकि यदि अधिक क्षेत्र में इसका उत्पादन किया जाने लगेगा, तो खाद्यान्नों की पूर्ति कम हो जायेगी।

2. **विदेशी प्रतिस्पर्द्धा :** भारतीय जूट उद्योग प्रमुखतः निर्यात उद्योग है, परन्तु उसे अब बड़ी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड रहा है। विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का इस पर बहुत बुरा प्रभाव पड रहा है। पाकिस्तान के अतिरिक्त मध्य-पूर्व तथा अफ्रीका के सुदूरपूर्व के कुछ देश, जैसे—थाइलैण्ड, घाना, नाइजीरिया आदि भी अपने-अपने देशों में आत्मनिर्भरता की दृष्टि से जूट उद्योग का विकास कर रहे हैं। भारत को प्रतिस्पर्द्धा की चुनौती का सामना करने के लिये; (i) कच्चे जूट की उत्पादन विधि सुधारनी चाहिये, (ii) अभिनवीकरण अपनाना चाहिये; तथा (iii) जूट-निर्यात वस्तुओं को आर्थिक सहायता (Export Bonus) देनी चाहिये।

3. **अभिनवीकरण की समस्या :** भारतवर्ष के जूट की मिलों में लगी हुई मशीनें बहुत पुरानी हो चुकी है, जबकि पाकिस्तान व अन्य देशों में नई-नई मशीनें लगाई गई हैं। अत: यदि हमें प्रतिस्पर्द्धा का प्रभावशाली ढंग से सामना करना है, तो बिना देर किये इस उद्योग में अभिनवीकरण की योजना लागू की जानी चाहिये। भारत सरकार द्वारा आधुनिकीकरण के लिए ऋण तथा आवश्यक मशीनरी आयात करने के लिए लाइसेन्स दिए जा रहे हैं। देश में ऐसी मशीनरी तैयार करने के प्रयास किए जा रहे हैं। अब तक आधुनिकीकरण पर 50 करोड़ रुपये खर्च किए जा चुके है, लेकिन अभी और धनराशि की आवश्यकता है। सरकार द्वारा दीर्घकाल के लिए, कम ब्याज पर इस धनराशि की व्यवस्था की जानी चाहिए।

4. **स्थानापन्न वस्तुओं का भय :** भारत से मुख्यत. टाट के बोरों का निर्यात किया जाता है। अमेरिका में टाट के स्थान पर अब कागज के बोरों का प्रयोग होने लगा है। अन्य अनेक स्थानापन्न वस्तुओं का भी निर्माण किये जाने की सम्भावना है। अत: हमें जूट-वस्तुओं के मूल्य कम करने होंगे, उनके उत्पादन में विविधता लानी होगी तथा नये नये बाजारों की खोज करनी पड़ेगी, ऐसा करने पर ही यह उद्योग पनप सकेगा।

5 ऊंची लागत व्यय : भारतीय जूट उद्योग को कच्चे जूट के लिये अपेक्षाकृत अधिक मूल्य देना पड़ता है। श्रमिकों में मजदूरी की उत्तरोत्तर बढ़ोतरी भी लागत व्यय बढ़ाती है। लागत व्यय बढ़ जाने के परिणामस्वरूप इस उद्योग की प्रतिस्पर्द्धा शक्ति कम हो जाती है। अतः अभिनवीकरण, छोटी छोटी इकाइयों का एकीकरण, दो पालियों का चलाना, कच्चे माल के लिये समीकरण भण्डारों की स्थापना करना, आदि कदम उठाये जाने चाहिये।

6. परिवहन सुविधाओं की कमी : जूट उद्योग प. बंगाल में ही केन्द्रित है। प. बंगाल अन्य बहुत से उद्योगों का भी केन्द्र है, इस कारण रेलवे अधिकारी जूट व जूट के माल के बजाय अन्य वस्तुओं की ढुलाई को प्राथमिकता देते हैं। जूट को नदियों द्वारा लाया जाता है जो बड़ा असुविधाजनक है। असम व त्रिपुरा में उत्पादित जूट यातायात के साधनों के अभाव के कारण बंगाल की जूट मिलों तक नहीं पहुंच पाता। इस समस्या का निराकरण यातायात के साधनों के विकास द्वारा ही दूर किया जा सकता है। जूट उद्योग के लिये सस्ते व द्रुतगामी परिवहन के साधनों की सुविधा दिलाना आवश्यक है।

7. अनुसंधान सुविधाओं का अभाव : भारतवर्ष में जूट उत्पादन के सम्बन्ध में अनुसंधान सम्बन्धी सुविधायें भी बहुत सीमित हैं। केवल 'जूट उद्योग शोधशाला' (Jute Industry Research Institute) कलकत्ता ही इस सम्बन्ध में कुछ अनुसंधान सम्बन्धी कार्य करती है। उत्पादन लागत को कम करने, उत्तम कोटि का माल बनाने तथा जूट की नई नई उपयोगी वस्तुयें बनाने के लिए अनुसंधान सम्बन्धी सुविधाओं का विकास किया जाना चाहिये।

8 अन्य समस्याएं : उक्त समस्याओं के अतिरिक्त, तकनीकी विशेषज्ञों की कमी, कुशल व प्रशिक्षित श्रमिकों का अभाव, कीमतों में गिरावट, कच्चे जूट की पूर्ति की अनिश्चितता आदि कई अन्य समस्यायें हैं, जिनका निराकरण आवश्यक है। भारत को जूट निर्यात बढ़ाने के लिए करों में कमी की जानी चाहिए। पाकिस्तान अपने जूट के निर्यात पर 32 प्रतिशत उत्पादन (Subsidy) दे रहा है जबकि भारत निर्यात पर कर लगाता है। इससे जूट का निर्यात कम हो रहा है। भारत से जूट का निर्यात 1960–61 में 284 मिलियन डालर से घट कर 1970–71 में 254 मिलियन डालर ही रह गया है।

जूट उद्योग की समस्याओं के निराकरण के कुछ सुझाव ऊपर प्रस्तुत किये गये है। भारत सरकार ने सन् 1962 ई० में श्री यन० सी० श्रीवास्तव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी। इसे जूट उद्योग की समस्याओं का अध्ययन करने व सुझाव देने का कार्य सौंपा गया था। इसने सन् 1963 ई० में अपने निम्नलिखित महत्वपूर्ण सुझाव दिए हैं : (i) अच्छे किस्म के बीज व रासायनिक खाद का

प्रयोग करके प्रति एकड़ उपज बढाई जाय, (ii) राजकीय कृषि विभागो के कार्य मे समन्वय स्थापित करने के लिये एक जूट विकास बोर्ड की स्थापना की जाय, (iii) कच्चे जूट के संग्रह व वर्गीकरण की सुविधाएँ दिलाई जाय तथा इसकी बिक्री के लिये नियमित मडियो का गठन किया जाय, (iv) जूट मिलो को शक्ति की पूर्ति नियमित रूप से मिलनी चाहिये; (v) विदेशो मे जूट आयात पर लगे नियन्त्रणो को हटवाने के लिये चेष्टा की जानी चाहिये, (vi) नए-नए प्रकार के जूट पदार्थों के उत्पादन के लिये 'Market Intelligence Service' का गठन किया जाना चाहिए।

यह हर्ष का विषय है कि भारत सरकार ने परम्परागत वस्तुओ के उत्पादन एव पुरान बाजारो मे ही सामान की बिक्री की प्रवृत्ति को दूर करने तथा नए क्षेत्रो को खोजने के लिए एक जूट समिति का गठन किया है। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट मे कहा है, "यदि जूट उद्योग कृत्रिम रेशो (Synthetic Fibres) के प्रतियोगी के रूप मे स्थान प्राप्त करना चाहता है तो इसे भी तकनीकी परिवर्तनो का अनुकरण करना होगा तथा उपभोक्ताओ की आवश्यकता व रुचि की जानकारी प्राप्त करनी होगी। तकनीकी परिवर्तनो के अपनाने से कुछ विशेष प्रकार की वस्तुएँ बनाई जा सकती है जैसे सूती थैले का उत्पादन, टाट (Hessian) को अधिक सफेद बनाने की प्रक्रिया आदि। लेकिन अभी तक देश का जूट उद्योग इन नवीन उत्पादो (Products) के उत्पादन मे बहुत कम रुचि लेता है। भारत की जूट मिले उपभोक्ताओं की विशिष्ट आवश्यकताओ को पूरा करने मे रुचि नहीं लेती तथा विशिष्ट वस्तुओ के लिए निर्यात किए गए अनक विदेशी आर्डरो को अस्वीकार कर देती हैं।"

जूट उद्योग भारत को मूल्यवान विदेशी विनिमय दिलाने वाला उद्योग है। निर्यात बाजार का महत्व इस उद्योग के लिए स्वभावत अधिक है।[1] अत अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा के इस युग मे, जूट उद्योग की प्रतिस्पर्द्धा शक्ति को बढाना परमावश्यक है, अन्यथा यह उद्योग समाप्त हो जायेगा। अतीत मे इस उद्योग ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की थी। तथा अब बगला देश के एक अलग राष्ट्र के रूप में उदय हो जाने से, जहा पाकिस्तान के कुल 60% कच्चे जूट का उत्पादन होता है तथा भारत व बगला देश की बढती हुई मित्रता को देखते हुए, इस उद्योग का भविष्य बहुत ही उत्तम है। लेकिन इसके लिए भारत सरकार को भी अपने प्रयत्न जारी रखने होगे।

चीनी उद्योग
(Sugar Industry)

भारतवर्ष के सगठित उद्योगो में लोहा व इस्पात उद्योग एव सूती वस्त्र उद्योग के पश्चात् चीनी उद्योग का ही स्थान है। चीनी भोजन का प्रमुख पदार्थ है, जिसका

1. Export market is the life blood of our Jute Industry.'

—*Morarji Desai*

सतुलित आहार में पहत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय अर्थव्यवस्था में इसका दोहरा महत्व है। एक ओर तो कृषि के क्षेत्र मे किसानो मे प्रिय व्यावसायिक फसल है और दूसरी ओर यह महत्वपूर्ण उद्योग है जो जीवन की आवश्यक वस्तु की पूर्ति करता है। भारत वर्ष मे इस उद्योग मे लगभग 102 करोड रुपये की पूजी लगी हुई है तथा डेढ लाख से भी अधिक श्रमिकों को रोजगार मिला हुआ है। इस उद्योग के साथ 20 लाख गन्ना उत्पादन करने वाले कृषकों की समृद्धि भी जुडी हुई है। केन्द्रीय व राज्य सरकारों को उत्पादन कर के रूप मे आय प्राप्त होती है। गत कई वर्षों से चीनी के निर्यात से विदेशी विनिमय भी प्राप्त किया जा रहा है।

संक्षिप्त इतिहास · वैसे तो चीनी उद्योग हमारे देश का प्राचीन घरेलू उद्योग रहा है। पर बीसवी शताब्दी में सन् 1903 ई० से यह आधुनिक ढग के कारखानो के रूप मे चलाया जा रहा है। इस उद्योग का विकास प्रारम्भ मे धीमी गति से हुआ। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् ससार के अनेक देशो मे चीनी के उत्पादन मे बहुत वृद्धि हुई फलस्वरूप इसका मूल्य गिरने लगा। भारत मे इस समय बहुत बडी मात्रा में चीनी का आयात होने लगा और यह यहा बहुत सस्ती दर पर उपलब्ध होने लगी। भारत सरकार द्वारा आय की दृष्टि से विदेशी चीनी पर कर लगाया गया था, लेकिन इस कर के बावजूद भी विदेशी चीनी का मूल्य भारतीय चीनी के मूल्य से कम ही पडता था। ऐसी स्थिति मे भारत के गन्ना उत्पादक राज्यो मे इस उद्योग के लिए सरक्षण की माग की जाने लगी। सरकार ने इस उद्योग की स्थिति की जाच करने के लिए 1929 मे एक प्रशुल्क मण्डल नियुक्त किया जिसकी सिफारिशो के आधार पर इस उद्योग को 1931 मे सरक्षण प्रदान किया गया।

सरक्षण के पश्चात् इस उद्योग ने बडी तीव्र गति से विकास करना प्रारम्भ किया। सन् 1921–32 मे देश मे चीनी कारखानो की सख्या केवल 32 थी तथा ये 1 6 लाख टन चीनी का उत्पादन करते थे। लेकिन सरक्षण से प्रोत्साहित होकर चीनी कारखानो की सख्या 1938-39 मे बढकर 132 हो गई तथा चीनी का उत्पादन 6 7 लाख टन हो गया। सन् 1931 से पूर्व हम प्रतिवर्ष 10 लाख टन चीनी का आयात करते थे जो 1938-39 में घटकर केवल 22 हजार टन रह गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सरक्षण के फलस्वरूप कुछ ही वर्षों मे भारत विश्व के चीनी उत्पादक देशो मे सबसे आगे हो गया।

सन् 1939 के पश्चात् इस उद्योग ने विशेष उन्नति नही की। द्वितीय विश्व युद्ध से भारतीय चीनी उद्योग को कोई विशेष लाभ नही हुआ बल्कि माग बढ जाने और यातायात की कठिनाई के कारण चीनी के वितरण पर नियन्त्रण किया गया जो

1947 तक चलता रहा। सन् 1943-44 में चीनी का उत्पादन 12 लाख टन था जो 1946-47 में घटकर केवल 9 लाख टन रह गया था।

सन् 1944 में इस उद्योग के कच्चे माल गन्ने की स्थिति सुधारने के लिये केन्द्रीय गन्ना समिति नियुक्त की गई। 1947 के देश के विभाजन का असर इस उद्योग पर नहीं पड़ा, क्योंकि देश के चीनी के कारखाने व गन्ना उत्पादक क्षेत्र देश में ही रह गये थे। सन् 1950 ई० में इस उद्योग को दिया जाने वाला संरक्षण हटा लिया गया।

पंचवर्षीय योजनाओं में चीनी उद्योग : प्रथम योजना सन् 1951 में, अर्थात् प्रथम योजना के प्रारम्भ में, भारतवर्ष में 158 चीनी के कारखाने थे जिनके द्वारा 11 लाख टन चीनी उत्पादित की जाती थी। इस योजना में चीनी उत्पादन का लक्ष्य 16.5 लाख टन रखा गया। योजना के दौरान में चीनी कारखानों की संख्या बढ़कर 160 हो गई और उत्पादन लक्ष्य से काफी अधिक निकल गया, अर्थात् अन्तिम वर्ष में उत्पादन 18.6 लाख टन पहुँच गया। उत्पादन बढ़ने के फलस्वरूप चीनी के मूल्य कुछ कम हुए तथा चीनी का आयात भी अब आवश्यक न रहा। इस योजनावधि में इस उद्योग की प्रगति का प्रमुख रहस्य यह था कि योजना के अन्तिम दो वर्षों में गन्ने की फसल बहुत अच्छी हुई जिससे चीनी मिलों को अपनी पूरी क्षमता भर काम करने का अवसर मिल सका। अतः उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई। इस योजनावधि में सन् 1954 में 43 चीनी मिलों की स्थापना तथा 42 पुरानी चीनी मिलों के विस्तार की एक योजना की स्वीकृति दी गई। इस योजनावधि में इस उद्योग के विकास के लिए 15 करोड़ रुपये व्यय किए गए। द्वितीय योजना में उत्पादन लक्ष्य 25 लाख टन रखा गया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरानी मिलों के विस्तार पर बल गया। योजनावधि में सहकारी क्षेत्र में 35 नई मिलें खोलने का लक्ष्य था। इस योजनावधि के अन्त में चीनी मिलों की संख्या 175 थी। द्वितीय योजनाकाल में इस उद्योग के विकास एवं विस्तार कार्यक्रम पर 56 करोड़ रुपये व्यय किए गए। 1960-61 तक देश में 30 चीनी मिलें सहकारी क्षेत्र में स्थापित हो चुकी थीं। इस योजनाकाल में चीनी के उत्पादन में काफी उतार-चढ़ाव हुए। योजना के प्रथम वर्ष में चीनी का उत्पादन ठीक रहा लेकिन अगले दो वर्ष खराब रहे। लेकिन फिर बाद में दो वर्षों में स्थिति सुधर गई तथा 1960-61 में चीनी का उत्पादन 30.29 लाख टन हुआ जो लक्ष्य से भी अधिक था। तृतीय योजना में 30 से 35 लाख टन चीनी उत्पादन का लक्ष्य रखा गया। इस योजनावधि में सहकारिता के आधार पर 25 नए चीनी के कारखाने खोले जाने की व्यवस्था थी और यह आशा की गई थी कि लक्ष्य का लगभग एक चौथाई उत्पादन सहकारी मिलों से प्राप्त होगा। चीनी उद्योग

सम्बन्धी मशीनरी के सम्बन्ध मे भी यह आशा थी कि इस योजनावधि के अन्त तक देश इनके सम्बन्ध मे आत्म-निर्भर हो जायेगा। तृतीय योजना के अन्त मे अर्थात् 1965-66 मे चीनी का उत्पादन 35·10 लाख टन हुआ। इस समय चीनी मिलों की सख्या 186 थी जिनमे 65 सहकारिता के आधार पर चलने वाली मिलें थी।

तृतीय योजना के बाद के दो वर्ष इस उद्योग के लिए अच्छे साबित नही हुए, क्योकि लगातार सूखे के कारण गन्ना उत्पादन बहुत कम रहा तथा इसके अभाव में कई मिलो को बन्द रहना पड़ा। 1966–67 मे चीनी का उत्पादन केवल 23 लाख टन रहा तथा 1967-68 मे 22 49 लाख टन। 1970-71 मे यह उत्पादन 37·40 लाख मिलियन टन तक पहुच गया।

चौथी योजना मे चीनी का उत्पादन लक्ष्य 45 लाख टन रखा गया है। इस काल मे 70 नये कारखाने और स्थापित किए जायेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चीनी के उत्पादन के लक्ष्यो को प्राप्त करने मे हमे पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत उत्साहवर्द्धक सफलता प्राप्त हुई है। चीनी उत्पादन की वृद्धि बहुत कुछ कृषि पर निर्भर रहती है, क्योकि गन्ना एक कृषि पदार्थ है। गन्ने की उपज स्वय अन्य कारणो के साथ प्राकृतिक कारणो पर भी निर्भर करती है। यही कारण है कि चीनी के उत्पादन मे समय-समय पर घट-बढ होती रही है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है:

वर्ष (नवम्बर से अक्टूबर)	चीनी का उत्पादन (लाख टनो मे)	वर्ष (नवम्बर से अक्टूबर)	चीनी का उत्पादन (लाख टनो मे)
1955–56	18 90	1963–64	25·69
1956–57	20 74	1964–65	32 60
1957–58	20·00	1965–66	35 10
1958–59	19 51	1966–67	23 00
1959–60	24 82	1967–68	22 49
1960–61	30 29	1968–69	35 60
1961–62	27·14	1969–70	42·60
1962–63	21·52	1970–71	37·40

चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति सन् *1969* तक देश मे *205* चीनी के कारखाने थ। इसमे से अधिकतर कारखाने उत्तर प्रदेश (71) व बिहार (30) मे थे। इन चीनी कारखानो की उत्पादन क्षमता 38 61 लाख टन के लगभग की है। इनमे 70 कारखाने सहकारी क्षेत्र मे थे। अधिकतर सहकारी क्षेत्र के कारखाने महाराष्ट्र (20) मे तथा शेष गुजरात, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्र, पजाब, हरियाणा व उत्तर प्रदेश मे है। चीनी उद्योग प्रारम्भ मे उत्तर प्रदेश तथा बिहार राज्यो मे केन्द्रित हो गया था, लेकिन अब यह उद्योग देश के अन्य भागो मे, खासकर दक्षिण मे भी विकसित हो रहा है। महाराष्ट्र, तमिलनाडु, मैसूर व आन्ध्र राज्यो मे अब यह उद्योग उत्तरोत्तर विकसित होता जा रहा है। दक्षिण भारत मे गन्ने की किस्म अपेक्षाकृत अच्छी है। वहा के कारखाने उत्तर के कारखानो की अपेक्षा अधिक प्रबन्ध कुशल हैं और हो सकता है कि निकट भविष्य मे चीनी उत्पादन के क्षेत्र मे वे उत्तर भारत से बाजी मार ले जाए। इस उद्योग के विकास मे दूसरी महत्वपूर्ण बात यह हो रही है कि अब पिछले 15 वर्षों से सहकारिता के क्षेत्र मे यह उद्योग सफलता से चलाया जा रहा है। इस उद्योग की एक अन्य विशेषता चीनी का निर्यात है। भारतवर्ष पहले चीनी के मामले में आत्म निर्भर नही था। उसे विदेशो से चीनी का आयात करना पड़ता था, *लेकिन अब गत 22 वर्षों से यह उद्योग निर्यात के द्वारा देश को आवश्यक* विदेशी मुद्रा भी प्रदान कर रहा है। गत कुछ वर्षों में चीनी के निर्यात से प्राप्त होने वाली विदेशी मुद्रा का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है :—

चीनी निर्यात से अर्जुन विदेशी मुद्रा

वर्ष	चीनी का निर्यात (करोड रु० में)
1951–52	0 65
1955–56	0 96
1960–61	3 28
1965–66	11 34
1966–67	16 12
1967–68	15·94
1968–69	10 19
1969–70	8 59
1970–71	27 57

चीनी उद्योग की प्रमुख विशेषताएं (Main Features of the Sugar Industry) भारत में चीनी उद्योग की प्रमुख विशेषताएं निम्नांकित हैं :

(1) भारत में यह उद्योग मुख्यतः उत्तर प्रदेश व बिहार में ही केन्द्रित है। इन दो राज्यों में गन्ने की कुल फसल का 66 प्रतिशत भाग बोया जाता है तथा देश की कुल चीनी मिलों की 75 प्रतिशत मिलें इन्हीं दो राज्यों में हैं।

(2) भारतीय चीनी की उत्पादन लागत विश्व के अन्य देशों की तुलना में अधिक है।

(3) इस उद्योग की अधिकांश मिलों की स्थापना 20–30 वर्ष पूर्व हुई थी, अतः इनकी मशीनें पुरानी हैं जिनके बदलने की आवश्यकता है।

(4) भारत में चीनी दो प्रकार की होती है, सफेद चीनी व खाडसारी। सफेद चीनी के उत्पादन पर खाडसारी के उत्पादन व मूल्यों का प्रभाव पड़ता रहता है, क्योंकि खाडसारी के मूल्य बढ़ जाने से गन्ने की पूर्ति की दिशा मिलों की ओर न होकर खाडसारी उत्पादन की ओर हो जाती है।

(5) पहले यह उद्योग पूर्णतः निजी क्षेत्र में था, लेकिन अब सहकारी क्षेत्र उत्तरोत्तर अधिक हिस्सा बटाता जा रहा है।

(6) भारत में पहले उत्पादन कम होने के कारण चीनी का आयात होता था, लेकिन अब निर्यात होने लगा है।

(7) भारतीय चीनी उद्योग पर सरकारी नियन्त्रण की प्रधानता रही है। सरकार ने इस उद्योग के उत्पादन मूल्य, वितरण व परिवहन आदि पर समय-समय पर अपना नियन्त्रण रखा है।

(8) भारत में चीनी उद्योग की स्थिति उत्पादन की दृष्टि से सदैव अस्थिर रही है, कभी कम कभी अधिक।

उद्योग की समस्याएं एवं सुझाव

भारतवर्ष में चीनी उद्योगों को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, वे निम्नांकित हैं

1 उत्पादन लागत की समस्या : भारत में चीनी उत्पादन की लागत विश्व के अन्य देशों की तुलना में अधिक है। गन्ने की प्रति एकड़ कम उपज, गन्ने में चीनी की मात्रा का कम होना तथा गन्ने के पेरने की क्षमता कम होने के कारण हमारी लागत व्यय बढ़ जाती है। भारतीय चीनी के उत्पादन में 60 प्रतिशत भाग गन्ने का होता है। अतः लागत व्यय को कम करने के लिए उच्च कोटि का गन्ना पैदा किया जाय, प्रति एकड़ उपज बढ़ाई जाय, गन्ने पेरने की क्षमता में भी वृद्धि की जाय।

2 स्थिति सम्बन्धी समस्या भारतवर्ष मे चीनी उद्योग उत्तरी भारत मे केन्द्रित हो गया है जबकि इनके विकास व उन्नति की दशायें दक्षिणी भारत मे उपलब्ध हैं। वहा की अनुकूल स्थिति मे उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक और सस्ता हो सकता है। सन् 1960 61 मे उत्तर प्रदेश व बिहार मे जहा देश का प्राय दो तिहाई गन्ना पैदा किया जाता है, गन्ने की प्रति एकड उपज क्रमश 12 0 तथा 11 2 टन थी जबकि तामिलनाडु व आन्ध्र मे 58 2 टन तथा महाराष्ट्र मे 31 टन थी। अत देश मे नई खुलने वाली चीनी की फैक्टरिया दक्षिण मे ही खुलनी चाहिये।

3 प्रति एकड गन्ने की उपज का कम होना भारतवर्ष मे प्रति एकड गन्ने की उपज अन्य चीनी उत्पादक देशो की तुलना मे बहुत कम है। जावा तथा हवाई द्वीप मे प्रति एकड गन्ने की उपज क्रमश 56 तथा 52 टन है जब कि भारतवर्ष मे औसत प्रति एकड उपज केवल 15 टन ही है। कानपुर व लखनऊ मे प्रति एकड उपज बढाने के लिए जो अनुसधान शालाए खोली गई हैं, वे इस क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं।

4 गन्ने की किस्म का खराब होना भारतीय गन्ने की किस्म अपेक्षाकृत खराब है, भारतीय प्रति एकड उत्पादित गन्ने से 1 37 टन चीनी निकलती है, जबकि क्यूबा, हवाई द्वीप व जावा मे प्रति एकड मे उत्पादित गन्ने से क्रमश 2 58 टन, 6 88 टन तथा 6 44 टन चीनी प्राप्त होती है। गन्ने से प्राप्त चीनी का प्रतिशत आस्ट्रेलिया मे 14 33, क्यूबा मे 12 25, मारिशस मे 12 8 तथा जावा मे 11 49 है जबकि भारत म यह केवल 9 5 प्रतिशत ही है। गन्ने से अपेक्षाकृत कम चीनी प्राप्त करने का एक कारण यह भी है कि मिलो मे गन्ना पहुचाने मे देर होती है जिससे गन्ने का रस सूख जाता है और चीनी का अनुपात घट जाता है। उन्नत बीज, सिचाई की सुविधा, अच्छी खाद आदि से उत्पादन की किस्म व मात्रा दोनो ही बढाई जा सकती है।

5 अनार्थिक आकार के चीनी के कारखाने हमारे देश मे अधिकाश चीनी के कारखाने छोटे आकार के हैं, जिनकी गन्ना पेरने की दैनिक क्षमता केवल 700–800 टन है। अन्य देशो मे कारखानो की दैनिक गन्ने की क्षमता 3,000 टन होती है। 'भारतीय चीनी उत्पादकता दल (*Indian Sugar Productivity Team*) ने छोटी छोटी चीनी मिलो के विलय का सुझाव दिया है।

6 तान्त्रिक विशेषज्ञो व अनुसधान सुविधाओं की कमी अनुसधान के क्षेत्र मे भारतवर्ष मे केवल दो सस्थाए हैं। सामान्यत चीनी कारखानो को विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त विशेषज्ञ मिल नही पाते। अत अनुसधान सम्बन्धी व तकनीकी प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार किया जाना चाहिये।

7. अवशेष पदार्थों के पूर्ण उपयोग की समस्या : चीनी उद्योग में खोई, शीरा, प्रेसमड, केनट्रेश आदि अवशेष पदार्थ बचते हैं, जिनसे विविध प्रकार की वस्तुओं का निर्माण किया जा सकता है। भारत में इन पदार्थों का समुचित लाभ नहीं उठाया जा रहा है। आजकल देश की चीनी मिलों में प्रतिवर्ष 300 से 400 हजार टन शीरा (Molasses) निकलता है जिसमें से अधिकांश बेकार हो जाता है। इससे 20 से 25 मिलियन गैलन एल्कोहल तैयार की जा सकती है। गन्ने की खोई से कागज, कार्ड बोर्ड आदि तैयार किया जा सकता है। यदि इन अवशेष पदार्थों का यथोचित उपयोग किया जाय तो एक ओर तो कारखानों की आय में वृद्धि होगी तथा दूसरी ओर चीनी की लागत भी घट जायेगी। इन अवशेष पदार्थों का उचित उपयोग करने के लिए इस उद्योग को सामूहिक प्रयत्न करने चाहिए।

8 समन्वय का अभाव इस उद्योग के तीन अंगों, यथा—चीनी, गुड़, खाड-सारी में समन्वय नहीं है, फलस्वरूप एक दूसरे के मार्ग में बाधायें पैदा हो जाती हैं, क्योंकि सापेक्षिक मूल्यों में अन्तर के कारण इनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा होने लगती है। अतः इन तीनों उद्योगों में समन्वय स्थापित करना चाहिये।

9 परिवहन सम्बन्धी समस्या भारत में चीनी मिलें गन्ने के खेतों के पास न होकर थोड़ी दूर होती हैं। इन खेतों से मिलों तक गन्ना पहुँचाने में परिवहन की अच्छी सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में या तो सड़कें ही नहीं या वे अच्छी नहीं हैं। इसलिए खेत से मिल तक गन्ना पहुँचाने में असुविधा एवं देरी होती है। साथ ही देरी हो जाने के कारण गन्ने का रस सूख जाता है। परिवहन सम्बन्धी असुविधाएं दूर करके, चीनी उद्योग की उन्नति के लिए सस्ते, द्रुतगामी व पर्याप्त परिवहन के साधन उपलब्ध कराए जाएं।

10 निर्यात की समस्या भारतवर्ष, विदेशी मुद्रा को प्राप्त करने के लिए कुछ वर्षों से चीनी का निर्यात कर रहा है। लागत में लागत की अपेक्षा कम अधिकता के कारण, भारतीय चीनी महंगी पड़ती है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य अन्तर की राशि देकर सरकार इस उद्योग को अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में चीनी बेचने के लिए प्रोत्साहित कर रही है। इस प्रकार सरकार को घाटा होता है। यह समस्या उत्पादन मूल्य घटाकर सुलझाई जा सकती है।

11. अन्य समस्याएं कई प्रकार के करों की समस्या, ईंधन के अभाव की समस्या, घरेलू माग में वृद्धि की समस्या आदि अन्य समस्यायें हैं, जिनका निराकरण शीघ्र होना चाहिए, ताकि उद्योग के विकास के मार्ग की बाधायें दूर हो जाए।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इस उद्योग के सामने वर्तमान समय में कई समस्यायें हैं। इनमें से कुछ समस्यायें आसानी से हल की जा सकती हैं। सरकार इस उद्योग को उन्नतशील बनाने के लिए प्रयत्न कर रही है। अनुसधान पर भी

अब अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। सरकार को चीनी के वितरण सम्बन्धी अपनी नीति सुधारनी चाहिये तथा समस्याओं को घरे से हटाकर इस उद्योग को विकास-पथ की ओर ले जाने के लिये रचनात्मक कार्य करने चाहिए।

भारत में उद्योगों के पिछड़ेपन के कारण

यद्यपि भारतवर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् औद्योगिक विकास की गति में तेजी आई है, तथा निजी व सार्वजनिक क्षेत्रों में पुराने उद्योगों के विकास और नये उद्योगों को चालू करने के 'सराहनीय' प्रयत्न किये गये है, तथापि हमारे उद्योगों ने विकास के उस सोपान पर अभी तक कदम नहीं रखा है, जिस पर विश्व के अन्य उद्योग-प्रधान देश पहुँच चुके हैं। भारतीय उद्योगों के विकास के मार्ग में अनेक बाधाएँ व समस्याएँ हैं। इन बाधाओं को जब तक दूर नहीं कर दिया जाता, तब तक हमारे उद्योगों का पिछड़ापन भी दूर नहीं हो सकता। ये समस्यायें संक्षेप में निम्नांकित हैं :

1 पूंजी का अभाव : भारतवर्ष में सामान्यतः पूंजी का अभाव पाया जाता है। लोगों में बचत की इच्छा, शक्ति व साधनों की कमी है। इनके अभाव में पूंजी का निर्माण मंद गति से होता है। भारत में सम्पन्न व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है। हमारी बचत की दर राष्ट्रीय आय का केवल 8.5% भाग ही है। बिना पूंजी के उद्योगों का विकास असम्भव सा प्रतीत होता है।

2 विदेशी पूंजी की कमी : देश की पूंजी अर्मोली है। विदेशी पूंजी की उपलब्धता भी पर्याप्त नहीं है। औद्योगीकरण के लिये आवश्यक पूंजीगत सामान, जैसे, मशीनों के अभाव में देश के औद्योगिक विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। हमें विदेशों से मशीनों की भारी संख्या में आवश्यकता होती है। ये विदेशी मशीनें विदेशी पूंजी के अभाव में प्राप्त नहीं की जा सकती।

3 प्रकृति पर निर्भरता : भारतवर्ष में अधिकांश उद्योग कृषि पर निर्भर है। सूती-वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, जूट-उद्योग आदि प्रमुख उद्योग कृषि पर आश्रित हैं। कृषि का उत्पादन प्राकृतिक प्रकोपों के कारण अनिश्चित सा रहता है, फलस्वरूप इन कारखानों को कच्चा माल नियमित रूप से नहीं मिल पाता तथा मूल्यों में बहुत अधिक उतार चढ़ाव होते रहते है। इसका असर इन उद्योगों के विकास पर बुरा पड़ता है।

4 सस्ती शक्ति की कमी : भारतवर्ष में शक्ति के साधनों के रूप से खनिज तेल, कोयले व जल-विद्युत का प्रयोग किया जाता है। जल-विद्युत का विकास अभी तक पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाया है। कोयला और खनिज तेल शक्ति के साधन के रूप में बहुत महँगे पड़ते हैं। बिना सस्ते शक्ति के साधन के औद्योगिक विकास गति को तीव्र नहीं किया जा सकता।

5. आधारभूत उद्योगों का अभाव : भारतवर्ष में उपभोग वस्तुओं से सम्बन्धित उद्योगों का ही प्रमुखता से विकास हुआ है। इस्पात, सीमेन्ट, इन्जीनियरिंग, भारी रासायनिक तथा पूंजीगत वस्तुओं के निर्माण के उद्योगों का देश में यथोचित विकास नहीं हुआ है। जापान, स्विट्जरलैण्ड व इटली जैसे छोटे देशों में भी भारत की अपेक्षा अधिक श्रमिक धातु व इन्जीनियरिंग जैसे मूलभूत उद्योगों में लगे हुये हैं।[1] मूलभूत उद्योगों के अभाव में सफल औद्योगीकरण की कल्पना नहीं की जा सकती।

6. तकनीकी व प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव : भारत में तकनीकी विशेषज्ञों की कमी है। इनके अभाव में औद्योगीकरण को नई दिशायें व उचित मार्ग दर्शन नहीं प्राप्त हो पाता। कर्मचारियों में भी सामान्य प्रशिक्षण के अभाव में अपेक्षित कार्य कुशलता नहीं पाई जाती। योजनावधि में कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए व्यापक कार्यक्रम अपनाने के फलस्वरूप, भविष्य में कुशल, प्रशिक्षित एवं सुयोग्य कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि हो जाने की आशा है।

7. सुयोग्य प्रबन्धकों का अभाव : मेलनबॉम् के मतानुसार, भारत के लोगों की निर्धनता, धार्मिक व सांस्कृतिक बन्धन तथा सदियों से चली आ रही संकुचित विचारधारा ने सुयोग्य प्रबन्धकों का अभाव पैदा कर दिया है।[2] सुयोग्य प्रबन्धकों के अभाव में उद्योग-धन्धों का समुचित विकास नहीं हो सकता। जो योग्य प्रबन्धक हैं वे भी निजी स्वार्थों को राष्ट्रीय स्वार्थों से ऊपर रखते हैं फलस्वरूप उद्योगों की गति अत्यन्त मन्द रही है और कुछ विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित रही है।

8. विवेकीकरण की धीमी प्रगति : भारतवर्ष के सूती-वस्त्र, जूट व चीनी उद्योगों की मशीनें काफी पुरानी पड़ गई हैं जिन्हें बदलने की प्रगति बहुत धीमी रही है। पुरानी मशीनों के कारण तथा विवेकीकरण की नीति को पूरी तरह न अपनाये जाने के कारण यहां के उद्योगों की लागत अधिक होती है जिससे व विदेशी प्रतिस्पर्द्धियों का सामना नहीं कर पाते और उनका विकास अवरुद्ध हो जाता है।

9. कृषकों की निर्धनता : डा० ए० आर० देसाई के मतानुसार औद्योगीकरण की धीमी गति के लिए कृषकों की गरीबी जिम्मेदार है।[3] कृषकों की क्रय शक्ति के अभाव में उद्योगों के बने हुए माल को आवश्यक बाजार नहीं मिल पाता, फलस्वरूप औद्योगिक विकास की गति भी मन्द पड़ जाती है।

10. करों की अधिकता : गत वर्षों से भारत सरकार ने कई नये कर लगाने शुरू कर दिये हैं जैसे, उपहार कर, मृत्यु कर, सम्पत्ति कर आदि। उत्पादन करों का

---

1. Economic Survey for Asia and Far East (1958) P. 96
2. Mallenbaum Prospects for Indian Development p. 163-64
3. Dr. A. R. Desai Nationalism After Independence, p. 107-8

भी भार अधिक है। इसके अलावा बिक्री कर व स्थानीय करों की भी अधिकता है। इन करों से एक ओर तो पूंजी के संचय में उदासीनता आती है और दूसरी ओर उद्योगपतियों में औद्योगिक विस्तार की भावना समाप्त हो जाती है।

11 **औद्योगिक अशान्ति** स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से श्रमिकों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सरकार ने कई कदम उठाये हैं। सरकार ने अपनी श्रम-नीति के माध्यम से एक ओर तो श्रमिकों की मजदूरी, भत्ता, बोनस, आदि में वृद्धि की अनिवार्य व्यवस्था की है तथा दूसरी ओर उनके संगठनों को अत्यधिक महत्व देकर उन्हें हड़तालों के लिए परोक्षरूप से प्रेरित किया है। इन सबका प्रभाव उद्योगों के विकास पर बुरा पड़ा है।

12 **परिवहन के साधनों का अपर्याप्त विकास :** यातायात व परिवहन के साधनों की कमी खासकर उन स्थानों पर महसूस होती है, जहाँ उद्योगों का केन्द्रीयकरण हो गया है। तमाम उद्योगों के एक जगह केन्द्रित हो जाने के परिणामस्वरूप अपेक्षाकृत कम महत्व के उद्योगों को यातायात सम्बन्धी कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

13 **असंतुलित क्षेत्रीय विकास** . भारत में, क्षेत्रीय व भौगोलिक दृष्टि से उद्योगों का संतुलित विकास नहीं हुआ है। कलकत्ता, बम्बई, कानपुर, अहमदाबाद, जमशेदपुर, शोलापुर, भिलाई, दुर्गापुर, सिन्द्री, कोटा, तामिलनाडु आदि शहरों में ही अधिकांश उद्योग केन्द्रित हैं। देश का एक बहुत बड़ा भाग औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। जब नया कारखाना खोलने का समय आता है जो राजनैतिक दबाव के फलस्वरूप ये कारखाने उसी क्षेत्र में खुल जाते हैं जहां पहले से ही कई कारखाने विद्यमान होते हैं।

14 **भारत सरकार की औद्योगिक नीति :** भारत में स्वतन्त्रता के बाद दो औद्योगिक नीतियों की क्रमश सन् 1948 व 1956 में घोषणा की गई तथा इसके बाद भी विभिन्न समयों पर इन औद्योगिक नीतियों में कई बार परिवर्तन किए गए। प्रो० थॉम का अनुमान है कि सरकार की औद्योगिक नीति ने उद्योगपतियों को निजी क्षेत्र की पूंजी की सुरक्षा के सम्बन्ध में भय एवं शंका में डाल दिया है जिससे आशातीत पूंजी का विनियोजन नहीं हो सका जो उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक थी।[?]

भारत में तीव्र गति से औद्योगीकरण के लिए सुझाव

(Suggestions for Rapid Industrialisation in India)

भारतवर्ष के औद्योगिक विकास में उपर्युक्त वर्णित बाधाओं ने रोड़े अटकाये हैं। यदि हमें विश्व के औद्योगिक मानचित्र पर अपना स्थान बनाना है तो

औद्योगिक विकास के लिए कई कदम उठाने पड़ेंगे, यथा, (i) पूंजी निर्माण मे वृद्धि-देश मे पूंजी निर्माण मे वृद्धि की जानी चाहिये। देशवासियो को बचत के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। औद्योगिक संस्थानो की दीर्घकालीन व मध्यकालीन साख की पूर्ति के लिए वित्त निगमों के कोषो तथा कार्य क्षेत्र मे बढोतरी की जानी चाहिये। (ii) प्राकृतिक साधनों का विवेकपूर्ण ढंग से विदोहन किया जाना चाहिये। देश म उपलब्ध खनिज पदार्थों, वन साधनो विद्युत शक्ति आदि का देश के औद्योगिक विकास के लिए यथोचित उपयोग किया जाना चाहिए। (iii) परिवहन व संदेश-वाहन के साधनो का विकास किया जाना चाहिए ताकि देश के विभिन्न भागों से कच्चा माल एकत्र करके औद्योगिक संस्थानो म शीघ्रातिशीघ्र एव कम खर्च पर पहुंचाया जा सके साथ ही बने हुए माल को भी बाजार सम्बन्धी सुविधाएं उपलब्ध हो सकें। (iv) श्रमिकों की कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए प्रयत्न किये जाने चाहिए। शिक्षा, चिकित्सा, प्रशिक्षण सुविधाओ से श्रमिकों की कार्यक्षमता मे यथोचित वृद्धि की जा सकती है। सामाजिक सुरक्षा, श्रम कल्याण, आवास व्यवस्था, लाभ सहभाजन आदि योजनाओं द्वारा श्रमिको मे काय के प्रति रुचि एव उत्साह पैदा किया जा सकता है। (v) विदेशी पूंजी को आकर्षित करने के प्रयत्न किये जाने चाहिए। भारत एक विकासशील देश है जिसके प्राकृतिक स्रोत विशाल हैं लेकिन देश की आन्तरिक पूंजी के द्वारा ही इन प्रचुर साधनो का विदोहन नहीं किया जा सकता। अत सरकार को इस प्रकार की औद्योगिक नीति अपनानी चाहिए जिससे विदेशी पूंजीपति हमारे देश मे पूंजी लगाने के लिए प्रोत्साहित हो। (vi) विवेकीकरण के कार्यक्रम मे तेजी लानी चाहिए—भारत की अधिकाश चीनी, जूट एव सूती वस्त्र उद्योग की मशीनों को नई मशीनो से प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए। उद्योगो को चाहिए कि वे उत्पादन एव वितरण सम्बन्धी सभी कार्यों मे कुशलता की वृद्धि करें तथा खर्चों मे कमी करें ताकि लागत व्यय अधिक न आए। (vii) सरकारी क्षेत्र के उद्योगो की कुशलता सुधार उन्हें आदर्श रूप मे प्रस्तुत करना चाहिए (viii) निजी उद्योगों व सार्वजनिक उद्योगो मे समन्वय स्थापित करना चाहिए। देश के औद्योगिक विकास म सरकारी व निजी क्षेत्र दानो को मिलकर कार्य करना चाहिए। सरकार को चाहिए कि वह निजी क्षेत्र की कच्चे माल व वित्त सम्बन्धी कठिनाइयो को दूर करे तथा इन उद्योगो को भी वही सुविधाए दिलाए जो सरकारी क्षेत्र के उद्योगो को प्राप्त हैं। सरकारी व निजी क्षेत्र मे सुविधाओ के आधार पर भेदभाव नही किया जाना चाहिए। (ix) कुटीर व लघु उद्योगो म तथा बड़े उद्योग मे प्रतिस्पर्द्धा की जगह सहयोग की भावना का बढावा देना चाहिए तथा दोनो को विकास के अवसर दिए जाने चाहिए। इन उद्योगो मे बजाय प्रतिस्पर्द्धा के समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए ताकि ये एक दूसरे के पूरक के रूप म कार्य करते हुए देश के औद्योगीकरण को

गति को तीव्रता प्रदान करें। (x) श्रमिकों व मालिकों के सम्बन्धों को मधुर बनाकर औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्न किये जाने चाहिए। आए दिन हड़ताल व तालेबन्दियों को रोकने के सभी सम्भव उपाय किए जाने चाहिए।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त, योजनाबद्ध विकास के माध्यम से औद्योगिक निर्माण व विकास के कार्य देश में काफी प्रगति हुई है। सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति के द्वारा सरकारी व निजी क्षेत्रों में विकास में तालमेल बैठाने की चेष्टा की है। उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विशिष्ट वित्तीय सम्थायें खोली गई है। शिक्षा-प्रणाली को भी अधिकाधिक उद्योगोन्मुख बनाया गया है। औद्योगिक अनुसधान को राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं तथा दूसरी गवेषणा सस्थाओं के माध्यम से प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कुछ चुने हुये क्षेत्रों में उपयुक्त प्रोत्साहन देकर विदेशी पूंजी, तकनीकी जानकारी प्राप्त करने के भी प्रयास किये गये हैं।[1] आशा है कि यहां सहकारी नीति का सम्बल पाकर, उद्योगपतियों व श्रमिकों के सहयोग से भारतीय उद्योग भविष्य में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त करेगा।

प्रश्न

1 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—'भारत में लोहा एवं इस्पात उद्योग'।

2 भारत में सूती-वस्त्र उद्योग अथवा चीनी उद्योग के विकास तथा विशेष समस्याओं पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

3 भारतीय औद्योगिक पिछड़ेपन के कारणों का उल्लेख कीजिए।

4 भारतीय उद्योगों की विभिन्न समस्याओं पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

5 भारतीय सूती वस्त्र का विकास इत्यादि बतलाते हुये इसकी प्रगति का उल्लेख कीजिए और बताइये कि उद्योग के सम्मुख कौन कौन सी गम्भीर समस्याएं हैं ?

6. भारतीय जूट उद्योग का विकास इत्यादि बताते हुये इसकी प्रगति का उल्लेख कीजिये और बताइये कि इस उद्योग के सम्मुख कौन-कौन सी गम्भीर समस्यायें हैं ?

8 स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से लौह तथा इस्पात उद्योग की प्रगति का सक्षिप्त विवरण दीजिए तथा यह भी बताइये कि राज्य ने इसके विकास के लिए क्या प्रयत्न किये हैं ?

---

1. श्री फखरुद्दीन अली अहमद भारत का औद्योगिक विकास-कुछ प्रमुख विशेषताएं, आर्थिक समीक्षा, जनवरी 10, 1968

19
औद्योगिक वित्त

(Industrial Finance)

"Lack of finance has been the main drawback in the path of industrialisation of nearly all the underdeveloped countries. It is this factor that has been responsible for the co-existence of poverty and unused resources."

—U. N Report

वित्त आधुनिक उद्योग का जीवन रक्त है[1] इस कथन मे कोई अतिशयोक्ति नहीं है। उद्योगो की स्थापना एव सफल सचालन के लिए उचित ब्याज दर पर, सरलता से यथोचित मात्रा मे वित्त की पूर्ति आवश्यक है। आजकल उत्पादन की क्रियायें विशाल पैमाने पर की जा रही हैं, आज विश्व का कोई भी देश, औद्योगिक उत्पादन उस समय तक नही कर सकता जब तक कि उद्योगो मे लगाने के लिए उसके पास पर्याप्त मात्रा मे पूजी न हो। आधुनिक विशालकाय उद्योगों के लिए तो पूंजी प्राण के समान है। उनकी सफलता एव असफलता इसी की पूर्ति पर निर्भर करती है। यद्यपि पूजी की आवश्यकता छोटे पैमाने के उद्योगों को भी होती है, परन्तु उनकी आवश्यकता की पूर्ति आसानी से की जा सकती है, क्योंकि उन्हें अपेक्षाकृत बहुत कम पूंजी की आवश्यकता पडती है। बडे उद्योगो को बहुत बडी मात्रा में पूजी की आवश्यकता पड़ती है, जिसकी पूर्ति किसी एक साधन से करना प्राय. असम्भव होता है। डा० नाभागोपालदास के मतानुसार, किसी भी उत्पादक सस्था के लिए आज के युग मे, वित्त की व्यवस्था सरलतापूर्वक नियमित रूप से तथा उचित दर पर होना अत्यन्त आवश्यक है।[2]

औद्योगिक वित्त की आवश्यकता · उद्योग बडा हो अथवा छोटा, बिना पूजी या वित्त के नहीं चलाया जा सकता। कार्य-सचालन के लिए उद्योगो को अल्पकालीन

---

1. "Finance is the life blood of Industry"
2. Nabhagopal Das : Industrial Enterprise in India, p. 14

\

व दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के वित्त की आवश्यकता होती है। कच्चे माल की खरीददारी के लिए, मजदूरी व वेतन के भुगतान के लिए, बनी हुई वस्तुओं की बिक्री तथा भेजने के लिए और इसी प्रकार के अन्य छोटे-मोटे कार्यों के लिए अल्पकालीन वित्त की आवश्यकता होती है। भवन निर्माण, मशीनों के क्रय आदि के लिए दीर्घकालीन पूंजी या वित्त की आवश्यकता पड़ती है। सामान्यतः पूंजी बाजार उद्योगों की दीर्घकालीन वित्त की आवश्यकता की पूर्ति करता है, जबकि मुद्रा बाजार अल्पकालीन वित्त सम्बन्धी व्यवस्था करता है।

औद्योगिक वित्त स्रोत : भारतवर्ष में औद्योगिक वित्त कई स्रोतों से प्राप्त होता है। प्रमुख स्रोत निम्नलिखित है —

1. निजी पूंजी (Personal Capital) : निजी पूंजी उद्योग में लगाई जाती है। प्रारम्भ में उद्योग निजी पूंजी के बल पर ही चलाये जाते थे। आज भी औद्योगिक क्षेत्रों में बहुत बड़ी मात्रा में निजी पूंजी लगी हुई है। कई क्षेत्रों में निजी पूंजी के साथ-साथ अन्य स्रोतों से भी पूंजी प्राप्त की जाती है, ताकि उद्योग को कुशलतापूर्वक चलाया जा सके। बहुत से नए उद्योगों को प्रारम्भिक काल में, जब उन्हें पूंजी मिलने का कोई अन्य साधन नहीं था, तब इसी साधन से पूंजी प्राप्त होती थी। पुरानी औद्योगिक संस्थाओं को भी संकट के समय प्रायः निजी पूंजी से ही सहायता मिलती है।

2. जनता द्वारा विनियोजन (Investment by Public) : उद्योग साधारणतः विभिन्न प्रकार के अंशों का निर्गमन करते हैं, जैसे पूर्वाधिकार अंश (Preference Shares), सामान्य अंश (Equity Shares) आदि। साधारण जनता अपनी बचत में से इन अंशों को खरीदती है। उसे इस विनियोग के प्रतिफलस्वरूप लाभांश (Dividend) प्राप्त होता है तथा उद्योग को आवश्यक पूंजी मिलती है। अधिक आवश्यकता पड़ने पर औद्योगिक संस्थाएँ ऋण पत्र जारी करके जनता से आवश्यक पूंजी प्राप्त कर सकते हैं। ऋण-पत्र भी कई प्रकार के होते हैं। भारतवर्ष में ऋण-पत्र अधिक प्रचलित नहीं हो पाये हैं, क्योंकि (i) हमारे देश में सुव्यवस्थित पूंजी बाजार नहीं पाया जाता, (ii) ऋण-पत्र धारियों को अंशधारियों की अपेक्षा कम सुविधाएं दी जाती हैं। (iii) इन्हें न तो कम्पनियाँ और न ही निवेशकर्ता अधिक पसन्द करते हैं। (iv) भारत के बैंक भी उन कम्पनियों को उधार देने में झिझकते हैं जिन्होंने ऋण-पत्र बेचकर पूंजी प्राप्त की हो। (v) सरकार द्वारा जारी की गई प्रतिभूतियाँ अधिक लोकप्रिय हैं।

इस प्रकार भारतवर्ष में औद्योगिक संस्थाएं अपनी स्थायी पूंजी का अधिकांश भाग अंश पत्रों द्वारा ही प्राप्त करती हैं। विगत वर्षों में भारत में अंश पूंजी का निर्गमन अप्रत्याशित रहा है :

वर्ष	1951	1956	1961	1966	1967	1968	1970
धन राशि (करोड़ रु० में)	7 9	45 1	59 6	48 3	46 0	77 0	120 1

3 प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agents) भारतवर्ष में औद्योगिक बैंकों के अभाव के कारण, औद्योगिक वित्त प्रदान करने का प्रमुख दायित्व प्रबन्ध अभिकर्ताओं पर ही रहा है। कोई भी व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी, जिसे कम्पनी के साथ किए गए समझौते के अनुसार कम्पनी के कार्यों की व्यवस्था का अधिकार प्राप्त हो, प्रबन्ध अभिकर्ता कहलाता है। यह प्रणाली विश्व में अपने ढंग की निराली प्रणाली है जो विश्व के अन्य किसी देश में नहीं पाई जाती। प्रबन्ध-अभिकर्त्ता, औद्योगिक संस्थान को प्रारम्भिक पूंजी जुटाने में सक्रिय सहयोग देते हैं। ये लोग स्वयं बड़े-बड़े व्यापारी होते हैं। उद्योग या कम्पनी के विकास एवं विस्तार के लिए जब यह ऋण-पत्र जारी किए जाते हैं तब-तब ये बहुत बड़ी मात्रा में इन ऋण पत्रों को स्वयं खरीदते हैं। इनकी खरीद से प्रभावित होकर जनता भी ऋण-पत्रों में सरलता से पूंजी लगाने को तैयार हो जाती है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता की ही गारन्टी पर बैंक भी कम्पनी को पूंजी उधार देने को तैयार हो जाते हैं।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता सामान्यतः निम्नलिखित कार्य करते हैं। (i) ये किसी भी नई कम्पनी अथवा फर्म की स्थापना में प्रवर्तक तथा पथ-प्रदर्शक (Promotees and pioneers) का कार्य करते हैं, (ii) ये नए उद्योगों के लिए स्थायी पूंजी की व्यवस्था करते हैं, उनके पुनर्संगठन, विवेकीकरण एवं प्रसार के लिए दीर्घ पूंजी तथा अन्य कार्यों के लिए अल्पकालीन पूंजी प्रदान करते है, (iii) ये उद्योगों के दैनिक प्रबन्ध का कार्य करते है, तथा (iv) ये उद्योग के लिए कच्चे माल, मशीनरी के खरीदने में तथा बने हुए माल को बेचने में एजेन्ट का कार्य करते हैं।

भारत के औद्योगिक विकास में अभिकर्त्ताओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस योगदान की चर्चा करते हुए राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission 1945-50) ने कहा था, 'विगत 75 वर्षों में प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली ने भारतीय उद्योगों की महत्वपूर्ण सेवा की है। औद्योगीकरण के प्रारम्भिक दिनों में जब न तो उद्योगों की ही अधिकता थी और न पूंजी की ही, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने उद्योगों की व्यवस्था की। भारत के सूती वस्त्र, जूट तथा इस्पात आदि सुव्यवस्थित उद्योग अपनी वर्तमान स्थिति के लिए कई सुविख्यात प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के उत्साहपूर्ण नेतृत्व के ऋणी हैं।''

प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली ने निस्सन्देह भारत के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, लेकिन विगत कई वर्षों से इस प्रणाली में कई दोष आ गए हैं, इनमें से प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं —

(i) प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के अन्तर्गत उद्योगों में औद्योगिक प्रतिफल की अपेक्षा आर्थिक प्रभुत्व प्रधान हो जाता है।

(ii) प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के अन्तर्गत एक अभिकर्ता के अधीन अनेक उद्योग-धन्धों की व्यवस्था रहने के कारण, व्यवस्था ढग से नहीं हो पाती।

(iii) अनेक प्रबन्ध अभिकर्ता फर्मों की व्यवस्था अयोग्य एव भ्रष्टाचारी व्यक्तियों द्वारा होती है, जिससे इस प्रथा में नियन्त्रण सम्बन्धी अनेक बुराइया आ गई है।

(iv) प्रबन्ध अभिकर्ता प्राय अपने अधीन एक कम्पनी की आधिक्य-राशि दूसरी कम्पनियों में लगा देते हैं। एक इकाई के विस्तारीकरण के लिए उपलब्ध धन को दूसरी इकाई के पुनर्जीवन के लिए लगा दिया जाता है जिससे अनार्थिक इकाइया आर्थिक इकाई की कीमत पर जीवित रहती है।

(v) कार्यालय भत्ता, उत्पादन पर कमीशन, कच्चे माल पर कमीशन, कार्यालय चलाने के लिए धनराशि आदि के रूप में प्रबन्ध अभिकर्ता बहुत बड़ी धनराशि कम्पनियों से प्राप्त करके उनका शोषण करते हैं।

प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के अन्तर्गत उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए भारतीय कम्पनी अधिनियम में समय समय पर सशोधन किए गए है। सन् 1968 के सशोधन के अनुसार 1 अप्रैल, 1970 से देश के सभी उद्योगों से प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली को समाप्त कर दिया गया है।

4 औद्योगिक बैंक (Industrial Banks) उद्योगों की दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता की पूर्ति के लिए सन् 1905 से ही हमारे देश में औद्योगिक बैंकों के स्थापित किए जाने की चर्चा चल रही है। भारतवर्ष में टाटा औद्योगिक बैंक, कलकत्ता औद्योगिक बैंक तथा भारतीय औद्योगिक बैंक क्रमश सन् 1917, 1919 व 1920 में स्थापित किये गये, परन्तु प्रथम को छोड़कर शेष असफल साबित हुए। हमारे देश में ये बैंक औद्योगिक बैंकिंग सिद्धान्तों के अनुरूप ठीक प्रकार से कार्य नहीं करने के कारण पनप नहीं सके।

5 देशी महाजन (Indigenous Bankers) देशी महाजनों व बैंकरों द्वारा भी उद्योगों को आवश्यकता के समय वित्त प्राप्त होता रहा है। चूंकि इनके साधन सीमित होते हैं अत ये साधारणत छोटे उद्योगों को ही वित्त प्रदान कर पाते हैं। जहा तक बड़े उद्योगों का प्रश्न है, उनकी आवश्यकताए बहुत अधिक होती हैं।

अत ये देशी महाजनों पर निर्भर नहीं करते। ये लोग सामान्यत व्यक्तिगत बान्ड (Personal Bonds) पर ऋण देते हैं तथा ब्याज की दर अपेक्षाकृत अधिक लेते हैं। आधुनिक युग में बंकों व वित्तीय निगमों के प्रादुर्भाव के कारण इनका कार्यक्षेत्र एव महत्व औद्योगिक वित्त के सदर्भ में काफी कम हो गया है।

6 व्यापारिक बंक (Commercial Banks) व्यापारिक बंक सामान्यत अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं जिनकी अवधि 1 वर्ष तक की होती है। ये धरोहर रखकर भी ऋण देते है। साधारणत धरोहर के 70 प्रतिशत भाग तक ऋण के रूप में दिया जाता है। गारन्टी पद्धति के कारण, बड उद्योगपति ही इन बैंकों से रुपया प्राप्त कर पाते है। ये बंक अधिकतर कार्यशील पूजी ही प्रदान करते हैं। ये बंक कम्पनियों के अश अथवा ऋण पत्र खरीद कर स्थायी पूजी की व्यवस्था करने से हमेशा कतराते रहे हैं क्योंकि ऐसा करने से इनकी पूजी सकट में पड सकती है और ये अपनी पूजी को सकट म नहीं फसाना चाहते हैं। विगत कुछ वर्षों से सरकार तथा रिजर्व बंक ने भारतीय व्यापारिक बंकों को, उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिए काफी प्रोत्साहित किया है। सन् 1951 में अनुसूचित बंकों ने अपनी अग्रिम राशि का 33 6 प्रतिशत उद्योगों को उधार दिया था जो 1961, 1964 व 1966 में बढकर क्रमश 52 7 प्रतिशत, 59 2 प्रतिशत तथा 64 प्रतिशत हो गया। व्यापारिक बंकों से वित्तीय सहायता के फलस्वरूप औद्योगिक क्षेत्रों में वृद्धि का दो तिहाई भाग जिन चार उद्योगों को प्राप्त हुआ, वे हैं, सूती वस्त्र, इजीनियरिंग, चीनी, गुड तथा जूट।

7 बीमा कम्पनियां (Insurance Companies) उद्योगों को पूजी प्रदान करने वाली संस्थाओं में बीमा कम्पनियों का भी महत्वपूर्ण योगदान है। राष्ट्रीयकरण से पूर्व भी जीवन बीमा कम्पनियां अपनी पूजी का एक महत्वपूर्ण भाग उद्योगों में विनियोजित करती थीं। सन् 1956 में जीवन बीमा कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के बाद, अब जीवन बीमा निगम भी उद्योगों में पर्याप्त पूजी लगा रहा है। यह दीर्घकालीन ऋण देने में समर्थ है। जीवन बीमा निगम अपने नियन्त्रित कोष का एक बडा भाग तक उद्योगों में लगा सकता है। 31 मार्च, 1970 को निगम की कुल सम्पत्ति लगभग 1,34 8 करोड रु० थी। इस धनराशि में से लगभग 210 4 करोड रु० की राशि अशों तथा ऋण पत्रों में विनियोजित थी, जो कुल विनियोजनों की लगभग 15 6 प्रतिशत होती है।

8 सार्वजनिक जमा (Public Deposits) कुछ कम्पनियां सार्वजनिक जमा प्राप्त करके अपनी वित्त सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करती है। यह प्रणाली

अहमदाबाद व बम्बई के सूती-वस्त्र उद्योग मे पाई जाती रही है। लोग कारखानो मे अपनी पूंजी जमा कर आते हैं तथा इस पर ब्याज प्राप्त करते हैं। यह प्रणाली जोखिम से भरी हुई है, क्योंकि जनता मे यदि कम्पनी के प्रति अविश्वास पैदा हो जाय तो जनता अचानक अपनी पूंजी वापस निकालना प्रारम्भ कर देती है। इससे कम्पनी की स्थिति खराब होने लगती है। इस प्रकार की जमा सिर्फ अच्छे मौसम के मित्र के रूप मे ही साबित हो सकती है।

केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति के अनुसार बम्बई मे सूती वस्त्र मिलो ने अपनी कुल पूंजी का 11 प्रतिशत भाग तथा अहमदाबाद की मिलो मे 39 प्रतिशत भाग सार्वजनिक जमा के रूप मे प्राप्त किया था। लेकिन विगत 20 वर्षों से सार्वजनिक जमा का महत्व निरन्तर कम होता जा रहा है।

9 विनियोग प्रन्यास (Investment Trusts) ये ट्रस्ट या प्रन्यास भी उद्योगों मे पूंजी लगा कर उनको वित्त प्रदान करते है। ये सस्थाएं विनियोजको के लिए प्रतिभूतियो को खरीदने व बेचने का कार्य करती हैं तथा इन विनियोजनों द्वारा विनियोजको को लाभ उपलब्ध कराती हैं। भारतवर्ष मे ये सस्थाए सन् 1930 से प्रारम्भ हुई थी। इस समय भारतवर्ष मे इन सस्थाओ की सख्या 600 से भी ऊपर है। इनकी पूंजी अधिकतर साधारण अशो मे लगाई जाती है। औद्योगिक वित्त व्यवस्था मे इन सस्थाओं का कोई विशेष महत्वपूर्ण योगदान नही है।

10 सरकार द्वारा वित्तीय सहायता भारतवर्ष मे केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारें भी उद्योगो को आवश्यक वित्त प्रदान करने मे सहयोग प्रदान करती है। राजकीय सहायता अधिनियम (State Aid Industries Act) के अधीन राज्य सरकारे उद्योगो को वित्तीय सहायता देती है। इस्पात, उर्वरक, सीमेंट, कोयला उद्योग आदि उद्योगो के विकास के लिए केन्द्रीय व राज्य सरकारो ने पर्याप्त पूंजी लगाई है। सरकार उद्योगो के हिस्से खरीद कर या वित्त निगमो के अश खरीद कर भी उद्योगों को ऋण सम्बन्धी सुविधायें उपलब्ध कराती है।

11 औद्योगिक सहकारी समितियाँ हमारे देश के प्राय. प्रत्येक राज्य मे लघु उद्योगो को आर्थिक सहायता देने का प्रमुख साधन औद्योगिक सहकारी समितियां है। प्रत्येक राज्य मे स्थापित खादी एव ग्रामोद्योग मडल, विभिन्न वर्गों के उद्योगो को औद्योगिक सहकारी समितियो के माध्यम से ऋण व अनुदान देते हैं। सहकारी समितियाँ अश पूंजी तथा ऋणो के माध्यम से वित्तीय साधन प्राप्त करती हैं तथा सदस्यो को सस्ती ब्याज दर पर धनराशि उधार देती हैं।

12 विदेशी पूंजी भारतवर्ष मे आधुनिक उद्योगो का विकास विदेशी पूंजी की सहायता से ही हुआ है। आजकल पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत हमे विदेशो से काफी पूंजी प्राप्त हो रही है। भारतवर्ष मे इस समय विभिन्न क्षेत्रो मे लगभग

2000 करोड़ रुपए की विदेशी पूंजी लगी हुई है। इसमें से 1,200 करोड़ रुपये की पूंजी तो सार्वजनिक क्षेत्र में लगी हुई है तथा शेष 800 करोड़ रुपये की पूंजी निजी क्षेत्र के उद्योगों में लगी हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, विश्व बैंक, अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी तथा अन्य संस्थाएं, रूस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया आदि की सरकारों द्वारा विदेशी सहायता व पूंजी भी हमारे उद्योगों को प्राप्त हो रही है।

13 वित्तीय संस्थाएं स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष में उद्योगों को वित्त उपलब्ध कराने के लिए कुछ विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना की गई है। ये संस्थायें बड़े व छोटे सभी प्रकार के उद्योगों को अल्प, मध्यम व दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने की व्यवस्था करती हैं। ये संस्थायें निम्नलिखित हैं

(अ) औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation)

इस निगम की स्थापना सन् 1948 ई० में की गई थी।

(i) निगम के वित्तीय साधन इस निगम की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) 10 करोड़ रुपये है जो कि 5,000 रुपयों के 20,000 अंशों में बटी हुई है। प्रारम्भ में केवल 5 करोड़ रुपये की पूंजी निर्गमित की गई जो 10,000 अंशों में विभाजित थी। 1960–61 में 2 करोड़ रुपए की अतिरिक्त अंश पूंजी निर्गमित की गई। भारत सरकार ने निगम के प्रारम्भिक 5 करोड़ रुपए के अंशों पर $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत वार्षिक का निम्नतम लाभांश तथा 2 करोड़ रुपए के अतिरिक्त अंशों पर 4 प्रतिशत वार्षिक लाभांश तथा मूलधन चुकाने की गारन्टी दी है। मार्च 1972 तक निगम की प्राप्त पूंजी (Paid up Capital) 8 35 करोड़ रुपये के बराबर थी। औद्योगिक वित्त निगम में पूंजी केन्द्रीय सरकार, बैंक तथा वित्तीय संस्थाओं द्वारा लगाई जाती है। यह निगम खुले बाजार में बाण्ड व ऋण पत्र भी जारी कर सकता है। यह विश्व बैंक तथा विदेशी स्रोतों से मुद्रा प्राप्त करता है। इसे 18 महीनों के लिए 3 करोड़ रुपए तक रिज़र्व बैंक से भी प्राप्त हो सकते हैं। मार्च 1972 तक इस निगम ने कुल 159 31 करोड़ रुपए के ऋण लिए थे, जिसमें से 61 25 करोड़ रुपये बॉण्डों तथा ऋण पत्रों द्वारा, 75 67 करोड़ रुपये भारत सरकार से, 22 03 करोड़ रु० विदेशी मुद्रा में तथा 36 लाख रुपये रिजर्व बैंक से प्राप्त किए थे।

(ii) प्रबन्ध निगम का प्रबन्ध एक निर्देशक मण्डल (Board of Directors) द्वारा किया जाता है, जिसमें 12 सदस्य होते हैं। इसमें केन्द्रीय सरकार व रिजर्व बैंक के 3–3 मनोनीत व्यक्ति होते हैं। शेष 6 निगम के अन्य भागीदारों, बैंकों, बीमा कम्पनियों, विनियोग प्रन्यासों व सहकारी बैंकों द्वारा चुने जाते हैं। निर्देशक मण्डल 5 व्यक्तियों की एक कार्यकारिणी समिति को अपने अधिकार दे

देता है। इन्ही में से एक प्रबन्ध निर्देशक (Managing Director) भी होता है। यह समिति ही वस्तुत इस निगम की व्यवस्था करती है। निगम का कार्य देश के उद्योग, व्यापार तथा जनता के हितों को ध्यान मे रखते हुए व्यापारिक सिद्धान्तों पर चलाया जाता है। लेकिन केन्द्रीय सरकार मण्डल को नीति सम्बन्धी प्रश्नो पर निर्देश दे सकती है।

(iii) कार्य औद्योगिक वित्त निगम के प्रमुख कार्य है, (1) औद्योगिक संस्थानो को ऋण तथा अग्रिम देना तथा उनके द्वारा जारी किए गए ऋण-पत्रो को खरीदना जिनका भुगतान 25 वर्षों मे किया जा सकता है।

(2) यह निगम औद्योगिक सस्थाओ द्वारा खुले बाजार मे जारी किए गए ऋणों तथा अनुसूचित बैंको व राज्य सहकारी बैंकों से लिए गए ऋणो, जिनका भुगतान 25 वर्ष की अवधि मे होना हो, गारन्टी दे सकता है।

(3) यह निगम औद्योगिक सस्थाओ द्वारा जारी किए गए अशो व ऋण पत्रो की हामी (Underwrite) भर सकता है। लेकिन जो ऋण पत्र व अश यह कार्य करते समय इसके पास रह जाय, वे 7 वर्ष के अन्दर अवश्य बेच दिए जाने चाहिए।

(4) कुछ विशेष उद्योगो को विदेशी मुद्रा की प्राप्ति मे सहायता करना।

(5) विदेशी बैंक व वित्तीय सस्था से लिए गए ऋण व साख प्रबन्ध पर गारन्टी देना।

(6) औद्योगिक सस्थाओं के स्टाक व अशो का क्रय करना।

(7) कुछ स्वीकृत औद्योगिक सस्थाओ द्वारा आयात की जाने वाली पूजीगत वस्तुओ पर विलम्बित भुगतान (Deferred Payment) के सम्बन्ध मे गारन्टी देना।

यह निगम ऋण चाहने वाले सस्थानो के आवेदन पत्रो का ऋण स्वीकृत करने से पूर्व निरीक्षण करता है और ऋण स्वीकृत करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान मे रखता है (1) उद्योग का राष्ट्रीय महत्व, (2) प्रबन्धक की सूक्ष्मता, (3) कार्यक्रम की लागत, (4) उत्पादनो की किस्म, (5) प्रस्तुत की जाने वाली प्रतिभूति की प्रकृति, (6) प्राविधिक कर्मचारियों एव कच्चे माल की पूर्ति की पर्याप्ति, तथा (7) निर्मित उत्पादनों की देश के लिए आवश्यकता।

यह निगम 1960 के सशोधन के बाद स, किसी भी औद्योगिक सस्थान की हिस्सा पूजी मे सीधे योगदान दे सकता है। यह केवल सार्वजनिक सस्थानो व सहकारी सस्थानो को ही ऋण देता है, निजी सस्थानों को व साझेदारी सस्थानो को ऋण नही देता। खान, उद्योग, जहाजरानी व बिजली उद्योगों को मध्य व दीर्घकालीन ऋण दे सकता है। यह अधिक से अधिक किसी एक सस्थान को 1 करोड़ रुपये का

ही ऋण दे सकता है तथा ऋण की अधिकतम अवधि 25 वर्ष हो सकती है। पहले ब्याज की दर 7 5% थी, परन्तु मार्च सन् 1965 से देशी ऋणो पर ब्याज की दर 8 5 प्रतिशत तथा विदेशी ऋणो पर 9 प्रतिशत कर दी गई है। ऋण तथा ब्याज का भुगतान समय से करने पर आधे प्रतिशत की छूट दी जाती है।

(iv) कार्य की प्रगति मार्च 31, सन् 1971 तक इस निगम के द्वार 363 करोड रुपये ऋण के रूप मे देने स्वीकार किए तथा 313 करोड रु० बाँटे गए। जिन उद्योगो ने इस निगम से ऋण प्राप्त किया, वे ये हैं—खाद्य, निर्माण उद्योग, खनिज उद्योग, उर्वरक उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, कागज उद्योग, सीमेंट, शीशा, रबड उद्योग आदि। निगम ने सन् 1957 से अभिगोपन कार्य भी प्रारम्भ कर दिया है, तब से लेकर 31 मार्च 1969 तक इसने 27 01 करोड रुपए की राशि के अभिगोपन स्वीकार किए। निगम द्वारा लगभग 70 प्रतिशत सहायता, स्वत त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रारम्भ किए गए नए उद्योगो को प्रदान की गई है। निगम द्वारा कुछ राज्यो को अधिक ऋण दिए गए हैं—महाराष्ट्र, प० बगाल व मद्रास तथा कई क्षत्र उपेक्षित रह गए हैं। इसी प्रकार ऋण-राशि मे भी पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। यद्यपि ऋणो की राशि 10 लाख रुपए से लेकर 1 करोड तक रही है तथापि अधिकाश ऋण 40 से 50 लाख रु० के मध्य के ही रहे हैं। निगम द्वारा दिए गए अधिकाश ऋणो की अवधि 12 वर्ष की रही है लेकिन कुछ ऋण 15 वर्ष की अवधि के लिए भी दिए गए हैं। निगम की आय तथा लाभ मे यथोचित वृद्धि हुई जो इस बात की पुष्टि करता है कि निगम अपने कार्य मे आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त कुशल साबित हुआ है।

(v) समालोचना औद्योगिक वित्त निगम की कई प्रमुख आलोचनाए की गई हैं जैसे,(1) इसने देशके अर्द्ध विकसित क्षत्रो जैसे राजस्थान, मध्यप्रदेश के औद्योगिक विकास मे बहुत कम सहायता पहुचाई है, (2) निगम ने उद्योगो को जोखिम पू जी नही दी है, (3) ऋण की स्वीकृति मे बहुत विलम्ब हो जाता है, (4) ऋण देते समय कई कडी शर्तें लगाई जाती हैं, (5) ऋण देने मे पक्षपात किया जाता है, (6) केवल सार्वजनिक व सहकारी सस्थाओं को ही ऋण दिया जाता है, (7) निगम सम्पत्ति बन्धक के अतिरिक्त, प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओ की वैयक्तिक गारन्टी लेता है, तथा (8) अभिगोपन (Underwriting) के क्षत्र मे निगम ने कोई विशष प्रगति नही की, आदि।

उक्त आलोचनाओ मे कुछेक तो उचित है, शष उचित नही हैं। निगम का कार्य सामान्यत' सराहनीय रहा है। इसके वित्तीय साधन सीमित हैं, अत इसे सोच-

समझ कर ही ऋण देना पड़ता है। जोखिम-पूर्ण क्षेत्रों में यह अपने साधनों को नहीं लगा सकता। यद्यपि उद्योगों की वित्त सम्बन्धी आवश्यकताओं को देखते हुए निगम के कार्य को पूर्ण सफल नहीं कहा जा सकता, तथापि इस क्षेत्र में इसने जो कुछ किया है, वह सराहनीय है। आशा है भविष्य में भी यह उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण वित्तीय सहयोग प्रदान करता रहेगा।

(आ) राज्य वित्त निगम (State Finance Corporation) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम का कार्य क्षेत्र सीमित होने के कारण, भारत सरकार ने लघु व मध्यम उद्योगों को ऋण सुविधाएं प्रदान करने के लिये 28 सितम्बर सन् 1951 को राज्य वित्त अधिनियम पारित किया। अब इस प्रकार के निगम भारत के प्रायः सभी राज्यों में बन चुके हैं। जो क्षेत्र भारतीय वित्त निगम से ऋण प्राप्त नहीं कर सकते, उन्हें इन निगमों से ऋण सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। राज्य वित्त निगम की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) कम से कम 50 लाख रुपये से लेकर अधिक से अधिक 5 करोड़ रुपय तक हो सकती है। इन निगमों के हिस्सेदार, राज्य सरकारें, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंक, सरकारी बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थायें होती हैं। जिसमें से तीन चौथाई अंश पूंजी सरकारों, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंक, सहकारी बैंक, बीमा कम्पनियों, विनियोग ट्रस्ट तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्राप्त होनी चाहिए। शेष एक चौथाई अन्य पक्ष द्वारा। राज्य वित्त निगम किसी एक संस्था को अधिक से अधिक 10 लाख रुपये तक की सहायता दे सकता है। ये अपने साधनों को बढ़ाने के लिए बॉण्डों व ऋण पत्रों का विक्रय कर सकते हैं तथा जनता से 5 वर्षों की निश्चित अवधि के लिए जमा स्वीकार कर सकते हैं।

संचालन—इन निगमों का प्रबन्ध व संचालन औद्योगिक वित्त निगम की ही तरह होता है। जिसमें एक प्रबन्ध संचालक एवं कार्यकारिणी समिति होती है। राज्य वित्त निगम राज्य के विभिन्न स्थानों पर अपने कार्यालय खोल सकते हैं। राज्य सरकार को रिजर्व बैंक की सलाह से निगम को नीति सम्बन्धी निर्देश देने का अधिकार प्राप्त है।

कार्य—राज्य वित्त निगम निम्नांकित कार्य कर सकते हैं

(1) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा 20 वर्ष की अवधि के लिए, लिए गए ऋणों पर गारन्टी देना, (2) औद्योगिक संस्थाओं के अंश, स्टाक व ऋण पत्रों का अभिगोपन करना, (3) औद्योगिक संस्थाओं को अधिकाधिक 20 वर्ष के लिए ऋण अथवा अग्रिम देना, (4) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित ऋण पत्रों में पूंजी लगाना।

प्रगति : इस समय भारतवर्ष मे 18 राज्य वित्त निगम हैं। प्राय: प्रत्येक राज्य म एक वित्त निगम है। मार्च 1972 तक इनकी कुल प्रदत्त पूंजी 23.16 करोड़ रुपये था तथा इन निगमो ने इसी अवधि तक 154.71 करोड रुपये की सहायता दी।

आलोचना : राज्य वित्त निगमो को आशानुकूल सफलता नही मिल पाई है। लघु उद्योगो की वित्तीय सहायता करने मे ये असमर्थ रहे हैं। निजी क्षेत्र को प्रति वर्ष अपने विकास कार्यों के लिए 300 से 350 करोड़ रुपये की आवश्यकता है जिसका केवल 3/4 प्रतिशत भाग ही यह प्रदान कर पाते हैं। इन निगमो की निम्नलिखित आधार पर आलोचना की जाती है :

(i) इनके पास बहुत सा धन बिना प्रयोग के पड़ा रहता है; (ii) निगमों द्वारा ऋण की स्वीकृति तथा वास्तविक अदायगी मे बहुत समय लग जाता है, (iii) निगमों द्वारा वसूल की जाने वाली ब्याज की दर बहुत अधिक है; (iv) लाभांशों के भुगतान के लिए इन्हे राज्य सरकारो पर निर्भर करना पड़ता है, क्योंकि इनके साधनो का पूर्ण उपयोग नही हो पाता, (v) औद्योगिक संस्थाओं की आर्थिक स्थिति, उनकी सम्पत्तियो का मूल्यांकन एव रेहन बंकिंग की जटिलताओं के कारण, इनका कार्य कुशलता एव शीघ्रता मे नही हो पाता।

(इ) भारतीय औद्योगिक साख व विनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation) भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत इस निगम की स्थापना एक निजी सीमित कम्पनी के रूप में जनवरी सन 1955 मे हुई थी। निगम की अधिकृत पूंजी 25 करोड़ रुपये तथा प्रदत्त पूंजी 5 करोड रुपये है, जो 100-100 रुपयो के अंशो में विभक्त है। इसकी प्राप्त पूंजी में भारतीय बैंकों व बीमा कम्पनियों का 2 करोड रुपया, यूनाइटेड किंगडम के पूंजीपतियो का 1 करोड रुपया, अमेरिकी पूंजीपतियों का 50 लाख रुपया तथा भारतीय जनता का 1.5 करोड़ रुपया है।

निगम के उद्देश्य—इस निगम के उद्देश्य हैं (i) निजी क्षेत्रों के उद्योगों के निर्माण, विकास तथा नवीनीकरण मे सहायता देना, (ii) उद्योगों में देशी अथवा विदेशी पूंजी के प्रवेश को प्रोत्साहित करना, तथा (iii) विनियोग बाजार के विस्तार को प्रोत्साहित करना।

निगम के कार्य : यह निगम उपर्युक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए निम्नलिखित कार्य करता है : (i) यह निगम निजी उद्योगो को मध्यम व दीर्घकालीन ऋण देता है; (ii) यह निगम नये अंशों व प्रतिभूतियों का अभिगोपन करता है; (iii) यह निगम निजी साधनो से प्राप्त ऋणों की गारन्टी देता है, (iv) आवश्यकता पड़ने पर

तकनीकी, प्रबन्ध-सम्बन्धी तथा प्रशासनात्मक परामर्श भी देता है; (v) उद्योगों के विकास और नए आविष्कारों की व्यवस्था करना; तथा (vi) नए व्यवसायों तथा विनियोगों को प्रोत्साहन देना।

प्रगति : अपने विगत 17 वर्षों के कार्यकाल में निगम ने औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया है। जनवरी 1955 से मार्च 1971 तक निगम ने 304 करोड़ रुपये के ऋणों की स्वीकृति प्रदान की है।

(ई) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) इस निगम की स्थापना भारत सरकार द्वारा 20 अक्टूबर सन् 1954 में की गई। इस निगम की अधिकृत पूंजी 1 करोड़ रुपये है तथा प्रदत्त पूंजी 10 लाख रु है, जो भारत सरकार द्वारा ही प्रदान की गई है। भारत सरकार ऋण व अनुदान के रूप में भी इसे आवश्यक धन देती रहती है। यह निगम सरकारी व निजी दोनों क्षेत्रों के उद्योगों को वित्त प्रदान करता है। यह निगम मुख्यतः पुनर्स्थापन एव नवीनीकरण के लिए तथा मशीन आदि खरीदने के लिए ऋण प्रदान करता है तथा उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करता है जिनका सम्बन्ध आयोजित विकास से है। यह पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन को प्राथमिकता देता है। यह निगम ऐसे उद्योगों की स्थापना भी करता है जो निजी क्षेत्रों में सहायक उद्योगों की उन्नति के लिए पथ-प्रदर्शन करे। यह उद्योगों के अशों, ऋण-पत्रों का अभिगोपन करता है तथा उनकी गारन्टी लेता है।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने सूती वस्त्र उद्योग, जूट उद्योग तथा मशीन उपकरण उद्योग को विशेष लाभ पहुँचाया है। 31 मार्च 1971 तक इस निगम ने इन उद्योगों के लिए 28.02 करोड़ रुपये के ऋण की स्वीकृति दी थी, जिनमें से 18.7 करोड़ रुपये का वितरण किया जा चुका था।

(उ) राज्य औद्योगिक विकास निगम कई राज्य सरकारों ने अपने-अपने क्षेत्र में, औद्योगिक विकास को तेज करने के लिए 1960 से राज्य औद्योगिक विकास निगम (State Industrial Development Corporation) की स्थापना की है। ये निगम राज्यों में उद्योगों का प्रवर्तन, सुधार तथा विकास करते हैं। ये निगम प्रत्यक्ष विनियोग, ऋण स्थगित भुगतान, ऋणों के लिए गारन्टी, अंशों, ऋण पत्रों एव बांडों के निर्गमन का अभिगोपन व खरीद आदि के द्वारा औद्योगिक संस्थाओं को सहायता पहुँचाते हैं। सन् 1971 तक भारत में इस प्रकार के 19 निगम विभिन्न राज्यों में स्थापित थे। महाराष्ट्र तथा गुजरात के निगमों को छोड़ कर बाकी राज्यों के निगमों की अंश पूंजी पूर्ण रूप से राज्य सरकारों की है। राज्य सरकारें इन निगमों को आवश्यकतानुसार ऋण, अग्रिम एव अनुदान देती रहती है। इन निगमों

के कोषों को खुले बाजार में बांडों, ऋण पत्रों के निर्गमन तथा केन्द्रीय व राज्य सरकारों, बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थाओं या व्यक्तियों के अनुदान, चन्दे, ऋण अग्रिम, जमाओं आदि के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। 1970-71 के दौरान, इन्होंने 20 करोड़ की वित्तीय सहायता दी।

(ऊ) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India) देश के औद्योगिक विकास की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मई सन् 1964 से भारतीय औद्योगिक विकास बैंक ने कार्य प्रारम्भ किया। इसकी स्थापना के दो प्रमुख उद्देश्य थे, एक ओर तो उत्तरोत्तर औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप बढ़ती हुई वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए तथा दूसरी ओर औद्योगिक वित्त प्रदान करने वाली विभिन्न संस्थाओं के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए। इस बैंक की अधिकृत पूंजी 50 करोड़ रुपये है, जो 100 करोड़ रुपये तक बढ़ाई जा सकती है। इसके द्वारा 10 करोड़ रुपये की पूंजी निर्गमित की गई है। निर्गमित पूंजी की मात्रा को भी बढ़ाया जा सकता है। इसके साधनों को बढ़ाने के लिए सरकार ने 10 करोड़ रुपये का ब्याज से मुक्त ऋण भी दिया है, जिसका भुगतान 15 वर्ष के पश्चात् 15 समान किश्तों में किया जायेगा। विकास बैंक रिजर्व बैंक से भी अल्प, मध्यम व दीर्घकाल के लिए वित्तीय सहायता ले सकता है। यह बैंक निजी व सरकारी दोनों प्रकार की संस्थाओं को ऋण प्रदान करता है तथा खनिज, परिवहन, निर्माण, होटल आदि उद्योग इसकी परिधि में आ जाते हैं।

औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे :

(1) देश में अन्य वित्तीय संस्थाओं के कार्यों में समन्वय करना तथा इन संस्थाओं के लिए शीर्ष संस्था के रूप में कार्य करना,

(2) उद्योगों के लिए अवधि वित्त (term finance) का प्रबन्ध करना तथा औद्योगिक इकाइयों को प्रत्यक्ष वित्तीय सहायता प्रदान करना,

(3) मध्यमकालीन तथा दीर्घकालीन वित्त में पूर्ति व मांग सम्बन्धी असमानताओं को दूर करना।

इस बैंक के प्रमुख कार्य हैं (1) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगमों को 3 से 25 वर्षों तक का पुनर्वित्त प्रदान करना, ताकि वे उद्योगों को आवश्यक ऋण दे सकें, (2) औद्योगिक संस्थाओं के ऋण पत्र, अंश आदि खरीदना; (3) औद्योगिक संस्थाओं के ऋण-पत्रों व अंशों का अभिगोपन करना, (4) औद्योगिक संस्थाओं को प्रत्यक्ष ऋण देना इनके द्वारा प्राप्त ऋणों की गारन्टी करना, (5) औद्योगिक बिलों की कटौती तथा पुनर्कटौती करना, (6) नये उद्योगों की स्थापना व विस्तार की योजना बनाना, (7) बिक्री तथा विनियोग सम्बन्धी शोध

कार्य करना, तथा (8) औद्योगिक संस्थाओं की प्राविधिक व व्यवस्था सम्बन्धी सहयोग प्रदान करना।

31 मार्च सन् 1971 तक औद्योगिक विकास बैंक ने 338.5 करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता स्वीकृत की थी, जिसमें से 255.8 करोड़ रुपये वास्तव में वितरित किए गए।

(ए) भारतीय इकाई न्यास (Unit Trust of India) : न्यास इकाई वह संस्था है जो अपने सदस्य विनियोक्ताओं के लिए प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करती है। इसने अपना कार्य 1 फरवरी 1964 से प्रारम्भ किया तथा 1 जुलाई 1964 से इसने जनता को इकाइयां (units) बेचनी शुरु कर दी। इसकी स्थापना का प्रमुख उद्देश्य जनता के बचत व विनियोग की आदत को बढ़ावा देना है जिससे छोटे, मध्यम व बड़े, सभी प्रकार के विनियोगी देश के औद्योगिक विकास में योगदान दे सकें। इस संस्था में उचित प्राप्ति तथा न्यूनतम जोखिम के लाभ सम्मिलित हैं, इस न्यास की पूंजी 5 करोड़ रुपये है। इस पूंजी में सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं का योगदान 4 करोड़ रुपये के बराबर है। शेष एक करोड़ रुपए की पूंजी अनुसूचित तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्रदान की गयी है। इसका प्रमुख कार्यालय बम्बई में है। इसकी प्रत्येक इकाई का मूल्य दस रुपये है और कोई भी व्यक्ति अपनी बचत के अनुसार कितनी भी संस्था में दस रुपये मूल्य वाली इकाइयां खरीद सकता है। प्रारम्भ में इकाइयां प्रत्यक्ष मूल्य पर बेची जाती थी, लेकिन इसके बाद प्रतिदिन ट्रस्ट द्वारा निश्चित किए गए मूल्यों पर बेची जाने लगी। इन इकाइयों को ट्रस्ट को हस्तान्तरित किया जा सकता है।

सामान्यतः यूनिट ट्रस्ट अपने साधनों का तीन-चौथाई भाग उद्योगों में विनियोजित करता है। 30 जून 1972 तक इसकी इकाइयों की कुल बिक्री 118.94 करोड़ रुपये थी तथा इसके धारकों की संख्या 4,99,533 थी। इसी अवधि तक भारतीय इकाई न्यास ने 63 करोड़ रुपयों का विनियोजन किया था। इसी अवधि तक भारतीय इकाई न्यास ने 48.7 करोड़ रुपये का विनियोजन किया था।

(ऐ) पुनर्वित्त निगम (Refinance Corporation) : पुनर्वित्त निगम मध्यम आकार के उद्योगों को वित्त प्रदान करने की दृष्टि से 5 जून 1958 को भारतीय कम्पनी अधिनियम 1956 के अन्तर्गत पंजीकृत किया गया था। इस निगम की अधिकृत पूंजी 25 करोड़ रु० है जो एक-एक लाख रुपये के 2500 अंशों में बटी हुई है। निगम की प्रारम्भिक निर्गमित पूंजी 12.5 करोड़ रु० की ही थी।

यह निगम उद्योगों को सीधे स्वयं साख नहीं देते अपितु औद्योगिक संस्थाएं उन बैंकों से ऋण प्राप्त करती हैं जो इसके सदस्य हैं और ये सदस्य बैंक निगम से ऋण

लेते हैं। ऋण प्राप्त करने वाले उद्योगों को निम्नलिखित 3 शर्तें पूरी करनी पड़ती थी, जैसे (1) ऋण प्राप्त करने वाले उद्योग की प्रदत्त पूंजी 5 लाख रु० से 2.5 करोड़ रु० तक होनी चाहिए, (2) एक औद्योगिक इकाई को 50 लाख रु० से अधिक का ऋण नहीं मिल सकता, तथा (3) ऋण 3 वर्ष से 7 वर्ष की अवधि के लिए ही दिया जाता है। निगम निजी क्षेत्र के उन उद्योगों को जिन्हें पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है, बैंकों द्वारा दिए गए ऋणों को पुन उधार की सुविधाएं (relending facilities) देता रहा है। 28 मार्च 1961 से यह पब्लिक लिमिटेड कम्पनी बना दिया गया। इसे 1 सितम्बर 1964 से भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) में मिला दिया गया था।

(ओ) राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम (The National Small Industries Corporation) इस निगम की स्थापना फोर्ड फाउन्डेशन के एक विशेषज्ञ दल की सिफारिश पर सन् 1955 में की गई। इस निगम का मुख्य उद्देश्य कुटीर एवं लघु-स्तरीय उद्योगों को संरक्षण व प्रोत्साहन प्रदान करना है। इस निगम की अधिकृत पूंजी 10 लाख रुपये थी, किन्तु अब बढ़ा कर 50 लाख रुपये कर दी गई है। यह सभी पूंजी भारत सरकार द्वारा दी गई है। यह निगम ऐसे छोटे उद्योगों को सहायता देता है जो बिना शक्ति के 100 व्यक्तियों और शक्ति के प्रयोग के साथ 50 व्यक्तियों द्वारा चलाये जाते हैं। इसके क्षेत्र का विस्तार करने के लिए बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, तथा दिल्ली में सहायक निगम स्थापित किए गए हैं। इस निगम के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं, (i) लघु उद्योगों द्वारा निर्मित की जाने वाली वस्तुओं के लिए सरकारी आदेश (Order) प्राप्त करना, (ii) ऐसे आदेशों की पूर्ति के लिए लघु उद्योगों को वित्तीय, तकनीकी तथा अन्य प्रकार से सहायता करना, (iii) छोटे व बड़े उद्योगों में इस प्रकार समन्वय स्थापित करना कि छोटे उद्योग बड़े उद्योगों की आवश्यकता की चीजें बना सकें, (iv) छोटे उद्योगों को बैंकों तथा अन्य खास संस्थाओं से मिलने वाले ऋणों की गारन्टी करना। राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम वास्तव में एक वित्तीय संस्था न होकर एक लघु उद्योग विकास संस्था ही है जो परोक्ष रूप से लघु उद्योगों की सहायता करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसने स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया से समझौता कर रखा है, जो इसकी गारन्टी योजना के अन्तर्गत लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता देता रहता है। यह निगम लघु उद्योगों को hire purchase के आधार पर देश विदेश से मशीनें प्राप्त करने में सहायता पहुंचाता है।

सन् 1971-72 में इस निगम ने 54.40 करोड़ रुपये की खरीद के लघु उद्योगों को आर्डर दिलवाए जिनकी पूर्ति 20,486 लघु इकाइयों द्वारा की जानी थी। यह

निगम ओखला, राजकोट तथा हावडा में प्रोटोटाइप उत्पादन और प्रशिक्षण केन्द्र चला रहा है। इन प्रशिक्षण केन्द्रों से अब तक 5900 व्यक्ति प्रशिक्षित हो चुके हैं।

भारत में औद्योगिक वित्त के अभाव के कारण

भारत के औद्योगिक विकास में पूंजी की कमी सदैव अखरती रही है। यही कारण है भारत का अपेक्षित औद्योगिक विकास नहीं हो सका है। स्वतन्त्रता के पश्चात् यद्यपि उद्योगों को आवश्यक वित्त प्रदान करने के लिए सरकार ने कई कदम उठाये हैं और इस उद्देश्य के लिए कई निगम व संस्थाएं बनाई गई हैं, फिर भी देश की विशालता को देखते हुये औद्योगिक वित्त व्यवस्था में कई कमियाँ नजर आती है, जिनके फलस्वरूप इस दिशा में वांछित प्रगति नहीं हो सकी है। भारत में औद्योगिक वित्त के अभाव के प्रमुख कारण निम्नांकित है

1 बचत का निम्न-स्तर भारतवर्ष में सामान्यतः लोग निर्धन हैं। कुछ गिने-चुने व्यक्ति ही सम्पन्नता की श्रेणी में आते हैं। आय की कमी के कारण बचत नहीं हो पाती। बचत के अभाव में बैंकों के पास भी वित्त की कमी रहती है और वे उद्योगों में यथेष्ट मात्रा में वित्त नहीं लगा पाते।

2 पूंजी का शर्मीलापन भारत में कुछ लोग बचत करने की क्षमता रखते हैं तथा वे पूंजी का संचय करके औद्योगिक प्रतिभूतियों में लगा सकते हैं, लेकिन वे पूंजी का इस प्रकार विनियोजन न करके आभूषण आदि बनाने में करते हैं। पूंजी के इस शर्मीलेपन के कारण उद्योगों में लाभ पूर्ण विनियोग नहीं हो पाता।

3 संगठित मुद्रा-बाजार व पूंजी बाजार का अभाव . भारतवर्ष में न तो सगठित मुद्रा बाजार ही पाया जाता है और न ही सगठित पूंजी बाजार। इनके अभाव में औद्योगिक वित्त के लिए समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती। ग्रामीण क्षेत्रों की बचत को एकत्र करने के साधन प्रायः शून्य के बराबर हैं।

4 औद्योगिक बैंको का अभाव : औद्योगिक वित्त प्रदान करने के लिए यद्यपि औद्योगिक बैंकों की स्थापना के लिए प्रयत्न किए गये, तथापि प्रबन्ध अभिकर्ताओं की स्वार्थ नीति के कारण ये बैंक प्रायः सफल नहीं हो पाए। इस समय औद्योगिक विकास बैंक अवश्य ही कुछ सफलता से कार्य कर रहा है, अन्यथा औद्योगिक बैंकों का अभाव देश के औद्योगिक वित्त के मार्ग में बाधक रहा है।

5 अभिगोपन-गृहों का अभाव भारतवर्ष में कम्पनियों के हिस्सों व ऋण पत्रों के अभिगोपन की उचित व्यवस्था नहीं है। अभिगोपन-गृहों की कमी के कारण औद्योगिक संस्थानों को वित्त प्राप्त करने में कठिनाई महसूस होती है।

6 व्यापारिक बैंकों का सीमित क्षेत्र ' भारतवर्ष में व्यापारिक बैंकों ने अभी तक उद्योगों की अल्पकालीन साख-सम्बन्धी आवश्यकताओं की ही पूर्ति की है।

स्थायी या दीर्घकालीन ऋण देने की न तो उनकी रुचि ही रही है और न क्षमता ही।

7 **कुशल साहसियों एवं प्रबन्धकों का अभाव :** कुशल, योग्य व ईमानदार साहसियों व प्रबन्धकों के अभाव के कारण हमारे औद्योगिक संस्थानों में विनियोग करने वाले व्यक्तियों को कोई विशेष लाभ नहीं मिल पाते। कई बार तो उन्हें प्रायः हानि उठानी पड़ जाती है। फलस्वरूप ऐसे अकुशल एवं बेईमान लोगों को पूंजी देने में व्यक्ति एवं संस्थायें हिचकती हैं।

8. **सट्टेबाजी का प्रभाव** विगत कुछ वर्षों में स्टाक मण्डियों में सट्टेबाजी होने के कारण अंशों के मूल्यों में अधिक उतार-चढ़ाव होते रहे हैं। इन उतार-चढ़ावों के कारण प्रायः विनियोजक हतोत्साहित हो जाते हैं।

9 **सरकारी हस्तक्षेप में वृद्धि** विगत कुछ वर्षों में औद्योगिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप बढ़ गया है। सरकार ने उद्योगों के नियमन व नियंत्रण के सम्बन्ध में तथा औद्योगिक श्रमिकों की सुरक्षा के लिए कई अधिनियम पारित किए हैं, जिससे औद्योगिक विकास में बाधा पड़ी है। श्रम सम्बन्धी कानूनों के फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन की लागत बढ़ गई है तथा लाभ कम हो गए हैं। फलस्वरूप पूंजीपतियों में अधिक विनियोजन करने की प्रेरणा को ठेस पहुंची है।

10. **करों का बढ़ता हुआ भार :** विगत वर्षों में सरकार द्वारा करों की मात्रा बढ़ाने के फलस्वरूप पूंजी संचय एवं विनियोजन को आघात पहुंचा है। पंच-वर्षीय योजनाओं के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए लगाए गए मृत्यु कर, सम्पत्ति कर तथा पूंजी लाभकर जैसे करों ने बचत व विनियोजन दोनों को हतोत्साहित किया है फलस्वरूप उद्योगों को यथोचित मात्रा में वित्त उपलब्ध नहीं हो पाता।

11 **अन्य कारण** उक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य और कई कारण भी हैं, जिनके परिणामस्वरूप हमारे औद्योगिक संस्थानों को उचित मात्रा में वित्त नहीं मिल पाता। ये कारण हैं (i) जनता में जोखिम की प्रवृत्ति का अभाव; (ii) जनता में बैंकिंग आदत का अभाव, (iii) जनता का बैंकों में विश्वास का न होना; (iv) स्टाक एक्सचेंजों की कमी के फलस्वरूप प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय में कठिनाई का होना, तथा (v) सरकार की दोषपूर्ण प्रशुल्क नीति, (vi) भारतीय मध्यम वर्ग जो बचत के द्वारा पूंजी का सचय किया करता था, मुद्रास्फीति के कारण बरबाद हो गया है; (vii) राष्ट्रीयकरण के भय के फलस्वरूप पूंजीपति उद्योगों में पूंजी लगाने में संकोच करते हैं, (viii) देश की औद्योगिक योजनाएं प्रायः इतनी अस्पष्ट एव अपूर्ण हैं कि ये विनियोजक का विश्वास प्राप्त करने में असमर्थ रहती हैं।

औद्योगिक वित्त को सुधारने के सुझाव : सन् 1953 ई० में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने श्री ए० डी० श्रोफ की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया

था। इस समिति ने औद्योगिक वित्त को सुधारने के लिए जो सुझाव दिये थे, वे महत्वपूर्ण हैं—(i) निजी पूंजीपतियों को उद्योगों में पूंजी लगाने के लिए प्रेरित करने हेतु सरकार को उद्योगों का राष्ट्रीयकरण न करने का आश्वासन देना चाहिए; (ii) रिजर्व बैंक को चाहिए कि वह व्यापारिक बैंकों के लिए स्थानान्तरण की सुविधाओं का विस्तार करे, ताकि ये बैंकें उद्योगों को वित्त प्रदान कर सकें, (iii) व्यापारिक बैंकों को अपने संघ बनाने चाहिए और औद्योगिक संस्थानों के हिस्से व ऋण पत्र पर्याप्त संख्या में खरीदने चाहिए, (iv) रिजर्व बैंक को बिल बाजार की सुविधाएं कुछ उदार कर देनी चाहिए ताकि व्यापारिक बैंकों को अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध हो सकें, (v) देश में शाखा बैंकिंग का प्रसार किया जाना चाहिए तथा चलते फिरते बैंक खोले जाने चाहिए, ताकि नागरिकों की बचतों को एकत्र किया जा सके, (vi) जमाकर्ताओं को जोखिम से बचाने के लिए जमा बीमा मण्डल (Deposit Insurance Scheme) की स्थापना की जानी चाहिए, (vii) व्यापारिक बैंकों के माध्यम से रिजर्व बैंक द्वारा बिलों व हुण्डियों की पुनर्कटौती की सुविधाएं बढाई जानी चाहिए, (viii) देश में विनियोग ट्रस्टों (Investment Trusts) की स्थापना की जानी चाहिए, (ix) राष्ट्रीय विकास निगम तथा औद्योगिक साख व विनियोग निगम की स्थापना की जानी चाहिए, तथा (x) लघुस्तरीय उद्योगों की वित्तीय सहायता की अलग से व्यवस्था होनी चाहिए।

उपर्युक्त सुझावों में से कई सुझावों को मान कर उन पर कार्य किया जा चुका है, शेष सुझावों पर शीघ्र ही अमल किए जाने की आशा है। उक्त सुझावों के अतिरिक्त निम्नलिखित सुझाव भी महत्वपूर्ण हैं (i) भारतवर्ष में पूंजी-बाजार को सक्रिय बनाया जाय, (ii) वित्त सम्बन्धी वर्तमान संस्थाओं व निगमों के साधन बढाये जायें, (iii) जीवन बीमा कोषों व भविष्य निधि कोषों की अधिकाधिक धन-राशि उद्योगों को प्राप्त होनी चाहिए, (iv) अभिगोपन के कार्य को बढाना चाहिए, (v) राज्य वित्त निगमों को परस्पर समन्वय स्थापित करना चाहिए, ताकि कोषों का पूर्णतया सदुपयोग हो सके। ऐसा न हो कि कहीं ज्यादा कोष रह जाय और कहीं आवश्यकतानुसार कोष भी न रहे, (vi) वित्तीय संस्थाओं को वित्त देने में विलम्ब नहीं करना चाहिए, (vii) उद्यमकर्त्ताओं को उत्तम योजनाएं रखनी चाहिए तथा ईमानदारी से कार्य करना चाहिए, (viii) औद्योगिक बैंकों की स्थापना की जानी चाहिए, (ix) देश में मूल्यों में स्थिरता लाने का प्रयास किया जाना चाहिए ताकि बचत को प्रोत्साहन मिल सके, (x) गांवों में बैंकिंग सुविधाएं बढाई जानी चाहिए, ताकि गांवों की बचत को एकत्र करके औद्योगिक विकास की ओर उन्मुख किया जा सके; तथा (xi) देश में निसचय (hoarding) की प्रवृत्ति को रोकना चाहिए और लोगों को उत्पादन कार्यों में धन लगाने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश मे औद्योगिक वित्त की समस्या को समझा गया है और इसके लिए समय समय पर कई कदम उठाये गये हैं। यदि हमे देश का औद्योगिक उत्थान करना है, तो इस दिशा मे अभी और भी बहुत कुछ करना होगा। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् बैंको, वित्तीय सस्थाओ और आम जनता के दृष्टिकोण मे परिवर्तन हुआ है। औद्योगिक बैंक की स्थापना तथा वित्तीय निगमो के प्रादुर्भाव के कारण आज उद्योगो को वित्त प्राप्त करने मे किसी विशेष कठिनाई का सामना नही करना पड रहा है। सरकार ने इस दिशा मे उत्साहवर्द्धक नीति अपनाई है। आशा है कि निकट भविष्य मे हमारे देश मे औद्योगिक वित्त सम्बन्धी व्यवस्था और भी सुदृढ हो जायगी।

प्रश्न

1 उन विभिन्न स्रोतो—आन्तरिक और बाह्य—का वर्णन कीजिए, जिनके द्वारा बड पैमाने के उद्योग अपने वित्त की व्यवस्था करते हैं। उन कतिपय सस्थाओ का वर्णन कीजिए जो भारतीय उद्योगो को वित्त प्रदान करती है।

(राज० प्र० व०, टी० डी० सी० कला, 1966)

2 औद्योगिक वित्त की समस्याओ को समझाइए। इस देश मे औद्योगिक वित्त की समस्या के हल के लिये सरकार द्वारा किये गये कार्यों का उल्लेख कीजिए।

(राज० टी० डी० सी० अन्तिम वर्ष, 1964)

3. भारतवर्ष मे औद्योगिक वित्त समस्या पर अपने विचार प्रकट कीजिए और समस्या के निराकरण मे विभिन्न निगमो का योगदान निश्चित कीजिए।

(राज० बी० ए०, 1960)

4 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—'औद्योगिक वित्त निगम'।

(राज० बी० ए०,1963)

20

औद्योगिक नीति

(Industrial Policy)

"The 1956 Industrial Policy Resolution charts a fresh course permitting a freedom of development in the private sector, but with checks and balances to prevent a detrimental concentration of economic power and wealth The Resolution has been described by some observers as an economic constitution based upon its political counterpart—the Constitution of India **S C Kuchhal**

प्रत्येक देश की सरकार को देश की अर्थ व्यवस्था तथा उसके उस समाज को जिसका कि वह भाग है, उनके साधनों को आधुनिक प्रयोगों में निर्देशित करने तथा देश में औद्योगीकरण की स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना के लिए एक राष्ट्रीय नीति का निर्माण करना चाहिए। राष्ट्रीय औद्योगिक नीति के अभाव में न तो देश का कृषि क्षेत्र ही विकसित हो सकता है और न ही देश में एक ऐसा औद्योगिक ढाचा तैयार हो सकता है, जो उसे स्वावलम्बी एवं समृद्धिशाली बनाने में सहायक हो सके। यही मूल कारण है जिसके परिणामस्वरूप सरकार को अपनी औद्योगिक नीति स्पष्ट करनी पड़ती है। उस नीति में ही एक ऐसी आर्थिक प्रणाली एवं व्यवस्था को स्पष्ट कर दिया है जो—

(1) समाज के मूल एवं प्रयोगिक विज्ञान के प्रति दृष्टिकोण में प्रभावकारी परिवर्तन पर जोर देती है, ताकि नयी विधियों का प्रयोग करके उत्पादन में तेजी से वृद्धि की जा सके, (2) कृषि एवं उद्योगों के सतुलित विकास पर बल देकर एक सतुलन शक्ति का कार्य करती है, (3) आधारभूत उद्योगों की स्थापना, जनोपयोगी सेवाओं के निर्माण की व्यवस्था तथा आधारभूत उद्योगों और उपभोग उद्योगों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं उनके स्थान के सम्बन्ध में सरकार की भावी नीति परिभाषित करती है, (4) कार्य की दशाएं सुधारने की दृष्टि से पूंजी तथा श्रम के मध्य पारस्परिक उपयुक्त सम्बन्ध स्थापित करती है, (5) औद्योगिक विकास में कुछ क्षेत्रों में निजी क्षेत्र द्वारा जोखिम उठाने की सम्भावना कम होने के कारण निजी (Private) क्षेत्र तथा राजकीय या सार्वजनिक (State or Public) क्षेत्र के उत्तरदायित्व

निर्धारित कर देती है, (6) देश में पूर्ण रोजगारी की स्थिति लाने तथा देश का सन्तुलित आर्थिक विकास करने के लिए बड़े उद्योगों तथा कुटीर एवं लघु उद्योगों के मध्य समन्वय स्थापित करती है, (7) व्यावसायिक सगठन एवं विधियों को इस प्रकार नियमित एवं नियन्त्रित करती है, जिससे कि उत्पादकों द्वारा उपभोक्ताओं का शोषण न किया जा सके, तथा (8) देश के आर्थिक, विशेषकर, औद्योगिक विकास के प्रारम्भिक चरण में विदेशी पूंजी, विदेशी सहायता तथा विदेशी प्राविधिक ज्ञान का समुचित प्रयोग के सम्बन्ध में स्पष्ट नीति निर्धारित करती है।

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व विदेशी सरकार की औद्योगिक नीति (Industrial Policy of Foreign Government in India before Independence)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारत की औद्योगिक नीति विदेशी सरकार की नीति थी। लगभग दो शताब्दियों तक ब्रिटिश शासकों ने भारत के प्राकृतिक साधनों का विदोहन केवल अपने देश-इंगलैंड के हित में ही किया था। उन्होंने न केवल आधुनिक उद्योगों के विशेषकर आधारभूत उद्योगों, के प्रति उपेक्षापूर्ण एवं विद्वेषपूर्ण नीति अपनायी थी, तथा उनकी नीति अपने देश की औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने के लिए भारत के परम्परागत लघु एवं कुटीर उद्योगों को क्रमशः नष्ट करने की ही रही थी। इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप आधुनिक उद्योगों के विकास के पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में भारतीय कुटीर उद्योगों को जीवित रखा गया था, क्योंकि इन उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुएं कम्पनी अधिकारियों की आय का साधन थीं। इन वस्तुओं का निर्यात होता था, जिससे न केवल भारतीय दस्तकार एवं कारीगर उस समय की राजनैतिक अव्यवस्था में अपने उद्योग को जीवित बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील थे, बल्कि विदेशी प्रशासक जो मुख्यतः व्यापारी थे, इन उद्योगों से अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए उन्हें उचित व अनुचित संरक्षण प्रदान करते थे। परन्तु इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति ने कम्पनी के संचालकों को राष्ट्रीय हित में इस नीति को बदलने के लिए बाध्य किया। उन्हें अपने देश के उद्योग धन्धों के विकास के निमित्त भारत से कच्चे माल के निर्यात तथा भारत में इंगलैंड में निर्मित माल के आयात पर विशेष ध्यान केन्द्रित करना पड़ा। फलस्वरूप भारत के विश्वविख्यात कुटीर उद्योग नष्ट हो गये और भारत इंगलैंड में उत्पादित वस्तुओं का एक बाजार मात्र तथा उसके उद्योगों के लिए कच्चे माल का उत्पादन करने वाला एक उपनिवेश मात्र रह गया। ब्रिटिश सरकार की राज्य सत्ता स्थापित होने के बाद भी मुक्त व्यापार नीति का ही पालन किया गया। टियर्ने (Tierney) के अनुसार ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति का यह सामान्य सिद्धान्त था कि "इंगलैंड का बना माल भारत में बेचा जाय, जिसके बदले में भारतीय वस्तु ली जाय"।

ब्रिटिश सरकार की उपर्युक्त नीति से यह स्पष्ट सकेत मिलता है कि विदेशी सरकार उस समय भारत के औद्योगिक विकास की ओर किसी भी रूप मे ध्यान देने के लिए तैयार नही थी। उसकी नीति विद्वेष-पूर्ण थी, क्योकि ब्रिटिश उद्योगो की प्रतिस्पर्द्धा मे भारत मे उद्योगो का विकास करने पर उसका औपनिवेशिक बाजार समाप्त हो जाता, उसके उद्योगो के लिए कच्चे माल की पूर्ति रुक जाती तथा यहा औद्योगिक विकास का क्रम टूट जाता। आधुनिक विचारको का इस सम्बन्ध मे यह मत है कि यदि उस समय की वैज्ञानिक खोजो तथा आधुनिक उद्योगो को विकसित करने के प्रयास भारत मे भी किए जाते तो आज यह देश अविकसित राष्ट्रो के साथ वर्गीकृत न होकर विकसित राष्ट्रो के साथ वर्गीकृत होता।

19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे न केवल इगलैंड, औद्योगिक देशो मे अग्रणी था, बल्कि वह विश्व का 'कारखाना' कहा जाने लगा था। उस समय भी ब्रिटिश सरकार ने भारत के औद्योगिक विकास की ओर कोई ध्यान नही दिया। उसकी इस उपेक्षापूर्ण नीति के बावजूद भी कुछ विदेशी एजन्सी गृहो तथा प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ ने कलकत्ता मे जूट उद्योग तथा भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ ने बम्बई मे वस्त्र उद्योग की स्थापना की। इन उद्योगो के स्थापित होने पर इस देश मे आधुनिक उद्योगो का समारम्भ हुआ। इन नये उद्योगो तथा रेल यातायात के विकास ने 19वी शताब्दी के अन्त तथा 20वी शताब्दी के प्रारम्भ मे अन्य पूजीपतियो का ध्यान नये उद्योग धन्धो को स्थापित करने की ओर आकर्षित किया तथा उन्हे आधारभूत उद्योगो को छोड कर अन्य उद्योगो को स्थापित करने की प्रेरणा प्रदान की, परन्तु सरकार की रुचि इस तरफ भी न होने के कारण प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक देश मे युद्ध-काल की विषम परिस्थितियो का सामना करने के लिए यहा का औद्योगिक ढाचा निरर्थक था। उस समय तक देश मे जूट, सूती वस्त्र, कागज, कोयला तथा अन्य उपभोक्ता उद्योग ही स्थापित हो सके थे। उन आधारभूत उद्योगो का यहा सर्वथा अभाव था, जो युद्धीय सामग्रियो की पूर्ति कर सकते थे।

प्रथम युद्ध काल प्रथम विश्वयुद्ध के समय विदेशी सरकार ने इस तथ्य को अनुभव किया कि भारत के औद्योगिक विकास के प्रति उसकी उपेक्षापूर्ण नीति उचित नही रही है। इस बात को महसूस करने के बाद महायुद्ध के समय उसकी पूर्व नीति मे कुछ परिवर्तन हुआ। युद्ध की आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए उत्पादन बढाने का प्रयत्न किया गया। सन् 1916 मे औद्योगिक सम्भावनाओ की जाच करने के लिए औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) की नियुक्ति की गयी। युद्ध सामग्रियो की पूर्ति करने के लिए सन् 1917 मे इण्डियन म्युनिशन बोर्ड की भी स्थापना की गयी। इस आयोग ने सन् 1918 मे प्रस्तुत की गयी अपनी रिपोर्ट में

उद्योगों के विकास पर विशेष जोर दिया तथा इस सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये। परन्तु उस समय तक विश्व युद्ध समाप्त हो चुका था। अतः तत्कालीन सरकार ने उन सुझावों के अनुसार देश के औद्योगिक विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

संरक्षण एवं प्रगति—

प्रथम विश्व युद्ध के बाद देश के औद्योगीकरण के प्रश्न पर विशेष ध्यान देने के कारण औद्योगिक ढांचे में कोई परिवर्तन न हुआ। इस दिशा में केवल यह परिवर्तन हुआ कि सन् 1919 में उद्योग को प्रान्तीय विषय बना दिया गया। विश्व में शान्ति स्थापित हो जाने के बाद भारत को भी विश्वव्यापी मन्दी का शिकार होना पड़ा। इसके अतिरिक्त विदेशी प्रतियोगिता के कारण यहां के उद्योगों की दशा सोचनीय हो गयी। उसी समय देश में स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाने लगा। सर्वत्र भारतीय उद्योगों को उचित संरक्षण प्रदान करने के सम्बन्ध में मांग की जाने लगी। सन् 1921 में सर अब्राहिम रहीमुतल्ला की अध्यक्षता में नियुक्त प्रशुल्क आयोग की सिफारिश पर सन् 1923 से विवेचनात्मक संरक्षण की नीति अपनाई गयी। जिसके अनुसार पूर्व-निश्चित सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए कुछ चुने हुए उद्योगों, जैसे चीनी, कागज, इस्पात, सूती वस्त्र आदि को संरक्षण प्रदान करने की नीति को कार्यान्वित किया गया। परन्तु संरक्षण की यह नीति अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुयी। चीनी, लोहे व इस्पात तथा सूती वस्त्र उद्योगों को इस संरक्षण की नीति से केवल यही लाभ हुआ कि वे अपने अस्तित्व को बनाये रख सके। वास्तव में भारतीय उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए सरकार ने जिन सिद्धान्तों को निर्धारित किया था, वे इतने कठोर थे कि प्रत्येक उद्योग के लिए उनको पूरा करना कठिन था। यही कारण है कि भारतीय उद्योग इस संरक्षण नीति का पूरा लाभ न उठा सके। श्री पी० एस० लोकनाथन के शब्दों में संरक्षण की यह नीति, 'अवरोधक तथा अपर्याप्त थी और प्रगति के सम्बन्ध में समय समय पर की गयी जांच पड़ताल क्षोभ उत्पन्न करने वाली बाधा थी।'[1]

द्वितीय विश्व-युद्ध काल— द्वितीय विश्व युद्ध काल के पूर्व देश में आधारभूत उद्योगों का सर्वथा अभाव था। श्री आर० पी० दत्त के अनुसार तत्कालीन सरकार की नीति अनौद्योगीकरण की थी। उसने उस समय औद्योगीकरण के सम्बन्ध में जो भी नीति घोषित की थी, वह छलावा मात्र थी। इस भ्रामक नीति को समाप्त करने तथा देश का औद्योगिक विकास करने के लिए सन् 1931 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने

1 This policy of protection "Was halting and meagre and the periodical inquest on progress was an irritating nuisance." P S Lokanathan

आधारभूत उद्योगों तथा यातायात के राष्ट्रीयकरण पर जोर दिया था। सन् 1935 में कुछ प्रान्तों में लोकप्रिय कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों का गठन हुआ। अक्टूबर 1938 में हुए इन मन्त्रिमण्डलों के उद्योग मन्त्रियों के सम्मेलन में देश में औद्योगिक विकास के लिए नेहरूजी की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय योजना कमेटी का गठन किया गया। इस कमेटी को सम्पूर्ण देश के लिए एक औद्योगिक योजना तैयार करने का भार सौंपा गया।

सन् 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध के छिड़ने पर प्रान्तीय कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों को इस्तीफा देना पड़ा। तत्पश्चात् देश के औद्योगिक उत्पादन का सचालन एवं नियमन भारत के सुरक्षा नियमों के अन्तर्गत किया जाने लगा। उस समय स्थिति यह थी कि आलपिनों, पेचों तथा कीलों से लेकर भारी मशीनों तक का आयात विदेशों से किया जाता था। द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ होने पर इन सामग्रियों तथा आवश्यक रासायनिक पदार्थों तथा कल-पुर्जों का आयात बन्द हो जाने से चमड़ा तथा साबुन जैसे उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति न की जा सकी। उस समय पुनः औद्योगिक विकास, विशेषकर आधारभूत उद्योगों की कमी महसूस की गई। तत्कालीन सरकार के लिए औद्योगिक ढांचे में जो न्यूनताएं थीं, उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करना आवश्यक हो गया। सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए अनेक छोटे-मोटे कारखाने स्थापित किए गए। साथ ही विद्यमान भारतीय उद्योगों को अपना उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रेरणायें प्रदान की गयीं। इस काल में कुछ नये उद्योग, जैसे भारी रासायनिक उद्योग, जहाज-निर्माण, अल्युमिनियम, बिजली के सामान, साइकिल आदि के उद्योग, स्थापित किए गए तथा मशीनों के कल-पुर्जों और यहां तक कि मशीनों के निर्माण सम्बन्धी उद्योगों के विकास के लिए आधार भी तैयार किया गया। परन्तु इस काल में—जो भी औद्योगिक प्रसार एवं विकास हुआ, वह अव्यवस्थित एवं एकांगी था। वास्तव में औद्योगीकरण की सीमा देश की औद्योगिक सम्भाव्यताओं के अनुरूप नहीं थी। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की एक रिपोर्ट (1946) के अनुसार, "यह विस्तार एक लम्बे अर्से तक विचार करने के बाद अथवा उचित ढंग से समन्वित योजना के अनुसार नहीं, बल्कि युद्धीय स्थिति की आवश्यक मांग की पूर्ति करने के लिए ही हुआ था।"

"""यह (विकास एवं विस्तार) स्वभावतः अव्यवस्थित था।"[1] सन् 1945 में ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट ने उस समय की सरकारी नीति की समीक्षा करते हुए लिखा

1. The expansion took place, not in accordance with a long considered or well co-ordinated plan, but in response to the imperative demand of the military situation"""""it was necessarily haphazard."

था, हम लोग फिर भी कुछ नहीं बना सकते थे। हम लोग केवल किसी भी वस्तु तथा प्रत्येक वस्तु की पूर्ति करने वाले थे, इस पृथ्वी पर की सभी वस्तुओं को सुधारने तथा उनकी मरम्मत करने वाले, परन्तु किसी भी वस्तु के निर्माता नहीं थे। हम लोगों की कोई पद्धति, कोई योजना नहीं थी। (इसके विपरीत) एक योजना आवश्यक थी, युद्धोत्तर काल के औद्योगीकरण को रोकना।"

परन्तु उस समय देश में नियोजन के प्रति उत्साह होने के कारण राष्ट्रीय चेतना एवं आन्दोलन को शान्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार को भारत की औद्योगिक नीति के निर्धारण की दशा में कुछ आश्वासन देना आवश्यक हो गया। युद्धकाल में ही सन् 1944 में सर आर्देशर दलाल केन्द्रीय सरकार में नियोजन तथा पुनर्निर्माण (Planning and Reconstruction) विभाग के सदस्य नियुक्त किये गये। इस विभाग ने 22 अप्रैल, 1945 को औद्योगिक नीति की घोषणा की। सन् 1945 की नीति द्वारा प्रथम बार स्पष्ट शब्दों में उद्योगों के प्रति सरकारी दृष्टिकोण स्पष्ट किया गया। यह नीति बहुत ही उपयोगी थी, परन्तु राजनीतिक परिवर्तनों के कारण इसे कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

अक्टूबर 1947 में श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में 'नियोजन सलाहकार मण्डल' (Advisory Planning Board) की नियुक्ति की गई। इस सम्बन्ध में उसने रिपोर्ट फरवरी 1947 में प्रस्तुत की। बोर्ड ने भावी नियोजन व प्रशासन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिए, जिनमें एक 'योजना आयोग', एक सलाहकार समिति (Consultative Body), एक 'केन्द्रीय सांख्यिकी कार्यालय तथा एक स्थायी 'प्रशुल्क मण्डल' का संगठन करना प्रमुख था। जहाँ तक राज्य द्वारा उद्योगों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध ग्रहण करने का सम्बन्ध है, इस बोर्ड ने यह सुझाव दिया कि तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ऐसा करना वांछनीय नहीं होगा। परन्तु कुछ आधारभूत उद्योगों को राज्य के स्वामित्व एवं प्रबन्ध के अन्तर्गत लाना चाहिए।

युद्धोपरान्त भी ब्रिटिश सरकार ने देश के सन्तुलित औद्योगिक विकास तथा महायुद्ध-काल में अत्यधिक उत्पादन के कारण जो मशीनें घिस गयी थीं, उनके नवीनीकरण तथा प्रतिस्थापन की ओर ध्यान नहीं दिया। इसके साथ ही उस समय यह भी अनुभव किया गया कि प्रथम महायुद्ध के बाद से द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक ब्रिटिश सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति का ही यह परिणाम था कि न तो भारत विद्यमान उद्योगों के लिए कल व पुर्जों के निर्माण व पूर्ति के लिए समर्थ हो सका था और न ही वह कच्चे माल तथा शक्ति के साधनों की कमी की पूर्ति करने में समर्थ था। यही कारण है कि युद्ध के पश्चात भारतीय उद्योगों का उत्पादन गिरने लगा।

इन कारणों के अतिरिक्त युद्ध के पश्चात् के तीन वर्षों की अवधि संक्रमण की अवधि थी, जिसमें ब्रिटिश राज्य-सत्ता भारतीयों के हाथों में हस्तान्तरित किये जाने तथा देश के विभाजन के सम्बन्ध में आवश्यक वार्तालाप एवं क्रियाएं की जा रही थी। इन परिस्थितियों में विदेशी सरकार ने देश के औद्योगिक ढांचे को सुधारने की तरफ कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार की औद्योगिक नीति—15 अगस्त सन् 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ। जनता में नये विश्वास तथा नई आशा की लहर आयी। परन्तु देश के विभाजन के कारण आर्थिक परिस्थितियां अनुकूल नहीं थी। सम्पूर्ण औद्योगिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई और राष्ट्रीय सरकार द्वारा एक स्पष्ट औद्योगिक नीति घोषित न किये जाने के कारण औद्योगिक क्षेत्र में अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो गया। राष्ट्रीयकरण के भय से औद्योगिक विकास एवं प्रसार तथा मशीनों के आधुनीकरण एवं नवीनीकरण की प्रक्रियायें रुक गयीं, जिनके फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन कम हो गया, मूल्य स्तर में वृद्धि हुई तथा अशान्ति को दूर करने के लिए दिसम्बर 1947 में एक औद्योगिक सम्मेलन आयोजित किया गया। उस समय की आर्थिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए सम्मेलन के अध्यक्ष तत्कालीन उद्योग मन्त्री डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा, 'आर्थिक परिस्थिति यत युद्ध के समय से गम्भीर है। सही अर्थों में अब हम औद्योगिक संकट की स्थिति से गुजर रहे हैं।'[1] इस सम्मेलन ने उचित औद्योगिक नीति के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया तथा सरकार के समक्ष निम्नांकित सिफारिशें प्रस्तुत कीं —

(i) देश की सम्पत्ति एवं उत्पादन का उचित वितरण—जिससे भारतीय जनता को सामाजिक न्याय पर आधारित सुविधाएं मिलें तथा जीवन-स्तर में तेजी से सुधार हो।

(ii) देश के साधनों का समुचित उपयोग करने की आवश्यकता—जिससे वर्ग विशेष के हाथों में ही सम्पत्ति का केन्द्रीकरण न हो।

(iii) केन्द्रीय नियोजन, सामंजस्य तथा नियोजन की आवश्यकता—जिससे अधिकतम कार्यक्षमता, उत्पादन और देश के विभिन्न भागों में उद्योगों का समुचित वितरण हो सके। साथ ही साथ मजदूरी व लाभ निश्चित करने का न्यायसंगत तरीका अपनाया जाए।

(iv) उद्योगों का तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजन किया जाए,

सन् 1948 का औद्योगिक नीति प्रस्ताव (Industrial Policy Resolution of 1948)

1. Proceedings of the Industrial Conference December, 1947.

उपर्युक्त सुझावों को ध्यान में रखते हुए 6 अप्रैल, 1948 को केन्द्रीय उद्योग मन्त्री डॉ॰ श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने भारत सरकार की औद्योगिक नीति की घोषणा की। जिसकी प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं

(1) औद्योगिक नीति के उद्देश्य—सन 1948 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में यह कहा गया कि—

(i) औद्योगिक नीति का उद्देश्य एक समाज की स्थापना करना है, जिसमें सभी नागरिकों को समान अवसर एवं न्याय प्राप्त हो सके।

(ii) देश की वर्तमान अवस्था में जबकि अधिकांश जनता जीवन निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करती है, उत्पादन वृद्धि पर जोर देना चाहिए।

(iii) वर्तमान धन के पुनर्वितरण मात्र से जन-साधारण के लिए कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ेगा। इसका अर्थ केवल निर्धनता का पुनर्वितरण होगा।

(2) उद्योगों का चार श्रेणियों में विभाजन प्रस्ताव में यह कहा गया था कि उद्योगों के विकास में सरकार की सक्रियता धीरे-धीरे बढ़नी चाहिए। परन्तु उपलब्ध साधनों को ध्यान में रखते हुए सरकार इच्छित सीमा तक उद्योगों के विकास में भाग नहीं ले सकती। अतः सरकार ने उद्योगों को चार निम्न श्रेणियों में विभाजित किया।

(अ) सरकार का एकाधिकार इस श्रेणी के अन्तर्गत तीन उद्योग रखे गए—अस्त्र शस्त्र का निर्माण, अणु शक्ति का उत्पादन एवं नियन्त्रण तथा रेल्वे परिवहन। इन उद्योगों पर सरकार का एकाधिकार रखा गया।

(ब) उद्योग जिनके विकास का दायित्व भविष्य में केवल सरकार का होगा इस श्रेणी के अन्तर्गत छह आधारभूत उद्योग रखे गए—कोयला, लोहा व इस्पात, हवाई जहाज निर्माण, समुद्री जहाज निर्माण, टेलीफोन, तार तथा बेतार के तार के सामान का निर्माण (रेडियो रिसीविंग सेटों के अतिरिक्त) और खनिज तेल उद्योग। इन उद्योगों के सम्बन्ध में तीन बातें कही गई थीं —

(i) इस श्रेणी के उद्योगों में नई इकाइयों की स्थापना केवल केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों तथा अन्य लोक निकायों (Public Authorities) द्वारा की जा सकती है। परन्तु यदि राष्ट्र हित में आवश्यक समझा गया तो निजी क्षेत्र से भी सहायता ली जा सकती है।

(ii) इन उद्योगों में सम्मिलित वर्तमान इकाइयों को 10 वर्ष तक विकसित होने का पूर्ण अवसर दिया जायेगा। दस वर्षों के पश्चात ही इन उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विचार किया जायेगा। यदि किसी इकाई का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया गया तो इसके लिए उचित मुआवजा दिया जायेगा।

(iii) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की प्रबन्ध व्यवस्था सार्वजनिक निगमों (Public Corporations) द्वारा की जायेगी।

(ख) सरकारी नियन्त्रण तथा नियमन के अन्तर्गत उद्योग : इस श्रेणी में वे मूल उद्योग रखे गए जिन पर सरकार का नियन्त्रण रखना राष्ट्रीय हित में है। इस श्रेणी के उद्योगों के लिए अधिक विनियोजन तथा प्राविधिक ज्ञान की आवश्यकता होती है तथा उनकी स्थिति का राष्ट्रीय महत्व होता है। अतः ऐसे उद्योगों पर सरकार का नियन्त्रण होना आवश्यक है। इस श्रेणी के उद्योग निजी क्षेत्र में रहेंगे तथा उनका नियंत्रण एवं नियमन सरकार द्वारा किया जाएगा। इन उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का कोई भय नहीं है। परन्तु इन उद्योगों में भी सरकार नयी इकाइयां (Units) स्थापित कर सकती है। इस श्रेणी में कुल 18 उद्योग रखे गए, जिनमें से मुख्य ये हैं,नमक, मोटर, ट्रैक्टर, इलेक्ट्रिकल इ जीनियरिंग, भारी रसायन, औषधि, खाद, रसायन, पावर अल्कोहल, रबड़, सीमेंट, चीनी, कागज, सूती वस्त्र उद्योग, हवाई, परिवहन, जल परिवहन, आदि।

(ग) अन्य उद्योग : शेष सभी उद्योग साधारणतया निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिए जायेंगे। उद्योगों पर सरकार का सामान्य नियन्त्रण रहेगा। परन्तु यदि निजी उद्योग की प्रगति सन्तोषजनक नहीं हो तो सरकार हस्तक्षेप करने में नहीं हिचकेगी।

(3) कुटीर तथा लघु उद्योग : औद्योगिक नीति में कुटीर तथा लघु उद्योगों के महत्व पर प्रकाश डाला गया। सरकार इन उद्योगों के विकास के लिए प्रयत्न करेगी। ऐसे उद्योग स्थानीय साधनों के पूर्ण उपयोग तथा कुछ उपभोग की वस्तुओं के सम्बन्ध में स्थानीय आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए बहुत ही उपयोगी हैं। इन उद्योगों का विकास राज्य सरकारों का दायित्व है। परन्तु केन्द्रीय सरकार इस बात का पता लगाएगी कि ये उद्योग किस प्रकार तथा कहां तक बड़े उद्योगों के साथ चलाए जा सकते हैं। सरकार इन सभी प्रकार के उद्योगों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करेगी। कुटीर तथा लघु उद्योगों के लिए सहकारिता पर जोर दिया गया।

(4) तट-कर नीति : सरकार की तट कर नीति इस प्रकार की होगी जिससे अनावश्यक विदेशी प्रतिस्पर्द्धा को रोका जा सके तथा उपभोक्ताओं पर अनावश्यक भार डाले बिना देश के साधनों का उपयोग किया सके।

(5) कर नीति : पूंजीगत विनियोजन व बचत में वृद्धि करने के लिए तथा कुछ व्यक्तियों के हाथों में सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए कर प्रणाली में आवश्यक सुधार किया जाएगा।

(6) श्रम नीति औद्योगिक विकास के लिए उत्तम औद्योगिक सम्बन्ध आवश्यक है। सरकार श्रमिकों की स्थिति सुधारने का प्रयत्न करेगी। उद्योगों के लाभ में श्रमिकों को भी हिस्सा मिलेगा तथा उद्योगों के सचालन में श्रमिकों को भागीदार बनाने का प्रयत्न किया जाएगा। पूंजी पर भी उचित लाभ का ध्यान रखा जाएगा। श्रमिकों की गृह-समस्या के समाधान के लिए आगामी 10 वर्षों में 10 लाख बनाए जायेंगे। औद्योगिक झगड़ों के फैसले के लिए उचित मशीनरी की स्थापना की जाएगी।

(7) विदेशी पूंजी सरकार विदेशी पूंजी का स्वागत करेगी। इसके लिए सरकार निश्चित विधान पारित करेगी। नियमानुसार बहुमत-स्वामित्व नियंत्रण भारतीयों के हाथों में रहेगा। यदि राष्ट्रहित में आवश्यक समझा जाएगा, तो यह शर्त हटाई भी जा सकती है। परन्तु प्रत्येक अवस्था में इस बात पर ध्यान दिया जाएगा कि अन्त में धीरे-धीरे भारतीय विशेषज्ञ विदेशी विशेषज्ञों का स्थान ग्रहण कर लें। यदि विदेशी पूंजी का राष्ट्रीयकरण किया गया तो उचित मुआवजा दिया जाएगा। किन्तु धीरे-धीरे विदेशी पूंजी का प्रतिस्थापन भारतीय पूंजी द्वारा किया जाएगा।

(8) वितरण . वर्तमान समय में उत्पादन वृद्धि पर जोर दिया जाएगा और वितरण की समस्या पर भविष्य में विचार किया जाएगा।

(9) योजना आयोग विकास सम्बन्धी योजनाएँ बनाने तथा उनको कार्यान्वित करने के लिए एक 'राष्ट्रीय योजना आयोग' स्थापित किया जाएगा। इसी प्रकार कुटीर उद्योग धन्धों के विकास के लिए 'कुटीर आयोग बोर्ड' सगठित किया जाएगा।

सन् 1948 की नीति की आलोचनात्मक समीक्षा

सन् 1948 की नीति का कुछ क्षेत्रों में स्वागत किया गया तथा कुछ क्षेत्रों में इसकी कुछ आलोचना की गई। श्री मीनू मसानी के अनुसार इस नीति द्वारा 'प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद' की नींव डाली गई। प्रोफेसर रंगा के अनुसार यह नीति 'गांधीवाद समाजवाद' की विजय थी।" प्रो० के० टी० शाह के अनुसार, "यह वह नीति नहीं थी जिसे एक प्रगतिशील तथा उन्नति की आशा रखने वाले देश को अपनाना चाहिए।" कुछ लोगों ने इस नीति को पूंजीपतियों का विरोधी बताया।

(1) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था—भारत सरकार की औद्योगिक नीति मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy) की नींव डालने की दिशा में पहला कदम था। वस्तुतः कोई भी अर्थ-व्यवस्था परिवर्तन के समय मिश्रित अर्थ-व्यवस्था होती है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था को जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है, क्योंकि

सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना बड़ा ही दुष्कर कार्य होता है। दोनों क्षेत्रों में सीमित साधनों को प्राप्त करने के लिए स्पर्द्धा हो सकती है। ऐसी अर्थ-व्यवस्था को चलाने के लिए विभिन्न प्रकार के नियन्त्रणों की आवश्यकता पड़ती है, जिससे आर्थिक विकास का मार्ग कभी-कभी अवरुद्ध हो सकता है।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था में हम पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था से समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहे हैं। धीरे धीरे परिवर्तन लाना उचित है, परन्तु हमारा निश्चित लक्ष्य होना चाहिए। दूसरी ओर लक्ष्य में परिवर्तन किया जा सकता है परन्तु हमें अपने वचनों तथा आश्वासनों को भूलना नहीं चाहिए।

(2) **विश्वास का अभाव**—इस नीति के कारण उद्योगपतियों में विश्वास अभ्युदय नहीं हुआ। वे पूँजी विनियोग करने में डरने लगे। वस्तुत उस समय देश में अधिक विनियोजन की आवश्यकता थी परन्तु औद्योगिक नीति का विनियोजन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। सर आर्देशर दलाल के शब्दों में, "राष्ट्रीयकरण लाभांश की सीमा, लाभ में हिस्सा लिये जाने तथा 10 वर्षों के पश्चात् पूँजी के विघटन के भय से विनियोजक भयभीत हो गये।"

(3) **राष्ट्रीयकरण का भय**—इस नीति के कारण उद्योगपतियों में राष्ट्रीयकरण का भय समा गया। नेताओं द्वारा राष्ट्रीकरण के सम्बन्ध में कई प्रकार के परस्पर विरोधी विचार प्रगट किये गये। 10 वर्षों के पश्चात् भी राष्ट्रीकरण का भय बना रहा। वस्तुत 10 वर्षों में ही कोई औद्योगिक संस्थान लाभार्जन के योग्य हो पाता है। यदि उसी समय इसका राष्ट्रीयकरण कर लिया जाता तो कोई भी विनियोजक ऐसे संस्थान की स्थापना नहीं करेगा। स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीयकरण से भयभीत न होने की सलाह दी थी तथा राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में आश्वासन दिया था[1], परन्तु उद्योगपतियों का भय दूर नहीं हुआ, इससे देश की औद्योगिक उन्नति पर बाधा उपस्थित हुई।

(4) **उत्पादन अथवा वितरण**—औद्योगिक नीति में यह घोषणा की गयी कि उस समय देश की प्रमुख समस्या उत्पादन में वृद्धि करने की थी, वितरण की समस्या का समाधान उतना आवश्यक नहीं था। वस्तुत यह विचार भ्रामक है। उत्पादन तथा वितरण दोनों एक ही क्रिया के दो रूप हैं। उत्पादन के पश्चात् वितरण की समस्या तुरन्त आती है।

(5) **अस्पष्ट एवं असन्तोषजनक**—वस्तुत इस नीतिद्वारा किसी भी पक्ष को सन्तोष नहीं हुआ। राष्ट्रीकरण, लाभ में हिस्सा, प्रबन्ध में श्रमिकों द्वारा भाग लेना

1 "Government's resources were meant to increase production and not supply them to a transfer of ownership."

आदि आश्वासन देकर सरकार ने वामपक्षी होने का दावा किया। साथ ही साथ राष्ट्रीयकरण का क्षेत्र धीरे-धीरे सीमित कर, ऊँची आय पर करों में छूट देकर तथा करों की चोरी के सम्बन्ध में दुर्बलता दिखाकर शासकों ने पूंजीपतियों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। 'इस नीति ने न उद्योगपतियों, न विनियोजकों न औद्योगिक श्रमिक और न जनसाधारण को सन्तुष्ट किया। उत्पादन में किसी भी प्रकार की महत्वपूर्ण वृद्धि के लिए जिस सक्रिय उत्साह तथा प्रगतिशीलता की आवश्यकता थी उसे लाने में यह नीति असफल रही।"[5]

आलोचनाएं असंगत—यद्यपि उपर्युक्त आलोचनाएं न्यायसंगत तथा उचित प्रतीत होती हैं, फिर भी देश की तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इससे अच्छी औद्योगिक नीति की घोषणा नहीं की जा सकती थी। आर्थिक नीति का निर्माण आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार किया जाता है। उस समय देश में उत्पादन वृद्धि की आवश्यकता थी। अतः सरकार ने वितरण पक्ष पर ध्यान न देकर उत्पादन पर ध्यान दिया। इसी प्रकार राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में भी नीति स्पष्ट थी। 10 वर्षों के पश्चात् राष्ट्रीयकरण केवल उन्हीं उद्योगों का किया जाना था, जिनकी प्रगति सन्तोषजनक न होती। अतः उत्पादन एवं औद्योगिक प्रगति की दृष्टि से यह व्यवस्था सर्वथा उपयुक्त थी। उत्पादन वृद्धि के लिए कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास पर ध्यान दिया गया। श्रमिकों को प्रोत्साहन दिया गया और उन्हें शोषण से बचाने तथा उत्पादन में उचित हिस्सा दिलाने की जो घोषणा की गयी वह सामाजिक न्याय की पुष्टि से भी पूर्णतया उचित थी।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था की कटु आलोचना की गयी है, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त को अपनाने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं था। मूलभूत उद्योगों के विकास के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है तथा आरम्भ में लाभ भी प्राप्त नहीं होता। निजी पूंजीपति उपभोक्ता उद्योगों में ही विनियोजन करते थे। अतः सरकार को आधारभूत उद्योगों के विकास का दायित्व अपने ऊपर लेना अत्यावश्यक था। इसी प्रकार सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों को भी निजी उद्योगपतियों पर नहीं छोड़ा जा सकता था। सभी उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में रखना न तो उचित था और न व्यावहारिक। अतः मिश्रित अर्थ-

---

5 The policy satisfied neither the captains of industry, nor the investors nor the industrial workers nor the general public . . . (It) failed to provide the dynamism and Positive stimulus which was required for any significant increase in production."

Dr V K R.V. Rao

व्यवस्था की नीति पूर्णरूपेण उपयुक्त थी। इस प्रकार सन् 1948 की औद्योगिक नीति को सर्वथा उपयुक्त कहा जा सकता है।

उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम 1951,

औद्योगिक नीति को कार्यान्वित करने और उद्योगों के नियमन तथा विकास के लिए अक्टूबर 1951 में भारतीय संसद ने उद्योग (विकास एवं नियम) अधिनियम पारित किया जो 8 मई, 1952 को लागू किया गया। इस एक्ट में प्रथम अनुसूची में दिये गये उद्योगों के विकास तथा नियमन की व्यवस्था की गयी। प्रारम्भ में इस एक्ट के अन्तर्गत 37 उद्योग सम्मिलित किये गये, जो बढ़कर सन् 1953 में 45 हो गये। मार्च 1947 में इसमें 34 अतिरिक्त उद्योग जोड़ दिये गये। इस एक्ट का मुख्य उद्देश्य योजनाबद्ध विकास तथा उद्योगों का नियमन था। इस अधिनियम की मुख्य व्यवस्थाएँ निम्नलिखित थी :

(1) अनुसूचित उद्योगों की सभी वर्तमान इकाइयों का पंजीयन (Registration) निश्चित समय के अन्दर कराना अनिवार्य है।

(2) केन्द्रीय सरकार से लाइसेंस लिये बिना किसी भी नयी औद्योगिक इकाई की स्थापना नहीं की जा सकती और न वर्तमान इकाइयों का विस्तार किया जा सकता है।

(3) यदि किसी भी उद्योग का उत्पादन गिर जाय, उत्पादन व्यय में वृद्धि हो, उत्पादित वस्तु के गुणों (quality) में गिरावट आती हो या उपभोक्ताओं को हानि होने की सम्भावना हो अथवा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में अनुसूचित वृद्धि की गयी हो तो सरकार उस उद्योग की जाँच कर सकती है और जाँच के पश्चात् निम्नलिखित आदेश दिये जा सकते है :

(क) वह उद्योग उत्पादन में वृद्धि तथा विकास का प्रयत्न करें।

(ख) वह उद्योग कोई भी ऐसा कार्य न करे जिससे उत्पादन की मात्रा या गुण में गिरावट आये।

(ग) जिस उद्योग की जाँच की गयी हो उसके मूल्य तथा वितरण पर सरकार द्वारा नियन्त्रण लगाया जाय।

(4) ऐसी जाँच के पश्चात् उद्योग यदि दिये गये निर्देशों का पालन नहीं करता है तो सरकार ऐसे उद्योग की प्रबन्ध व्यवस्था अपने हाथ में ले सकती है। सन् 1953 के संशोधन के अनुसार सरकार बिना जाँच कराये भी उद्योग की प्रबन्ध व्यवस्था अपने हाथ में ले सकती है।

(5) अनुसूचित उद्योगों के विकास तथा नियमन के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् (Central Advisory Council) बनाने की व्यवस्था की गयी।

(6) नये उद्योगों तथा इकाइयों को लाइसेंस देने के लिए एक अनुज्ञादात्री समिति (Licensing Committee) गठित करने की व्यवस्था की गयी।

(7) अनुसूचित उद्योगों या सम्बन्धित उद्योगों की उन्नति तथा विकास के लिए पृथक पृथक 'विकास परिषदों' (Development Councils) की स्थापना का प्रावधान किया गया।

केन्द्रीय सलाहकार परिषद्—मई 1952 में इस परिषद् की स्थापना की गयी जिसमें उद्योग, श्रमिक, उपभोक्ताओं, प्रारम्भिक उत्पादकों तथा सरकार के प्रतिनिधि हैं। इस समिति में कुल 30 सदस्य हैं। यह परिषद् अनुसूचित उद्योगों के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देती है। सरकार इस एक्ट के अन्तर्गत नियम बनाते समय, उद्योगों को निर्देशन देते समय या उनकी प्रबन्ध व्यवस्था अपने हाथ में लेते समय भी परिषद् से सलाह लेती है।

विकास परिषदें—इन परिषदों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में सम्बन्ध स्थापित करना तथा इस बात पर ध्यान रखना है कि निजी क्षेत्र में उद्योग नियोजन के अनुसार कार्य करते हैं या नहीं। इन परिषदों में उद्योगपतियों, श्रमिकों, प्राविधिक विशेषज्ञ तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि होते हैं। परिषदों के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं —

(1) उत्पादन के लक्ष्य सम्बन्धी सुझाव देना, उत्पादन योजनाओं में समन्वय स्थापित करना तथा समय समय पर उद्योगों की उन्नति की समीक्षा करना।

(2) उत्पादन को अधिकतम करने, उत्पादन व्यय में कमी करने तथा वस्तुओं के गुण में सुधार करने के लिए सुझाव देना।

(3) कच्चा माल प्राप्त करने तथा नियन्त्रित कच्चे माल के वितरण में सहायता देना।

(4) प्राविधिक प्रशिक्षण को बढ़ावा देने तथा वैज्ञानिक व औद्योगिक शोध-कार्य को प्रोत्साहित करना।

(5) सरकार द्वारा सौंपे गये मामलों पर अपनी सलाह देना।

इन परिषदों को निजी साहस की धात्रियां (Nurses for private enterprise) कहा जाता है। देश के अनेक उद्योगों जैसे चीनी, ऊनी वस्त्र, कृत्रिम रेशमी वस्त्र, साइकिल, विद्युत आदि में विकास परिषदें सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं।

अनुज्ञादात्री समिति—इस समिति में योजना आयोग तथा सम्बन्धित मन्त्रालय के प्रतिनिधि हैं। समिति नई इकाइयों की स्थापना तथा पुरानी इकाइयों के विस्तार के लिए लाइसेंस देती है। लाइसेंस देते समय पंचवर्षीय योजनाओं के

उद्देश्यों तथा प्राथमिकताओं का ध्यान रखा जाता है। इस एक्ट के अन्तर्गत उन औद्योगिक संस्थानों के लिए लाइसेंस प्राप्त करना आवश्यक नहीं है जिनमें 100 से कम श्रमिक काम करते हों तथा जिनकी स्थायी सम्पत्ति 10 लाख रुपये से कम हो।

अधिनियम की समीक्षा—उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम एक महत्वपूर्ण अधिनियम है। इसके द्वारा निजी क्षेत्र पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है। भारत का औद्योगिक विकास इस बात का साक्षी है कि देश में सुनियोजित तथा समन्वित ढंग पर औद्योगिक विकास नहीं किया गया। उद्योगपतियों ने देश के हित का ध्यान नहीं रखा बल्कि केवल उन्हीं उद्योगों की स्थापना की, जिनसे उन्हें शीघ्र लाभ (quick return) प्राप्त हो सके। इसका परिणाम यह हुआ कि औद्योगीकरण की नींव मजबूत नहीं हुई, जिससे भावी औद्योगिक विकास में कठिनाइयाँ हुईं। उद्योगपतियों द्वारा मूलभूत उद्योगों (Basic Industries) का विकास न करना इस बात का प्रमाण है। अतः देश के हितों को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार के अधिनियम की आवश्यकता थी।

दूसरे, भारत एक विशाल देश है जिसके कुछ भाग आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं तथा कुछ भाग अधिक विकसित हैं। पूरे देश के औद्योगिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि क्षेत्रीय विकास (Regional Development) पर ध्यान दिया जाय। इस अधिनियम द्वारा इस कार्य में सहायता मिली है।

तीसरे इस अधिनियम के कारण उद्योगपति मनमानी नहीं कर सकते। नियन्त्रण तथा जाँच की व्यवस्था के कारण उद्योग दृढ़ आधार (sound footing) पर चलाये जायेंगे, जिससे उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा होगी तथा देश के प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग सम्भव होगा। इस अधिनियम द्वारा औद्योगिक विकास की अवांछनीय प्रवृत्तियों को रोका जा सकेगा।

सन् 1956 की नई औद्योगिक नीति

30 अप्रैल, 1956 को भारत सरकार ने नई औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव अपनाया। इस प्रस्ताव द्वारा सन् 1948 की औद्योगिक नीति को समाप्त कर दिया गया तथा उसके स्थान पर नई औद्योगिक नीति की घोषणा की गई। पिछले आठ वर्षों (1948–1956) में कुछ महत्वपूर्ण आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के कारण इसमें परिवर्तन करना आवश्यक हो गया था। ये कारण निम्नलिखित हैं

1) **भारतीय संविधान**—26 जनवरी, 1950 से गणतन्त्र भारत का नया संविधान लागू किया गया। इस संविधान द्वारा नागरिकों के लिए कुछ मौलिक अधिकारों की घोषणा की गई तथा सरकारी नीति विषयक निर्देशक सिद्धान्तों

(Directive Principles of Policy) का उल्लेख किया गया। इन निर्देशक सिद्धान्तों में इस सिद्धान्त का उल्लेख किया गया कि "भौतिक साधनों का स्वामित्व एवं नियन्त्रण अधिकतम सामुदायिक समानता लाने के लिए हो तथा अर्थ-व्यवस्था का संचालन जन-साधारण के हितों के विरुद्ध न हो और धन तथा उत्पादन के साधनों का सीमित क्षेत्र में केन्द्रीकरण न हो।" अतः संविधान की इन विशेषताओं के अनुरूप औद्योगिक नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया।

(2) द्वितीय पंचवर्षीय योजना—देश का आर्थिक विकास नियोजन द्वारा किया जा रहा था। प्रथम पंचवर्षीय योजना पूरी हो चुकी थी तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना आरम्भ कर दी गयी थी। यह योजना मूल रूप में उद्योग-प्रधान थी। प्रथम योजना के प्राप्त अनुभवों के आधार पर तथा देश का तीव्र गति से औद्योगीकरण करने के लिए भी औद्योगिक नीति में परिवर्तन करना आवश्यक था।

(3) समाजवादी समाज—प्रथम औद्योगिक नीति का उद्देश्य मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करना था, परन्तु दिसम्बर 1954 में संसद ने देश की आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों का उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना निश्चित किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सार्वजनिक क्षेत्र को विस्तृत करना आवश्यक हो गया। अतः औद्योगिक नीति में परिवर्तन करना स्वाभाविक था।

सन् 1956 की औद्योगिक नीति की विशेषताएं—सन् 1956 के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव का उद्देश्य देश में समाजवादी समाज की स्थापना करना है। इस औद्योगिक नीति की प्रस्तावना में कहा गया है, "समाजवादी समाज का राष्ट्रीय उद्देश्य के रूप में अपनाना और योजनाबद्ध तथा तीव्र गति से विकास आवश्यकता इस बात की मांग करते हैं कि आधारभूत एवं सामरिक (strategic) उद्योगों और सार्वजनिक हित (public utilities) सम्बन्धी सभी उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में हों। अन्य आवश्यक उद्योग भी जिनमें इतनी विशाल मात्रा में विनियोग की आवश्यकता है, जिसे वर्तमान परिस्थितियों में केवल राज्य ही पूर्ण कर सकता है, सार्वजनिक क्षेत्र में होने की आवश्यकता है। अतः राज्य को अधिक विस्तृत क्षेत्र में उद्योगों के भावी विकास का प्रत्यक्ष दायित्व सम्हालना है।" औद्योगिक नीति में उन उद्देश्यों का भी उल्लेख किया गया जिन्हें प्राप्त करना था।

(1) आर्थिक विकास की दर में वृद्धि करना तथा औद्योगीकरण की गति को तीव्र करना,

(2) बड़े उद्योग तथा मशीन-निर्माण उद्योग का विकास करना,

(3) सार्वजनिक क्षेत्र को विस्तृत करना,

(4) वृहत् तथा बढ़ते हुए सहकारी क्षेत्र (Co-operative sector) का निर्माण करना,

(5) निजी एकाधिकार तथा कुछ ही हाथों मे आर्थिक शक्ति को केन्द्रित होने से रोकना; और

(6) आय और सम्पत्ति की असमानता को कम करना।

इस औद्योगिक नीति की अन्य मुख्य बातें निम्नलिखित थीं.

(1) उद्योगों का विभाजन—उद्योगों को तीन श्रेणियों मे विभाजित किया गया। श्रेणियों का विभाजन इस दृष्टि से किया गया, जिससे राज्य का सहयोग निश्चित हो सके।

(क) अनुसूची 'अ'—इसमें वे उद्योग सम्मिलित किये गये, जिनके विकास का दायित्व एकमात्र सरकार पर होगा। यह श्रेणी सन् 1948 की औद्योगिक नीति की प्रथम तथा द्वितीय श्रेणियों को सम्मिलित कर बनायी गयी। इस श्रेणी में तीन प्रकार के उद्योग सम्मिलित हैं, **सार्वजनिक हित सम्बन्धी उद्योग आधार-भूत उद्योग तथा यातायात एवं खनिज पदार्थ सम्बन्धी उद्योग।** सूची में 17 उद्योग सम्मिलित किये गये हैं।[1] इन उद्योगों के विकास की जिम्मेदारी सरकार की होगी। परन्तु वर्तमान इकाइयों का विकास निजी क्षेत्र द्वारा किया जा सकता है। यदि राष्ट्र हित में आवश्यक समझा गया तो नयी इकाइयों की स्थापना में भी सरकार निजी क्षेत्र का सहयोग ले सकती है, परन्तु रेलवे तथा वायु यातायात, अस्त्र-शस्त्र तथा अणुशक्ति के विकास पर सरकार का एकाधिकार रहेगा। यदि निजी क्षेत्र का सहयोग लिया गया तो सरकार पूंजी में आधे से अधिक भाग (Majority participation) लेगी या अन्य विधि अपनायेगी, जिससे उद्योग का नीति-निर्धारण तथा नियन्त्रण सरकार के हाथ में हो।

(ख) अनुसूची 'ब'—इस अनुसूची में 12 उद्योग[2] सम्मिलित हैं, जो धीरे-

---

1. *अनुसूचित 'अ' में निम्नलिखित उद्योग हैं—अस्त्र-शस्त्र अणु शक्ति, लोहा व इस्पात, लोहे, व इस्पात की भारी ढलाई व तैयारी, भारी मशीनें भारी बिजली के यन्त्र, कोयला व लिगनाइट, खनिज तेल, कच्चा लोहा, मैंगनीज क्रोम, जिप्सम गन्धक, सोना व हीरों का खनन, तांबा, सीसा, जस्ता रांग, आदि की खानें, खोदना व कच्चा माल सुधारना, अणु-शक्ति उत्पादन से सम्बन्धित खनिज हवाई जहाज बनाना, हवाई यातायात, रेल यातायात, समुद्री जहाज बनाना टेलीफोन एवं उसके तार, एवं वायरलेस का सामान (रेडियो रिसीविंग सेट छोड़ कर) और बिजली का उत्पादन एवं वितरण।*

2. अनुसूची ब, के उद्योग इस प्रकार हैं—छोटे खनिजों को छोड़ कर 'अन्य खनिज पदार्थ', अल्यूमीनियम एवं अलौह धातुएं जो प्रथम सूची में नहीं हैं, मशीन औजार, फेरोएलायज एवं टूल, स्टील, रासायनिक उद्योगों की आधारभूत सामग्री, दवाइयां, खाद, कृत्रिम रबर, कोयले का कार्बोनाइजेशन, रासायनिक घोल, सड़क यातायात एवं समुद्री यातायात।

धीरे राज्य के अधीन होंगे तथा साधारणतया नयी इकाइयों की स्थापना सरकार द्वारा ही की जायेगी। निजी साहसी इन उद्योगों का विकास कर सकते हैं। इसके लिए चाहे वे उद्योगों की स्वयं स्थापना करें या राज्य के साथ भाग लें।

(ग) अन्य उद्योग—शेष सभी उद्योग तृतीय श्रेणी में रख गये। इन उद्योगों का विकास पूर्णतया निजी क्षेत्र पर छोड़ दिया गया। सरकार किसी भी समय इस श्रेणी से सम्बन्धित उद्योगों की स्थापना कर सकती है। सरकार इस श्रेणी के उद्योगों को पंचवर्षीय योजनाओं के लक्ष्यों तथा प्राथमिकताओं के अनुसार विकास करने में आवश्यक सहायता देगी।

(2) कुटीर एवं लघु उद्योग—औद्योगिक नीति प्रस्ताव में पहले की भांति ही कुटीर एवं लघु उद्योगों के महत्व को स्वीकार किया गया। इन उद्योगों द्वारा तुरन्त बड़ी मात्रा में रोजगार प्राप्त होता है, राष्ट्रीय आय का उचित वितरण होता है तथा ऐसे साधन उत्पादन में योग देने लगते हैं, जो सम्भवतः इन उद्योगों की अनुपस्थिति में प्रयुक्त नहीं होते। इन उद्योगों की सहायता के लिए बड़े पैमाने के उद्योगों के उत्पादन पर कर (Differential Taxation) लगा कर उनके उत्पादन को सीमित रखा जायेगा या प्रत्यक्ष सहायता दी जायेगी। इस बात का ध्यान रखा जायेगा कि कुटीर तथा लघु उद्योग आत्मनिर्भर हो तथा उनका विकास बड़े पैमाने के उद्योगों के एक अंग के रूप में हो। उनकी उत्पादन प्रणाली में सुधार किया जायेगा तथा उन्हें सस्ती दर पर बिजली प्रदान की जायगी। इस क्षेत्र में औद्योगिक सहकारी समितियों को प्रोत्साहन दिया जायगा तथा औद्योगिक बस्तियों के द्वारा इन उद्योगों की अवस्था में सुधार किया जायगा।

(3) क्षेत्रीय असमानता को दूर करना—देश के विभिन्न भागों में विकास सम्बन्धी असमानता को दूर किया जायगा जिससे औद्योगिकरण के लाभ देश की पूरी अर्थ व्यवस्था को प्राप्त हो। राष्ट्रीय नियोजन का एक उद्देश्य पिछड़े हुए क्षेत्रों में शक्ति के साधन तथा यातायात के साधनों का विकास करना होगा। प्रस्ताव ने प्रत्येक क्षेत्र में औद्योगिक तथा कृषि अर्थ व्यवस्थाओं के समन्वित विकास पर जोर दिया गया, जिससे देश के प्रत्येक भाग की जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठ सके।

(4) औद्योगिक शान्ति—प्रस्ताव के अनुसार उद्योगों में लगे हुए सभी पक्षों को उचित प्रोत्साहन (incentives) दिया जायेगा। श्रमिकों की काम करने तथा रहने की दशाओं में सुधार किया जायेगा, जिससे उनकी कार्य क्षमता में वृद्धि हो सके। औद्योगिक उन्नति के लिए औद्योगिक शान्ति आवश्यक है। श्रम समाजवादी प्रजातन्त्र

का साझेदार है, अत उसे विकास के कार्य मे उत्साह से भाग लेना चाहिए। श्रम-सन्नियमो मे सुधार तथा श्रमिको एव विशेषज्ञो को प्रबन्ध व्यवस्था मे भाग लेने की नीति का पालन किया जायेगा।

(5) **प्राविधिज्ञो तथा प्रबन्धको का प्रशिक्षण** नयी औद्योगिक नीति मे यह कहा गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे तथा कुटीर उद्योगो के सचालन के लिए प्राविधिज्ञों तथा प्रबन्धको को उचित प्रशिक्षण दिया जायेगा। विश्वविद्यालयो तथा अन्य संस्थाओ मे प्रशिक्षण के लिए प्राप्त सुविधाओ म वृद्धि हो जायेगी।

(6) **विदेशी पूजी** . विदेशी पूजी के सम्बन्ध मे इस नीति मे घोषणा नही की गयी, अत: प्रधानमन्त्री ने अप्रैल 1949 मे इस सम्बन्ध मे जो घोषणा की थी, उसे ही अपनाया गया। इसमे स्पष्ट किया गया था कि सरकार विदेशी पूजी व स्वदेशी पूजी मे कोई भेदभाव नही करेगी।

(7) **निजी क्षेत्र का नियमन तथा सहायता** सरकार निजी क्षेत्र को आर्थिक सहायता प्रदान करेगी, विशेषकर ऐसी औद्योगिक योजनाओ मे जिनमे बडी मात्रा मे पूजी की आवश्यकता पडती है। ऐसी सहायता का स्वरूप या तो अश पूजी मे भाग लेना होगा अथवा वह ऋण पत्रो के रूप मे होगी। निजी क्षेत्र के उद्योगो को सरकार की आर्थिक तथा सामाजिक नीतियो के अनुसार कार्य करना पड़ेगा। उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम तथा अन्य अधिनियमो के अनुसार निजी क्षेत्र उद्योग नियन्त्रित होगे। जहाँ तक सम्भव होगा, उद्योगों को पूरी स्वतन्त्रता दी जायेगी। यदि किसी उद्योग मे सार्वजनिक तथा निजी दोनो पक्ष लगे हुए हैं, तो ऐसी अवस्था मे दोनो मे कोई भेदभाव नही किया जायेगा।

इसके अतिरिक्त उद्योगो का तीन वर्गों मे जो विभाजन किया गया है वह उन्हे एक-दूसरे स पूर्णतया अलग नही करेगा। इन क्षेत्रो मे पारस्परिक निर्भरता (Sectoral inter-dependence) के सिद्धान्त का पालन किया जायेगा।

(8) **सार्वजनिक उद्योगो की प्रबन्ध-व्यवस्था** प्रस्ताव मे यह स्वीकार किया गया कि सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के साथ ही साथ इस क्षेत्र के उद्योगो की प्रबन्ध व्यवस्था का महत्व बढ गया है। प्रबन्धकों से शीघ्र निर्णय तथा उत्तरदायित्व सभालने की भावना का पाया जाना आवश्यक है। अतः अधिकारो का विकेन्द्रित होना तथा सरकारी उद्योगों का व्यापारिक सिद्धान्तो के अनुसार चलाया जाना आवश्यक है। जहाँ तक सम्भव हो, सरकारी उद्योगो के सचालन तथा प्रबन्ध व्यवस्था मे स्वतंत्रता होनी चाहिए।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अन्त मे यह आशा व्यक्त की गयी थी कि इस नयी औद्योगिक नीति का सभी वर्गों द्वारा स्वागत होगा तथा इससे राष्ट्रों का तीव्र गति से औद्योगीकरण करने मे मदद मिलेगी।

सन् 1948 तथा 1956 के प्रस्तावो की तुलना

औद्योगिक नीति विषयक इन दोनो प्रस्तावो मे निम्नलिखित अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं

(1) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार सन् 1948 के प्रस्ताव मे उद्योगो को चार वर्गों मे विभाजित किया गया था, जबकि सन् 1956 के प्रस्ताव मे उन्हे तीन वर्गों मे ही बाटा गया। नयी औद्योगिक नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र का काफी विस्तार कर दिया गया तथा सरकारी क्षेत्र मे उद्योगो की सख्या बढा दी गयी। 1948 की नीति के अनुसार केवल तीन उद्योगो पर सरकार का एकाधिकार था और 6 उद्योग ऐसे थे, जिनमे नयी इकाइयो की स्थापना सरकार ही कर सकती थी। इसके अतिरिक्त 18 उद्योगो का सरकार द्वारा नियमन तथा नियन्त्रण होना था। शेष उद्योग पूर्णतया निजी क्षेत्र के लिए छोड दिये गये थे। परन्तु सन् 1956 की नीति के अनुसार किसी भी उद्योग की स्थापना सरकार द्वारा की जा सकती है तथा 17 आधार-उद्योगो का विकास केवल सार्वजनिक क्षेत्र मे ही किया जा सकता है।

(2) राष्ट्रीयकरण सन् 1948 की नीति मे यह कहा गया था कि द्वितीय श्रेणी के उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर 10 वर्ष पश्चात् पुनर्विचार होगा। परन्तु सन् 1956 की नीति मे राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे कोई भी व्यवस्था नही दी गयी है, बल्कि एक प्रकार का आश्वासन दिया गया है कि प्रथम श्रेणी से सम्बन्धित निजी उद्योगो का राष्ट्रीयकरण नही किया जायेगा। इस प्रकार दूसरी औद्योगिक नीति मे निजी उद्योगो को राज्य द्वारा लिये जाने के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा गया है।

(3) निजी क्षेत्र एक प्रकार से निजी क्षेत्र का भी नयी नीति मे विस्तार किया गया। तीनो श्रेणियो के अन्तर्गत चल आ रहे निजी उद्योग का विकास सार्वजनिक उद्योगो के साथ साथ होता रहेगा, परन्तु राज्य द्वारा उनका नियमन होता रहेगा जिसम जनहित की रक्षा हो सके।

(4) सहकारी क्षेत्र—सन 1948 की औद्योगिक नीति मे सहकारी क्षेत्र पर जोर नही दिया गया था, जबकि 1956 की नीति के अनुसार निजी क्षेत्र का विस्तार जहा तक सम्भव होगा, सहकारी रूप मे करने की व्यवस्था की गयी है।

(5) शिथिल विभाजन—सन् 1948 की नीति के अनुसार उद्योगों का वर्गीकरण कठोर ढग से किया गया था, परन्तु सन् 1956 की नीति मे उद्योगो का वर्गीकरण शिथिल है। योजना तथा देश की आवश्यकताओ के अनुसार किसी भी उद्योग की स्थापना किसी भी क्षेत्र मे की जा सकती है।

सन् 1956 की नीति की समालोचना

सन् 1956 की औद्योगिक नीति के सम्बन्ध मे विभिन्न मत पाये जाते हैं। इस नीति की विभिन्न क्षत्रो मे निम्नलिखित आलोचनाएँ की गयी हैं :

(1) ऊपरी तौर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह नीति निजी क्षेत्र के प्रति अधिक उदार है परन्तु वस्तुत इस नीति द्वारा **निजी क्षेत्र को संकुचित करने का प्रयत्न** किया गया है। इस नीति मे राष्ट्रीयकरण की धमकी परोक्ष रूप मे विद्यमान है। औद्योगिक नीति का यह वाक्य, "inherent right of the state to acquire any industrial undertaking would always remain" इस तथ्य की ओर पर्याप्त सकेत करता है।

(2) औद्योगिक नीति के प्रस्ताव मे लोच (flexibility) पर जोर दिया गया है परन्तु इसका प्रयोग 'सार्वजनिक क्षत्र' के ही लिये किया जायेगा क्योंकि सरकार किसी भी उद्योग को प्रारम्भ कर सकती है। इस प्रकार 'अनुसूची ब' के उद्योगो मे क्षेत्र मे निजी क्षत्र का स्थान गौण रहगा और तृतीय श्रेणी के उद्योगो मे भी सरकार का दखल रहेगा।

(3) सहकारी क्षेत्र के विस्तार की जो बात प्रस्ताव मे कही गयी है वह भी भ्रामक है। वस्तत सहकारी क्षेत्र सरकार के निर्देशन पर ही कार्य करेगा और निजी क्षत्र के प्रतिनिधियो का स्थान सदैव गौण (Subsidiary) रहेगा। इस प्रकार भारत में **सहकारिता के नाम पर राजकीय पूंजीवाद (State Capitalism) को बढावा** देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(4) औद्योगीकरण के प्रश्न पर सरकार ने सिद्धान्तो (ideology) का ही ध्यान रखा है, व्यवहारिकता पर ध्यान नहीं दिया है। निजी क्षेत्र के महत्व मे जो कमी की गयी, वह अवाछनीय थी। प्रथम योजना-काल से निजी क्षेत्र की सफलता को देखते हुए उसे प्रमुख स्थान प्रदान करना चाहिए था।

विदेशी पूजी के विषय म प्रस्ताव म कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। यदि इसके सम्बन्ध मे नीति स्पष्ट होती तथा राष्ट्रीयकरण का क्षेत्र निश्चित कर दिया होता तो विदेशी पूजीपति निशक होकर भारत मे अधिक पूजी विनियोजन कर सकते थे।

(1) विश्व बैंक के अध्यक्ष श्री यूजिन ब्लैक ने कहा है कि "यदि इस नीति का पालन दृढता से किया गया तो **सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय एव प्रशासनात्मक साधनो पर**, जिन पर पहले से ही अधिक भार है और अतिरिक्त भार पडेगा तथा महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे विकास की गति सीमित हो जायेगी।"

सन् 1956 की औद्योगिक नीति देश के लिए उत्तम है •

उपर्युक्त आलोचनाएँ बहुत कुछ एक पक्षीय हैं। वास्तव में, वर्तमान औद्योगिक नीति देश में समाजवादी समाज की स्थापना करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है, जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से हो सकता है

(1) सरकारी तथा निजी क्षेत्रों का विकास नयी औद्योगिक नीति में सरकार द्वारा बहुत बड़े बड़े तथा कुछ सार्वजनिक हित के उद्योग लेने की घोषणा की गयी है। सरकार द्वारा रेल के इंजन, दवाइयाँ, खाद, रसायन तेल आदि भारी पूँजी वाले उद्योग के अतिरिक्त कुछ उपभोक्ता समान उत्पन्न करने की इकाइयाँ (सीमेण्ट, चीनी आदि) भी स्थापित की हैं। इससे निजी साहस को किसी प्रकार कम करने का उद्देश्य नहीं है बल्कि उसके लिए यह अवसर है कि वह सरकारी क्षेत्र के उद्योगों से अधिक कार्यक्षमता प्रदर्शित कर अपने योगदान का अधिकाधिक महत्व प्रमाणित करें।

गत पन्द्रह वर्षों में भारत की सम्पूर्ण उत्पादन सम्पदा में लोक क्षेत्र का भाग जो 1950-51 में केवल 15% था 1965–66 में बढ़कर 35% हो गया है।[1] अनेक असफलताओं के होने पर भी सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार से देश में इन्जीनियरिंग, औषध, रसायन, खाद तथा इस्पात उद्योगों का विकास हुआ है। पिछली चार योजनाओं में सरकारी विनियोग की वृद्धि का अनुमान निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है

उद्योगों में विनियोग[1]

(करोड़ रुपयों में)

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	चौथी योजना
1 सार्वजनिक क्षेत्र	55	938	1 520	3298
2 निजी क्षेत्र	233	850	1 050	2000

(2) निजी उद्योगों पर नियन्त्रण—विकासशील देशों में प्रायः योजनाबद्ध विकास करना होता है और इस कार्य के लिए एक ओर तो प्राथमिकताएं निश्चित करनी पड़ती हैं दूसरी ओर सभी उद्योगों का विकास उचित दिशाओं में हो रहा है यह ध्यान रखना पड़ता है। इस दृष्टि से भारत में निजी क्षेत्र के उद्योगों पर नियन्त्रण की जो व्यवस्था की गई है, वह उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। इस कार्य के औचित्य का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि गत वर्षों में भारत सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा कई असुचल एवं बन्द फैक्टरियों और मिलों का प्रबन्ध सम्भाल कर

1. Fourth Five Year Plan—A Draft Outline, p. 11.

उन्हें चालू किया गया है। नये उद्योगों के लिए लाइसेंस तथा पूंजी विनियोग के लिए पूर्व अनुमति का उद्देश्य यही है कि देश में पहले वही उद्योग विकसित हों, जिनकी अत्यधिक आवश्यकता है तथा विभिन्न क्षेत्रों में उद्योगों के विकास का यथेष्ट सन्तुलन बना रहे। इन सभी दृष्टिकोणों से नयी औद्योगिक नीति के अन्तर्गत सरकार द्वारा सब क्षेत्रों में औद्योगिक विकास करना तथा नये-पुराने सभी उद्योगों के विकास का नियमन एवं नियन्त्रण करना सर्वथा न्यायसंगत है।

(3) एकाधिकार का नियन्त्रण प्रो॰ जे॰ पी॰ ल्यूइस ने अपनी पुस्तक Quiet Crisis in India में यह मत प्रकट किया है कि भारत में औद्योगिक एकाधिकार की प्रवृत्तियां बहुत प्रबल हैं। इस मत की पुष्टि राष्ट्रीय आय संकेन्द्रण समिति ने भी की है। इस दृष्टि से भारतीय औद्योगिक नीति ऐसी होनी चाहिए कि औद्योगिक साम्राज्य (Industrial Empire) का अन्त हो सके। 1956 का औद्योगिक नीति प्रस्ताव इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। वास्तव में, आवश्यकता इस बात की है कि सरकार इस प्रस्ताव की भावना को यथावत् कार्यान्वित करने की दिशा में उचित कदम उठाये। सरकार द्वारा सभी क्षेत्रों में औद्योगिक विकास के लिए नये-नये उद्योगपतियों को लाइसेंस देने से औद्योगिक एकाधिकार का अन्त करने में सहायता मिल सकेगी। चीनी, सीमेन्ट तथा दियासलाई उद्योगों में इस एकाधिकार के अन्त के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। यह अत्यन्त सन्तोषजनक स्थिति है।

इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि नयी औद्योगिक नीति में एक ओर तो सरकारी क्षेत्र को अधिकाधिक विकसित करने का प्रावधान है, दूसरी ओर निजी क्षेत्र को विकेन्द्रित रूप में विस्तृत करने की व्यवस्था है। अनेक क्षेत्रों में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों का सामंजस्य एवं सहयोग कहा जा सकता है। इस प्रकार देश के औद्योगिक विकास के लिए सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में एक ओर तो होड़ लग गयी है, दूसरी ओर उनमें सहयोग का वातावरण बन गया है। तीसरे, सहकारी क्षेत्र द्वारा भी औद्योगिक विकास की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं, उदाहरण के तौर पर, देश के शक्कर (चीनी) उत्पादन का लगभग तृतीयांश सहकारी चीनी फैक्टरियों द्वारा किया जाता है। अतः भारत में समाजवादी समाज की स्थापना करने के लिए नयी औद्योगिक नीति के अनुसार औद्योगिक विकास करना सर्वथा श्रेयस्कर होगा।

भारत सरकार की नई औद्योगिक नीति : पांचवीं पंचवर्षीय योजना के विकास कार्यक्रमों को लागू करने के लिए 2 फरवरी सन् 1973 को भारत सरकार ने अपनी नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की, जो कि 18 फरवरी सन् 1970 की

औद्योगिक नीति की दशा में कुछ सुधार था। नई औद्योगिक नीति में सन् 1956 की औद्योगिक नीति के आधारभूत तत्वों को वही स्थान दिया गया। 'अ' अनुसूची के कारखानों का विकास सार्वजनिक क्षेत्र में छोड़ा गया, लेकिन सरकार अगर उचित समझे तो इनका विकास निजी क्षेत्र तथा विदेशी पूँजीपतियों के हाथ में भी छोड़ सकती है, लेकिन इसके साथ-साथ यह भी व्यवस्था की गई कि इन उद्योगों के विकास के लिए छोटे पूँजीपतियों को प्राथमिकता दी जाएगी।

इस नयी औद्योगिक नीति में कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास तीव्र गति से करने का लक्ष्य सरकार ने निर्धारित किया तथा 'संयुक्त साहस' को भी एक विशेष महत्व दिया गया, जिसमें सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र दोनों एक साथ सहयोग करके उद्योगों का विकास करेंगे।

नयी लाइसेंसिंग नीति
(New Licencing Policy)

गत वर्षों में निरन्तर यह अनुभव किया जा रहा था, कि भारत में उद्योगों को लाइसेंस देने की प्रणाली दोषपूर्ण है और लाइसेंस व्यवस्था के कारण पक्षपात और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। डा० आर० के० हजारी की रिपोर्ट से बिड़ला सस्थानों को अत्यधिक उदारतापूर्वक लाइसेंस देने के तथ्य प्रकाश में आये हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि देश में औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए औद्योगिक नीति में कुछ उदारता लाने की आवश्यकता है।

हजारी रिपोर्ट की सिफारिशों के आधार पर, जो कि बहुत कुछ लाइसेंस से छूट से सम्बन्धित थी, लोकसभा में बहस के दौरान यह निश्चय किया गया कि भारत सरकार एक नयी कमेटी की नियुक्त करेगी, जिसका कि प्रमुख कार्य 1956 से 1966 के बीच में औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली के कार्यों सम्बन्धी जाँच करेगी। इस उद्देश्य से 22 जुलाई, 1967 को श्री सुबिमल दत्त की अध्यक्षता में एक कमेटी का गठन किया गया, जिसने अपनी रिपोर्ट 17 जुलाई, 1969 को प्रस्तुत की तथा इस कमेटी की सिफारिशों के आधार पर 18 फरवरी, 1970 को भारत सरकार ने नयी लाइसेंस-नीति की घोषणा की। वास्तव में नयी औद्योगिक नीति की घोषणा सिर्फ दत्त कमेटी के सुझावों के आधार पर ही नहीं की गई, बल्कि घोषणा के समय हजारी रिपोर्ट, प्रशासनिक सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission) तथा संसद की अनुमान समिति (Estimates Committees) के सुझावों को भी सरकार ने ध्यान में रखा।

नयी औद्योगिक नीति में यह महत्वपूर्ण परिवर्तन देश के औद्योगिक विकास को ध्यान में रखते हुए, तथा चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के उद्देश्यों को पूरा करने के

लिए की गई। चतुर्थ योजना में योजना आयोग ने यह स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है कि सभी आधारभूत व सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण उद्योगों में जहाँ भारी विनियोग की मात्रा है, औद्योगिक लाइसेंस प्राप्त करना होगा तथा जिन उद्योगों के लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता न हो, उनको लाइसेंस की आवश्यकता से मुक्त रखा जाए। इसके साथ-साथ लघु क्षेत्रों के विकास के लिए सरकार ने 1956 की ही औद्योगिक नीति को अपनाया।

यहाँ पर सर्वप्रथम औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति जाँच समिति-दत्त कमेटी (The Industrial Licensing Policy Inquiry Committee-Dutt Committee) द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के आधार पर निष्कर्ष निकाल कर नयी औद्योगिक नीति का वर्णन करेंगे।

औद्योगिक लाइसेंस सम्बन्धी आंकड़ों का विश्लेषण

(1) *निर्धारित क्षमता से अधिक क्षमता के लिए लाइसेंस देना* : दत्त कमेटी ने यह स्पष्ट रूप से व्यक्त किया कि सरकार ने पिछले 10 वर्षों में योजना के निर्धारित क्षमता से अधिक स्वीकृत क्षमता के लिए लाइसेंस दिए है। जिससे न तो निर्धारित क्षमता ही के लक्ष्य पूर्ण हो पाते हैं, तथा न ही योजना की प्राथमिकताओं में ही कोई स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित किया जा सका है। इसी कारण दत्त समिति ने यह निष्कर्ष निकाला कि "लाइसेंस प्रणाली वस्तुतः इस प्रकार से काम करने लगी है, कि लाइसेंसों की स्वीकृति और योजना प्राथमिकताओं में कोई स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित न हो सका।"

(2) *सार्वजनिक व निजी क्षेत्र तथा औद्योगिक नीति* सन् 1956 में स्वीकृत औद्योगिक नीति प्रस्ताव में वर्णित अनुसूचियों के सरकारी क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों को निजी क्षेत्र में भी खोल दिया गया है, क्योंकि अनुसूची में शामिल उद्योग विस्तृत श्रेणियां (broad categories) मात्र थी तथा इनका क्षेत्र स्पष्ट नहीं किया गया था। जिस प्रकार कि 'लोहा एवं इस्पात' एक विस्तृत श्रेणी है इसका क्षेत्र किस प्रकार के कारखानों तक होगा, स्पष्ट नहीं किया गया, जिससे निजी क्षेत्रों को प्रोत्साहन मिला। उदाहरणार्थ मशीनी औजार उद्योग जिन्हें कि 'A' अनुसूची रखा गया, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स को 9 लाइसेंस दिए गए, वहां गैर-सरकारी क्षेत्र को 226 लाइसेंस दिए गए। इस सम्बन्ध में समिति ने लिखा है कि यह स्पष्ट है कि लाइसेंस नीति अपने आप में इस सम्बन्ध में एक सीमित भाग ही अदा कर सकती है। अनुसूची 'A' में कुछ उद्योगों का गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा विकास करने और अनुसूची 'B' में विकास के लिए अधिकतर गैर सरकारी क्षेत्र को प्रोत्साहित करने के निर्णय सरकार के उच्चतम स्तर पर ही किए गए है।"

(3) संतुलित क्षेत्रीय विकास : समिति ने यह भी स्पष्ट किया कि इस लाइसेंसिंग प्रणाली द्वारा कुछ ही राज्यों अर्थात् महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, गुजरात तथा तामिलनाडु का विकास हो पाया क्योंकि अकेले इन राज्यों ने कुल लाइसेंसों का 62.4 प्रतिशत प्राप्त किया। इस प्रकार की सरकारी नीति से देश का सीमित विकास हो पा रहा है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि लाइसेंस देने वाले अधिकारी लाइसेंस देने से पहले यह देखते हैं कि कच्चे माल की उपलब्धि है या नहीं, तथा अन्य साधन पर्याप्त रूप में उपलब्ध हैं या नहीं, लेकिन औद्योगिक नीति में इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं व्यक्त किया गया है।

(4) विदेशी सहयोग : सन् 1949 में सरकार ने देश में औद्योगिक विकास के कार्यक्रम को बढ़ाने के लिए विदेशी व भारतीय उपक्रमों में कोई भेद स्पष्ट नहीं किया। लेकिन इस प्रकार की उदार नीति से एक ही प्रकार के उद्योगों में कई विदेशी सहयोग वाली फर्में स्थापित की जाने लगी, जिनकी शर्तें भी अलग-अलग होती थी। विभिन्न प्रकार के कल-पुर्जों के आयात की माँग बढ़ गयी, रायल्टी का बहुत अधिक मात्रा में भुगतान किया जाने लगा, वस्तुओं का अधिक भुगतान किया जाने लगा आदि। इस प्रकार विदेशी फर्मों को उच्चस्तर का स्थान किया गया।

(5) मध्यम एवं छोटे उद्योग : 1948 तथा 1956 दोनों ही औद्योगिक नीतियों में लघु उद्योगों को विकास के लिए एक विशेष दर्जा प्रदान किया गया, लेकिन बड़े औद्योगिक समूहों को ऐसे उद्योगों के लिए लाइसेंस दिए गए, जो कि छोटे एवं मध्यम श्रेणी में आते थे तथा इसके साथ साथ अन्य सुविधाओं जैसे, वित्त, विपणन, तकनीकी सहायता, प्रशिक्षण आदि की भी सुविधाएं नहीं प्रदान की गई।

अतः उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सरकार की 1956 की औद्योगिक नीति से देश में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण में वृद्धि हुई है। हालांकि इस अवधि में देश में औद्योगिक विकास के कार्यक्रमों को अपनाया गया है, लेकिन निजी साहसियों को अत्यधिक स्थान मिला है तथा साथ ही साथ प्रादेशिक असन्तुलन भी बढ़ा है। इस समिति ने एकाधिकार जांच आयोग द्वारा दी गयी "बड़े औद्योगिक घराने" (Large Industrial Houses) की धारणा को स्वीकार करते हुए भारत सरकार को निम्न प्रकार की लाइसेंसिंग नीति की घोषणा करने के लिए मजबूर कर दिया।

(1) प्रमुख तथा भारी विनियोग (Core and Heavy Investment) वाले उद्योगों के लिए निम्न प्रकार की नीति की घोषणा की।

(अ) चतुर्थ योजना में प्रमुख उद्योगों की सूची में 9 बड़े समूहों वाले उद्योगों को लिया गया, तथा जिनको कि प्राथमिकता के आधार पर अनिवार्य आदान (Essential Inputs) उपलब्ध कराए जाएंगे.

प्रमुख उद्योगों की सूची (i) कृषि आदान–खाद (नाइट्रोजन एवं फॉस्फेटिक खाद), कीटनाशक दवाइयाँ, ट्रैक्टर और पावर टिलर्स, रॉक फॉस्फेट, पाइराइट्स। (ii) लोहा व इस्पात—कच्चा लोहा, पिग लोहा व इस्पात, मिश्र धातु और विशेष इस्पात। (iii) अलौह धातु (iv) पेट्रोलियम—तेल की खोज व उत्पादन, पेट्रोल शोध कार्य; चुने हुए पेट्रोरसायन, (सामग्रीकृत पेट्रोरसायन काम्पलेक्स, डी० एम० टी०, के प्रोलेक्टम, एकीलोनिटाइट, मिश्रित रबड़) (v) कोकिंग कोयला (vi) भारी औद्योगिक मशीनरी— कागज, रसायन, विशिष्ट मशीनों औजार, रबड़ तथा छापने की मशीनरी आदि (vii) जहाज निर्माण और ड्रेजर, (viii) अखबारी कागज, (ix) इलेक्ट्रोनिक्स।

(आ) प्रमुख क्षेत्रों के अतिरिक्त जिन नए औद्योगिक प्रस्तावों की राशि 5 करोड़ रुपये से अधिक होगी, भारी विनियोग वाले क्षेत्र में समझे जाएंगे। 1956 की औद्योगिक नीति के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के आरक्षित उद्योगों को छोड़ कर शेष के लिए बड़े औद्योगिक संस्थानों तथा विदेशी कम्पनियों को भी छूट दी गई।

(2) 1 करोड़ रुपये से 5 करोड़ रुपये के विनियोग के बीच वाले मध्यम क्षेत्र में बड़े समूहों को छोड़कर अन्य संस्थानों को प्राथमिकता दी जाएगी, तथा लाइसेंस देने में उदार नीति को अपनाया जाएगा केवल सावधानी इस बात में बरतनी होगी कि दुर्लभ विदेशी मुद्रा का अपव्यय न हो। बड़े तथा विदेशी संस्थानों को सिर्फ विस्तार की छूट प्रदान की गई।

(3) लघु क्षेत्रों के लिए आरक्षण की वर्तमान नीति जिसमें मशीनरी तथा पुर्जों में कुल विनियोग 7.5 लाख रुपये का हो, जारी रहेगी।

(4) कृषि उद्योगों विशेषत गन्ना, पटसन आदि का विधायन करने वाले उद्यमों में सहकारी क्षेत्र को प्राथमिकता प्रदान की जाएगी।

(5) 1 करोड़ रुपए तक के विनियोग वाले उद्योगों के लिए लाइसेंस लेने की आवश्यकता नहीं होगी, लेकिन निम्न प्रकार के उद्योगों के लिए यह छूट प्रदान नहीं की जायगी

(क) ऐसे संस्थान जो कि बड़े औद्योगिक घरानों द्वारा नियन्त्रित किए जाते हैं।

(ख) ऐसी कम्पनियां जिसमें विदेशी स्वामित्व 50 प्रतिशत है।

(ग) ऐसे संस्थान जो एकाधिकार अधिनियम में परिभाषित प्रभुता-सम्पन्न संस्थानों (dominant undertakings) की श्रेणी में आते हैं।

(घ) ऐसे उद्योग जो कि प्रमुख उद्योगों की श्रेणी (Core sector) तथा लघु उद्योगों की श्रेणी में आते हैं।

(ज) जो उत्पादन इकाइयां मशीनरी और सामान के लिए 10 लाख रुपये से अधिक या कुल विनियोग के 10 प्रतिशत से अधिक विदेशी विनिमय के आयात को आवश्यक समझती हैं।

उपरोक्त नीतियों के अतिरिक्त सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं के प्रबन्ध में अधिक मात्रा में हिस्सा, पिछड़े हुए क्षेत्रों के उद्योगों के विकास के लिए विशेष अनुदान आदि के लिए भी नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की गई। अनुसंधान का विकास, भारतीय टक्नोलॉजी, डिजाइन व इन्जीनियरिंग दक्षता आदि के विकास के लिए भी समय-समय पर विशेष कार्यक्रम निर्धारित करने का प्रावधान रखा गया है।

सन् 1970 की लाइसेंसिंग नीति की समालोचना .

जैसा कि लिखा जा चुका है कि देश में बढ़ता हुआ आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण, प्रादेशिक असंतुलन, धीमा गति से विकास की दर आदि कुछ ऐसे कारण थे, जिनको कि दूर करने के लिए सन् 1970 में भारत सरकार ने नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की थी। ऐसा समझा जाने लगा था कि नयी औद्योगिक नीति बड़े औद्योगिक संस्थानों के एकाधिकार को समाप्त कर देगी, पर इसे उचित रूप से स्पष्ट नहीं किया जा सका। 5 करोड़ रुपये से अधिक विनियोग वाले उद्योगों को कुछ अपवाद सार्वजनिक क्षेत्र के लिए छोड़कर, बड़े समूहों द्वारा खोलने की इजाजत दी गई, जो कि समाजवाद की ओर स्पष्ट कदम नहीं है, इससे एकाधिकार की प्रवृत्ति में और बढ़ोत्तरी होगी।

नयी औद्योगिक नीति में प्रमुख क्षेत्रों वाले उद्योगों के लिए योजनाएं तैयार करने के लिए भी कोई ऐसी एजेन्सियां नहीं बनायी गयी, जो कि इस प्रकार का कार्य करेंगी।

इस औद्योगिक नीति की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि बड़े उद्योगों के विकास से लघु उद्योगों को पर्याप्त रूप में कच्चा माल नहीं उपलब्ध हो पाएगा, जिससे कि इनको प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ेगा और इस प्रतिस्पर्द्धा के कारण बहुत से लघु उद्योग बन्द भी हो जाएंगे।

इसी प्रकार नयी उदार नीति से छोटे पैमाने के उद्योगों के हितों पर दुष्प्रभाव पड़ेगा। सरकार ने उत्पादन क्षमता में बिना सोच विचार किए लाइसेंस देने की जो नीति अपनाई है उसका निर्णय करने से पूर्व बड़े पैमाने और लघु-स्तर की इकाइयों में वर्तमान क्षमताओं का अनुमान लगाने का कोई प्रयास नहीं किया गया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि नयी औद्योगिक नीति में सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों को ध्यान में रखा गया है, तथा इसके द्वारा देश में औद्योगिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए, प्रादेशिक सन्तुलन को दूर करने के लिए, तथा एक

समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्यों को पूरा करने का एक विशेष कार्यक्रम अपनाया गया है। लेकिन अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सरकार को प्रशासनिक सुधार के लिए एक विशेष समिति गठित करनी चाहिए जो कि प्रशासन में सुधार लाने का प्रयत्न करेगी।

1970 की औद्योगिक लाइसेंस-नीति में संशोधन

1971 तथा 1972 में औद्योगिक गति धीमी पड़ जाने के कारण तथा देश में समाजवाद की स्थापना के लक्ष्य को पूरा करने के लिए तथा पाँचवी योजना के लिए एक निश्चित कार्यक्रम को बनाने के लिए फरवरी 1973 में सरकार ने 1970 की औद्योगिक नीति में कुछ संशोधन किए, जो कि निम्न है —

(i) आर्थिक न्याय, आत्म-निर्भरता तथा विकास के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए 1956 की औद्योगिक नीति प्रस्ताव सरकार की नीतियाँ बनाने के लिए यथावत जारी रहेगी।

(ii) आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण पर प्रभाविक नियन्त्रण करने के लिए ऐसे संस्थान जिनकी पूँजी 20 करोड़ रुपये से अधिक है, "बड़े औद्योगिक संस्थान" (Larger Industrial Houses) घोषित कर दिए गए। 1970 की औद्योगिक नीति में यह सीमा 35 करोड़ रुपये की थी।

(iii) प्रमुख क्षेत्र वाले उद्योगों की संख्या को बढ़ाकर 19[1] कर दिया गया तथा इसमें लघु, मध्यम, बड़े संस्थान, विदेशी कम्पनियाँ तथा सरकार सब को स्थान दिया गया कि वे इस क्षेत्र वाले उद्योग की स्थापना कर सकते हैं, लेकिन 1956 की औद्योगिक नीति के 'A' अनुसूची के उद्योगों का यथावत विकास सार्वजनिक क्षेत्र के लिए छोड़ा गया।

(iv) 1 करोड़ रुपये वाली लाइसेंसिंग छूट यथावत जारी रहेगी, लेकिन ऐसे संस्थान जिनकी स्थायी पूँजी 5 करोड़ रुपये से अधिक है, यह छूट नहीं दी जाएगी।

1- These include metallurgical industries boilers some prime movers, certain categories of electrical and electronic equipment vehicles & ships, industrial machinery and machine tools agricultural and earth moving machinery Industrial and scientific instruments nitrogeneous and phosphatic fertilisers heavy and fine chemicals synthetic resins, plastics and rubbers, man made fibres industrial explosives, insecticides etc Synthetic detergents, and chemicals for industrial use, drugs and Pharmaceutical, paper and pulp automobile tyres and tubes, plateglass, ceramic and cement products.

(v) लघु उद्योगों का आरक्षण सुरक्षित रहेगा, लेकिन इनके विकास को देखते हुए इस आरक्षण को बढ़ाया भी जा सकता है।

(vi) हर एक ऐसे निर्णय जो कि 'मिश्रित क्षेत्र' (Joint Sector) वाले संस्थानों पर लागू होते हैं, वा निर्णय सरकार के सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किए जाएंगे। मिश्रित क्षेत्र वाले सभी उद्योगों पर सरकार का प्रभावशाली नियन्त्रण रहेगा तथा मिश्रित क्षेत्र में स्थापित उद्योगों में यह बात विशेष रूप से सोची जाएगी कि कहीं बड़े औद्योगिक संस्थानों की पिछले दरवाजे से प्रवेश (Back door entry) न हो जाए।

इस प्रकार पांचवी योजना के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सरकार ने एक उदार नीति की घोषणा की है।

प्रश्न

1 "औद्योगिक नीति का उद्देश्य समाजवादी समाज स्थापित करना होना चाहिए।" भारत की औद्योगिक नीति इस कथन से कहां तक मेल खाती है? आप अपने सुझाव दीजिए। (Raj Second year T D C Arts 1970)

2 "औद्योगिक विकास के लिए एक सुनिश्चित और प्रगतिशील औद्योगिक नीति आवश्यक है।" इस कथन को दृष्टि में रखते हुए भारत की औद्योगिक नीति की जाच कीजिए। (Raj Second year T, D C Arts 1969)

3 स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त भारत सरकार ने अपने औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्तावों में जिस औद्योगिक नीति को निर्धारित किया है, उसकी संक्षेप में विवेचना कीजिए। देश की वर्तमान औद्योगिक नीति से आप कहां तक सहमत हैं? आप इसमें क्या सुधार करने का सुझाव देंगे? (Raj B A Hons 1967)

4 भारत सरकार की 1970 की घोषित औद्योगिक नीति पर एक आलोचनात्मक विवरण दीजिए।

21

भारत में आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण

(Economic Concentration in India)

पिछले कुछ वर्षों मे यह बड़ा विवाद का विषय रहा है कि क्या भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था मे अधिक सत्ता का सकेन्द्रण हुआ है। इस विवाद का हल पिछले वर्षो के एकाधिकार जाच आयोग ने कर दिया है, जिसने यह बताया कि देश मे कुछ गिने चुने बड व्यवसायी समूह (Larger Business Houses) के हाथ में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण हो गया है। हालांकि इन बड-बडे समूहो ने देश के आर्थिक विकास मे काफी रुचि दिखाई है, नए उद्योगो की स्थापना भी की गई है, औद्योगिक विकास की दर मे भी वृद्धि हुई है, तथा नई तकनीकियो आदि का भी विकास हुआ है, लेकिन कुछ व्यक्तियो द्वारा आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण समाजवाद की विचारधारा के पूर्णरूप से अनुकूल है। आज टाटा तथा बिरला समूहो ने अर्थ-व्यवस्था के हर क्षेत्र म उद्योगो की स्थापना कर रखी है, जिसमे छोट वर्ग के व्यवसायियो को पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड रहा है, और इस प्रतिस्पर्द्धा मे उनकी शक्ति इतनी शिथिल हो गई है कि उनका टिकना भी कठिन हो गया है।

आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण मे वृद्धि के कारण

आज बडे बड उद्योग समूहो द्वारा पूजी पर जो एकाधिकार जमा लिया गया है वो निम्न कारणो से है।

1. द्वितीय विश्वयुद्ध मे अति धनोपार्जन द्वितीय विश्व युद्ध मे कुछ उद्योग-पतियो द्वारा अत्याधिक धन अर्जित किया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार द्वारा औद्योगिक विकास के कायक्रमो को विस्तार देने की नीति अपनाए जाने के कारण इन उद्योगपतियो ने इस धन का उपयोग नए उद्योगो की स्थापना एव पुराने उद्योगो के विस्तार मे किया। फलस्वरूप धनी उद्योगपतियो को अपने धन मे वृद्धि करने की सुविधाए प्राप्त हुई।

2 ब्रिटिश संस्थाओ का विक्रय : स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् बहुत सी ब्रिटिश व्यापारिक व औद्योगिक सस्थाएँ अपने सस्थानो को भारतीयो के हाथ बच

कर चली गई। ये संस्थान अत्यन्त कुशलता के साथ संचालित किए जाते थे। परिणाम यह हुआ कि भारतीय उद्योगपतियों को अपना धन सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ संस्थानों को क्रय करने के लिए उपयोग करने का अवसर मिला। इन संस्थानों की पूर्व अर्जित साख का लाभ भी इन्हीं उद्योगपतियों ने उठाया जिससे इनकी आर्थिक सत्ता का तीव्र गति से विस्तार हुआ।

3 तांत्रिक विकास स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात औद्योगिक क्षेत्र में तांत्रिक विकास पर विशेष बल दिया गया ताकि बड़े पैमाने के उत्पादन का लाभ उठाया जा सके। तांत्रिक विकास देश में बड़े-बड़े उद्योगों में ही मुख्यतः अपनाया गया जिसका लाभ चन्द बड़े पूंजीपतियों को ही हुआ और फलस्वरूप सत्ता के केन्द्रीयकरण को बल मिला।

4 अन्तर कम्पनी विनियोजन एवं कम्पनी की पूंजी का अन्य सहायक कम्पनियों में विनियोजित करने की सुविधा के कारण कुछ औद्योगिक घरानों को अपनी अनेक सहायक कम्पनियां खोलने का अवसर मिलता रहा है जिसके परिणाम-स्वरूप एक प्रमुख कम्पनी (Holding Company) पर नियन्त्रण रखकर द्वारा परिवार अनेक नई कम्पनियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर सका। इस प्रवृत्ति ने भी आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को बल दिया।

5 तीव्र औद्योगीकरण द्वितीय विश्वयुद्ध ने भारत में औद्योगिक गतिविधियों को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जब देश में आर्थिक नियोजन के युग का सूत्रपात हुआ तो औद्योगीकरण की गति और अधिक तीव्र हो गई। चूंकि तीव्र औद्योगीकरण के लक्ष्य को अल्प अवधि में प्राप्त करने का उद्देश्य रहा है अतः सरकार को औद्योगिक विकास के लिए उन लोगों का सहारा लेना पड़ा जो पहले से ही इस क्षेत्र में विद्यमान थे। इसका परिणाम यह हुआ कि ये लोग और अधिक शक्तिशाली हो गए और आर्थिक सत्ता इनके हाथों में केन्द्रित हो गई।

(6) वित्तीय संस्थानों पर नियन्त्रण बैंक राष्ट्रीयकरण के पूर्व इन समूहों का देश के बड़े बड़े बैंकों पर नियन्त्रण था, जिससे कि इन संस्थानों को वित्त प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी, तथा छोटे पैमाने के उद्योग इन लाभों से वंचित रह जाते थे और अब भी बैंक राष्ट्रीयकरण के पश्चात इन नीतियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

---

1 Thus, he period mm dia ely following in open c, the very fo ces which were harressed to produce the quick ndustri isat on of the count y worked at the same time to concentr ts power in industry in a few individuals or fam lies who were already weal hy and powe ful Govt of India Report of the Monopolies Inquiry Commission p 6

(7) बड़े पैमाने की बचतों के लाभ : इन संस्थानों को बड़े पैमाने की बचतो के लाभ भी प्राप्त हुए हैं जिससे कि ये उत्पादक अपनी उत्पादन लागत को घटाने में सफल हो जाते हैं, और इस प्रकार से छोटे उद्योग अपने आप बाजार छोड़ देते हैं। फलस्वरूप आर्थिक सत्ता चन्द हाथों में ही केन्द्रित होकर रह जाती है।

(8) सरकारी नीति : आर्थिक सत्ता के सकेन्द्रण के लिए सरकारी नीति भी जिम्मेदार है। नए उद्योगों के लिए लाइसेन्स प्राप्त करने में, तथा इसी प्रकार से कई वित्तीय सुविधाएँ जैसे कर प्रोत्साहन आदि मिलने में इन बड़े उद्योगपतियों को फायदा पहुँचा है। इसके साथ साथ विदेशी विनिमय, आयात लाइसेंस आदि प्राप्त करने की उदार नीति ने भी इन उद्योगपतियों को फायदा पहुँचाकर आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण में वृद्धि की है। इस प्रकार की प्रणाली में छोटे व्यवसायियों को अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। डॉ. मुगाजन के अनुसार, "लाइसेंस लेने की प्रणाली ने इन एकाधिकारी संस्थाओं को लोकतान्त्रिक बनाने के बजाय सुदृढ़ ही बनाया है।"

(9) सरकारी क्षेत्र के वित्तीय संस्थानों का कार्य भाग : सरकारी वित्तीय संस्थानों ने भी आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण में वृद्धि की है। जीवन बीमा निगम के 70% दीर्घकालीन ऋण तथा स्टेट बैंक आफ इण्डिया के 62% ऋण इन बड़े संस्थानों को प्राप्त हुए हैं। फलस्वरूप आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण हुआ है।

(10) प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली ने भी आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण में वृद्धि की है। इस पद्धति के अन्तर्गत एक फर्म का प्रबन्ध किसी एक व्यक्ति के हाथ में एक उचित प्रतिफल के बदले सौंप दिया जाता है। इस प्रकार कुछ व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रीयकरण हो जाता है। इस पद्धति के आर्थिक दोषों को देखते हुए 3 अप्रैल, 1970 से सरकार ने कम्पनी अधिनियम में संशोधन करके इस प्रणाली को समाप्त कर दिया है।

केन्द्रीयकरण के परिणाम

भारत जैसी अर्थव्यवस्था में जहाँ पर 45% जनसंख्या जीवन स्तर की न्यूनतम सीमा से भी नीचे निवास करती है, इस अर्थव्यवस्था में इस केन्द्रीयकरण के कितने भयंकर परिणाम हो सकते हैं, इसकी कल्पना खुद ही की जा सकती है। सन् 1950 से जब से स्वतन्त्र भारत ने संविधान को स्वीकार किया है, समाजवाद की स्थापना का ध्येय, व्यक्तियों को रोजगार दिलाने का वायदा आदि सारे लक्ष्य सरकार ने एक ताक में रख दिया है और भ्रष्टाचार के एक ऐसे रूप को जन्म दिया है, जिसका कि बोझ एक साधारण नागरिक द्वारा सहन नहीं किया जा सकता और यह धन के केन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप ही हो रहा है।

जैसा कि लिखा जा चुका है, कि हालाकि देश मे आर्थिक विकास की दर बढ़ी है, लेकिन इसका लाभ कितने व्यक्तियो को मिला है। इस केन्द्रीयकरण के बड़े भयकर परिणाम होते हैं, जिससे कि हानि आम उपभोक्ता वर्ग को होती है। एकाधिकारी प्रवृत्ति के कारण वस्तुओ की कीमतो मे तीव्र गति से वृद्धि हो रही है, वस्तुओ की किस्मो मे गिरावट, छोटे उद्योगपतियो का बाजार से निकाल फेंकना आदि प्रवृत्तियां बहुत ही तीव्र गति से जन्म ले रही है।

केन्द्रीयकरण के बुरे परिणाम यहीं तक सीमित नहीं हो रहे हैं, बल्कि सग्रह की प्रवृत्ति, सट्टेबाजी आदि की प्रवृत्ति भी तीव्र गति से बढ़ती जा रही है। गरीब और अमीर के बीच असमानता की खाई बढ रही है।

आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण के परिणाम सामान्यतः निम्नलिखित है :

1. देश के कुछ चुने हुए बड़े-बड़े व्यापारिक घराने सामान्य चुनाव के समय राजनैतिक दलो (खासकर सत्तारूढ दल) को बहुत बडी धनराशि चन्दे के रूप में देकर, अनैतिकता एव रिश्वतखोरी को बढ़ावा देते हैं।

2. देश की नयी पीढ़ी मे सामाजिक एव बौद्धिक मूल्यों का ह्रास होता जा रहा है। वे अब अधिक धनवान लोगों के विलासपूर्ण जीवन एवं उपभोग का अनुकरण करते जा रहे हैं जो निश्चय ही देश के लिए अहितकर है।

3. आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण ने एकाधिकार सम्बन्धी दोषों को जन्म दिया है। आज बडे बडे व्यापारिक समूह समाचार पत्रों पर भी नियन्त्रण रखने लगे हैं तथा विज्ञापन के माध्यम से भी वे छोटे साहसियो को परास्त करने मे सफल होते जाते हैं जिससे धन और आय की विषमता मे और अधिक वृद्धि होती है।

4. पूंजी निर्माण मे भी आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण ने कई प्रकार से बाधाएं पैदा की है। इनके द्वारा होने वाली बचतो का प्रयोग दिखावे के उपभोग में अधिक हुआ है। इन लोगो ने बचत किए गए धन को देश के आर्थिक विकास मे न लगाकर भूमि, सोना-चांदी, आभूषण आदि में लगाया है जिससे पूंजी निर्माण की गति मन्द पड़ी है।

5. आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण ने छोटे-छोटे साहसियों का गला घोटकर उत्पादक कुशलता को कम किया है। इसके फलस्वरूप छोटे-छोटे उत्पादकों मे साहस घटा है, उनकी आगे बढ़ने व आर्थिक विकास मे योग देने की क्षमता मे शिथिलता आई है। इन सबका परिणाम यह हुआ है कि देश मे उत्पादन की मात्रा में आपेक्षित वृद्धि नहीं हुई है।

6. आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण ने देश में धन व आय सम्बन्धी विषमताओं मे वृद्धि की है जिसके अनेक दुष्परिणाम हुए हैं।

आर्थिक सकेन्द्रण को दूर करने के उपाय

आज भारतवर्ष मे केन्द्रीयकरण की भावना इस हद तक बढ गई है, कि सरकार हमेशा इसको दूर करने के लिए चिन्तित है। लेकिन इसको दूर करने के सारे उपाय व्यर्थ होंगे जब तक कि प्रशासन मे पूर्ण रूप से सुधार नहीं किया जाएगा, भ्रष्टाचार के गतिरोध को दूर करना सरकार के लिए एक बडी विवादग्रस्त विषय बन गया है, लेकिन प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या सरकार इसको दूर कर सकती है। आज भारतीय नागरिकों ने अपनी नैतिकता को बिल्कुल त्याग दिया है, जिसके कि बिना किसी भी प्रकार की सरकारी नीति सफल नहीं हो सकती है यहा पर इस विषय पर विवाद करना व्यर्थ है, क्योंकि भ्रष्टाचार को दूर करना किसी भी राष्ट्र की सरकार के हाथ मे नहीं है, अत आर्थिक सकेन्द्रण को दूर करने के लिए नीचे कुछ ऐसे उपाय बताए जा रहे हैं, जो कि सरकार की नीति निर्धारक तत्व के रूप मे अनिवार्य साबित होंगे।

(1) सार्वजनिक क्षेत्र का विकास सरकार को सार्वजनिक क्षेत्र का विकास करना चाहिए, लेकिन निजी क्षेत्र को इस प्रकार हतोत्साहित नहीं करना चाहिए, कि देश विकास के कार्यक्रमो मे बाधा उपस्थित हो। खासतौर से ऐसे क्षेत्रों में अधिक से अधिक मात्रा में प्रविष्ट होना चाहिए, जहा पर कि निजी क्षेत्रों का एकाधिकार है।

(ii) सहकारी क्षेत्र का विकास सहकारी क्षेत्र को चीनी तथा जूट बनाने तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए, बल्कि सहकारिता के क्षेत्रों का अधिक से अधिक विकास करना चाहिए।

(iii) छोटे उद्योगों का विकास सरकार को अपनी औद्योगिक नीति मे इस प्रकार का परिवर्तन करना चाहिए कि जहा पर छोटे उद्योगपतियों द्वारा कारखाने का विकास किया जा सकता है, वहा पर बड़े उद्योगपतियों को हतोत्साहित करना चाहिए।

(iv) वित्तीय संस्थाओं द्वारा ऋण की सुविधाए सरकार को इन वित्तीय संस्थाओं के लिए एक ऐसी नीति बनानी होगी, जिससे कि ऋण आदि की सुविधाए इन छोटे उद्योगपतियों को प्राप्त हो, तथा एक निश्चित सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए, कि उस सीमा तक ऋण की सुविधाए उद्योगपतियों को देनी अनिवार्य होगी।

(v) लाइसेंसिंग प्रणाली में प्रशासनिक सुधार सरकार को लाइसेंस देने के के लिए अपने उच्च स्तर के प्रशासनिक व्यक्तियों को सुधारना अनिवार्य है, क्योंकि बड़े उद्योगपति अपने 'सम्पर्क' के कारण इन व्यक्तियों को प्रभावित करने मे सफल हो जाते हैं, जिससे कि अधिकाधिक लाइसेंस प्राप्त कर लेते हैं।

(vi) प्रशासनिक भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि राजनैतिक दल अपने चुनाव कार्यक्रमों के लिए बड़े-बड़े औद्योगिक गृहों से चन्दे स्वीकार न करें।

(vii) उद्योगों की स्थापना एवं विस्तार के लाइसेन्स देने की विधि को इस प्रकार सरल बनाया जाय कि साहसी बिना अधिक धन व्यय किए तथा अधिक प्रतीक्षा किए आवश्यक लाइसेन्स प्राप्त कर सकें।

(viii) उपभोक्ता सहकारी समितियों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। साथ ही सरकार द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तुओं में लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

हालांकि पिछले कुछ वर्षों में सरकार ने आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को समाप्त करने के लिए कुछ कदम उठाए हैं, लेकिन प्रश्न यह है कि क्या आर्थिक विकास की दर बढ़ाना तथा आर्थिक असमानता को दूर करने के बीच एक समन्वय स्थापित किया जा सकता है। एक तरफ तो आर्थिक विकास की दर को बढ़ाना भी किसी भी राष्ट्र के लिए अनिवार्य होगा, तथा दूसरी तरफ आर्थिक असमानता को दूर करने के प्रयत्न भी अनिवार्य है, लेकिन दोनों कदम सरकार के द्वारा एक साथ नहीं स्थापित किए जा सकते, अगर इसके लिए प्रयत्न भी किए जायें, तो सरकारी नीतियों को उसी प्रकार से निर्धारित करना होगा जिससे कि दोनों कार्य एक साथ हो सकें।

एकाधिकार जांच आयोग (Monopolies Inquiry Commission)

इस आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को दूर करने के लिए सरकार ने 1964 में श्री के. सी. दास गुप्ता की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की थी, जिसने अपनी रिपोर्ट 1965 में पेश की। इस आयोग ने उद्योगों में दो प्रकार के केन्द्रीयकरण के रूप बताए।

(i) वस्तु के अनुसार केन्द्रीयकरण (Product-wise Concentration)

(ii) देश के अनुसार केन्द्रीयकरण (Coutrby wise Concen trabion)

(i) वस्तु के अनुसार केन्द्रीयकरण में एक विशेष वस्तु या सेवा के उत्पादन या वितरण सम्बन्धी शक्ति किसी एक या कुछ फर्मों अथवा बहुत सी फर्मों (चाहे ये बहुत सी फर्में कुछ परिवारों द्वारा नियन्त्रित की जाएं) के पास हो। (ii) जब वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण में संलग्न अनेक फर्मों का नियन्त्रण एक व्यक्ति या एक परिवार के पास हो तो यह देश के अनुसार केन्द्रीयकरण कहलाता है।

आयोग ने उत्पादानुसार केन्द्रण में 100 वस्तुओं की जांच की, जिसमें अनिवार्य आवश्यकताओं वाली वस्तुओं में (जैसे साबुन, दियासलाई, जूते, ब्लेड,

पाउडर तथा दवाईयो आदि मे) केन्द्रीयकरण की अधिक मात्रा विद्यमान है । करीब 55 वस्तुओ मे उच्च सीमा का केन्द्रीयकरण पाया गया तथा तीन उत्पादक 75 प्रतिशत से अधिक माल उत्पन्न कर रहे है ।

देश के अनुसार केन्द्रीयकरण के लिए आयोग ने 2259 कम्पनियो के विस्तृत आकड़े एकत्र किये, जो कि 83 बड़े व्यवसायिक समूहो के अधिकार मे है, जिनमे से 75 समूहो की परिसम्पत्ति 5 करोड रुपये से कम नही है । इसमे से प्रथम स्थान टाटा का है, तथा द्वितीय बिरला का ।

अप्रेल 17, 1973 को लोक सभा मे सकेन्द्रण के सम्बन्ध मे दी गई जानकारी की कुछ मुख्य बातें निम्न तालिका मे दी गई है —

फर्म का नाम	कुल बिक्री (करोड रु०)	आयकर से पहले नफा (करोड रु०)
बिड़ला	718	62
टाटा	679	54
मफतलाल	165	12
श्रीराम	153	8
बागड	137	6
थापर	127	13
साराभाई	127	8
आई० सी० आई०	105	11
साहूजैन	101	3
बर्ड हिल्जर	100	3

देश के प्रमुख 20 उद्योगपतियों मे उपर्युक्त 10 के अलावा अन्य 10 क्रमशः इस प्रकार है वाल चन्द, सिघानिया, ए० सी० सी०, गोयनका, किर्लिक, अण्ड्रयूल, सिंधिया, किला चन्द, कार्टिन बर्न तथा सूरजमल नागरमल । उपर्युक्त अक मार्च 1971 के है ।

एकाधिकारात्मक व प्रतिबन्धात्मक व्यवहार (Monopolistic and Restrictive Pact) :

एकाधिकारात्मक व्यवहार से तात्पर्य ऐसी क्रिया से है, जिसका उद्देश्य एकाधिकारी शक्ति का सरक्षण, वृद्धि या समेकन होता है ।

प्रतिबन्धात्मक कार्य प्रतिस्पर्धी शक्तियो के मार्ग मे बाधक होते है या जो पूजी या साधनो के उत्पादन मे लगाने के स्वतन्त्र प्रवाह मे बाधक होते हैं । प्रायः यह सात प्रकार के होते है जो निम्न हैं :

(1) कीमतो का क्षैतिज नियन्त्रण (Horizontal Fixation of Prices)

(2) कीमत का उदग्र निश्चयन और पुन विक्रय कीमत को कायम रखना (Vertical Fixation of Price and Price Re sale Maintenance) (3) उत्पादकों के बीच बाजारों का बटवारा (Allocation of Markets between Producers) (4) क्रेताओं के बीच भेद भाव (Discrimination between Purchasers (5) बहिष्कार (Boycott) (6) एकान्तिक व्यापार संधि (Exclusive dealing Contracts) (7) अनुबन्धबद्ध प्रबन्ध (Tie up arrangements)

एकाधिकार जांच आयोग की सिफारिशें (Recommendations of Monopoles Inquiry Commission)

(अ) **गैर वैधानिक** (Non legislative) आर्थिक केन्द्रीकरण को रोकने के लिए कुछ सुझाव दिए भी जा चुके हैं लेकिन एकाधिकार जांच आयोग ने कुछ सुझाव और दिए हैं, जिनमे से गैर वैधानिक सुझाव निम्न हैं

(1) एक एकाधिकारात्मक एवम प्रतिबन्धात्मक व्यवहार आयोग की स्थापना होनी चाहिये जो कि इनसे होने वाले खतरा को दूर करने के लिए सुझाव देगी।

(2) सरकार को लाइसेंस जारी करने में छोटे उद्योगपतियों को लाइसेंस देने में उदारता की नीति को अपनाना चाहिए।

(3) विदेशी मुद्रा की परिस्थितियों को देखते हुए आयात लाइसेंस प्राथमिकता के आधार पर मिलने चाहिए तथा जिन उद्योगों के लिए प्रत्यक्ष रूप से इसकी आवश्यकता है।

(4) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया जाना चाहिए।

(5) सरकारी क्रय के लिए प्राथमिकता छोटे उद्योगों को मिलनी चाहिए।

वैधानिक सुझाव (Legislative Suggestions)

(1) आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण का अन्त तब ही करना चाहिए, जब यह उत्पादन व वितरण के लिए खतरा बन जाती है।

(2) एकाधिकारात्मक व प्रतिबन्धात्मक प्रयत्नों पर रोक लगानी चाहिए।

(3) एक ऐसी स्थायी संस्था की स्थापना करनी चाहिए जो ऐसी संस्थाओं की गतिविधियों का अध्ययन करे। मुनाफाखोरी का अन्त करें तथा कीमतों को स्थिर रखने में मदद प्रदान करें।

सरकारी उपाय

एकाधिकार जांच आयोग की सिफारिशों के आधार पर एकाधिकार व प्रतिबन्धात्मक व्यापार अधिनियम 1969 (The Monopolies and Restrictive Trade Practices Act, 1969) जून 1970 से लागू हो गया था तथा अगस्त 1970, में तीन व्यक्तियों का एकाधिकार व प्रतिबन्धात्मक व्यापार विधि आयोग

स्थापित किया है, जिसका प्रमुख कार्य आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकना है तथा प्रभुत्वशील या बड़े प्रतिष्ठानों की क्रियाओं को नियन्त्रित करना है।

आज सरकार के सामने बड़ी चुनौतीपूर्ण स्थिति है, कि क्या आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोककर आर्थिक विकास का मुख्य लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। क्या सार्वजनिक क्षेत्र का विकास करके केन्द्रीयकरण को रोका जा सकता है? अब परिस्थिति इतनी विषम हो गयी है कि सरकार को अगर आर्थिक विकास के कार्यक्रमो को पूरा करना है, तो सार्वजनिक क्षेत्र मे कार्यकुशलता को बढाना होगा। कुटीर तथा लघु उद्योगो का तीव्र गति से विकास करना अनिवार्य हो गया है, अतः उसके लिए वैसी ही परिस्थितिया बनानी होगी जिससे लक्ष्यो को पूरा किया जा सके।

प्रश्न

1. भारत मे निजी क्षेत्र मे आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण के क्या कारण रहे हैं? भारत सरकार ने इस केन्द्रीकरण रोकने के लिए क्या उपाय अपनाए है?

[राज० वि० वि० द्वितीय वर्ष कला 1973]

22
भारत में रेल परिवहन
(Rail Transport in India)

"The extraordinary rapidity with which the constructior of railways in India was achieved, produced an economic revolu tion in that country which like all revolutions, was not unacc ompanied by sufferings. The obligations to save life in times oj drought and the necessity of lines of strategic utility have beei the cause of rapidity"

— **Loveday**

रेलें वास्तव मे देश की जीवन रेखाए हैं, जिन पर देश के यात्रियो और सम्पदा का इस प्रकार आवागमन होता रहता है जैसे मानव शरीर मे रक्तवाहिनी नाडियो के द्वारा रक्त प्रवाह होता है । भारतीय रेल देश का सबसे पुराना, सबसे बडा और सम्भवत. सबसे अधिक सगठित सरकारी प्रतिष्ठान है। सगठन की दृष्टि से भारतीय रेलो का एशिया मे प्रथम तथा विश्व मे चौथा स्थान है। लम्बाई की दृष्टि से यह विश्व मे दूसरी सबसे बडी व्यवस्था है। आज भारतीय रेलें आत्म-निर्भरता एव प्रगति के स्वर्णिम युग म हैं तथा विश्व के ऐसे गिने चुने देशो मे से एक है, जिन्हे रेल सम्बन्धी प्रत्येक क्षेत्र की पर्याप्त जानकारी है। भारतीय रेलें अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के साथ-साथ विदेशो को भी रेल सामग्री का निर्यात कर रही हैं।

रेलो का विकास : भारतवर्ष में रेल यातायात का प्रारम्भ सन् 1853 ई० से प्रारम्भ हुआ। इसी वर्ष बम्बई से थाना तक 22 मील की दूरी पर प्रथम रेलगाडी चलाई गई। सन् 1854 मे कलकत्ते मे भी एक रेलवे लाईन बनाई गई। विकास के प्रारम्भिक वर्षों मे रेल यातायात ने बहुत तीव्र गति से विकास किया। इस काल मे रेलों के विकास की प्रमुख विशेषता यह थी कि इनका विकास देश मे उद्योगो के विकास के साथ-साथ ही हुआ। सन् 1900 ई० तक भारतवर्ष मे 25,000 मील

लम्बा रेल मार्ग तैयार हो चुका था। आरम्भ में रेलों का प्रबन्ध निजी कम्पनियों के हाथ में था जिनके मालिक अंग्रेज थे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक 50 वर्षों में रेलों के विकास की गति बहुत धीमी रही। सन् 1950 ई० तक केवल 34,000 मील से कुछ ही अधिक रेल मार्ग बनाया गया था। भारतवर्ष में रेल परिवहन के विकास का कार्य निजी कम्पनियों के हाथ में था, जिन्हें सरकार ने कई सुविधाएं दे रखी थी : मुफ्त जमीन, 'पूंजी पर निम्नतम लाभ या ब्याज की गारन्टी' आदि। निजी कम्पनियों द्वारा रेल यातायात का विकास वांछित गति से होने के कारण तथा इनकी प्रबन्ध सम्बन्धी आलोचनाओं के कारण सन् 1925 ई० में भारत सरकार ने पहली रेलवे कम्पनी अपने अधिकार क्षेत्र में ले ली। सन् 1944 तक धीरे-धीरे सभी निजी रेलवे कम्पनियां समाप्त हो गईं और उनका स्वामित्व सरकार के हाथों में आ गया। सन् 1944 में भारतवर्ष में 3 प्रकार की रेलें थीं : (i) सरकार के अधिकार व प्रबन्ध क्षेत्र की रेलें; (ii) देशी महाराजाओं के अधिकार क्षेत्र की रेलें; तथा (iii) कुछ छोटी-छोटी रेलें। इनके प्रबन्ध एवं स्वामित्व में भिन्नता पाई जाती थी। इनमें से कुछ लाइनें इतनी छोटी थीं कि उनका लाभप्रद होना असम्भव था। इनकी कार्य विधि भी अलग-अलग थी। पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा एवं द्वेष भाव के कारण जनता को भी कुशल एवं यथोचित सेवा भी नहीं प्राप्त हो पाती थी। रेल-इकाइयों की अनेकता के कारण प्रबन्ध में भी कुशलता एवं मितव्ययता नहीं हो पाती थी। अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सन् 1950 ई० में देशी राजाओं के अधीन समस्त रेलों को भारत सरकार ने अपने अधिकार क्षेत्र में ले लिया तथा उनके प्रबन्ध में सुधार करने के उद्देश्य से इनका पुनर्वर्गीकरण (regrouping) कर दिया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत को जो रेल व्यवस्था विरासत में मिली, वह 1930 के वर्षों की मंदी तथा द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान रेलों के व्यापक उपयोग के कारण जीर्णावस्था में पहुंची हुई थी। फिर देश के विभाजन के परिणामस्वरूप भी भारत की रेल सम्पत्ति और कम हो गई थी।

रेलों के पुनर्वर्गीकरण के पश्चात् अब रेलों के 9 क्षेत्र हैं। सबसे पहले सन् 1951 में उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी, केन्द्रीय व उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र बनाये गये। सन् 1955 व 1958 में क्रमशः पूर्वी रेलवे व उत्तरी रेलवे के दो दो टुकड़े कर दिये गये। अक्टूबर 1966 को रेलवे का 9वां क्षेत्र 'दक्षिणी केन्द्रीय रेलवे' बनाया गया। इस प्रकार भारतवर्ष में इस समय रेलों के 9 क्षेत्र हैं : (i) दक्षिणी रेलवे; (ii) मध्य रेलवे; (iii) पश्चिमी रेलवे; (iv) उत्तरी रेलवे; (v) उत्तरी-पूर्वी रेलवे, (vi) पूर्वी-रेलवे, (vii) दक्षिणी-पूर्वी रेलवे; (viii) उत्तरी पूर्वी सीमान्त रेलवे; (ix) दक्षिणी-केन्द्रीय रेलवे।

रेलों के पुनर्वर्गीकरण से प्रबन्ध में कुशलता की सम्भावनाएं बढ गई हैं तथा बड़े पैमाने पर प्रबन्ध से प्राप्त होने वाली मितव्ययताएं भी सम्भव हो गई हैं। पुनर्वर्गीकरण ने पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा को भी समाप्त कर दिया है।

योजनाकाल में रेल परिवहन का विकास : योजना प्रारम्भ होने के 10 वर्ष पूर्व से ही भारतीय रेल व्यवस्था पर युद्ध एवं देश विभाजन के परिणामस्वरूप भार बहुत अधिक बढ गया था जिससे देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था प्राय अस्त-व्यस्त हो गई थी। अत योजना के प्रारम्भिक वर्षों में रेलों के आधुनिकीकरण व प्रतिस्थापन पर बल दिया जाना आवश्यक था। नियोजन काल में रेल परिवहन की दिशा में जो प्रगति हुई उसका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में रेलें प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत रेल परिवहन पर 423 23 करोड रु० खर्च किए गये जिनमे से 242 करोड रुपये केवल इन्जिनों व डिब्बों पर व्यय किया गया। इस योजना के दौरान रेल परिवहन में 16% वृद्धि हुई। प्रथम योजना का मुख्य उद्देश्य द्वितीय विश्वयुद्ध तथा देश के विभाजन के कारण हुई क्षति को पूरा करना था। इस योजना काल में रेल इन्जनों, सवारी डिब्बों एव माल के डिब्बों मे क्रमश 1586, 4758 तथा 61254 की वृद्धि हुई। रेलों को आत्म निर्भर बनाने के लिए चितरन्जन मे इन्जन बनाने तथा मद्रास के निकट रेल के डिब्बे बनाने का कारखाना लगाया गया। सन् 1955-56 तक रेलो ने प्रतिवर्ष 179 इन्जन, 14300 माल के डिब्बे तथा 940 सवारी डिब्बे बनाने की क्षमता प्राप्त करली। योजनावधि मे 430 मील लम्बे पुराने रेल मार्गों को चालू किया गया तथा 1304 कि० मी० लम्बे नए रेल मार्गों का निर्माण किया गया। 46 माल लम्बे मार्ग को नैरोगेज से मीटर गेज मे परिवर्तित किया गया। *प्रथम योजना के अन्त में कुल इसकी लम्बाई 34,736 मील थी।*

द्वितीय योजना में रेलें द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल मे रेल परिवहन की क्षमता को बढाने, रेल मार्गों, पुलों, इन्जिनो तथा डिब्बों आदि के पुन स्थापन के कार्य को पूरा करने तथा रेलो को आत्मनिर्भर बनाने का उद्देश्य था। इस योजनावधि मे रेलों पर लगभग 1041.69 करोड रुपये व्यय किए गए। इस योजनावधि मे लगभग *1311 कि०मी० नई लाइनें बिछाई गई। 1512 किलोमीटर लाइनों को दोहरा कर* दिया गया। द्वितीय योजना काल मे रेलवे लाइनों की लम्बाई 65,963 कि० मी० हो गई। योजनाकाल मे पैसेन्जर ट्रैफिक मे 27 प्रतिशत तथा माल ढुलाई मे 26 प्रतिशत वृद्धि हुई। द्वितीय योजनाकाल मे 2216 इन्जन, 7718 यात्री डिब्बे तथा 97,959 मालगाडियों के डिब्बों को प्राप्त किया गया। द्वितीय योजना काल में चितरन्जन के कारखाने में 831 इन्जन तथा टेल्को (Tata Engineering and

Locomotive Works Co. Ltd.,) द्वारा मीटर गेज के 246 इंजिनों का उत्पादन हुआ।

तृतीय योजना में रेलवे : तृतीय योजना में रेल परिवहन के विकास पर 1685.8 करोड़ रुपये व्यय किए गए। इस योजनावधि में यात्रियों के आवागमन में 15 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया तथा 26.40 करोड़ टन माल ढोने की व्यवस्था की गई लेकिन योजनावधि में वृद्धि केवल 20.5 करोड़ टन ही हो सकी। इस योजना में 1801 किलोमीटर नई रेलवे लाइनें बनाई गईं, 3228 किलोमीटर रेलवे लाइनों को दोहरा किया गया। योजनावधि में इंजनों, सवारी डिब्बों एवं मालगाड़ी के डिब्बों में क्रमश: 1864; 8019, 1 44,789 की वृद्धि हुई।

भारतवर्ष में विभिन्न योजनाओं में किए गए व्यय के फलस्वरूप रेल परिवहन के विकास से सम्बन्धित कुछ आंकड़े निम्न तालिका में दिए जा रहे हैं :

योजनाओं के अन्तर्गत रेल परिवहन की प्रगति

विवरण	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	वार्षिक योजनाएं	चतुर्थ योजना
1. नई रेलवे लाइनें (किलोमीटर में)	1304	1311	1,801	1061	1020
2. लाइनों को दुहरी बनाना (किलोमीटर में)	370	1512	3,228	1268	1800
3. विद्युतीकरण (किलोमीटर में)	—	361.5	1 746	541	1700
4. रोलिंग स्टाक का निर्माण					
(क) इंजन	1586	2,216	1,864	877	1260
(ख) सवारी डिब्बे	4,758	7,718	8,019	3795	6500
(ग) मालगाड़ी के डिब्बे	61,254	97,959	1,44,789	55,317	1,01,000

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना : चौथी पंचवर्षीय योजना के दौरान रेल परिवहन के विकास पर कुल मिलाकर 1525 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था है। इसमें से रेलवे 525 करोड़ रु० अपनी सचित निधियों से व्यय करेगी तथा शेष 1000 करोड़ रु० की व्यवस्था सरकार द्वारा रेलवे विकास कार्यक्रम के लिए निर्धारित की गई है। इस योजनाकाल में 1020 किलोमीटर मार्ग में नई रेलवे लाइनों का निर्माण

किया जायेगा। 1700 किलोमीटर रेल भाग पर बिजली द्वारा तथा 2800 किलोमीटर रेल मार्ग पर डीजल द्वारा गाड़िया प्रारम्भ करने का कार्यक्रम है। इस योजनाकाल में 6500 सवारी डिब्बे तथा 101000 मालगाड़ी के डिब्बो के निर्माण करने का लक्ष्य है। योजनावधि में सवारी व माल परिवहन की वृद्धि, परिचालन लागत मे कमी तथा आधुनिकीकरण पर विशेष ध्यान दिया जायेगा तथा रेल प्रणाली की कुशलता बढाई जायेगी।

वर्तमान अवस्था भारतवर्ष में इस समय रेल परिवहन कुल माल परिवहन का 80% तथा यात्री परिवहन का 70% भाग ले जाता है। रेलो द्वारा प्रतिदिन लगभग 64 5 लाख यात्री यात्रा करते हैं तथा 5 7 लाख टन माल प्रतिदिन ढोया जाता है। देश मे प्रतिदिन लगभग 10,800 गाड़िया चलती हैं। इस समय देश मे 12000 इजन, 34700 यात्री डिब्बे तथा 3 84 लाख मालगाड़ियो के डिब्बे हैं। भारत के सार्वजनिक क्षेत्र मे रेल्वे सबसे बडा उद्योग है। इसमें 13 60 लाख से अधिक स्थायी और करीब 3 लाख अस्थायी कर्मचारी काम करते हैं। आज भारतवर्ष मे रेल मार्गों की लम्बाई 59684 किलोमीटर है। यह देश का सबसे बडा राष्ट्रीयकृत उद्योग है जिसके पास 3928 करोड रुपए से भी अधिक की सम्पत्ति है तथा जिसकी वार्षिक आय 1078 करोड रुपये से भी अधिक है।

रेल यातायात की समस्याएं भारतीय रेल यातायात के सामने कुछ महत्वपूर्ण समस्याए हैं जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं

1 **बिना टिकिट यात्रा** भारतवर्ष मे एक अनुमान के अनुसार बिना टिकिट यात्रा के फलस्वरूप 5 से 7 करोड रु० तक की प्रति वर्ष रेलवे प्रशासन को हानि होती है। बिना टिकिट यात्रा करने वालों मे प्राय विद्यार्थियों, रेलवे कर्मचारियों व उनके मित्र तथा सम्बन्धियों तथा पुलिस कर्मचारियो, साधुओ व भिखमगो की सख्या अधिक होती है। वे लोग भी जिन्हें भीड के कारण टिकट नही मिल पाते, बिना टिकट यात्रा करते हैं। बिना टिकट यात्रा के कारण एक ओर तो रेलों को आर्थिक हानि होती है तथा दूसरी ओर टिकिट पर यात्रा करने वाले यात्रियों को कष्ट होता है।

2 **दुर्घटनाओं की अधिकता** गाड़ियों के टकरा जाने, पटरी से उतर जाने आग लग जाने, आदि से रेल दुर्घटना हो जाती हैं। इन दुर्घटनाओ के कारण रेल सम्पत्ति को बहुत अधिक हानि होती है तथा बहुत से यात्री घायल हो जाते हैं या मर जाते है, जिनके लिए रेलों को क्षतिपूर्ति करनी पडती है। रेल कर्मचारियों की असावधानी व अनुशासनहीनता तथा तोड फोड की कार्यवाहियो के कारण भी आजकल रेल दुर्घटनाओ की सख्या बढ गयी है।

3 कार्यक्षमता का अभाव : भारतीय रेलो की कार्यक्षमता विदेशों की तुलना मे बहुत कम है। तेज चलने वाली गाडियां यहां बहुत कम हैं। गाडियों का समय पर न जाना एक सामान्य बात है। कार्य कुशलता की कमी का नुकसान यात्रियों व माल भेजने वालो को उठाना पड़ता है।

4 यात्रियों को अधिक सुविधा दिलाने की समस्या : रेलगाडियों में प्राय: बहुत भीड़-भाड़ होती है। तृतीय श्रेणी के यात्रियों को यात्रा के दौरान काफी कष्ट उठाने पड़ते हैं। डिब्बो मे प्राय समुचित रोशनी व पखो का अभाव होता है। विश्राम गृह, कैन्टीन व्यवस्था, पीने के पानी का प्रबन्ध, सोने की व्यवस्था, सफाई, आदि की व्यवस्था का भी प्राय छोटे छोटे स्टेशनो पर अभाव होता है।

5 रेलवे इजनों तथा डिब्बो की कमी यद्यपि देश मे रेलवे इजन व डिब्बो का निर्माण होने लगा है तथापि देश की आवश्यकता को देखते हुए बहुत अधिक सख्या मे इजनो, डिब्बो व वैगनो की आवश्यकता है। भारतवर्ष मे बहुत से इजन, डिब्बे तथा वैगन घिस चुके हैं जिनके प्रतिस्थापन की समस्या भी बडी महत्वपूर्ण है।

6 रेल मार्गों के विस्तार की समस्या एक अनुमान के अनुसार भारतवर्ष मे एक लाख व्यक्तियो के पीछे केवल 9 6 मील लम्बा रेल-मार्ग उपलब्ध है, जबकि अमेरिका, कनाडा व इगलैंड मे प्रति लाख जन सख्या के पीछे क्रमश 224, 465, व 46 मील लम्बा रेल मार्ग उपलब्ध है। यद्यपि भारतीय रेल-व्यवस्था एशिया में सबसे बडी तथा विश्व मे चौथे नम्बर पर है तथापि अन्य देशो से तुलना करने पर हमें पता चलता है कि हम इस दिशा मे कितने पीछे हैं। देश का क्षेत्र, जन सख्या तथा विकास की योजनाओ को देखते हुए रेल मार्गों के विस्तार की समस्या बडी प्रमुख समस्या है।

7 ईंधन की समस्या भारतवर्ष मे अधिकाश इजन भाप से चलते हैं जिसके लिए उत्तम कोटि के कोयले की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष मे इस प्रकार से कोयले की कमी है। विद्युत शक्ति का भी अभी इस क्षेत्र में समुचित प्रयोग नहीं किया गया है।

8 लाइनों के बदलने की समस्या भारतवर्ष मे आधे से अधिक रेलवे लाइनें मीटर व नैरोगेज की हैं। रेलो की कार्यकुशलता बढाने के लिए इन लाइनों को ब्राड गेज में बदलने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र मे देश में हो रहे कार्य की गति बहुत धीमी है।

9 रेल लाइनों को दोहरा करने की समस्या भारतवर्ष की अधिकांश रेलें एक-मार्गीय हैं। गाडियो के बिना बाधा आने जाने के लिए तथा दुर्घटनाओं को कम करने के लिए रेल मार्गों को दोहरा किया जाना आवश्यक है। यद्यपि देश मे रेल

मार्गों को दोहरा करने का कार्य पंचवर्षीय योजनाओं में किया गया है, तथापि इसकी गति बहुत मन्द है।

10. रेल सम्पत्ति की क्षति : आजकल देश के किसी हिस्से में राजनीतिक अशान्ति होने पर रेल सम्पत्ति को क्षति पहुंचाई जाती है। इस प्रकार की तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों से प्रति वर्ष रेलवे प्रशासन को करोड़ों रुपये की क्षति होती है।

11. यात्रा की असुरक्षा : आधुनिक युग में रेल यात्रा भी असुरक्षित होती जा रही है। असामाजिक तत्वों द्वारा आये दिन रेल के डिब्बों में लूट-पाट के समाचार मिलते रहते हैं जिससे रेलों की प्रतिष्ठा को धक्का लगा है।

12. चोरी की समस्या : भारतीय रेलों को, ऊपरी मार्ग के तारों की चोरी वैगनों व माल वाहनों की संगठित लूटपाट, वैगन फिटिंग्स व मार्ग फिटिंग्स की बड़े पैमाने पर आए दिन होने वाली चोरी से, प्रतिवर्ष करोड़ों रुपयों की आर्थिक क्षति होती है।

13. अन्य समस्यायें : रेलों के विद्युतीकरण, स्वचालित सिगनल व्यवस्था, संचालन क्षमता आदि की भी महत्वपूर्ण समस्यायें हैं, जिनका निराकरण किया जाना आवश्यक है।

सुझाव - रेल यातायात की उपर्युक्त समस्याओं को हल करने के लिए निम्नांकित सुझाव महत्वपूर्ण हैं :

(i) रेल दुर्घटनाओं को रोकने के लिए, दुर्घटनाओं के लिए जिम्मेदार लापरवाह कर्मचारियों को कड़ा दण्ड मिलना चाहिये, दुर्घटनाओं से बचने के लिए आधुनिकतम यन्त्रों का प्रयोग किया जाय, 'दुर्घटना बचाओ' सप्ताह मनाये जाएं, पदोन्नति योग्यता के हिसाब से की जाय, उचित प्रशिक्षण एवं योग्य कर्मचारियों की ही नियुक्ति की जाय, रेल सुरक्षा आयोग की स्थापना की जाय तथा रेल बोर्ड में सुरक्षा संचालक की नियुक्ति की जाय; (ii) बिना टिकट यात्रा को रोकने के लिए आवश्यक एवं प्रभावपूर्ण कदम उठाये जाएं, (iii) भारतीय रेलों को अपने कार्यकारी व्यय में किफायत करनी चाहिए, (iv) रेल यातायात को सुरक्षित व सुविधाजनक बनाया जाय, (v) रेल परिवहन से सम्बन्धित सामान का आयात कम किया जाय तथा देश को स्वावलम्बी बनाया जाय, (vi) रेल यातायात का विस्तार किया जाय तथा रेल प्रशासन की संचालन क्षमता बढ़ायी जाय, (vii) रेलों में आधुनिकीकरण की नीति का तत्परता से पालन किया जाय, तथा (viii) रेलों में आवश्यकता से अधिक कर्मचारी काम कर रहे हैं जिन्हें कम किया जाय।

भारतीय अर्थ व्यवस्था में रेलों का महत्व : भारतीय अर्थ व्यवस्था में रेलों के निर्माण एवं विस्तार का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसने हमारी अर्थ-

व्यवस्था के साथ-साथ सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था पर भी काफी प्रभाव डाला है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे रेलो के योगदान का अनुमान नीचे लिखे हुए विवरण से लगाया जा सकता है।

1. कृषि में योगदान : डा० जॉनसन के मतानुसार कृषि को स्थानीय महत्व की अपेक्षा राष्ट्रीय महत्व का विषय बना देने का श्रेय रेलो को ही है।[1] रेलो के विकास के कारण, कृषि पदार्थों का बाजार विस्तृत हुआ है, विभिन्न क्षेत्रो मे कृषि पदार्थों के मूल्यो का अन्तर कम हुआ है, परिवहन व्यय मे कमी हुई है, व्यापारिक फसलो की लोकप्रियता बढी है तथा नाशवान वस्तुओ का उत्पादन और व्यापार बढ़ गया है। रेलो के विकास से भ्रमण की प्रेरणा से किसानो के ज्ञान मे वृद्धि हुई है। उन्नत खेती के लिए उत्तम बीज, यन्त्र व उर्वरक ग्रामीण क्षेत्रो मे पहुचने लगे हैं। रेलो के ही कारण बहुत से ग्रामीण औद्योगिक केन्द्रो में श्रमिकों के रूप मे आ बसे हैं जिसके फलस्वरूप भूमि पर जनसंख्या का भार कम हो गया है।

2. औद्योगीकरण में योगदान : रेलो के विकास के फलस्वरूप कच्चे माल को कारखाने तक तथा बने हुए माल को बाजार तक पहुचाने मे सुविधा हो गयी है। इससे औद्योगीकरण को महत्वपूर्ण प्रोत्साहन मिला है। आज देश के तमाम बड़े-बड़े उद्योग इसीलिए विकसित हो रहे हैं, क्योंकि उन्हें रेल परिवहन का सस्ता व सुलभ साधन उपलब्ध है।

3. व्यापार में योगदान . रेलों के विकास ने देश के आन्तरिक व बाह्य व्यापार के विस्तार मे काफी योगदान दिया है। चाय, जूट, कपास, लोहा, कोयला, खालें, मैंगनीज, अभ्रक, तिलहन आदि वस्तुओ का निर्यात, रेल सुविधाओ के मिलने के कारण ही सम्भव हो सका है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भारतवर्ष की जो महत्वपूर्ण स्थिति है उसे बनाने मे रेलों का ही योगदान रहा है। दूध, फल, मछली, सब्जी, अंडों, आदि शीघ्र नष्ट हो जाने वाली वस्तुओ का देश-व्यापी व्यापार रेलो के कारण ही सम्भव हो सका है। इस प्रकार रेलो द्वारा सभी प्रकार की वस्तुओ और विशेषकर भारी एवं नाशवान वस्तुओं के बाजार के विस्तार में सहायता मिली है।

4 अन्य क्षेत्रो में योगदान : (i) रेलों के विकास से सस्ती, नियमित तथा द्रुतगामी डाक सेवा का प्रसार हुआ है; (ii) रेलो ने सांस्कृतिक दलो के आदान-प्रदान के माध्यम से राष्ट्रीय एकता की भावना को शक्तिशाली बनाया है; (iii) रेलों ने अन्ध विश्वास, छुआ-छूत तथा ऊँच-नीच के भेदों को समाप्त करने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है; (iv) रेल उद्योग मे देश की जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग को

1. *Dr. J Johnson* : The Economics of Indian Railway Transport, p. 93-97

रोजगार मिलता है; (v) रेलों ने बैंकिंग व बीमा व्यवसाय को बढाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है; (vi) डा० देसाई के मतानुसार 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से देश मे जो राजनैतिक संगठन शुरू हुए तथा जो राजनैतिक चेतना जाग्रत हुई उसका श्रेय रेलों को ही है; (vii) प्रो० मैडन बॉंग के मत मे श्रमिकों की गतिशीलता को बढाने मे तथा राष्ट्रीय स्तर पर इनके आवागमन मे रेलो ने मदद की है, (viii) डाक्टर देसाई के मतानुसार रेलो ने भारतीय गाँवो के स्वावलम्बन तथा एकाकी अस्तित्व को समाप्त करके राष्ट्रीय भावना का जन्म दिया है।

रेलों के दुष्परिणाम (Adverse Effects)

भारतीय अर्थ व्यवस्था मे रेलों का योगदान सचमुच ही बहुत महत्वपूर्ण रहा है। अनेक लाभो को दिलाने वाला रेल परिवहन देश के लिए कुछ मानो मे हानिप्रद भी रहा है, यथा (i) रेलो के विकास के कारण भारत के परम्परागत उद्योगों का पतन हुआ, (ii) रेलों के विकास के कारण ही भारत कृषि प्रधान देश रह गया, (iii) रेलो के विकास न औद्योगिक नगरो को जन्म दिया जहा कई प्रकार की बुराइया पाई जाती हैं; (iv) रेल मार्गों के बनाने मे उर्वरा भूमि का बहुत बडा भाग बेकार हो गया, (v) इमन मुकदमेबाजी को भी बढाया; क्योकि अब गाव के लोग नगरो की अदालतो मे आसानी से पहुचने लगे और ग्राम पचायत प्राय समाप्त हो गई, (vi) रेलों ने गाव के स्वावलम्बी जीवन को समाप्त कर दिया, तथा (vii) देश के विभिन्न भागो मे अग्रजी शासन को पहुचाने का उत्तरदायित्व भी रेलों पर ही डाला जाता है।

उपर्युक्त वर्णित दुष्परिणाम वस्तुत रेलों के विकास में प्रत्यक्ष परिणाम नहीं कहे जा सकते। यदि रेलो का विकास सोच समझकर व देश के हित को ध्यान मे रखकर किया गया होता तो रेलो के विकास के परिणाम अच्छे ही होते। सच तो यह है कि रेलों ने हमारे देश मे आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक क्रांति को जन्म दिया है।

भारत के आर्थिक विकास मे रेलो क विकास का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वर्तमान समय मे रेलें देश के नियोजित आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। वर्तमान समय में रेल यातायात के सामने कई प्रमुख समस्याए पैदा हो गयी हैं, जिनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। इन समस्याओ और कठिनाइयो के परिणामस्वरूप ही पिछले दो वर्षों मे रेलों की वित्तीय स्थिति असंतोषजनक रही है तथा बीसवीं शताब्दी में प्रथम बार रेलो का घाटा उठाना पडा है। अत रेलो के विकास एव संगठन की ओर सोच समझकर महत्वपूर्ण कदम उठाने की आवश्यकता है जिससे रेल परिवहन समस्याओ से मुक्त हो सके, क्योकि रेल परिवहन की उन्नति के साथ-साथ ही हमारे देश की आर्थिक उन्नति जुडी हुई है।

प्रश्न

1 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये 'भारत मे रेल सड़क समन्वय' ।

(राज० प्र० व० टी० डी० कला, 1966,1968)

2 देश की कृषि तथा बड़े पैमाने के उद्योगो पर भारतीय रेलो के आर्थिक प्रभाव बताइये । (राज० प्र० व० टी० डी० सी० कला, 1967)

3 भारतीय रेलो ने निम्नलिखित को आर्थिक दृष्टिकोण से कहा तक प्रभावित किया है –

(अ) भारतीय हस्तकलायें ।

(ब) कृषि ।

(स) बडे पैमाने के उद्योग ।

(द) जाति-व्यवस्था । (राज० प्र० व० टी० डी० सी० कला, 1966)

4 भारतीय रेलो के सामन कौन सी समस्यायें हैं ? आप इन समस्याओ को सुलझाने के लिए क्या-क्या सुझाव देंगे ?

5. स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय रेलो की प्रगति पर विचार कीजिए और पिछले कुछ वर्षों से रेलों की आय तथा कार्य क्षमता मे गिरावट के विभिन्न कारणो को समझाइए । (राज० टी० डी० सी० कला, प्रथम वर्ष 1971)

6 स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से भारतीय रेलो के विकास और उन्नति पर संक्षेप में आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए । (Raj T D C final year, 1971)

23

भारत में सड़क परिवहन

(Road Transport in India)

"Road transport enables industrial enterprises to utilize hitherto untapped sources of labour and significantly contributes to the mobilization of all available resources."

—Alak Ghosh

किसी भी देश के आर्थिक विकास मे सड़क परिवहन का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान होता है। चाहे कृषि का विकास हो या उद्योग धन्धों का अथवा व्यापार का, सड़क परिवहन के सुनियोजित विकास के अभाव मे इनका विकास नहीं हो सकता। सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान व राजनीतिज्ञ कौटिल्य ने भी सड़कों के महत्व को स्वीकार किया है तथा देश के शासकों के प्रमुख कर्तव्यों मे से सड़कों के निर्माण को बहुत महत्वपूर्ण माना है तथा 24 से 48 फीट चौड़ाई की सड़कों के निर्माण का सुझाव दिया था।[1] श्री जे० बेन्थम ने सड़कों के महत्व के सम्बन्ध मे लिखा है, "सड़कें किसी देश की धमनियां व शिरायें हैं जिनके द्वारा सुधार रूपी रक्त का परिभ्रमण होता है।"[2] रस्किन ने भी इस सम्बन्ध में बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है, "राष्ट्र की सारी सामाजिक व आर्थिक प्रगति सड़कों के निर्माण में निहित है।"[3]

सड़क परिवहन का महत्व : राष्ट्रीय समृद्धि के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सड़कों का बहुत अधिक महत्व है। आज संसार के सभी सभ्य देशों मे सड़क यातायात को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है तथा इसका विकास किया जा रहा है। सड़कों के महत्व को हम अग्रलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं :

---

1. Shamasastry. Kautilya's Arthasastra, P. 46

2. "Roads are the veins and arteries of a country through which channels every improvement circulates."

3. "All social progress resolves itself into the making of good roads."

—Ruskin

1 कृषि मे महत्व - ग्रामीण क्षेत्रो मे सडक यातायात महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है। सडको के माध्यम से कृषको को अपनी उपज का उचित मूल्य प्राप्त हो सकता है। वे कृषि उपज को शहरो व मण्डियो मे ले जा कर अच्छे मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। सडको के माध्यम से ही किसान को अपने जीवन की आवश्यक वस्तुये शहरो से प्राप्त हो जाती हैं। खाद्यान्न के अभाव को दूसरी जगह से खाद्यान्न ला कर पूरा किया जा सकता है और इस प्रकार सडके ग्रामीण क्षेत्रो को अकाल की स्थिति से बचाती है। इसके अलावा सडक परिवहन के विकास के परिणामस्वरूप कृषको को कृषि उपज बढाने के प्रसाधन प्राप्त होते हैं, बाजार-क्षेत्रो की जानकारी प्राप्त होती है तथा शीघ्र नष्ट होने वाले पदार्थों को भी बाजार की सुविधाएं प्राप्त हो जाती है। सक्षेप मे, ग्रामीण क्षेत्रो के पुनर्निर्माण मे सडको का महत्वपूर्ण योगदान है।

2 उद्योगों के विकास में महत्व सडको के विकास से कारखानो के लिए ग्रामीण क्षेत्रो से कच्चा माल प्राप्त होता है तथा कारखानो का बना हुआ माल दूर-दूर तक फैले हुए उपभोक्ताओ तक पहुचता है। सडको के विकास से उद्योगो के केन्द्रीयकरण और साथ ही विकेन्द्रीयकरण को भी प्रोत्साहन मिलता है। सडकें कुटीर व लघु उद्योगो को भी प्रोत्साहित करती हैं, क्योकि इनका बना हुआ माल शहरो मे आसानी से पहुच जाता है।

3. व्यापार में योगदान आज देश का आन्तरिक व्यापार मुख्यतया सडकों पर ही निर्भर करता है। पहाडी व पठारी इलाको मे, जहा रेल व जल यातायात की सुविधायें उपलब्ध नही हैं, सडको का विशेष महत्व है। सडकें बन्दरगाहो के पृष्ठ-प्रदेशो से बहुत बडी मात्रा मे माल बन्दरगाहो की ओर पहुचाने मे महत्वपूर्ण योगदान देती हैं और इस प्रकार विदेशी व्यापार की वृद्धि मे भी इनका काफी योगदान है।

4 देश की सुरक्षा में योगदान देश की सुरक्षा व्यवस्था मे भी सडकें महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। भारत एक विशाल देश है जिसकी तुलना एक उपमहाद्वीप से की जा सकती है। ऐसी स्थिति मे इसकी सीमाओ पर सभी जगहो पर सैनिक रखना सम्भव नही है। देश पर हमले के समय देश के सिपाहियो व अस्त्र शस्त्रों को द्रुतगति से सीमाओ पर पहुचाने का कार्य भी सडके प्रभावशाली ढग से कर सकती हैं।

5 सडकों के अन्य योगदान : (i) सडकें देश में विभिन्न क्षेत्रों मे रहने वाले व्यक्तियो को निकट लाती हैं तथा उनमे सामाजिक व सास्कृतिक सहयोग तथा एकता की भावना भरती हैं, (ii) उनसे सरकार को विविध करों के रूप मे

आय प्राप्त होती है। (iii) सडको के अनेक उपयोग हो सकते हैं और इस तरह से इनसे विविध प्रकार के लाभ उठाये जा सकते हैं; (iv) अन्य परिवहन के साधनों की अपेक्षा सड़कों का निर्माण व्यय कम होता है; (v) थोड़ी दूर की यात्राओ के लिए रेलो की अपेक्षा सड़कों का महत्व अधिक है, क्योंकि ये यात्राएं मितव्ययतापूर्ण एव सुविधापूर्ण होती हैं; (vi) सड़को के महत्व की एक विशेष बात यह भी है कि इनमे अन्य परिवहन के साधनो की अपेक्षा अधिक लोच पाई जाती है क्योंकि यह दरवाजे तक की सुविधाएं प्रदान करती हैं, (vii) परिवहन के अन्य साधनों के पूरक साधन के रूप मे भी ये लाभदायक हैं, (viii) कुछ क्षेत्रों मे, जैसे पहाड़ो पर जहा रेलो का निर्माण नही किया जा सकता है, सड़क परिवहन का विशेष महत्व है; (ix) सड़क परिवहन अधिक फुर्तीला एव अधिक सुविधाजनक है, (x) रेल परिवहन के अन्तर्गत एक समय मे एक लाइन पर एक ही गाड़ी गुजर सकती है, जबकि सड़क पर निरन्तर मोटरें चलती रहती हैं।

सक्षेप में कृषि, उद्योग, वाणिज्य, व्यवसाय, प्रशासन, प्रतिरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य अथवा अन्य किसी आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक प्रयत्न को अपने पूर्ण रूप मे फलीभूत होने और आगे बढाने के लिए सड़क परिवहन का विशेष महत्व है।

भारत में सड़क परिवहन का विकास भारतवर्ष मे सड़क निर्माण कार्य में प्राचीन काल से ही रुचि ली जाती रही है। सभ्यता के प्रारम्भिक युग से लेकर अब तक सभी युगों मे सड़कों का किसी न किसी रूप मे विकास होता आया है। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक महान तथा शेरशाह जैसे शासको के शासनकाल मे सड़कों का बड़े पैमाने पर निर्माण हुआ था लेकिन ब्रिटिश शासन काल मे सड़कों के विकास पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया। लार्ड डलहौजी के समय से भारत मे सड़को के निर्माण का एक युग प्रारम्भ हुआ। डलहौजी ने रेल निर्माण की तरह सड़कों के निर्माण पर भी आवश्यक ध्यान दिया था। सन 1855 ई० मे देश मे प्रथम बार सड़कों के विकास के लिए केन्द्रीय सार्वजनिक निर्माण विभाग खोला गया। उसी वर्ष विभिन्न प्रान्तो मे भी सार्वजनिक निर्माण विभाग खोले गये इनसे देश मे सड़क-निर्माण को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। लेकिन इसके बाद रेलो के प्रसार से सड़क निर्माण के कार्य मे कुछ शिथिलता आने लगी। इसके पश्चात् देश में जो कुछ सड़को का निर्माण हुआ, वह रेलो के प्रसार के परिणामस्वरूप ही हुआ। सन् 1919 मे सड़को को प्रान्तीय विषय बना दिया गया। सन् 1927 मे श्री एम० आर० जयकर की अध्यक्षता मे एक सड़क विकास समिति की स्थापना हुई जिसके सुझाव के फलस्वरूप सन् 1929 में केन्द्रीय सड़क कोष बनाया गया। द्वितीय विश्व युद्ध मे सड़कों का अभाव सरकार को विशेष रूप से खटका। अत सरकार ने दिसम्बर 1943 मे विभिन्न राज्यों के मुख्य इजीनियरो का नागपुर मे एक सम्मेलन बुलाया जिसमे देश की

न्यूनतम आवश्यकताओं के अनुसार एक योजना बनाई गई जो नागपुर योजना के नाम से जानी जाती है। इस योजना के अन्तर्गत 10 वर्ष की अवधि मे सडकों के निर्माण पर कुल 448 करोड रुपये व्यय किए जाने थे तथा कुल 4 लाख मील लम्बी सडकों का निर्माण किया जाना था। इस योजना मे सडक परिवहन के विकास के लिए बडे महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये थे। इस योजना मे देश की न्यूनतम आवश्यकताओ के आधार पर सभी प्रकार की सडकों के सतुलित विकास की व्यवस्था की गई। इसका प्रमुख उद्देश्य यह था कि कोई भी विकसित कृषि क्षेत्र मे स्थित ग्राम मुख्य सडक से 5 मील से अधिक दूर न हो।

नागपुर योजना के अन्तर्गत देश मे सडको के विस्तार के लिए एक योजना तैयार की गई, जिसमे विविध प्रकार की सडको की लम्बाई को बढाकर निम्न प्रकार से करने का आयोजन था

नागपुर सड़क योजना[1]

सडकें	सडकों की लम्बाई (हजार मीलों मे)	व्यय (करोड रु० मे)
राष्ट्रीय सडकें	25	50
राजकीय सडकें	65	121
जिला सडकें (बडी)	60	62
जिला सडकें (छोटी)	100	80
ग्रामीण सडकें	150	30
युद्ध काल मे पिछडे हुए कार्य	—	10
पुलो का निर्माण	—	45
भूमि प्राप्त करना	—	50
योग	400	448

सरकार ने नागपुर सम्मेलन की अनेक सिफारिशो को स्वीकार कर लिया था तथा देश क राष्ट्रीय मार्गों के विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया था। इस योजना के अन्तर्गत 1944 से कार्य प्रारम्भ हो गया सन् 1947 में देश के विभाजन होने पर योजना द्वारा निर्धारित लक्ष्य मे 3.11 लाख मील सडको का

1 C N Vakil Economic Consequences of Divided India, p 415-16

निर्माण भारतीय क्षेत्र मे किये जाने का निश्चय किया गया जिस पर लगभग 373 करोड रु० की लागत का अनुमान था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सडक परिवहन का विकास सन 1947 ई० मे पक्की सडको की लम्बाई 88 हजार मील तथा कच्ची सडको की लम्बाई 1 लाख 32 हजार मील थी। सन 1947 से 1951 तक सडको के विकास मे मन्द प्रगति हुई। पक्की सडको की लम्बाई 98 हजार मील तथा कच्ची सडको की लम्बाई 1 लाख 51 हजार मील तक हो 1951 हो पाई थी।

प्रथम पचवर्षीय योजना मे सडक परिवहन प्रथम पचवर्षीय योजना में सडक विकास कार्यक्रम पर 135 करोड रु० व्यय किए गये। इस योजना के अन्तर्गत 24 हजार मील पक्की सडको का तथा 41 हजार मील कच्ची सडको का निर्माण किया गया। विभिन्न स्थानों को मिलाने वाली 640 मील श्रृंखला सडकें (Road links) बनाई गयी तथा लगभग 17 हजार मील पुरानी सडको की मरम्मत की गई। इस प्रकार 1955 56 मे भारत मे पक्की सडको की कुल लम्बाई 1,22,000 मील तथा कच्ची सडको की कुल लम्बाई 1 95 000 मील हो गई।

द्वितीय पचवर्षीय योजना में सडक परिवहन द्वितीय पचवर्षीय योजना मे सडक यातायात के विकास पर 228 करोड रुपये खर्च किये गये। इस योजना अवधि मे पक्की व कच्ची सडको की लम्बाई क्रमश 1 लाख 44 हजार व 2 लाख 50 हजार मील हो गयी। इस योजना अवधि मे विभिन्न राज्यो के सडक कार्यक्रमो के अन्तर्गत 72 हजार मील लम्बी सडक बनी। द्वितीय योजना के अन्त तक सडको की कुल लम्बाई 3 94 000 मील हो गई जो नागपुर योजना के लक्ष्य से कहो अधिक थी। इस योजनावधि मे अल्पविकसित क्षेत्रो मे सडको के विकास पर विशेष बल दिया गया। सन 1960 मे सीमावर्ती क्षेत्रो मे सडको के विकास के लिए मण्डल (Border Roads Development Board) बनाया गया जिसका प्रमुख कार्य इन क्षेत्रो मे सडको के विकास को तेज करके इन तक पहुचाने के लिए परिवहन साधनों को विकसित करना था।

सडक विकास की हैदराबाद योजना सन 1959 मे केन्द्रीय एव राज्य सरकारो के मुख्य इजीनियरों का हैदराबाद मे सम्मेलन हुआ जिसमे 1961 से 1981 तक के लिए एक 20 वर्षीय योजना तैयार की गई। इस योजना मे 2 52 000 मील पक्की सडको व 4,05 000 मील कच्ची सडको के बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसके अन्य लक्ष्य निम्नांकित थे

(1) एक विकसित व कृषि क्षेत्र का गाव पक्की सडक से 4 मील व अन्य सडक से डेढ मील दूरी मे आ जाय।

(ii) अर्द्ध विकसित क्षेत्र का गाव पक्की सड़क से 8 मील व अन्य सड़क से 3 मील की दूरी में आ जाय।

(iii) अविकसित तथा अकृषि क्षेत्र का गांव पक्की सड़क से 12 मील व अन्य सड़क से 5 मील की दूरी में आ जाय।

हैदराबाद योजना के लक्ष्यो को प्राप्त कर लेने पर भारतवर्ष में प्रति 100 वर्ग मील के पीछे 52 मील सड़कें हो जायेगी। इस योजना पर 4700 करोड़ रुपये व्यय होंगे।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सड़क परिवहन · तृतीय पचवर्षीय योजना में सड़क परिवहन के विकास पर 445 करोड़ रु० खर्च किये गये। इस योजना के अन्तर्गत 49 हजार किलोमीटर नयी पक्की सड़कें बनाई गयी। इस योजना के अन्त तक पक्की सड़को की कुल लम्बाई 2,82,500 किलोमीटर हो गयी तथा कच्ची सड़को की लम्बाई 6,07,500 किलोमीटर हो गई। इस प्रकार इस योजना के अन्त में कुल सड़को की लम्बाई 8,90,000 किलोमीटर हो गई थी। इस योजना की मुख्य बात यह थी कि सड़क-विकास कार्यक्रम की 20 वर्षीय योजना को प्रथम चरण के रूप मे अपनाया गया था। इस योजना के अन्तर्गत अविकसित क्षेत्रो व सुरक्षा के लिए आवश्यक क्षेत्रो मे सड़को के विकास पर बल दिया गया। सन् 1966 से 1969 के वर्षों मे तीन एकवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सड़क परिवहन पर 308 करोड़ रुपये व्यय किए गए तथा 1969 के अन्त मे पक्की एव कच्ची सड़को की लम्बाई क्रमश: 3,26,000 किलोमीटर एव 6,39,000 किलोमीटर हो गई अर्थात् सड़को की कुल लम्बाई 9,65,000 किलोमीटर तक पहुंच गई।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना में सड़क परिवहन : चतुर्थ योजना में केन्द्रीय क्षेत्र मे सड़क विकास कार्यक्रम के लिए 860 करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। इस योजनावधि मे चौड़ी सड़को की लम्बाई 3,17,000 किलोमीटर से बढ़कर 3,67,000 किलोमीटर हो जायेगी ग्रामीण सड़को के विकास पर विशेष बल दिया जायेगा जिसमे राज्य सरकारें कुल निर्धारित राशि का 25 प्रतिशत भाग इन ग्रामीण सड़को के लिए अलग से रखेंगी। बाजार वाले नगरो से सम्बन्धित सड़को को योजनावधि मे प्राथमिकता दी जायेगी।

रेल व सड़क परिवहन में प्रतिस्पर्धा · भारतवर्ष में यात्री तथा माल ढोने के लिए मोटर गाड़ियों का प्रयोग प्रथम विश्व युद्ध के बाद से शुरू हुआ था। युद्ध काल के पश्चात फौजी मोटर गाड़ियां सस्ते मूल्य पर उपलब्ध होने के कारण मोटर परिवहन का महत्व बढ़ने लगा। धीरे-धीरे मोटरगाड़ियों की सख्या मे वृद्धि होने लगी और इनकी रेल परिवहन से प्रतिस्पर्धा होने लगी। तीसा की मन्दी की अवधि में मोटर

तथा बसों के किरायों में भारी कमी हो गई जिससे अनेक यात्रियों ने रेल की बजाय मोटरों द्वारा यात्रा करनी प्रारम्भ कर दी। इसका रेल परिवहन पर बुरा असर पड़ा और उनकी आय घटने लगी। इस प्रकार 1929 के बाद से रेल व सड़क परिवहन के बीच प्रतिस्पर्द्धा की समस्या उत्पन्न हो गई। भारतवर्ष में सड़क व रेल परिवहन क्षेत्र एवं उपयोग अलग-अलग हैं, लेकिन फिर भी परिवहन के इन दोनों साधनों में प्रतिस्पर्द्धा पाई जाती है। इस प्रतिस्पर्द्धा के प्रमुख कारण हैं : (i) मोटर परिवहन अपेक्षाकृत सस्ता है; (ii) यह अपेक्षाकृत लचीला है और घर से घर तक सुविधा प्रदान कर सकता है; (iii) इसमें मार्ग परिवर्तन की स्वतन्त्रता व सुविधा रहती है; (iv) माल भेजने में सुरक्षा रहती है; (v) सड़क परिवहन में माल को किसी भी समय व किसी भी स्थान पर चढ़ाया या उतारा जा सकता है; (vi) इस साधन को अपेक्षाकृत कम पूँजी की आवश्यकता होती है।

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण अधिकांश उपभोक्ता रेल-परिवहन की बजाय सड़क परिवहन का प्रयोग करते हैं। रेलों को इस प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए सन् 1932 व 1937 में क्रमशः 'मिचेल किर्कनेस समिति' (Mitchel Kirkness Committee) व 'वैजवुड समिति' (Wedge-wood Committee) की नियुक्ति की गई थी। इन दोनों समितियों का मत था कि मोटर परिवहन का कड़ा नियमन किया जाय तथा रेल यात्रा को अधिक आकर्षक बनाया जाय। इन समितियों ने रेल व सड़क परिवहन के बीच समन्वय की सिफारिशें की थीं तथा कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये थे जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं —(i) मोटर परिवहन पर नियन्त्रण रखकर प्रतिस्पर्धा समाप्त की जाय; (ii) मोटरों के रूट निश्चित कर दिए जाएं; (iii) रेलों को अपनी मोटरें चलाने का अधिकार दिया जाय; (iv) रेलों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही मोटरों के लिए लाइसेन्स दिया जाय; (v) मोटरों द्वारा लाने व ले जाने वाले यात्रियों व माल की सीमा निर्धारित की जाय; (vi) टाइम-टेबिल व किराये भी निश्चित कर दिए जाएं, तथा (vii) राज्य सरकारों की मोटर कर नीति में कठोरता लायी जाय आदि।

वैजवुड समिति (Wedgewood Committee) की सिफारिशों को मानकर 1939 में मोटर गाड़ी अधिनियम (Motor-Vehicle Act, 1939) पारित किया गया जिसमें सड़क परिवहन पर नियन्त्रण स्थापित करने की व्यवस्था की गई। इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रथम बार परमिट व्यवस्था की गई तथा क्षेत्रीय व राज्य परिवहन अधिकारियों को नियुक्त किया गया। इस अधिनियम के अनुसार मोटर गाड़िया चलाने के लिए लाइसेन्स लेना आवश्यक कर दिया गया तथा कुछ शर्तों के

चालन को अनिवार्य बना दिया गया। ये परमिट क्षेत्र विशेष के लिए ही काम में लाए जा सकते थे।

सन् 1945 में सरकार ने राज्य सरकारों को मोटर परिवहन के नियन्त्रण के लिए सिद्धान्त व व्यवहार संहिता (Code of Principles and Practice) जारी की। इस संहिता के अनुसार नाशवान व टूटने वाली वस्तुओं को छोड़कर शेष सभी वस्तुएं 75 मील तक की दूरी के लिए किसी भी परिवहन द्वारा ले जाई जा सकती थी लेकिन इससे अधिक दूरी के लिए सड़क परिवहन को उसी समय परमिट दिया जा सकता था जब रेलें माल ले जाने में असमर्थता प्रकट करें।

सन् 1950 में गठित मोटर वाहन कर जांच समिति ने रेल-सड़क समन्वय पर विचार किया तथा यह मत व्यक्त किया कि मोटर परिवहन पर जब तक कर का भार अधिक है तब तक रेल सड़क प्रतिस्पर्द्धा की सम्भावना नहीं रहेगी; अतः यात्रियों व माल भेजने वाले को किसी भी साधन के प्रयोग करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

सन् 1958 में गठित, सड़क परिवहन पुनर्गठन समिति (मसानी समिति) ने यह विचार व्यक्त किया कि सड़क परिवहन पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाय। यात्री व सामान भेजने वालों को किसी भी साधन के प्रयोग करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची थी कि सड़क परिवहन की श्रेष्ठता एवं लाभों के कारण तथा रेल परिवहन की असुविधाओं के कारण, सड़क परिवहन पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता ही नहीं है। समिति का सुझाव था कि परिवहन के दोनों साधनों को अर्थ-व्यवस्था की बढ़ती हुई परिवहन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए समन्वित प्रयास करना चाहिए। इस समिति ने सड़क परिवहन प्रशासन व्यवस्था में सुधार लाने के लिए भी महत्वपूर्ण सुझाव दिए थे। इन सुझावों के आधार पर ही अन्तर-राज्य मार्गों पर सड़क परिवहन सेवाओं के विकास, समन्वय एवं नियमन के लिए सरकार ने अन्तर्राज्य परिवहन आयोग (Inter State Transport Commission) की स्थापना की।

सन् 1959 ई० में श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में परिवहन व समन्वय समिति बनाई गयी, लेकिन श्री नियोगी के त्याग पत्र देने के कारण इस समिति ने श्री तरलोकसिंह की अध्यक्षता में कार्य करके फरवरी 1961 में प्रारम्भिक सिफारिशें तथा जून 1966 में अपनी अन्तिम रिपोर्ट दे दी जिसमें परिवहन के समस्त साधनों के समन्वित विकास पर जोर दिया गया तथा समन्वय सम्बन्धी महत्व-पूर्ण सुझाव दिये गये।

सड़क परिवहन की समस्याएं : भारतवर्ष में जनसंख्या को देखते हुए सड़क यातायात की स्थिति असन्तोषजनक है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में जहां पर देश की

अधिकांश जनता निवास करती है, सड़कों के विकास में अपेक्षित वृद्धि नहीं हुई है। सड़क यातायात के सामने कुछ समस्यायें हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं

(i) भारत में उत्तम सड़कों का अभाव है, केवल कच्ची सड़कों की ही बहुलता है, (ii) ग्रामीण क्षेत्रों में सड़कों के विकास की समस्या, (iii) पुरानी सड़कों की मरम्मत की समस्या, (iv) रेलों से प्रतिस्पर्द्धा की समस्या, (v) देश में मोटर गाड़ियों की अपर्याप्तता, (vi) भारत में मोटर गाड़ियों पर अत्यधिक कर लगाये जाने की समस्या, (vii) मोटर वाहन कानून के अधीन भार वाहन सम्बन्धी सीमायें अवैधानिक हैं फलस्वरूप मोटर गाड़ियों का पूरा उपयोग नहीं हो पाता, (viii) मोटर मालिकों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा, (ix) राष्ट्रीयकरण के भय की समस्या। (x) मोटर गाड़ियों में भीड़-भाड़ की समस्या, तथा (xi) दुर्घटनाओं की समस्या।

सड़क परिवहन का राष्ट्रीयकरण भारतवर्ष में सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण की बात प्रायः उठाई जा रही है, अतः इनके गुण व दोषों का विवेचन करना उचित रहेगा।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क (i) किराये की दरों में निश्चितता हो जाने से यात्रियों को शोषण से मुक्ति मिलेगी, (ii) यात्रियों की सुख सुविधाओं में वृद्धि होगी, (iii) मोटर गाड़ियों की कार्यक्षमता में वृद्धि होगी, (iv) भीड़-भाड़ की समस्या से मुक्ति मिलेगी, (v) समय की नियमितता का लाभ प्राप्त हो सकेगा, (vi) पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा का अन्त होगा, (vii) अलाभकारी मार्गों में भी परिवहन की सुविधा प्राप्त हो सकेगी (viii) सड़कों के निर्माणकर्त्ता एवं प्रयोगकर्त्ता में भेद समाप्त हो जायगा (ix) राजकीय आय के साधन में वृद्धि होगी, (x) कर्मचारियों की दशा में सुधार एवं उनके कल्याण में वृद्धि होगी, (xi) समाजवादी अर्थ व्यवस्था की ओर देश की अर्थ-व्यवस्था अग्रसर होगी, (xii) राष्ट्रीय सुरक्षा के खतरे के समय महत्वपूर्ण सहाय उपलब्ध हो सकेगी, तथा (xiii) परिवहन के विभिन्न साधनों में समन्वय की सम्भावना बढ़ जायेगी।

सड़क परिवहन के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क (i) निजी मोटर गाड़ियों पर विविध प्रकार की पाबन्दियां लग जाने के बाद राष्ट्रीयकरण अनावश्यक हो जाता है (ii) यह निजी मोटर मालिकों के प्रति अन्याय होगा क्योंकि लाभ के समय सरकार राष्ट्रीयकरण करना चाहती है, जबकि प्रारम्भ में हानि उन्होंने उठाई है, (iii) राज्य सरकारों के पास राष्ट्रीयकरण करने के लिए पर्याप्त धन की कमी है, (iv) राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप मुआवजा देने के बजाय सरकार उसी धन-राशि को अन्य आवश्यक कार्यों में लगा सकती है, (v) निजी वाहनों में यात्रियों को रास्ते में बैठाने व उतारने की जो सुविधा है, वह राष्ट्रीयकरण के बाद समाप्त

हो जायेगी, (vi) सरकारी कर्मचारियों में लगन, सेवाभाव व व्यावसायिक योग्यता का सामान्यतः अभाव पाया जाता है, (vii) प्रतिस्पर्द्धा के अभाव में सरकार एकाधिकारी शक्तियों का दुरुपयोग कर सकती है, (viii) सरकारी संस्थानों में सामान्यतः कार्यकुशलता का अभाव पाया जाता है और वे प्रायः घाटे में चलते हैं, (ix) सरकार व कर्मचारियों के बीच मालिक व मजदूर के से सम्बन्ध हो जाने से तनाव पैदा हो सकते हैं; (x) प्रतिस्पर्द्धा के अभाव में हो सकता है कि सरकारी बसों में वे तमाम सुविधाएं न मिलें जो निजी चालकों द्वारा प्रदान की जाती हैं, आदि।

उपर्युक्त विवेचन राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्षपर काफी रोशनी डालता है। वर्तमान परिस्थितियों में, जबकि हम समाजवादी समाज को अपनाना चाहते हैं, राष्ट्रीयकरण उचित ही नहीं, अपितु आवश्यक है। यह बात दूसरी है कि राष्ट्रीयकरण की नीति, साधनों को देखकर अपनायी जाय।

यद्यपि भारतवर्ष में सड़क यातायात का महत्त्व बहुत अधिक है, तथापि इसके विकास के लिये किये गये विविध प्रयत्न सीमित ही रहे हैं। भारत में प्रतिवर्ग मील क्षेत्र के लिए केवल 1/4 मील लम्बी सड़क पाई जाती है जबकि ब्रिटेन, फ्रान्स व अमेरिका में क्रमशः $3\frac{1}{2}$, 3 व 1 मील लम्बी सड़कें पाई जाती हैं। इसी प्रकार भारत में प्रति लाख जनसंख्या के पीछे 134 मोटरें हैं, जबकि अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन व फ्रान्स में इतनी ही जनसंख्या के पीछे क्रमशः 41000, 28800, 27000, 15000, व 14000 मोटरें हैं। हमारे देश की दो तिहाई सड़कें कच्ची हैं जो वर्ष के कई महीने बेकार हो जाती हैं। देश के आर्थिक विकास में सड़कों के महत्व को ध्यान में रखते हुए उनके विकास की समुचित योजना कार्यान्वित की जानी चाहिए तथा सड़क परिवहन को विभिन्न समस्याओं से मुक्त किया जाना चाहिये। आसाम के भूतपूर्व गवर्नर श्री फजलअली की निम्नांकित भविष्यवाणी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

"जहां तक दृष्टिगोचर हो सकता है, वहीं तक भविष्य में सड़क परिवहन का महत्व न तो परिवहन का कोई अन्य साधन ग्रहण करेगा और न वह उसको हटा सकेगा, चाहे वे दूसरे साधन कितने ही उन्नत क्यों न हो जाएं।"

प्रश्न

1 टिप्पणी लिखिये—'भारत में रेल सड़क समन्वय'।

(राज० प्र० व० टी० डी० सी० कला 1966,1968)

2 भारत में सड़क यातायात के महत्व व विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिए। मोटर-यातायात के राष्ट्रीयकरण से क्या लाभ है?

(राज० प्र० व० टी० डी० सी० कला, 1964)

3 भारत मे सडक यातायात के महत्व का वर्णन कीजिए। इन वर्षों में सरकार ने सडक यातायात के विकास के लिये क्या कदम उठाये हैं ?

(जोधपुर वि० वि० टी० डी० सी० अन्तिम वर्ष, 1964)

4. भारत मे सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण के लाभो व हानियो को समझाकर लिखिए। (विक्रम वि० वि० बी० ए०, 1963)

5 भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे सडको का महत्व बतलाइए। पचवर्षीय योजनाओं में सडकों के विकास का वर्णन कीजिए। (विक्रम, बी० ए० 1971)

6. रेल-सडक समन्वय का क्या अर्थ है ? इसे प्राप्त करने के लिए भारत मे क्या-क्या किया गया है ? (आगरा बी० ए० 1971)

24

भारत मे जल परिवहन

(Water Transport in India)

"A country set like a pendant among the vast continent of the old world, with a coast line of over 4,000 miles and with a productiveness of numerous articles of great use, unsurpassed elsewhere, is by nature meant to be a sea faring country Her ports are adequate in size and numbers to meet the various requirements of her products '

— S N Haji

जल परिवहन नदियो मे नाव अथवा स्टीमर तथा समुद्र मे जहाज चलाने के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। जल परिवहन दो प्रकार का है, (क) अन्तर्देशीय जल परिवहन (Inland Water Transport) तथा (ख) समुद्री जल मार्ग।

अन्तर्देशीय जल-परिवहन (Inland Water Transport)

इन मार्गों के अन्तर्गत नदियो तथा नहरो को शामिल किया जाता है जिनमें नावो तथा स्टीमरो द्वारा यात्रियो को एक स्थान से दूसरे स्थान लाया, ले जाया जाता है। भारत मे अन्तर्देशीय जल परिवहन 19वी शताब्दी के मध्य तक गगा, सिन्ध कृष्णा, गोदावरी तथा पजाब की कुछ नदियो मे नावो द्वारा कुछ वस्तुए एक स्थान से दूसरे पर लाई एव लेजाई जाती थी तथा ये जलमार्ग सडको के अभाव के फलस्वरूप काफी लोकप्रिय थे।[1]

उन्नीसवी शताब्दी के मध्योत्तर काल मे रेलपरिवहन के विकास के परिणामस्वरूप तथा नदियो के जल का सिंचाई के लिए बढते हुए उपयोग के कारण जलपरिवहन का महत्व घट गया। लेकिन वर्तमान समय मे भी असम, पश्चिमी बगाल, व बिहार मे आन्तरिक जल परिवहन का महत्व है। देश के कुछ अन्य राज्य जहाँ अन्तर्देशीय जल परिवहन का महत्व है, वे हैं उडीसा, केरल, आन्ध्र प्रदेश एव तामिलनाडु

---

1 *Dr D H Buchanan* The Development of Capitalist Enterprise in India p 176

असम एवं कलकत्ता के बीच कुल 25 लाख टन यातायात (Traffic) में से आज भी आधा भाग जल परिवहन द्वारा ले जाया जाता है जबकि शेष में रेल एवं सड़क साझीदार हैं।

भारतवर्ष में नियोजन काल के प्रारम्भिक काल में आन्तरिक जल परिवहन की उपेक्षा की गई। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में इस पर 1 करोड़ रुपए से भी कम धनराशि व्यय की गई। सन् 1959 में प्रथम बार अन्तर्देशीय जल परिवहन समिति के प्रतिवेदन के आधार पर भारत के आन्तरिक जल मार्गों के विकास की व्यापक योजनाएं बनाई गई। इस प्रतिवेदन के आधार पर ही तृतीय पंचवर्षीय योजना में साढ़े सात करोड़ रुपए की लागत का विकास कार्यक्रम तैयार किया गया। इस योजना काल में गंगा-ब्रह्म पुत्र बोर्ड के द्वारा सुन्दरबन में एक प्रयोगात्मक नाव खींचने की परियोजना (Pilot Towing Project) सम्मिलित किया गया। सुन्दरवन तथा ब्रह्मपुत्र के लिए टुगर्स तथा लॉन्चेज खरीदने का कार्यक्रम रखा गया। केरल में पश्चिमी तटीय नहर का विस्तार किया गया तथा उड़ीसा में तालडण्डा व केन्द्र पारा नहरों के सुधार के कार्यक्रम रखे गए ताकि पाराद्वीप बन्दरगाह से कच्चे लोहे के निर्यात में सुविधा रहे।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अन्तर्देशीय जल परिवहन के विकास के लिए 9 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। इस योजना की अवधि में केवल चुनी हुई निश्चित परियोजनाओं को कार्यान्वित किया जायेगा।

अन्तर्देशीय जल परिवहन के महत्व में कमी के कारण भारतवर्ष अन्तर्देशीय जल परिवहन के महत्व में 19वीं शताब्दी के मध्य में जो कमी आई है उसके कई कारण हैं। उनमें से प्रमुख कारण हैं, (i) नावों की गति का मोटर अथवा रेल की गति से अत्यधिक धीमा होना, (ii) नावों की यात्रा का अपेक्षाकृत अधिक खर्चीला होना; (iii) जल मार्गों के उपयोग का प्रकृति की दया पर निर्भर रहना; (iv) जल मार्ग सम्बन्धी सुविधाओं का सर्वत्र उपलब्ध न हो पाना, (v) जल मार्ग में जान व माल की अत्यधिक जोखिम का पाया जाना।

भारतीय जहाज रानी (Indian Shipping)

भारत के लिए, जिसकी तटवर्ती सीमा 4160 मील है।[1] और जहां से वस्तुओं का बहुत बड़ी मात्रा में, विदेशी व्यापार होता है, जहाजरानी का विशेष महत्व है। जहाजरानी के विकास से भारतीय वस्तुओं की लागत कम हो सकती है तथा विदेशी विनिमय में काफी बचत हो सकती है जिसे हमें विदेशी कम्पनियों को देना पड़ता है। देश की रक्षा में भी जहाजरानी का प्रमुख योग होता है क्योंकि संकट

1. बन्दमान द्वीप समूह को सम्मिलित करके।

के समय व्यापारिक जहाज (Mercantile marine) रक्षा की दूसरी पंक्ति का कार्य करते हैं। जहाजों द्वारा मन्डियों का विस्तार होता है तथा बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास को बल मिलता है। स्वयं एक आधारभूत उद्योग होने के नाते, जहाज निर्माण उद्योग अनेक उद्योगों को जन्म देता है। विदेशी व्यापार के भुगतान सन्तुलन को सुधारने में भी जहाजरानी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है क्योंकि इसके विकास से विदेशी कम्पनियों को करोड़ों का दिया जाने वाला भाड़ा बच जाता है।

भारतीय जहाजरानी का इतिहास और परम्परायें अत्यन्त पुरानी हैं। भारत में सदियों पहले ही जहाजरानी और जहाज निर्माण उद्योग का जन्म हो चुका था और यहा के व्यापारियों ने अपनी प्रतिभा व कर्मठता का परिचय दिया था। यहा के नाविकों ने अपना कौशल व उत्साह दिखाया था तथा विदेशों को सदेश पहुचाने वाले धर्म-प्रचारकों ने अपना उत्साह दिखाया था। भारतीय पोत विविध देशों को भारतीय वस्तुओं का निर्यात और वहा की वस्तुओं का भारत में यातायात करते थे। अपनी जहाजरानी के कारण भारत का सम्बन्ध रोम, मिश्र, यूनान जैसी प्राचीन सभ्यताओं के साथ था। सदियों तक समुद्री मार्गों पर भारत का प्रभुत्व बना रहा और उसे अपने पूर्वी समुद्री मार्गों पर गर्व का अनुभव होता था।

डा० राधाकुमुद मुखर्जी के शब्दों में, "प्राचीन भारतीय सभ्यता ससार के कोने कोने में इसलिए पहुच सकी क्योंकि भारत के पास विशाल समुद्री शक्ति थी। हमारे शक्तिशाली जल-जहाजी उद्योग के कारण ही ससार के लोग हमारे धर्म एव संस्कृति से प्रभावित हुए।"

भारतीय जहाजरानी का पतन : भारत में अंग्रेजों के आने के बाद यह स्थिति बदल गयी और भारतीय जहाजरानी उद्योग को बहुत बड़ा धक्का लगा। भारतीय जहाजरानी के पतन के कई कारण थे जो इस प्रकार हैं :

(i) इस्पात के जहाजों का प्रचलन होना, (ii) भारतीय जहाजों की धीमी गति, (iii) ब्रिटिश सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति, (iv) अंग्रेज व्यापारियों की ईर्ष्या, (v) विदेशी जहाजी कम्पनियों द्वारा भाड़े में रियायत तथा भुगतान की सरल प्रणाली द्वारा प्रतिस्पर्धा करना, (vi) किराये भाड़े की लड़ाई आदि।

उपर्युक्त कारणों के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से भारतीय जहाजरानी उद्योग का पतन प्रारम्भ हो गया था और आजादी मिलने के समय भारत की कुल जहाजी शक्ति विश्व की जहाजी शक्ति का केवल 2 प्रतिशत भाग ही रह गई थी। भारतीय जहाजरानी के पतन के लिए ब्रिटिश सरकार की नीति ही मुख्यतः जिम्मेदार थी। गांधीजी ने ठीक ही कहा है, "भारतीय जहाजरानी को समाप्त होना पड़ा ताकि ब्रिटिश जहाजरानी फल-फूल सके।"

भारत में आधुनिक जहाजरानी का प्रारम्भ : भारतवर्ष में आधुनिक जहाजरानी का प्रारम्भ वास्तव में 1919 में हुआ जबकि श्री बालचन्द हीराचन्द के प्रयत्नों से सिन्धिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की स्थापना की गई। यद्यपि इनसे पूर्व 1893 में टाटा द्वारा तथा 1906 में चिदाम्बरम पिल्लई द्वारा जहाज कम्पनियां प्रारम्भ की गई थी लेकिन वे प्रतिस्पर्द्धा के आगे ठहर न सकी थी। 1923 में सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी ने ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार इसे भारतीय तट पर 75 हजार टन के जहाज चलाने का अधिकार प्राप्त हो गया। 1933 में समझौते की शर्तों में कुछ सुधार किया गया फलस्वरूप इसे भारत व बर्मा के बीच सवारियों के ढोने का अधिकार भी प्राप्त हो गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय भारतीय जहाजी कम्पनियों को अपने कार्य क्षेत्र में विस्तार करने का सुअवसर प्राप्त हुआ और इन्होंने न्यूयार्क तथा लन्दन तक अपनी जहाजी सेवाएं प्रारम्भ कर दी। युद्धोत्तर काल में भारत सरकार ने श्री सी० पी० रामास्वामी आयर की अध्यक्षता में एक जल परिवहन नीति समिति (Shipping Policy Committee) की नियुक्ति की। जहाजी परिवहन के इतिहास पर टिप्पणी करते हुए समिति ने कहा, "भारतीय जहाजरानी का इतिहास वचन भंग, पूर्ण न किए जाने वाले आश्वासन एवं अवसरों की उपेक्षा की दुखद कहानी है।"[1]

इस समिति द्वारा 1947 में प्रेषित प्रतिवेदन में जहाजरानी के विकास के निम्नांकित सुझाव दिए गए : (i) 5–7 वर्षों में 2 मिलियन टन भार का लक्ष्य प्राप्त किया जाए; (ii) भारत का तटीय व्यापार का समस्त भाग भारतीय जहाजरानी के क्षेत्र में आ जाय, तथा (iii) पड़ोसी देशों के व्यापार का 75 प्रतिशत, समुद्र पार व्यापार का 50 प्रतिशत तथा जर्मनी आदि शत्रु देशों के साथ हुए व्यापार का 30 प्रतिशत भाग, भारतीय जहाजरानी के अधिकार में आ जाय; (iv) इस समिति ने भारतीय स्वामित्व, नियन्त्रण व प्रबन्ध में एक सुदृढ़ व्यापारिक जहाजी बेड़े के विकास का भी सुझाव दिया; (v) बन्दरगाहों की व्यवस्था परिवहन विभागों से हटाकर वाणिज्य विभाग में करने का भी सुझाव दिया गया।

स्वतन्त्र भारत में जहाजरानी : सन् 1947 ई० में भारत स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने भारतीय जहाजरानी के विकास की नीति अपनाई। इस समय सरकार के सामने जहाजरानी उद्योग के विकास से सम्बन्धित कई कठिनाइयां सामने आई जैसे, (i) पहली कठिनाई जहाजरानी उद्योग में लगी हुई विदेशी कम्पनियां

---

1. "History of Indian Shipping is a tragic tale of broken promises, unredeemed assurances and neglected opportunities."

थी जो इस क्षेत्र मे पहले ही कार्य कर रही थी, (ii) जहाजो को प्राप्त करने और चलाने के लिए बहुत बडी मात्रा मे पूंजी की आवश्यकता थी तथा पूंजीपति इस क्षेत्र मे आने से कतराते थे तथा (iii) देश मे जहाज निर्माण की क्षमता नहीं थी। हमे अपनी आवश्यकता के सभी जहाज विदेशो से खरीदने पडते थे जिसमे काफी विदेशी मुद्रा खर्च होती थी।

इन कठिनाइयो के कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रारम्भिक वर्षों मे देश मे जहाजरानी का विकास छोटे पैमाने पर हुआ लेकिन इस दिशा मे उत्तरोत्तर प्रगति होती गयी। भारत सरकार ने जहाजरानी उद्योग के विकास के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कई कदम उठाय। सन् 1950 ई० मे भारत सरकार ने यह घोषणा की कि तटीय व्यापार केवल भारतीय जहाजो द्वारा ही किया जाय। सन् 1950 तथा 1956 में क्रमश पूर्वी व पश्चिमी जहाजरानी निगम स्थापित किये गये। जहाजरानी के विकास के लिए 2 अक्टूबर 1961 ई० को ये दोनो निगम मिलाकर भारत का जहाजरानी निगम बनाया गया।

सन् 1960 ई० मे भारत सरकार ने मुगल लाइन जहाजरानी कम्पनी के 80% अश खरीद लिए। अब यह कम्पनी भी सरकारी प्रतिष्ठान के रूप में कार्य कर रही है।

सन् 1952 ई० मे देश मे जहाज निर्माण के कार्य को प्रोत्साहित करने के लिए विशाखापत्तनम का जहाज कारखाना ले लिया गया। भारतीय जहाजरानी के टन भार को बढाने के लिए देशी जहाजरानी कम्पनियो को जहाज खरीदने के लिए रियायती दर पर ऋण देने की योजना भी चालू की।

व्यापारिक जहाजो के सम्बन्ध मे प्रचलित विभिन्न अधिनियमों को मिलाकर सन् 1958 ई० मे एक नया व्यापारिक जहाज अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के पारित होने के परिणामस्वरूप भारतीय जहाजों की रजिस्ट्री अब भारत मे होने लगी है। इसी समय राष्ट्रीय जहाजरानी मडल की स्थापना की गयी तथा भारतीय जहाजों की सहायता के लिए जहाजरानी विकास कोष बनाया गया। इस अवधि मे भारत सरकार ने जहाजरानियो के अधिकारियों और नाविको के प्रशिक्षण की सुविधायें बढाई। नाविको की भलाई के लिए भलाई मडल तथा व्यापारिक जहाजरानी शिक्षण मडल, भाडा जाच मडल, समुद्री भाडा आयोग, जहाजरानी समन्वय समिति आदि की स्थापना भी की गयी।

पचवर्षीय योजनाओ के प्रारम्भ में जहाजरानी सन् 1947 ई० मे भारत के पास केवल 1 लाख 92 हजार टन भार के जहाज थे। प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे अर्थात् 1951 मे भारतीय जहाजो का टन भार 3 लाख 90,707 हो

गया था। इसमें से 2,17,202 हजार टन भार के जहाज तटीय व्यापार में लगे थे तथा शेष 1,73,505 टन भार के जहाज विदेशी व्यापार में लगे थे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रथम पंचवर्षीय योजना में 2,75,000 टन के जहाज प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था तथा इसके लिए 36 करोड़ रु० की धन राशि निर्धारित की गयी थी। पुराने तथा काम में न आ सकने लायक जहाजों को रद्द ठहराने के लिए 60 हजार टन भार की व्यवस्था करने के बाद मार्च 1956 में 6 लाख टन भार के जहाज प्राप्त करने का लक्ष्य था। मार्च 1956 में वस्तुतः हमारे पास 4 लाख 80 हजार टन के जहाज चालू हालत में तथा 1 लाख 20 हजार टन भार के जहाज निर्माणाधीन थे। इस प्रकार प्रथम योजना का लक्ष्य लगभग पूरा हो गया था।

इस योजनावधि में इस मद पर 18.7 करोड़ रुपये व्यय हुआ। योजनावधि में विकास कार्यक्रमों के फलस्वरूप कुल 6,00,707 टन (GRT) के जहाज थे जिनमें 3,12,202 तटीय व्यापार; 2,83, 505 टन विदेशी व्यापार तथा 5 हजार टन के टैंकर जहाज थे। इस योजनावधि में 5500 रेटिंग्स, 143 मेरिन इन्जीनियर तथा 268 नेविगेशन कर्मचारियों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गई। बन्दरगाहों एवं पोताश्रयों के विकास पर योजनावधि में 27.6 करोड़ रुपया व्यय किया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना : इस योजनावधि में सामुद्रिक परिवहन के विकास के निर्धारित उद्देश्य थे, (i) देश के तटीय व्यापार का यथासम्भव विकास करना ताकि इन क्षेत्रों में रेल परिवहन का भार कुछ कम हो सके; (ii) भारतीय विदेशी व्यापार के लिए जहाजों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाए, (iii) निजी जहाजी कम्पनियों को उचित वित्तीय सहायता द्वारा प्रोत्साहन देना तथा प्रशिक्षण केन्द्रों में इनके कर्मचारियों को प्रोत्साहन देना; तथा (iv) तेल तथा पेट्रोल ले जाने वाले जहाजों का निर्माण करना। दूसरी पंचवर्षीय योजना में 46 करोड़ 25 लाख रु० की लागत से 3 लाख 90 हजार टन भार के जहाज प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। पुराने व रद्दी जहाजों के लिए 90 हजार टन भार की व्यवस्था करने के बाद, दूसरी योजना काल में जहाजरानी में 3 लाख टन वृद्धि का लक्ष्य था। मार्च 1961 में वस्तुतः 8 लाख 57 हजार टन भार के जहाज चालू हालत में थे और 93 हजार टन भार के जहाज या तो निर्माणाधीन थे या प्राप्त किये जा रहे थे। इस प्रकार दूसरी पंचवर्षीय योजना में लक्ष्य से 50 हजार टन भार अधिक जहाज थे। इस योजनावधि के अन्त में 2,92,000 टन के जहाज तटीय व्यापार में तथा 5,65,000 टन के जहाज विदेशी व्यापार में लगे हुए थे। इस योजनाकाल में जहाजरानी के विकास में 52.7 करोड़ रुपये खर्च किए गए।

तृतीय पंचवर्षीय योजना : तृतीय पचवर्षीय योजना मे 55 करोड़ रु० की लागत से 3 लाख 75 हजार टन भार के लिए जहाज प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था। इस आयोजित धन राशि मे से आधा सार्वजनिक क्षेत्र मे तथा निजी क्षेत्र में खर्च किया जाना था। इस योजना के अन्तर्गत 1 लाख 81 हजार टन भार के नये जहाज प्राप्त करने तथा 1 लाख 94 हजार टन भार के पुराने जहाज बदले जाने थे। तीसरी योजना के अन्त मे भारतीय जहाजरानी मे 10 लाख 81 हजार टन भार के जहाज करने का लक्ष्य था, यद्यपि यह लक्ष्य राष्ट्रीय जहाजरानी मण्डल द्वारा निर्धारित 14 लाख टन भार से नहीं कम था। योजना के अन्त मे भारतीय जहाजरानी मे 15 लाख 40 हजार टन भार के जहाज हो गये थे और इस प्रकार सरकार द्वारा दिया गया आश्वासन पूरा किया गया। इस काल मे और भी अधिक प्रगति होती यदि प्रस्तावित 1 लाख 94 हजार टन भार के स्थान पर 2 लाख 54 हजार टन भार के जहाज रद्दी न किये गये होते।

तृतीय योजना काल मे 11 भारी सामान ढोने वाले जहाज, 4 समुद्र पार जाने वाले टैंकर्स प्राप्त किए गए जिससे खाद्यान्न, खनिज पदार्थ तथा पेट्रोल ढोने मे सुविधा हो। इस योजना काल मे वस्तुत जहाजरानी पर 47 करोड रुपया व्यय हुआ। तृतीय योजना काल मे लक्ष्य से भी अधिक उपलब्धि के कारण थे, (i) स्थगित भुगतान की शर्तो पर जहाज का खरीदा जाना, (ii) पुराने जहाजो का सस्ते भावो मे प्राप्त किया जाना, (iii) हिन्दुस्तान शिपयार्ड की क्षमता का पूरा उपयोग किया जाना आदि।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74)[1] चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे नए जहाजो को खरीदने के लिए 125 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई है। चौथी योजना के अन्त तक जहाजरानी का टन भार लगभग 35 लाख टन हो जायेगा। देश के विदेशी व्यापार मे जहाजरानी का अंश लगभग 40 प्रतिशत हो जायेगा। इस योजनावधि मे बन्दरगाहो की परिवहन क्षमता 550 लाख मीट्रिक टन से बढ़कर 900 लाख टन हो जायेगी।

प्रशिक्षण जहाज 'डफरिन' के स्थान पर नया जहाज खरीदने, छोटे छोटे जहाजो को खरीदने के लिए आर्थिक सहायता देने, प्रशिक्षण सुविधाओ के विस्तार करने तथा नाविको के कल्याण कार्य पर 5 करोड रुपये अतिरिक्त व्यय किए जाएगे। इस योजना मे बन्दरगाहों के विकास पर भी बल दिया गया है और इस पर योजनाकाल में 180 करोड रुपया व्यय किया जायेगा

---

1. योजना 27 अप्रैल, 1969

वर्तमान स्थिति : जनवरी 1972 में भारतवर्ष में जहाजों की संख्या 256 थी जिनकी क्षमता 25 लाख सकल टन भार थी।

भारतवर्ष में इस समय शिपिंग कारपोरेशन आफ इण्डिया के अतिरिक्त 35 अन्य भारतीय जहाजी कम्पनियां हैं। भारतीय जहाज प्रतिवर्ष लगभग 50 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित कर रहे हैं। इस समय भारतवर्ष में जहाज बनाने के दो कारखाने हैं जो विशाखापटनम व कोचीन में स्थित हैं। इंजीनियरों व नाविकों को प्रशिक्षण देने की भी कई संस्थाएं हैं, यथा, 'डफरिन' मेरीन इंजीनियरिंग कालेज, कलकत्ता, नाटिकल एण्ड इंजीनियरिंग कालेज, बम्बई, आदि। इस समय देश में 8 बड़े बन्दरगाह हैं—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, विशाखापटनम, कोचीन, कांडला मारमा गोआ व प्रदीप। इन बड़े बन्दरगाहों के अतिरिक्त देश में लगभग 225 छोटे बन्दरगाह भी हैं।

समस्याएं भारतीय जहाजरानी ने स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् यद्यपि महत्वपूर्ण प्रगति की है, तथापि इसके विकास के मार्ग में कई कठिनाइयां या समस्याएं हैं जो इस प्रकार हैं

1 जहाजी क्षमता का अभाव भारत जहाजरानी के क्षेत्र में काफी पिछड़ा हुआ है जैसा कि निम्नतालिका से स्पष्ट है—

विश्व की जहाजी शक्ति (जुलाई, 1968)[1]

देश	क्षमता लाख टनों में	कुल का प्रतिशत
1 लाइबेरिया	257	13 25
2 ग्रेट ब्रिटेन	219	11 29
3 संयुक्त राज्य अमेरिका	197	10 13
4 नार्वे	197	10 13
5 जापान	196	10 09
6 ग्रीस	74	3 82
7 इटली	66	3 41
8 पश्चिमी जर्मनी	65	3 36
9 फ्रांस	58	2 99
10 नीदरलैण्डस	53	2 71
11 भारत	20	1,00
अन्य देश	539	27 82
योग	1941	100 00

1 स्रोत इकानामिक टाइम्स, 17, अगस्त, 1967

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारतीय जहाजी क्षमता विश्व के अन्य देशों की तुलना में बहुत ही कम है। अतः इसे बढ़ाने के लिए प्रयास किए जाने चाहिए।

2 विदेशी प्रतिस्पर्द्धा भारत को जहाजरानी के क्षेत्र में ब्रिटेन, अमेरिका तथा जापान से तीव्र प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ रहा है। अभी कुछ वर्षों से जर्मनी तथा इटली ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया है और भारतीय जहाजरानी से प्रतिस्पर्द्धा करने लगे है। सरकार को चाहिए कि इस प्रतिस्पर्द्धा से भारतीय जहाजरानी को बचाए। भारतीय तटीय व्यापार का शत प्रतिशत तथा विदेशी व्यापार का 50% भाग भारतीय जहाजरानी को मिलना ही चाहिए। सरकार को इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

3 रेल परिवहन से प्रतिस्पर्द्धा भारतीय रेलें भी तटीय क्षेत्रों मे जहाजरानी से तीव्र प्रतिस्पर्द्धा कर रही है। तटवर्ती सामुद्रिक मार्गों द्वारा कपास, सीमेण्ट, तेल, चावल, तिलहन आदि को लाने ले जाने में अपेक्षाकृत कम व्यय पड़ता है। लेकिन भारतीय रेलें भी इन वस्तुओं को कम भाड़े की दर पर ले जाने व लाने के लिए तत्पर रहती हैं जिससे इन दोनों परिवहन साधनों मे अनुचित प्रतिस्पर्द्धा होती है तथा जहाजरानी को अनावश्यक क्षति उठानी पड़ती है। 1955 मे Rail Sea Co-ordination Committee, जो कि इन दोनों परिवहन साधनों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए गठित की गई थी, भी इस दिशा में अधिक सफल नहीं हो सकी है। इस समस्या का निराकरण शीघ्रातिशीघ्र किया जाना चाहिए।

4 जहाजों की ऊंची लागत विश्व मे जहाजों की माग में वृद्धि होने के फलस्वरूप जहाजों के मूल्यों मे अत्यधिक वृद्धि हो गई है। 1945 की तुलना मे इस समय ब्रिटेन मे 16% जहाजी मूल्य बढ़ गए है। भारत मे तो यह वृद्धि 20% तक पहुंच गई है। सरकार को चाहिए कि वह जहाज निर्माण कार्य को अधिकाधिक आर्थिक सहायता प्रदान करे।

5 अन्य समस्यायें उपर्युक्त वर्णित समस्याओं के अतिरिक्त भारतीय जहाजरानी को कुछ अन्य समस्याओं का भी सामना करना पड़ रहा है, वे हैं —

(i) माल वाहक, तेल वाहक एवं यात्री जहाजों की अब भी बहुत कमी है और हमें प्रतिवर्ष भाड़े के रूप मे करोड़ो रुपये व्यय करने पड़ते हैं, (ii) तटीय जहाजों की संख्या निरन्तर कम होती जा रही है, (iii) भारत में जहाज निर्माण की गति का अत्यन्त मन्द होना, (iv) विदेशों से जहाज खरीदने के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा का अभाव, (v) देश के समुद्रतट की विशालता के अनुरूप प्राकृतिक बन्दरगाहों का न होना, (vi) स्वदेशी जहाजी कम्पनियों के पास यथोचित पूंजी का अभाव, (vii) बन्दरगाहों पर काम करने वाले श्रमिकों द्वारा आये दिन हड़ताल, (viii) ध्वजा सम्बन्धी भेद भाव, (ix) बढ़ते हुए संचालन व्यय की समस्या, तथा (x)

भारतीय जहाजों की भाड़ा दरों का कम होना; (xi) जहाजों की मरम्मत की समुचित व्यवस्था का देश में न होना।

भारतीय जहाजरानी के तीव्र विकास के लिए यह आवश्यक है कि उपर्युक्त समस्याओं का निराकरण किया जाय।

योजना आयोग ने प्रारम्भ से ही जहाजरानी के महत्व पर बल दिया है क्योंकि भारत जैसे विशाल देश के लिए जिसका समुद्र-तट बहुत लम्बा है तथा समुद्री मार्गों से बड़े पैमाने का व्यापार होता है, जहाजरानी का विशेष महत्व है। सरकार ने भी अब यह महसूस कर लिया है कि जहाजरानी के विकास एवं विस्तार को प्राथमिकता देना आवश्यक है, क्योंकि देश के विदेशी व्यापार में जहाजी भाड़े के रूप में विदेशी मुद्रा की बड़ी राशि व्यय की जाती है, वह बच सकेगी। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने ठीक ही कहा था कि समुद्र पर अधिकार रखने वाले ही व्यापार पर अधिकार रखते हैं और जिनकी मुट्ठी में विश्व का व्यापार होता है, उन्हीं के पास समृद्धि आती है और अन्ततोगत्वा वही विश्व का नेतृत्व करते हैं। पं० नेहरू की यह उत्कट अभिलाषा थी कि भारत का झण्डा फहराते हुए, भारतीय जहाज समुद्र-पार दूरवर्ती देशों के सागर तटों पर जाएं। हमें इस दिशा में निरन्तर बढ़ते रहने का संकल्प करना चाहिए, ताकि देश को समृद्ध बनाने तथा गौरव दिलाने में भारतीय जहाजरानी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सके।

प्रश्न

1 भारतवर्ष में जहाजरानी के विकास का विवेचन कीजिए तथा इसकी वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिये।

2 भारतीय जहाजरानी के विकास की बाधाओं की चर्चा करते हुये, गत वर्षों में सरकार द्वारा उठाये गये कदमों की विवेचना कीजिये।

3 स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष में जहाजरानी के विकास के लिए क्या-क्या महत्वपूर्ण कार्य किये गये हैं? संक्षेप में विवरण दीजिए।

4 देश की अर्थ व्यवस्था में जहाजरानी के महत्व की विवेचना कीजिए। देश में जहाजरानी के विकास की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए उन्हें सुलझाने के लिये सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

5. भारत में जल-परिवहन का महत्व समझाइए और इसके विकास के लिए अपनाए गए उपायों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

(वि क्रम वि० वि० बी० ए० 1965)

25

भारत में वायु परिवहन

(Air Transport in India)

"मनुष्य को उपलब्ध विभिन्न साधनों में से वायु परिवहन सबसे नवीनतम, सबसे अधिक विकासशील, सबसे अधिक चुनौती देने वाला तथा हमारे आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन में सबसे अधिक क्रान्ति लाने वाला है।"

— फेयर व विलियम्स

भारतवर्ष के प्राचीन धर्म ग्रन्थों में अनेक ऐसे वृत्तान्त पढ़ने में आते हैं, जिनसे ऐसा लगता है कि वायुयान भारतवर्ष में अति प्राचीन काल में भी उपयोग में आते थे। वर्तमान वायु यातायात की घटना यातायात के इतिहास में नवीनतम घटना है। वायु यातायात के विकास ने यातायात के इतिहास में क्रान्ति ला दी है और इससे एक नये युग का सूत्रपात होता है। मानव की पक्षियों की भांति गगन में उड़ने की इच्छा की पूर्ति, वायु यातायात के प्रादुर्भाव से पूरी हो गयी है। श्री फेयर एवं विलियम्स के शब्दों में, 'मनुष्य को उपलब्ध विभिन्न साधनों में से वायु परिवहन सबसे नवीनतम सबसे अधिक विकासशील, सबसे अधिक चुनौती देने वाला एवं हमारे आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन में सबसे अधिक क्रांति लाने वाला है।"

भारत में वायु परिवहन का विकास

भारतवर्ष में सन् 1911 ई० से प्रयोगात्मक उड़ान प्रारम्भ हुई थी जबकि बम्बई व करांची के बीच प्रथम बार उड़ान की व्यवस्था की गयी थी। परन्तु विमान परिवहन का वास्तविक उपयोग सन् 1920 से किया गया जब सरकार द्वारा कुछ हवाई अड्डों का निर्माण किया गया। सन् 1927 ई० में नागरिक विमान परिवहन विभाग स्थापित किया गया और कई उड्डयन क्लब (Flying clubs) स्थापित किये गये। विमान चालकों, प्राविधिज्ञों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। 1928 में दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा करांची में उड्डयन क्लब प्रारम्भ किए गए। इसी वर्ष इम्पीरियल एयरवेज के द्वारा भारत तथा लन्दन के बीच नियमित रूप से हवाई परिवहन प्रारम्भ हुआ।

सन् 1932 में टाटा एयरवेज ने इलाहाबाद, कलकत्ता व कोलम्बो के मध्य तथा बाद में कराची व मद्रास के बीच आन्तरिक वायु सेवाएं प्रारम्भ कर दी। सन् 1938 में एम्पायर एयर मेल स्कीम प्रारम्भ की गई, लेकिन युद्ध के छिड़ जाने के फलस्वरूप इसे स्थगित कर दिया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय तथा इसके बाद नागरिक विमान परिवहन में उल्लेखनीय प्रगति हुई। सन् 1946 ई० में भारत सरकार ने विमान परिवहन नीति की घोषणा की। इस घोषणा में निजी कम्पनियों को सहायता देने का आश्वासन दिया गया। इसी वर्ष वायु परिवहन लाइसेंस बोर्ड बनाया गया। यह निर्धारित कर दिया गया कि लाइसेन्स देते समय बोर्ड निम्नांकित बातों का ध्यान रखेगा।

(क) कम्पनियों की वित्तीय स्थिरता; (ख) कार्य सचालन की दक्षता के स्तरों (Standards) की उचित देखभाल, तथा (ग) कम्पनी की वायु परिवहन सेवाओं को जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करने की सामर्थ्य।

बोर्ड को यह शक्ति प्राप्त थी कि लाइसेन्स प्राप्त वायु कम्पनियों द्वारा लिए जाने वाले किराए और भाड़े की न्यूनतम और अधिकतम सीमा निर्धारित कर दे। फलस्वरूप इस समय बहुत-सी निजी वायु-परिवहन कम्पनियां बन गयी। इन कम्पनियों की अधिकता के कारण इन्हें घाटा हुआ।

विदेशी वायु सेवाओं के लिए भारत सरकार ने टाटा कम्पनी के सहयोग से एयर इण्डिया इन्टरनेशनल की स्थापना की। स्थापना के समय यह तय किया गया था कि इस कम्पनी की हिस्सा पूंजी में सरकार का अंश 49 प्रतिशत रहेगा और यह विकल्प रहेगा कि सरकार इसमें वृद्धि करके इसे 51 प्रतिशत करदे। सरकार 5 वर्ष के समय तक होने वाली हानि की क्षति पूर्ति करेगी, जिसकी अदायगी भावी लाभों में से की जा सकेगी।

स्वतन्त्रता के पश्चात् वायु परिवहन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने वायु परिवहन के विकास के लिए आवश्यक कदम उठाये। सन् 1950 ई० में श्री राज्याध्यक्ष की अध्यक्षता में एक वायु परिवहन जांच समिति बनाई गई। वायु परिवहन के क्षेत्र में विभिन्न कम्पनियों के बीच प्रतिस्पर्द्धा समाप्त करने के लिए इस समिति ने सभी कम्पनियों को समन्वित कर चार बड़ी कम्पनियों के संगठन की सिफारिश की। *इस समिति की अन्य सिफारिशें थी, (i) अवधि समाप्त होने पर* अस्थाई लाइसेंसों को रद्द कर दिया जाय, (ii) भाड़ की न्यूनतम दरें निर्धारित की जाए, (iii) सरकारी आर्थिक सहायता 1952 तक जारी रखी जाए, (iv) वायुयान कम्पनियों के लाभ पर सरकार नियन्त्रण रखे, तथा (v) अगले 5 वर्षों तक वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण न किया जाय।

2 वायु परिवहन के राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष में तर्क

(i) पक्ष में तर्क वायु परिवहन के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में वायु परिवहन समिति ने जो-जो विचार प्रस्तुत किए थे, वे हैं (i) एकाकी सचालन से उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग हो सकेगा, (ii) सुरक्षा की दृष्टि से राष्ट्रीयकरण आवश्यक है, (iii) राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप नागरिक उड्डयन विभाग व भारतीय वायु सेना के प्रशिक्षण कार्य में सामजस्य स्थापित हो जायेगा; (iv) जनता को सस्ती व अच्छी सेवायें प्राप्त होंगी, (v) अन्तर्राष्ट्रीय कानून व प्रतिस्पर्द्धा का सामना अच्छी तरह से किया जा सकेगा, (vi) सेवाओं में दुहरापन समाप्त हो जाने से मितव्ययता होगी, तथा (vii) यह उद्योग सरकारी सहायता के बिना चल नही सकता, अत सरकार ही इसे चलाये तो अच्छा रहे।

(ii) विपक्ष में तर्क वायु परिवहन के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे निम्नाकित तर्क दिये गये थे (i) सभी देशों की सरकारें वायु परिवहन को आर्थिक सहायता देती है, अत भारत को भी देना चाहिए, (ii) सरकारी प्रबन्ध में लोचहीनता पाई जाती है, (iii) प्रशिक्षित एव अनुभवी व्यक्तियों के अभाव से सरकार के सामने कठिनाई होगी, (iv) सन् 1948 की औद्योगिक नीति मे वायु परिवहन को 10 वर्षों के लिए निजी क्षेत्र के लिए छोड़ा गया था, अत इस समय का राष्ट्रीयकरण का अर्थ सरकार द्वारा अपने वायदे से विमुख होना था, तथा (v) राष्ट्रीयकरण करने पर सरकार को मुआवजा देना पड़ेगा, जिससे सरकार के आर्थिक दायित्व में वृद्धि हो जायेगी।

सरकार ने कुछ समय तक के लिए राष्ट्रीयकरण को स्थगित कर दिया। परन्तु चूंकि निजी कम्पनियां स्वेच्छा से विलयन के लिए तैयार न थी, इसलिए सरकार ने राष्ट्रीयकरण करना उचित समझा। मार्च 1953 मे वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण कर लिया तथा इनके सचालन के लिए, वायु परिवहन निगम अधिनियम के अन्तर्गत इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन (Indian Air-Lines Corporation) व एयर इण्डिया इन्टरनेशनल कारपोरेशन (Air-India International Corporation) की स्थापना की गई, जिन्होंने 1 अगस्त 1953 से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

3 पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत वायु परिवहन

प्रथम पंचवर्षीय योजना : प्रथम पचवर्षीय योजना में वायु परिवहन पर 9 5 करोड रु० व्यय करने का प्रावधान था, लेकिन योजना काल मे केवल 7 24 करोड रुपये ही व्यय किये जा सके। योजनावधि मे हवाई अड्डों का आधुनिकीकरण, निर्माण,

सचार सुविधाओ एव परिवहन उपकरणो पर विशेष ध्यान दिया गया। योजनावधि मे 9 हवाई अड्डे बनाए गए तथा पुराने हवाई अड्डो को सुधारा गया।

द्वितीय पचवर्षीय योजना इस योजना काल मे 30·53 करोड रुपये व्यय किए जाने का प्रावधान था। इसमे से 16 करोड रुपये इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन पर तथा 14 53 करोड रुपये एयर इण्डिया इन्टरनेशनल पर व्यय किये जाने की व्यवस्था थी। योजनावधि मे 8 नए हवाई अड्डो के निर्माण की भी व्यवस्था की गई थी। इस योजनाकाल मे माँग के अनुसार सुविधाए बढाने का प्रयत्न किया गया। योजनावधि मे सान्ताक्रुज, दमदम एव पालम हवाई अड्डो का विकास किया गया तथा उन्हे जेट वायुयानो के सेवा-योग्य बनाया गया। इस योजनाकाल मे देश के सभी नगरो को वायु सेवाओ द्वारा मिला दिया गया। योजनावधि मे प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधाओ का भी विस्तार किया गया। योजनावधि मे 15 9 करोड रुपये वायु परिवहन पर वस्तुत: व्यय किए गए।

तृतीय पचवर्षीय योजना तृतीय पचवर्षीय नागरिक उड्डयन के लिए 55 करोड रुपयो का प्रावधान किया गया था, जिसमे से 25·5 करोड रुपये नागरिक उड्डयन के विविध कार्यक्रमो पर व्यय किये जाने थे। इस धनराशि मे से 18·50 करोड रुपये भवन व हवाई अड्डो के निर्माण पर, 5·00 करोड रु० विमान तार, सचार व्यवस्था पर, 1 00 करोड रु० हवाई मार्ग व अड्डो पर, 0 84 करोड रु० प्रशिक्षण यन्त्र एव उपकरणो पर तथा 0 16 करोड रु० अन्वेषण व विकास पर व्यय किए जाने थे। इस योजना काल मे वायु परिवहन पर वस्तुत 47 करोड रु० व्यय हुए।

1966-69 की अवधि मे क्रियान्वित की गई तीन एक-एक वर्षीय योजनाओ पर कुल लगभग 60 करोड रु० व्यय किए गए। इण्डियन एयर लाइन्स कार्पोरेशन तथा एयर इण्डिया की क्षमता बढ कर क्रमश 224 मिलियन टन किलोमीटर तथा 437 मिलियन टन किलोमीटर तक पहुच गई।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना (1969–70) चतुर्थ योजना मे केन्द्रीय क्षेत्र मे असैनिक वायु परिवहन के विकास के लिए 202 करोड रुपये की व्यवस्था की गई है। इस धनराशि म से नागरिक वायु-परिवहन विभाग पर 72 करोड रु० 'इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन पर 55 करोड रु०, एयर इण्डिया पर 60 करोड रु० तथा मिट्रिओरोलॉजिकल विभाग पर 15 करोड रु० व्यय किए जायेंगे। इस योजनावधि मे दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई–इन चार अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डो मे सुविधाए बढाई जायेंगी ताकि वे जुम्बो जेट जैसे भारी तथा अधिक क्षमता वाले विमानो के उपयोगों के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सके। योजनावधि मे एयर इण्डिया 4 बोइंग 741 जेट प्राप्त करेगा। इस योजना के अन्त तक इण्डियन एयर लाइन्स कारपोरेशन की

क्षमता 392 मिलियन टन किलोमीटर तथा एयर इण्डिया की क्षमता 990 मिलियन टन किलोमीटर तक पहुच जाने की सम्भावना है।

वर्तमान स्थिति : इस समय दोनो परिवहन निगमो की अवस्था सतोषजनक है। भारत मे इस समय वायु परिवहन प्रशिक्षण के लिए 23 स्थानो पर उड्डयन क्लब हैं। हवाई अड्डो की सख्या इस समय भारतवर्ष मे 85 हैं, जिनमे से शान्ताक्रुज, दमदम व पालम अन्तर्राष्ट्रीय अड्डे हैं। भारत मे वायुयान तथा सम्बन्धित सामान बनाने की कई फैक्ट्रियां काम कर रही हैं, जैसे, हिन्दुस्तान एयर क्राफ्ट फैक्ट्री, बगलौर, वायुयान उत्पादक डिपो, कानपुर; वायुयान ढाचे बनाने की फैक्ट्री; नासिक; एयरो इन्जिन फैक्ट्री, कोरापुट (उडीसा) तथा विद्युत पदार्थ उत्पादक फैक्ट्री, हैदराबाद। 'मिग' वायुयान के उत्पादन का कार्य भी रूसी सहयोग से प्रारम्भ हो गया है। इस समय इण्डियन एयरलाइन्स के पास 7 कारवेल जेट, 14 वाइकाउन्ट, 3 स्काइमास्टर, 15 फोकर फ्रेन्डशिप, 19 डेकोटा तथा 3 एच० एस० 748 विमान हैं, जिनके माध्यम से भारत के प्राय सभी बडे नगर वायु सेवा द्वारा जुडे हुए हैं। एयर इण्डिया के पास इस समय 9 बोइग जेट विमान हैं, जिनके द्वारा 24 देशों को भारत से वायु सेवायें प्रदान की जा रही हैं। सन् 1970 मे भारतीय विमानो ने कुल मिलाकर 7·23 करोड किलोमीटर लम्बी उडानें भरी तथा वे 28·93 लाख यात्री तथा 547·5 किलोग्राम माल एव डाक लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान को गए।

4 वायु परिवहन का महत्व ·

वायु परिवहन का परिवहन के साधनो मे एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसके महत्व को निम्नाकित विवरण से समझा जा सकता है।

1 **व्यापारिक क्षेत्र मे महत्व ·** शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुए जैसे अण्डा, मछली, दूध तथा बहुमूल्य वस्तुओ जैसे हीरा, जवाहरात आदि वायु परिवहन द्वारा भेजना सुविधाजनक व निरापद रहता है। समाचार-पत्र-पत्रिकाए भी वायु यातायात के द्वारा शीघ्रातिशीघ्र एक स्थान से दूसरे स्थान भेजी जा सकती है। इस प्रकार नाशवान, मूल्यवान, कोमल व कलात्मक वस्तुओ के व्यापार को बढाने मे वायु परिवहन का महत्वपूर्ण योगदान है।

2 **कृषि क्षेत्र में महत्व ·** वर्तमान समय मे कृषि विकास के क्षेत्र मे भी वायु परिवहन ने उल्लेखनीय योगदान दिया है। टिड्डियों तथा फसल के अन्य कीटाणुओ को नष्ट करने के लिए भी दवा छिडकने के काम मे वायुयानों का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा रहा है। हवाई जहाजों द्वारा एक निश्चित ऊचाई पर एक रासायनिक द्रव्य ले जाकर उसे बादलो पर फेकने से आगे न बढ कर वही पर वर्षा कर देते हैं। अमेरिका मे कपास की चुनाई से पूर्व हवाई जहाज से खेत मे एक रासायनिक द्रव्य डाल देते हैं, जिससे पत्ते झड जाते हैं तथा कपास की चुनाई सरल हो जाती है।

3. देश की सुरक्षा के क्षेत्र में महत्व : विदेशी आक्रमण के दौरान वायु परिवहन का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि इनके माध्यम से सेना की टुकड़ियों को प्रभावित क्षेत्रों मे बहुत कम समय मे भेजा जा सकता है। यहाँ तहीं वायु फोटोग्राफी द्वारा शत्रु सेना तथा उनके गुप्त सैनिक अड्डो का पता लगाया जा सकता है। सीमान्त क्षेत्रों पर निरीक्षण रखने मे भी वायुयान उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

4 आपातकाल में महत्व . भारतवर्ष मे कई क्षेत्रो मे प्राय. बाढ़ आ जाती है, जिसके परिणामस्वरूप ये क्षेत्र देश के अन्य भागो से अलग हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे इन क्षेत्रो को आवश्यक वस्तुए केवल विमानो द्वारा ही पहुचाई जा सकती है। भोजन, वस्त्र तथा दवाइयो के थैलो को विमान द्वारा गिरा कर प्रभावित क्षेत्रो के लोगो की रक्षा की जा सकती है। सक्रामक बीमारियो की स्थिति मे दवाइया तथा चिकित्सक पीड़ा-ग्रस्त क्षेत्रो मे भेजे जा सकते हैं। आधुनिक समय मे क्षति ग्रस्त क्षेत्रों से जनता को बचाने मे हेलीकॉप्टर बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं।

5 औद्योगिक नगरो की भीड-भाड की समस्या का निराकरण . वायु परिवहन के विकसित हो जाने पर नगरो मे भीड-भाड की समस्या को हल किया जा सकता है। उन्नत देशो मे विविध उद्योगो के आस-पास ही श्रमिको व अन्य कर्मचारियो को बसाना आवश्यक नही है क्योंकि हवाई परिवहन द्वारा वे प्रतिदिन औद्योगिक नगर आ जा सकते हैं।

6 अन्य महत्व (1) वायु परिवहन सास्कृतिक एकता व सम्पर्क बनाने मे योगदान देता है, (ii) इससे ऋतु विज्ञान को सहायता मिलती है; (iii) वायु फोटोग्राफी से विविध कार्यों के लिए विस्तृत क्षेत्रों का सर्वेक्षण सुविधाजनक हो जाता है; (iv) वायु परिवहन मे सडको, रेलों अथवा अन्य मार्गों की भाति मार्ग-निर्माण मे व्यय नहीं लगता; (v) अत्यन्त व्यस्त रहने वाले उद्योगपतियो, व्यापारियो व राजनीतिज्ञों के लिए यह आदर्श एव सर्वश्रेष्ठ साधन है क्योंकि यह अत्यन्त द्रुतगामी साधन है; (vi) जन स्वास्थ्य पर मच्छर व अन्य विषैले कीटाणुओं के प्रभावो को वायुयानो द्वारा दवाई छिडक कर समाप्त किया जा सकता है; (vii) डाक लाने व ले जाने मे वायु परिवहन का विशेष महत्व है; (viii) मूल्यवान वस्तुओ को वायुयान द्वारा ले जाकर चोरी, डकैती आदि के खतरे से मुक्ति पाई जा सकती है।

वायु परिवहन की सीमाएं – वायु परिवहन की सीमाएं निम्नलिखित हैं:—

(1) इस साधन द्वारा सीमित यात्रा व वजन भर माल ले जाया जा सकता है।

(2) सचालन व्यय अधिक होने के कारण इसका भाड़ा बहुत अधिक होता है, इसलिए न तो सामान्य यात्री ही इस ओर आकर्षित होता है और न ही लोग वायुयान द्वारा सामान ही भेजते हैं।

(3) कोहरे व बुरे मोसम पर वायु परिवहन अब तक विजय नही प्राप्त कर सका है।

(4) रात्रि उड्डयन (Night Flying) आज भी किशोरावस्था मे है व अधिकाश दुर्घटनाए रात्रि यात्राओं से ही होती है।

5 वायु परिवहन की समस्यायें

भारतवर्ष मे वायु परिवहन के विकास के मार्ग मे अनेक समस्यायें हैं, यथा—(i) भारतवर्ष को अब भी अधिकाश विमानो की प्राप्ति के लिए विदेशो पर निर्भर रहना पडता है, (ii) भारतीय वायु परिवहन को विदेशी कम्पनियो की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पडता है। ये कम्पनियाँ भाड़े की दरो मे रियायतें तथा विलम्बित भुगतान की सुविधायें देकर यात्रियो को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है, (iii) वायु परिवहन की सेवाए पेट्रोल को ऊंची लागतो के कारण अपेक्षाकृत बहुत महगी पडती हैं, (iv) वायु दुर्घटनाओ के फलस्वरूप प्राय धन जन की अपार क्षति हो जाती है, (v) प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधाए अपेक्षाकृत कम है, (vi) भारतीय वायु परिवहन निगमो के पदाधिकारियो की व्यावसायिक योग्यता अपेक्षाकृत कम है, (vii) तकनीकी प्रगति के अभाव मे पुराने विमानों का उचित उपयोग नही हो पाता, (viii) भारत मे सवारी वाले जहाज तो पर्याप्त हैं, पर भार वाहक विमानो की कमी है, (ix) भारतीय हवाई अड्डे आधुनिक सुविधाओ से सम्पन्न नही हैं (x) दक्ष व योग्य विमान चालकों व कर्मचारियो की कमी है।

6 सुझाव

भारतीय वायु परिवहन की विविध समस्याओ का शीघ्रातिशीघ्र निराकरण किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे निम्नाकित सुझाव महत्वपूर्ण हैं (i) उच्चकोटि के नवीन हवाई अड्डो का निर्माण किया जाना चाहिए, जिनमे वे सभी सुविधायें प्राप्त हो सकें, जो अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डो पर पाई जाती हैं, (ii) कर्मचारियो को प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों का विकास किया जाना चाहिए तथा नये प्रशिक्षण केन्द्र खोलने चाहिए, (iii) भार वाहक विमानों की सख्या मे वृद्धि की जानी चाहिए, (iv) वायु परिवहन की दुर्घटनाओ को कम करने के प्रयत्न करने चाहिए, (v) पर्यटको की सुविधा के लिए विभिन्न औपचारिकता कम की जानी चाहिए, (vi) फ्लाइग व ग्लाइडिंग केन्द्रो की सख्या बढाई जानी चाहिए, (vii) वायु परिवहन सम्बन्धी शोध कार्य किये जाने चाहिए, (viii) विमान यात्रियो की सुविधाओ को बढाने के लिए उपयुक्त उपाय किये जाने चाहिए तथा देश मे अनियमित सेवाओ (Non Scheduled) के लिए पर्याप्त क्षेत्र हैं, अत गैर अनुसूचित सेवाओ को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए और देश के उन नगरों को वायु मार्गों द्वारा मिलाया जाना चाहिए, जो अब तक वायु मार्गों से नही मिलाये जा सके हैं।

वायु परिवहन का आर्थिक महत्व तो है ही, राजनैतिक एवं सामरिक महत्व भी है। अतः इसके विकास की ओर समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए। वायु परिवहन की अनेकानेक समस्याओं का निराकरण किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय वायु परिवहन क्षेत्र में स्थान बनाने के लिए भारतीय वायु परिवहन को आवश्यक कदम उठाने चाहिए। संतोष का विषय है कि भारत सरकार अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग है और इसके विकास के लिए आवश्यक कदम उठा रही है :

प्रश्न

1. भारतवर्ष में वायु परिवहन के महत्व तथा विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। (रा० प्रथम वर्ष टी० डी० सी० कला 1965 and 1968)

2. भारतवर्ष में वायु परिवहन के पिछड़ेपन के कारण बतलाइये। इसके विकास के लिए सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

3 भारतवर्ष में कौन-कौन से आधुनिक परिवहन हैं ? संक्षेप में इनके सापेक्षिक लाभ व हानियों की विवेचना कीजिए। (राज० बी० ए० 1962)

26

भारत में औद्योगिक श्रम

(Industrial Labour in India)

"The alleged inefficiency of the Indian labour is largely a myth granting more or less identical conditions of work, wages efficiency of management and of the mechanical equipment of the factory, the efficiency of the Indian labour generally is no less than that of workers in most other countries"

—Rege Committee

श्रम उत्पत्ति का सक्रिय एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है, क्योंकि उत्पत्ति की कोई भी क्रिया इसके बिना सचालित नहीं की जा सकती। इसका महत्व ससार के सभी देशो में और सभी कालो मे रहा है। वास्तव मे आज वे ही देश आर्थिक समृद्धि के शिखर पर पहुच पाये है, जिन्होंने देश की परिस्थितियो के अनुकूल, अपनी श्रम शक्ति का यथोचित उपयोग किया है। आने वाला भविष्य भी उन्ही देशो मे सम्पन्नता का प्रसार करेगा जो अपनी श्रम शक्ति का समुचित उपयोग करेंगे। औद्योगिक क्रान्ति के बाद से श्रम शक्ति का सगठित शक्ति औद्योगिक क्राति की ही देन है।

भारत मे औद्योगिक श्रम का उदय

औद्योगिक श्रम का उदय ओद्योगिक विकास के साथ-साथ हुआ। इग्लैण्ड मे अठारहवी शताब्दी के उत्तराद्ध मे सगठित उद्योगो का प्रादुर्भाव होने पर औद्योगिक श्रम के एक नये सामाजिक वर्ग का विकास प्रारम्भ हुआ। भारत मे यो तो उद्योग धन्धे अति प्राचीन काल से अपनी कुशलता के लिए ससार भर मे ख्याति रखते थे, लेकिन आधुनिक युग के बड़ एव सगठित उद्योगो का विकास उन्नीसवी शताब्दी के उत्तराद्ध मे प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार भारत मे सगठित श्रम शक्ति का उद्भव भी 19वी शताब्दी के उत्तराद्ध से ही मानना चाहिए। हमारे देश का औद्योगीकरण अपेक्षाकृत धीमी गति से हुआ है। फलस्वरूप यहा की श्रम शक्ति या औद्योगिक श्रम का विकास एव विस्तार भी मन्द गति से ही हुआ है। सन् 1971 की जनगणना के

अनुसार देश की कुल श्रमशक्ति 28 करोड थी। कारखानों में काम करने वाले औद्योगिक श्रमिकों की संख्या 70 लाख थी। भारत एक कृषि-प्रधान देश रहा है। अब भी कृषि ही यहां के लोगों का मुख्य धन्धा है और अधिकांश लोग (लगभग तीन चौथाई) कृषि से ही अपना रोजगार पाते हैं। परन्तु देश अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने तथा आर्थिक सन्तुलन प्राप्त करने के लिए उत्तरोत्तर औद्योगिक विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा है जिससे श्रम शक्ति भी उत्तरोत्तर बढती जा रही है। भारतवर्ष में औद्योगीकरण के फलस्वरूप प्राचीन कुटीर उद्योगों का पतन होता गया तथा उनमें लगे हुये कारीगर औद्योगिक श्रमिक के रूप में कार्य करने को बाध्य होते गये हैं। यही कारण है कि भारत में औद्योगिक श्रम शक्ति में धीरे-धीरे वृद्धि होती चली गई उत्तरोत्तर वृद्धि का अनुमान निम्नांकित तालिका से चलता है —

श्रम शक्ति में वृद्धि

वर्ष	श्रमिक संख्या (लाख में)
1900	5 0
1920	14 0
1940	22 0
1950	29 6
1961	33 0
1964	45 6
1965	47 0
1966	47 0
1266	70 0

भारतीय श्रमिकों की विशेषताए (Characteristics of Indian Labour)

श्रमिक एक सामाजिक प्राणी है। अन्य सामाजिक प्राणियों की भाँति वह भी सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। भारतीय समाज की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। श्रमिक वर्ग इनसे अछूता नहीं रह सका है, अत यहां के श्रमिकों में भी कुछ विशेषताए पाई जाती हैं जो अन्य देशों के श्रमिकों में सामान्यतया नहीं पाई जाती। संक्षेप में ये विशेषतायें निम्नलिखित हैं —

1. प्रवासी प्रवृत्ति (Migratory Character) भारतीय श्रमिक मुख्यतया गावों से नगरों की ओर आते हैं। उनका गाव व कृषि से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य बना रहता है। अधिकतर श्रमिक औद्योगिक नगरों के पास के गावों

के होते है। इसमे प्रवासी प्रवृत्ति कई कारणो से पाई जाती है, यथा : (i) भारतीय श्रमिको का कार्य स्थायी होने के कारण उन्हे कभी भी कार्य से अलग किया जा सकता है। विवश होकर उन्हे गाव से सम्बन्ध बनाए रखना पड़ता है; (ii) भारतीय उद्योग-धन्धो मे कार्य की दशाए असन्तोषजनक हैं, रहने की अच्छी व्यवस्था नही है तथा रहन-सहन का व्यय अधिक है। इसलिए आब-हवा बदलने के लिए अनाज, घी, सब्जी आदि गाँवो से लाने के लिए तथा अपने आश्रितों को सम्भालने के लिए प्रायः वह गाव की ओर जाता रहता है और जमकर कार्य नही करता; (iii) श्रमिको के मित्र, नातेदार आदि गावो मे ही रहते हैं, अत: उसे गावो की ओर प्रायः जाना ही पड़ता है; (iv) फसलो को बोने तथा काटने के समय भी श्रमिक गाव चले जाते हैं; सच तो यह है कि यदि उसे उसके गाव मे ही उचित रोजगार सम्बन्धी सुविधाए मिल जाय तो सम्भवतः अधिकाश श्रमिक कारखानो मे काम करना छोड कर गावो को चले जायेंगे[1] भारतवर्ष मे श्रमिक शहर जाने के लिए आकर्षित हो नहीं वरन् बाध्य हो जाते हैं।[2] प्रवासी प्रवृत्ति मे कई दोष है, जैसे (i) श्रमिको के जीवन मे स्थायित्व नही आ पाता; (ii) उनकी कार्यकुशलता कम हो जाती है, (iii) बेकारी की समस्या जटिल हो जाती है; (iv) मालिक व श्रमिक के बीच सम्बन्ध स्थापित नही हो पाता; (v) श्रम सगठन की उन्नति मे रुकावट पड़ती है; (vi) श्रमिको के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है, तथा (vii) श्रमिको को आर्थिक हानि होती है।

2 अनुपस्थिति में अधिकता (Greater Absenteeism) : भारतवर्ष मे श्रमिको को काम से अनुपस्थित रहने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके कई कारण हैं जैसे—श्रमिको का गिरा हुआ स्वास्थ्य, बुरी आदतो का होना, प्रबन्धकर्त्ताओ का दुर्व्यवहार, ऋण-दाताओ का भय, रात्रि की पालियों मे काम होना, काम के प्रति निष्ठा का अभाव, श्रम कल्याण व सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों की कमी, आवास व्यवस्था का अभाव, धार्मिक व सामाजिक उत्सव, मुकदमेबाजी तथा ग्रामो से सम्बन्धी आदि। इन सब परिस्थितियो के परिणामस्वरूप श्रमिक प्राय. अपने कार्य से अनुपस्थित रहता है। यह अनुपस्थिति न तो श्रमिको के हित मे होती है और न उत्पादक के हित

---

1 S. K. Bose Some aspects of Indian Economic Development Vol II P 131

2. "Few industrial workers would remain in Industry if they could secure sufficient food and clothing in the village, they are pushed not pulled to the city."

—*Report of the Royal Commission on Labour in India p. 16*

में।[1] इससे कई नुकसान होते हैं, जैसे (i) कार्यानुसार मजदूरी मिलने के कारण काम से अनुपस्थित रहने के कारण श्रमिको की आर्थिक हानि होती है, (ii) इससे अनुशासनहीनता बढती है; (iii) उत्पादन कम हो जाता है; (iv) श्रमिकों की उत्पादन क्षमता कम हो जाती है; तथा (v) मालिको व श्रमिकों के बीच मधुर सम्बन्ध पैदा नहीं हो पाता।

3. **विभिन्नता अथवा असमानता (Hetrogeneity)** : भारतवर्ष के औद्योगिक नगरो मे देश के विभिन्न भागों से काम करने वाले श्रमिक आते हैं। इनके रहन-सहन, धर्म, जाति, भाषा-बोली, वेशभूषा, खानपान आदि में विभिन्नता एवं असमानता पाई जाती है। प्रान्तीय एव क्षेत्रीय विभिन्नताओं के कारण वे न तो आपस मे नजदीक आ पाते हैं और न ही एक दूसरे की कठिनाइयों व आवश्यकताओं को समझ पाते हैं। ये लोग एक दूसरे के साथ मिलकर आपस मे सहयोग भी नही कर पाते। इस विशेषता का परिणाम यह होता है कि मजदूरो की मोल-भाव की क्षमता (Bargaining Capacity) कम हो जाती है तथा इसका असर उनकी मजदूरी पर पड़ता है।

4 **शिक्षा का अभाव एवं अज्ञानता (Illiteracy and Ignorance)** : भारतीय श्रमिक अशिक्षित और अज्ञानी हैं। प्राय. ग्रामीण क्षेत्रो से कारखानो में काम करने के लिए आते हैं। चूंकि ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का प्रसार बहुत कम हुआ है इसलिए अधिकांश श्रमिक भी अशिक्षित रह जाते हैं। ग्रामीण वातावरण एव परिस्थितियो मे पले होने के कारण वे भोले-भाले एव सरल प्रकृति के होते हैं। इस अशिक्षा एव अज्ञानता के फलस्वरूप भारतीय श्रमिक न तो अपनी समस्याओं को भली भांति समझ पाते हैं और न ही उनका निराकरण कर पाते हैं। उन्हे कानून द्वारा कल्याण सम्बन्धी व सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी जो सुविधाएं मिलनी चाहिए, उनके बारे में भी वे अनभिज्ञ रहते हैं। इसी कारण हमारे देश के श्रमिक अपने हितों की रक्षा भी नहीं कर पाते।

5 **संगठन का अभाव (Lack of Organisation)** : भारतीय श्रमिक पाश्चात्य देशों के श्रमिको की भांति सुसंगठित नहीं हैं। भारतीय श्रम संघ अभी भी अपनी शैशव अवस्था में है। उचित नेतृत्व का अभाव, दल-गत राजनीति, वर्षों

---

1. "The loss due to absenteeism is two-fold Firstly, there is a distinct loss to the workers, because the irregularity in attendance reduces their income when 'no work no pay' is the general rule, The loss to the employers is still greater as both discipline and efficiency suffer."

—*Labour Investigation Committee Reports, p.100*

की अनेकता, मालिकों का विरोध, सरकार की उदासीनता, श्रमिकों की अशिक्षा, सहयोग की कमी, धनाभाव, कार्य के घंटों की अधिकता, श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति, *आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिनके फलस्वरूप भारतीय श्रमिक अब भी असंगठित हैं।* इस संगठन के अभाव के कारण श्रमिक के मोल-भाव करने की शक्ति कम हो जाती है, जिससे उसे आर्थिक हानि होती है। संगठन के दृढ़ न होने के कारण ही वे शोषण से भी अपनी रक्षा नहीं कर पाते। इसी संगठन की कमी के कारण उनकी न्यायोचित मांगों पर भी कोई ध्यान नहीं देता।

6. भाग्यवादिता एवं रूढ़िवादिता (Fatalism and Conservatism) : भारतीय श्रमिक रूढ़ियों, प्रथाओं एवं परम्पराओं से जकड़ा हुआ है। भाग्यवादी होने के कारण वे अकर्मण्य एवं आलसी होते जाते हैं। धार्मिक अन्धविश्वास उनके प्रगति के कार्य में बाधक है। वे रूढ़िवादी एवं भाग्यवादी होने के कारण सतोषी बन गये हैं और अपने आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक उत्थान के प्रति उदासीन हो गये हैं।

7. अकार्यकुशलता (Inefficiency) : भारतीय श्रमिकों की अन्य उन्नतशील देशों की अपेक्षा कार्यकुशलता कम है। उनकी कार्यकुशलता की कमी जन्मजात न होकर परिस्थितियों के प्रतिकूलता के परिणामस्वरूप है। भारत की गर्म जलवायु, कम वेतन, निम्न रहन-सहन का स्तर, रूढ़िवादिता, सामान्य व तकनीकी शिक्षा का अभाव, दोषपूर्ण श्रम संगठन, उत्तरदायित्वहीनता, चरित्रहीनता, कार्य करने की प्रतिकूल दशायें, मशीनों का पुरानी होना आदि अनेक कारण है, जिनसे भारतीय श्रमिक की कार्यकुशलता पर बुरा असर पड़ता है। कार्यकुशलता के अभाव के कारण ही *श्रमिकों को कम मजदूरी मिलती है और उनकी आर्थिक स्थिति प्रायः* शोचनीय रहती है। इन प्रतिकूल परिस्थितियों में भारतीय श्रमिक जिस तन्मयता से काम करते हैं, यह सराहनीय है।

8 निम्न जीवन स्तर (Low standard of living) : भारतीय श्रमिक प्रात काल से सायंकाल तक कठिन परिश्रम करता है। एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देता है, लेकिन इसके बावजूद भी उसे पर्याप्त मजदूरी नहीं मिलती, न उसे भर पेट व पौष्टिक भोजन मिल पाता है और न पहनने के लिये पर्याप्त वस्त्र। रहने के लिए गन्दी बस्तियों में छोटी-छोटी कोठरियां होती हैं, जिनमें दिन को भी अंधेरा छाया रहता है। संसार के शायद ही किसी देश के श्रमिकों की स्थिति इससे अधिक दयनीय हो। निम्न जीवन-स्तर उसकी कार्यक्षमता पर बुरा असर डालती है और परिणामस्वरूप वह और भी निर्धनता की ओर बढ़ जाता है।

9. ग्रामीण प्रकृति (Rural Nature) : यद्यपि भारतीय श्रमिक अब नगरों में निवास करते हैं, तथापि प्रकृति से वह अभी भी देहाती है। उनका खान-पान,

रहन-सहन, बोल चाल सभी ग्रामीण हैं। तिथि त्यौहारों व सामाजिक उत्सवों मे वे अपने ही लोकगीत गाते हैं और लोक-नृत्यों मे भाग लेते हैं।

10 औद्योगिक श्रमिकों की की अपेक्षाकृत कमी (Relatively Small Number of Industrial Workers) · भारतवर्ष की कुल जनसख्या में औद्योगिक श्रमिकों की सख्या अपेक्षाकृत कम है। भारत कृषि-प्रधान देश है। उद्योगों का विकास अभी पूरी तरह नहीं हो पाने के कारण बड़े उद्योगों मे लगे हुये श्रमिकों का अनुपात आज भी कार्यशील जनसख्या के 4 या 5 प्रतिशत से अधिक नही है।

11 गतिशीलता का अभाव (Lack of Mobility) · भारतीय श्रमिक एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने मे अपने को असमर्थ पाता है। परिणामस्वरूप उसे उचित पुरस्कार नहीं मिल पाता। जन्म स्थान से प्रम, अशिक्षा, भाषा सम्बन्धी भिन्नता, निर्धनता, यातायात के साधनों की कमी आदि कारण श्रम की गतिशीलता को घटाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय श्रमिकों की जो दशा कल थी, वह आज नहीं है और जो आज है, वह सम्भवत कल नहीं होगी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से भारतीय श्रमिकों की दशा मे उत्तरोत्तर सुधार हो रहा है। आशा है कि अगले 5–10 वर्षों मे भारतीय श्रमिक ससार के किसी भी देश के श्रमिक के समान उन्नतिशील हो जायेगा।

भारतीय श्रमिक की कार्य-कुशलता

श्रमिक की कार्य-कुशलता से आशय यह है कि एक श्रमिक मे एक निश्चित समय में एक विशेष प्रकार की वस्तु का कितना उत्पादन कितनी अच्छी तरह कर लेने की शक्ति है। कार्य-क्षमता सापेक्ष (relative) होती है, भारतीय 'श्रमिक के बारे में प्राय यह कहा जाता है कि वह सापेक्षाकृत कम कार्यकुशल है। सर अलेक्जेण्डर मैकराबर्ट (Sir Alxander Mac Robert) के अनुसार एक अग्रेज श्रमिक, एक भारतीय श्रमिक की अपेक्षा 3 5 गुना अधिक कार्य करने की क्षमता रखता है। श्री क्लीमेण्ट सिम्पसन (Clement Simpson) के अनुसार लकाशायर के सूती वस्त्र उद्योग का एक श्रमिक भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग मे काम करने वाले 2 67 श्रमिकों की कार्य-कुशलता के बराबर है। शाही श्रम आयोग के अनुसार कोयला खान उद्योग में प्रति श्रमिक कोयले का वार्षिक उत्पादन अमेरिका मे 780 टन, इगलैण्ड मे 250 टन, ट्रान्सवाल मे 426 टन है, जबकि भारत मे केवल 131 टन ही है। ऐसा कहा जाता है कि जापान के कपडे के कारखाने मे एक श्रमिक 240 तकुओं, इगलैंड में 540 से 600 तकुओं तथा अमेरिका मे 1120 तकुओं की देखभाल करता है, लेकिन भारत एक मजदूर केवल 180 तकुओं की देखभाल करता है। एक कपडा बुनने

वाला इगलैंड मे 4 से 6 खड्डियो, अमेरिका मे 9 खड्डियो लेकिन भारत मे 2 केवल खड्डियो की देखभाल करता है।

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता इगलैंड अथवा अमेरिका के श्रमिक की तुलना मे बहुत कम है। पर कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो इस मत को नही मानते। सर थामस हॉलैंड ने भारतीय श्रमिको की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनके मतानुसार भारतीय श्रमिक किसी भी उद्योग मे सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है। द्वितीय विश्व युद्धकाल में आये हुए, ग्रेडी शिष्ट मण्डल के अनुसार, 'पैसठ सेंट प्रतिदिन पाने वाले भारतीय श्रमिक अधेरे वातावरण में अच्छी मशीनो का उत्पादन कर रहे थे। बम्बई के फायरस्टोन के कारखाने में भारतीय श्रमिक डेट्रायट (Detroit) स्थित फायरस्टोन के कारखाने में काम करने वाले श्रमिको के बराबर काम करते थे। टाटा लोहे एव इस्पात के कारखाने में प्रति व्यक्ति की उत्पादन क्षमता पिट्सबर्ग के कारखानो से कम नही है।" इस प्रकार हम देखते है कि योरोप तथा अमेरिका की तुलना में भारतीय श्रमिक अकुशल नही हैं। और यदि यह मान भी लिया जाय कि भारतीय श्रमिक अपेक्षाकृत अकुशल हैं तो यह उनका दोष नहीं है वरन इसके लिए वातावरण, प्रबन्ध की अकुशलता भी अधिक उत्तरदायी है।

भारतीय श्रमिक की कार्यकुशलता कम होने के कारण भारतीय श्रमिक जन्मजात अकुशल नही है। केवल परिस्थितियां ही उसे अकुशल बनाती हैं। वे परिस्थितियां या कारण जो श्रमिकों को अकार्यकुशल बनाती हैं, सक्षेप में निम्नांकित हैं।

1. प्रतिकूल जलवायु : भारतीय जयवायु गर्म एव शुष्क है। अधिक गर्मी से श्रमिक शीघ्र ही थकान महसूस करने लगता है। गर्म जलवायु श्रमिक की कार्य-क्षमता को भी कम कर देती है।

2. कार्य के घन्टों की अधिकता भारतीय श्रमिक को प्रतिकूल जलवायु मे अधिक घन्टे काम करना पडता है। योरोप के अनेक देशो मे जलवायु की अनुकूलता के बावजूद भी श्रमिको से अधिक घन्टे काम नहीं लिया जाता। अधिक घन्टों तक काम करते-करते श्रमिक थक कर चूर हो जाता है और उसकी कार्यकुशलता कम हो जाती है।

3. प्रवासी प्रवृत्ति : भारतीय श्रमिक एक स्थान या एक कारखाने मे जम कर काम नहीं करते जिससे उनकी कार्यकुशलता घट जाती है। (इस सम्बन्ध मे पहले प्रकाश डाला जा चुका है।)

4. रहन-सहन का नीचा स्तर : भारतीय श्रमिक के रहन-सहन का स्तर अत्यन्त निम्न है। उसे पौष्टिक पदार्थों की कौन कहे, साधारण भोजन भी भर पेट

नहीं मिल पाता। स्वाभाविक है कि दुर्बल श्रमिक की कार्यक्षमता अपेक्षाकृत कम होती है।

5 शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं की कमी भारतीय श्रमिको मे सामान्य व तकनीकी, दोनो प्रकार की शिक्षा का अभाव पाया जाता है। वे नई-नई मशीनो के प्रयोग तथा नई-नई विधियो को समझने में कठिनाई महसूस करते हैं शिक्षा के अभाव मे उनकी कुशलता का विकास नहीं होता।

6 प्रतिकूल कार्य की दशायें भारतवर्ष के अधिकाश कारखानो मे सफाई, रोशनी, तापक्रम, साफ पानी, आराम आदि की सुविधाए सतोषजनक नहीं हैं। इन प्रतिकूल दशाओ मे कार्य करने से श्रमिक का स्वास्थ्य गिर जाता है और कार्यक्षमता भी कम हो जाती है।

7 प्रबन्ध की अकुशलता भारतीय उद्योगपतियो मे प्राय दूरदर्शिता का अभाव पाया जाता है। वे श्रमिकों से काम लेना नहीं जानते। उनका व्यवहार भी सहानुभूतिपूर्ण नहीं होता। श्रमिको मे वे उत्तरदायित्व की भावना भरने मे सदैव ही असमर्थ रहे हैं फलस्वरूप श्रमिको की कार्यकुशलता कम है।

8 कल्याणकारी कार्यो का अभाव श्रमिकों के आवास तथा कल्याण के क्षेत्र मे बहुत कम काम किया गया है। कल्याणकारी कार्यों से श्रमिको की कार्यकुशलता बढती है और इनके अभाव मे कार्यक्षमता का ह्रास होता है।

9 महत्वाकाक्षा का अभाव महत्वाकाक्षी होने पर व्यक्ति मे काम के प्रति रुचि पैदा होती है तथा वह कुशलतापूर्वक कार्य करता है। भारतीय श्रमिक दुर्भाग्यवश भाग्यवादी है। उसमे महत्वाकाक्षा का अभाव है। फलस्वरूप उसकी कार्यक्षमता भी कम है।

10 प्रतिफल की स्वल्पता भारतीय श्रमिक को उसकी मेहनत का न्यायोचित पुरस्कार नहीं मिलता। कारखानो में काम करने वाले कुछ उच्च पदाधिकारी हजारो रुपए मासिक वेतन पाते हैं, जबकि श्रमिक कडी मेहनत के बावजूद भी अपर्याप्त वेतन पाते है। अत उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है। प्रतिफल की स्वल्पता एक ओर उनका काम के प्रति उत्साह कम करती है तथा दूसरी ओर उन्हे उचित रहन सहन का स्तर प्रदान नहीं करती।

11 अन्य कारण उपरोक्त कारणो के अतिरिक्त कई और कारण भी हैं जो श्रमिको की कार्य-क्षमता घटाते हैं, जैसे श्रमिकों की ऋण-ग्रस्तता, दोषपूर्ण भर्ती प्रणाली, पुरानी व घिसी-पिटी मशीनो का प्रयोग, आदि।

सुझाव : इस प्रकार हम देखते है भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता परिस्थितिवश गिरी हुई है। यदि इन परिस्थितियो मे सुधार कर दिया जाय, तो भारतीय

श्रमिक की कार्यक्षमता बढ सकती है। भारतीय श्रमिको की कार्यक्षमता को बढाने के लिये ये सुझाव महत्वपूर्ण है (i) भोजन, वस्त्र, निवास तथा कार्यक्षमता को बढाने वाली अन्य सुविधाओं की व्यवस्था, (ii) सामान्य व तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था, (iii) कारखानो मे कार्य करने की दशाओ मे तथा आन्तरिक प्रबन्ध मे आमूल परिवर्तन करके इन्हें सुधारना, (iv) नये व अच्छे औजारो व मशीनो की व्यवस्था, (v) सामाजिक सुरक्षा व श्रम कल्याण कार्यों का विस्तार, (vi) कार्य का उचित विभाजन एव कार्य की अवधि मे कमी, (vii) भर्ती के दोषो को दूर करने की व्यवस्था, (viii) श्रमिको की ऋणग्रस्तता को समाप्त करना, (ix) श्रमिको के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देना, (x) श्रमिको का नैतिक व बौद्धिक विकास करना, तथा (xi) अधिक उत्पादन करने के लिए कई प्रकार के प्रोत्साहन प्रदान करना जैसे उत्पादन के अनुसार मजदूरी आदि।

जैसा कि पहले कहा चुका है श्रमिको की कार्यक्षमता मे कमी जन्मजात नही है। अपितु परिस्थितियो की प्रतिकूलता के कारण है। समयानुसार सुधार पाकर जब ये परिस्थितिया अनुकूल हो जायेंगी, श्रमिको की कार्यक्षमता भी बढ जायेगी। इस सम्बन्ध मे श्रम-जाच समिति के निम्नांकित विचार उल्लेखनीय हैं, "जो भी प्रकाशित प्रमाण पत्र हैं तथा अपनी जाँच के दौरान हम इस निष्कर्ष पर आये हैं कि भारतीय श्रमिक की तथाकथित अकार्यकुशलता एक कोरी कल्पना है। यदि हम अपने श्रमिकों को वैसी ही कार्य करने की दशायें, मजदूरी, उचित व्यवस्था, मशीनें, यत्र आदि प्रदान करें जो दूसरे देशों के श्रमिकों को मिलती हैं, तो भारतीय श्रमिकों की कार्य कुशलता भी अन्य देशो के श्रमिको से कम न होगी। इतना ही नही, वरन् जिस कार्य मे भी यात्रिक सामान और सगठन की व्यवस्था महत्वपूर्ण नही होती, वहा भारतीय श्रमिक ने दूसरे देशो के श्रमिको की अपेक्षा अधिक कार्यकुशलता का प्रमाण दिया है।'

प्रश्न

1 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये, 'भारतीय श्रमिको की अकुशलता।'
(राज० बी० ए० 1962)

2 भारतीय औद्योगिक श्रम की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हुए यह बतलाइये कि ये विशेषताए उनकी आर्थिक स्थिति को कैसे प्रभावित करती है?

3 भारतीय श्रमिको की कार्यकुशलता कम क्यो है? इसे बढाने के लिए आप क्या सुझाव देंगे?

4 भारतीय श्रमिक की अकुशलता के कौन कौन से कारण उत्तरदायी हैं? श्रम की कुशलता को बढाने के लिए आप कौन कौन से सुझाव देंगे?
(राजस्थान प्र०व० टी० डी० सी० कला, 1969)

27

भारत में औद्योगिक संघर्ष

(Industrial Dsputes in India)

"Laws and libraries are full of statutes and court cases and decisions on the conduct of married life, but they have not made a marriage happy and successful This is true in industrial relations. It is just as hard and impractical to prescribe iron-bond rules of behaviour of dealings between Labour and Managemeut, as it would be to prescribe them for husbands and wives"

—H S Kirkaldi

औद्योगिक सघर्ष से तात्पर्य सेवा योजक तथा श्रमिकों के बीच उत्पन्न होने वाले मतभेदो से है, जिनके परिणामस्वरूप हडतालें, ताले-बन्दियाँ, काम की धीमी गति, घेराव, छंटनी आदि समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। एक ओर श्रमिकों के पास 'हडताल' नाम का शक्तिशाली अस्त्र है। श्रमिक इसके द्वारा उस समय तक काम बन्द कर देते हैं जब तक कि उनकी मांगें स्वीकार न करली जाए। दूसरी ओर सेवा-योजकों के पास भी उतना ही शक्तिशाली अस्त्र है, जिसे ताला-बन्दी कहते है। ताले-बन्दी के अन्तर्गत सेवायोजक कारखानों को उस समय तक बन्द रखता है, जब तक कि श्रमिक उसकी शर्तों पर काम करने को तैयार नहीं हो जाते। हडताल एव ताला-बन्दी दोनो ही औद्योगिक सघर्ष के दो पहलू हैं। एक ओर तो श्रमिकों में यह भावना पाई जाती है कि मिल मालिक उनका शोषण कर रहा है और दूसरी ओर मिल मालिक यह सोचता है कि श्रमिक सघ उनकी सत्ता को हथियाना चाहते हैं। परिणामस्वरूप श्रमिकों व मालिकों मे वैमनस्य पैदा हो जाता है, जो औद्योगिक सघर्ष के रूप मे समाज मे दिखाई पडता है। डा० राधाकमल मुकर्जी के शब्दो मे, "पूजीवादी उद्योग के विकास ने, जिसका अर्थ थोडे से साहसियों के वर्ग के हाथ मे उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण हो जाता है, विश्व भर मे प्रबन्ध और श्रम के बीच सघर्ष की बडी समस्या को हमारे सम्मुख ला दिया है।"

भारत मे औद्योगिक संघर्ष—ऐतिहासिक समीक्षा

भारत मे औद्योगिक विकास के प्रथम चरण मे कोई महत्वपूर्ण हड़ताल नहीं हुई; क्योकि श्रमिक संगठित नही थे। 19वीं शताब्दी मे सन् 1877 व सन् 1882 में क्रमश: एम्प्रेस मिल नागपुर तथा बम्बई की एक सूती मिल मे औद्योगिक संघर्ष हुए। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही श्रमिको ने हड़तालो का सहारा लेना प्रारम्भ किया। सन् 1920 मे 200 हड़तालें हुईं, जिनमे 15 लाख श्रमिको ने भाग लिया। सन् 1922 मे 396 हड़तालें हुईं, जिनमे 6 लाख श्रमिको ने भाग लिया। सन् 1928 में मन्दी के कारण श्रमिको की मजदूरी में की जाने वाली कटौती के परिणामस्वरूप हड़तालो की एक लहर सी फैल गई, किन्तु सरकार के पास इनके निपटारे के लिए आवश्यक प्रशासनिक व्यवस्था का अभाव था, जिसके कारण वह हस्तक्षेप न कर सकी। सन् 1929 मे शाही श्रम आयोग नियुक्त हुआ, जिसकी रिपोर्ट ने केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो को कुछ वैधानिक कार्यवाहियाँ करने के लिए प्रोत्साहित किया। सन् 1930 मे 1937 तक सामान्यत औद्योगिक क्षेत्र मे शान्ति थी। सन् 1937 मे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने के कारण श्रमिकों मे वर्ग चेतना के विकास हुआ। फलस्वरूप सन् 1937 से 1942 तक कई हड़तालें हुईं। सन् 1937 मे 379 हड़तालें हुईं, जिनमे 6 लाख 38 हजार श्रमिकों ने भाग लिया। सन् 1942 मे 694 हड़तालें हुईं, जिनमे 7 लाख 73 हजार श्रमिको ने भाग लिया।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत सरकार ने हड़तालों व ताले बन्दियो पर प्रतिबन्ध लगा दिया, ताकि युद्ध के समय औद्योगिक उत्पादन के बिना बाधा के चलता रहे। इन दिनो होने वाले औद्योगिक संघर्षों को समझौता एव अनिवार्य पंच-निर्णयों द्वारा हल किया जाता था।

द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होते ही महगाई के प्रश्न को लेकर पुन औद्योगिक संघर्षों मे वृद्धि हुई। सन् 1947 मे 1,800 औद्योगिक विवाद हुए, जिनसे 18 लाख श्रमिक प्रभावित हुए। बाद मे 1951 तक अपेक्षाकृत कुछ शान्ति रही। सन् 1951 मे तथा सन् 1955 मे भी हड़तालें हुईं। सन् 1955 मे कानपुर के सूती मिलों मे अभिनवीकरण के प्रश्न को लेकर 80 दिनों की लम्बी हड़ताल हुई। सन् 1957 के पश्चात् संघर्षों की संख्या मे कमी हुई। 1962–63 मे राष्ट्रीय संकट के कारण स्थिति कुछ शान्तिमय रही, लेकिन भारत के पाकिस्तानी आक्रमण के थोड़े समय को छोड़ कर औद्योगिक सम्बन्ध 1964 व 1965 में फिर से बिगड़ गये। औद्योगिक अशान्ति की स्थिति खनिज व अन्य रोजगारो की तुलना मे, निर्माण उद्योगो में अधिक खराब थी। सार्वजनिक क्षेत्र मे निजी क्षेत्र की तुलना मे अधिक हड़ताल हुई।

कीमतों में वृद्धि के कारण जीवन-निर्वाह कठिन हो गया तथा चीन एवं पाकिस्तानी आक्रमणों द्वारा पैदा हुआ उत्साह धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। वास्तविक मजदूरी के क्षेत्र में, 1951 से 1963 तक के 12 वर्षों में निर्माण उद्योगों में वास्तविक मजदूरी केवल 14 प्रतिशत बढ़ी, जबकि कोयला खान तथा अन्य खानों में वास्तविक मजदूरी क्रमश: 80 प्रतिशत तथा 29 प्रतिशत बढ़ी। इस तरह मूल्यों में वृद्धि के फलस्वरूप निर्माण उद्योगों में काम करने वाला श्रमिक वर्ग अशान्त हो गया। सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में औद्योगिक अनुशासन संहिता और श्रम कानूनों को उचित रूप से कार्यान्वित न कर सकी। 1967 में औद्योगिक विवादों में 'घेराव' का भी प्रादुर्भाव हुआ। इन सब कारणों के फलस्वरूप औद्योगिक विवादों की संख्या 1967 में 2815 तथा 1968 में औद्योगिक संघर्षों की संख्या 2477 तक पहुंच गई। 1968-69 में हड़ताल, तालेबन्दी व घेराव आदि से कुल 134 लाख श्रम-दिनों की क्षति हुई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से अब तक भारतवर्ष में हुए औद्योगिक संघर्षों का अनुमान नीचे दिये गये आंकड़ों से लगाया जा सकता है —

वर्ष	औद्योगिक विवादों की संख्या	औद्योगिक विवाद में भाग लेने वाले श्रमिकों की संख्या (लाखों में)	श्रम दिनों की हानि (लाखों में)
1947	1,811	18	166
1951	1,071	7	38
1956	1,203	9	69
1961	1,357	5	49
1966	2,556	14	138
1967	2,815	12	171
1968	2,477	12	138
1969	2,627	18	190
1970	2,889	18	205
1971	2 137	12	127

औद्योगिक संघर्षों के कारण (Causes of Industrial Disputes)

औद्योगिक संघर्ष पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में मालिक-मजदूरों के हितों में अन्तर्निहित विरोध का परिणाम है। इन संघर्षों के कारण अनेक हैं। कुछ आर्थिक कारण हैं, कुछ सामाजिक, कुछ मनोवैज्ञानिक, कुछ राजनैतिक तथा कुछ प्रबन्ध सम्बन्धी कारण हैं। ये कारण संक्षेप में अग्रलिखित हैं .

(1) **अधिक मजदूरी की मांग** (Demand for higher wages) : श्रमिक सघर्षों का सबसे महत्वपूर्ण कारण अधिक मजदूरी की माँग है। भारतीय नियोजक मजदूरी के सम्बन्ध मे उदार नीति नहीं अपना सके हैं। वे कम मजदूरी देकर अधिक लाभ उठाना चाहते हैं। पिछले कुछ वर्षों मे मजदूरी मे महगाई के अनुपात मे वृद्धि नहीं हुई है, फलस्वरूप बहुत से औद्योगिक विवाद अधिक मजदूरी की माग को लेकर हुए है।

(2) **बोनस व महगाई भत्ते की मांग** (Demand for Bonus and D.A.): बोनस सम्बन्धी मांग भी सघर्ष का एक महत्वपूर्ण कारण है। मजदूरो मे यह चेतना आ गई है कि उद्योगो के लाभ में से उन्हे भी एक हिस्सा मिलना चाहिए। इसलिए कई बार बोनस न मिलने अथवा कम बोनस मिलने के कारण भी हड़तालें हो जाती हैं। बढती हुई महगाई के साथ-साथ, महगाई भत्ता भी बढाना चाहिए। प्राय. महगाई तो बढ जाती है, परन्तु महगाई भत्ता नही बढाया जाता, जिससे श्रमिक हड़ताल पर उतारू हो जाते हैं।

(3) **सुविधाओं की मांग** (Demand for amenities) : कारखानो मे कार्य करने वाले श्रमिकों को नकद मजदूरी के अतिरिक्त प्राय. अन्य सुविधाए देने की प्रथा चली आ रही है। इन सुविधाओ से श्रमिको की वास्तविक मजदूरी बढ जाती है। सेवायोजक जब इन सुविधाओ में कमी करते हैं, या इन सुविधाओ को किसी कारण-वश वापस ले लेते हैं, तो श्रमिकों में असतोष पैदा हो जाता है और फलस्वरूप हड़तालें हो जाया करती हैं।

(4) **काम के घण्टे** (Hours of work) : मिल-मालिक श्रमिकों से अधिक से अधिक घटो तक काम लेना चाहते हैं। वे समझते हैं कि इससे उनके लाभ मे वृद्धि हो जायेगी। श्रमिकों से अधिक काम के घटो के प्रति असतोष पैदा हो जाता है और वे हड़तालें कर दिया करते हैं।

(5) **कार्य की दशाएं** (Conditions of work) प्राय कई कारखानो मे काम करने के लिए अनुकूल वातावरण नही होता। गन्दगी, स्वच्छ हवा का अभाव, धूलों की अधिकता आदि वातावरण को दूषित किये रहते है। कई जगह स्नानगृह, विश्राम गृह, कैन्टीन आदि की समुचित सुविधाए भी उपलब्ध नही होती। अतः कभी कभी काम करने के स्थान के दूषित वातावरण के कारण भी हड़तालें हो जाती हैं।

(6) **श्रमिको की छंटनी** (Retrenchment) : जब कभी श्रमिको को अनुशासन या अन्य कारणो से काम से निकाला जाता है तो इस बेरोजगारी के युग मे श्रमिको को बडी मुसीबत का सामना करना पडता है। इसके विरुद्ध वे अपनी नौकरी की रक्षा के लिए हड़ताल करते हैं।

(7) विवेकीकरण (Rationalisation) : औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने तथा मितव्ययता के दृष्टिकोण से कई कारखानों में विवेकीकरण की योजना लागू की गई, जिससे बहुत से श्रमिकों को काम से हाथ धोना पड़ा। श्रमिकों ने विवश होकर इसका विरोध करने के लिए हड़तालें की। सन् 1955 में कानपुर के सूती मिलों में इसी बात को लेकर 80 दिनों की हड़ताल हुई थी।

(8) प्रबन्धकों का दुर्व्यवहार (Ill- behavour of managers) भारतीय प्रबन्धक एवं निरीक्षक (Supervisors) श्रमिकों के साथ अनुचित एवं असम्मानपूर्ण व्यवहार करते हैं, जिससे श्रमिकों के सम्मान को ठेस लगती है और वे इसके प्रतिशोध के लिए हड़तालें कर देते हैं। शाही श्रम आयोग के अनुसार सन् 1921 से सन् 1928 तक के काल में कुल 976 संघर्ष हुये थे जिनमें से 425 संघर्ष निरीक्षकों के दुर्व्यवहार से सम्बन्धित थे।

(9) श्रमिकों की दोषपूर्ण भरती प्रणाली (Defective recruitment system) : श्रमिकों की भरती भारतवर्ष में ठेकेदारों, मिस्त्रियों, जमादारों आदि बिचवालियों या मध्यस्थों के द्वारा होती है। ये बिचवाली कारखाने विशेष को, अपने आप को सर्वेसर्वा समझते हैं और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये श्रमिकों का शोषण मनमाने ढंग से करते हैं। इन बिचवालियों के दुर्व्यवहार तथा शोषण से पीड़ित होकर भी कभी-कभी श्रमिक हड़तालें कर देते हैं।

(10) श्रम-संघों को मान्यता न देना (Non-recognition of Trade Unions) : नियोजक प्रायः श्रम-संघों को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं और उन्हें मान्यता नहीं देते। मजदूरों को विवश होकर अपने संघ को मान्यता दिलाने के लिए हड़ताल करनी पड़ती है।

(11) छुट्टियों के लिये मना करना (Refusal of Leave with pay) : जब श्रमिकों की धार्मिक व सामाजिक अवसरों पर छुट्टी की मांग ठुकरा दी जाती है या उन्हें वेतन सहित अवकाश नहीं दिया जाता, तो वे हड़ताल कर बैठते हैं।

(12) सामूहिक सौदेबाजी का अभाव (Absence of Collective Bargaining) भारतीय श्रमिकों व सेवा-योजकों के बीच प्रायः सम्पर्क नहीं हो पाता, अतः श्रमिकों की कठिनाइयों को वे समझ नहीं पाते। परिणाम यह होता है कि छोटी-छोटी बातों पर हड़तालें हो जाती हैं, क्योंकि उन बातों को सामूहिक सौदेबाजी के अभाव में सुलझाया नहीं जा सकता।

(13) राजनैतिक कारण (Political causes) . भारतवर्ष में श्रमिक संघों का नेतृत्व राजनैतिक नेताओं द्वारा किया जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व राजनैतिक बन्दियों की रिहाई के लिए हड़तालें की जाती थी। आजकल श्रमिक अपने राज-

नैतिक नेताओं के चक्कर में फँस कर उनके राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये हड़तालें कर बैठते हैं।

(14) साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव (Effect of Communism) - साम्यवादी, पूँजीपति वर्ग के कट्टर शत्रु हैं। श्रमिकों के शोषण के कारण, श्रमिकों के बीच इनका काफी प्रभाव है। ये श्रमिकों को प्रबन्ध एवं लाभ में हिस्सा दिलाने के लिये श्रमिकों को उकसाते रहते हैं। फलस्वरूप साम्यवाद की प्रभाव के साथ साथ हमारे देश में हड़तालों की संख्या में भी वृद्धि हुई है।

(15) अन्य कारण (Other Causes) उक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य कई और कारण भी हैं जो हड़तालों को जन्म देते रहते हैं जैसे, भारतीय श्रमिक संघों का विध्वंसात्मक दृष्टिकोण, काम की अधिक सुरक्षा की माँग, श्रमिकों की अशिक्षा एवं भोलापन, आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि औद्योगिक संघर्षों के अनेक कारण हैं। इन कारणों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर विदित हो जाता है कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण आर्थिक कारण है। शाही श्रम आयोग का भी यही विचार था।[1] आगे की तालिका में औद्योगिक संघर्षों का कारण के अनुसार महत्व दिखाया गया है।

कारणों के अनुसार औद्योगिक संघर्ष

कारण	1959	1960	1961	1962	1964
1 मजदूरी एवं भत्ता	27 1%	37 1%	30 4%	30 2%	34 9%
2 बोनस	10 3%	10 5%	6 9%	12 3%	7 6%
3 रोजगार एवं छटनी	29 1%	24 7%	29 3%	25 2%	27 4%
4 अवकाश एवं कार्य के घंटे	3 7%	2 4%	3 0%	7%	2 0%
5 अन्य कारण	29 8%	25 3%	30 4%	30 6%	27 8%

औद्योगिक संघर्षों के प्रभाव या परिणाम औद्योगिक संघर्षों से कुछ अच्छे परिणाम अवश्य निकलते हैं लेकिन सामान्यतः इसके बुरे परिणाम ही अधिक होते हैं। श्रमिकों में हड़ताल के कारण एकता व सहयोग की भावना जागृत होती है, वे अपने आर्थिक हितों की रक्षा कर सकते हैं तथा अपने काम की दयनीय दशाओं में सुधार करा लेते हैं। श्रमिकों को सवेतन छुट्टियाँ, काम के घण्टों में कमी आदि की

1 'Although workers may have been influenced by persons with nationalist, communist or commercial ends to serve, we believe that there has been rarely of any importance which has not been due entirely or largely to economic reasons' —*Royal Commission on Labour.*

सुविधाएं प्राप्त होने लगती हैं। साथ ही वे प्रबन्धों के दुर्व्यवहार व शोषण से भी बच जाते हैं। औद्योगिक संघर्षों के यद्यपि ये अच्छे परिणाम हैं, तथापि इनके दुष्परिणाम बहुत भयकर व गम्भीर हैं। संक्षेप में औद्योगिक संघर्षों के बुरे परिणाम निम्नांकित हैं

1 **उत्पादन में कमी** जब-जब हड़ताल या तालेबन्दियां होती हैं, तब-तब उत्पादन कार्य में रुकावट पड़ती है, जिससे उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है, राष्ट्रीय लाभांश व प्रति व्यक्ति आय घट जाती है।[1]

2 **उपभोक्ताओं को कष्ट** औद्योगिक संघर्षों के कारण, उत्पादन में कमी हो जाने से वस्तुओं की पूर्ति घट जाती है, जिससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं तथा चोर बाजारी जैसी समाज विरोधी प्रवृत्तियां सक्रिय हो जाती हैं। उपभोक्ताओं को वस्तुओं के ऊँचे मूल्य देने पड़ते हैं तथा कभी भी आवश्यक वस्तुओं का मिलना भी कठिन हो जाता है।

3 **श्रमिकों को हानि** औद्योगिक संघर्ष का सबसे बुरा असर श्रमिकों पर पड़ता है। उन्हें हड़ताल के समय वेतन नहीं मिलता। मजदूरी के अभाव में उनके व उनके आश्रितों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। उनमें निराशा की भावना पैदा होती है तथा अनैतिकता फैलने लगती है। श्रमिकों को कभी-कभी लाठियों व गोलियों का भी सामना करना पड़ता है। असफल हड़तालें तो और भी अधिक घातक होती हैं, क्योंकि इनके परिणामस्वरूप श्रमिकों की अपने संगठन के प्रति आस्था कम हो जाती है।

4 **उद्योगपतियों को हानि** उद्योगपति हड़ताल या तालेबन्दी के दौरान लाभ नहीं कमा पाते। यही नहीं, उन्हें सहायक खर्चे, जैसे—कारखाना भवन का किराया, पूंजी पर ब्याज, ऊंचे पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों का वेतन आदि भी देना ही पड़ता है। इस बिना लाभ प्राप्त किये, इन व्ययों के कारण उनकी हानि में वृद्धि हो जाती है।

5 **सामाजिक वातावरण का दूषित होना** हड़तालों व तालेबन्दियों के फलस्वरूप सामाजिक वातावरण दूषित हो जाता है। समाज में अनिश्चितता का वाता-

---

1. "When labour and equipment in the whole or many part of an industry are rendered idle by a strikes or lockout national dividend must suffer in a way that injures economic welfare"

— *Pigou* Economics of Welfare P, 411

वरण तथा जनसाधारण में असुरक्षा की भावना पैदा होती है। कई दिनों तक कर्फ्यू लगने से सारा जन-जीवन ठप्प हो जाता है।[1]

6. उद्योगों में अनुशासन व्यवस्था का समाप्त हो जाना : हड़ताल ग्रस्त उद्योग में अनुशासन व्यवस्था समाप्त हो जाती है। दंगे फसाद, मारपीट या असामाजिक वातावरण पैदा हो जाता है। औद्योगिक क्षेत्र में चारों ओर उथल-पुथल व अशांति फैल जाती है। असामाजिक तत्व औद्योगिक अशांति का लाभ उठाकर अराजकता का वातावरण पैदा कर देते है।

7. जनसाधारण को कष्ट : रेल, डाक-तार, पानी, बिजली आदि से सम्बन्धित संस्थानों में हड़ताल हो जाने के कारण जनसाधारण का दैनिक जीवन कष्टमय हो जाता है, क्योंकि ये जीवन के लिए आवश्यक सेवाएं हैं और इनके अभाव में जनसाधारण का दैनिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है।

8. सरकार को हानि . औद्योगिक संघर्ष में सरकार को भी हानि व असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। एक ओर तो देश में अशान्ति फैलती है, जिसे रोकने के लिए इसे काफी व्यवस्था करनी पड़ती है। दूसरी ओर उत्पादन कम हो जाने के कारण कर के रूप में मिलने वाली आमदनी घट जाती है। कई बार हड़तालें व तालेबन्दियां इतनी गम्भीर स्थिति पैदा कर देती हैं कि सरकार का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि औद्योगिक झगड़ों से श्रमिक, मालिक तथा राष्ट्र को अपार आर्थिक क्षति होती है। इससे देश की आर्थिक प्रगति को भारी धक्का पहुंचता है। श्री खान्डू भाई देसाई के शब्दों में "वयस्क मताधिकार पर आधारित जनतन्त्र में; हड़तालें व तालेबन्दियां, न केवल कालातीत हो गई है, वरन् वे जिन उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त की जाती हैं, उनके लिए भी हानिप्रद हैं।"[2] श्री हॉब्सन के विचार भी इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय हैं, "हड़ताल और तालेबन्दी का अधिकार बिल्कुल ही खत्म कर देना चाहिए। यह अन्यायपूर्ण है, क्योंकि औद्योगिक संघर्ष की दशा में यह शक्ति के प्रयोग पर निर्भर है। श्रमिकों की दुर्दशा के संदर्भ में

---

1 "Often the strike menaces the public safety, infringes upon property rights and becomes malicious in its effects, if not in its purpose."

Caltin ' The Labour problems, p 416

2. ' In a democracy based on franchise, strikes and lockouts have not only become outdated but are positively harmful for the very purpose for which they are used "

यह अमानवीय है। यह श्रम और पूंजी के साधनों का अपव्यय है। यह घृणा को जन्म देता है, अतः घृणित है। चूंकि यह समाज में अस्तव्यस्तता पैदा करता है, इसलिए यह असामाजिक है।"[1]

औद्योगिक झगड़ों की रोकथाम
(Prevention of Industrial Disputes)

औद्योगिक संघर्षों की रोकथाम उनके उपचार से बेहतर होती है, अतः मजदूरों और मालिकों में संघर्ष की नौबत ही न आये, हमें ऐसे प्रयासों पर विचार करना चाहिए। भारत सरकार ने भी इसी दिशा में पिछले कुछ वर्षों में महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं, जो निम्नलिखित हैं

1 कारखाना समितियों का गठन (Formation of Works Committees): कारखाना समितियों में सेवायोजकों एवं श्रमिकों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि होते हैं। इन समितियों के मुख्य कार्य सेवायोजकों और श्रमिकों के मध्य शान्ति एवं सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों को बढ़ावा देना, पारस्परिक हितों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना तथा ऐसे मामलों के सम्बन्ध में यदि कोई गम्भीर मतभेद हो तो उसे सुलझाने का प्रयत्न करना है। इन समितियों में श्रमिकों के प्रतिनिधियों का चुनाव उनके श्रमिक संघों से परामर्श लेकर किया जाता है। सरकार ऐसे औद्योगिक प्रतिष्ठानों को जिनमें 100 से अधिक व्यक्ति काम करते हैं, इन कार्य समितियों के गठन का आदेश दे सकती है।

2. श्रम कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति (Appointment of Labour Welfare Officers) औद्योगिक संघर्षों को रोकने एवं श्रमिकों की शिकायतों को कारखानों के अन्दर ही दूर कराने में श्रमिक कल्याण अधिकारी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। फैक्टरी अधिनियम, 1948 के अन्तर्गत एसे प्रत्येक कारखाने में श्रम कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति अनिवार्य कर दी गयी है, जहां 500 या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हो। उन कारखानों में जहां श्रम कल्याण अधिकारियों ने सफलता एवं प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य किया है, औद्योगिक नीति को बढ़ावा मिला है।

---

1. "The absolute right to lock out or to strike must go It is unjust, in that it is an appeal to force, in a matter of disputed right, it is inhuman, because of the misery it causes to the workers, it is wasteful of the resources of capital and labour, it is wicked because it stirs up hate it is anti social, in that it denies and disrupts the solidarity of the community"

J A. Hobson, The Condition of Industrial Peace, p 30

3 स्वस्थ एव शक्तिशाली श्रमिक सघ (Strong Trade Unionism) : एक स्वस्थ एव शक्तिशाली श्रमिक सघ, जो प्रजातान्त्रिक ढग से चलाया जा रहा हो तथा जिसे नियोजको द्वारा मान्यता प्रदान की गई हो, औद्योगिक झगडो को कम करने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। मिल मालिको एव सरकार को यह बात पूर्णतया माननी होगी कि मजदूर सघ आज के औद्योगिक समाज की एक आवश्यक एव महत्वपूर्ण सस्था है और देश के उत्पादन को बढाने के लिए तथा देश मे औद्योगिक शाति बनाये रखने के लिए एक स्वस्थ एव सबल श्रमिक सघ आन्दोलन अनिवार्य है। मिल मालिको को श्रमिक सघो के प्रति अपनी द्वेष भावना का त्याग करना चाहिए तथा उन्हे उचित सम्मान एव मान्यता प्रदान करनी चाहिए।

4 सयुक्त प्रबन्ध परिषदें (Joint Management Councils) सन् 1948 की औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अन्तर्गत उद्योगो के प्रबन्ध मे श्रमिको के सहयोग की महत्ता को स्वीकार किया गया है। फलस्वरूप उद्योगो में सयुक्त प्रबन्ध परिषदें (Joint Management Councils) सगठित की गई है। इनमे नियोजकों व श्रमिको के प्रतिनिधि होते हैं। इन परिषदों मे प्रतिनिधित्व पाने के कारण श्रमिक अपने को कारखाने का भागीदार समझने लगता है। इन परिषदो का लक्ष्य यह है कि धीरे-धीरे श्रमिको को प्रबन्ध व्यवस्था मे भाग लेने को प्रोत्साहित किया जाय एसा करने से श्रमिको व उद्योगपतियो के बीच सद्भावना का विकास होगा तथा श्रमिक औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने मे सचेष्ट रहेग। इस समय 97 इकाइयों में, 36 सार्वजनिक क्षेत्र व 61 निजी क्षेत्र मे—सयुक्त प्रबन्ध परिषदे काम कर रही है।

5 ऐच्छिक विवाचन या पच निर्णय (Voluntary Arbitration) . एच्छिक विवाचन या पच-निर्णय मे दोनों पक्ष, सर्वप्रथम अपने मतभेदों को आपस मे सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। इसमे असफल होने पर मध्यस्थ एव समझौताकार या पच के माध्यम से झगडो को सुलझाने की व्यवस्था की जाती है। यदि इसमे भी असफलता ही मिलती है तो दोनो पक्षों का अपना मामला एक विवाचक के सम्मुख प्रस्तुत करना पडता है, जिसका निर्णय दोनो पक्षो को अनिवार्यत स्वीकार करना पडता है। श्रम मन्त्रालय तथा INTUC (भारतीय राष्ट्रीय कागस श्रमिक सघ) का मत है कि ऐच्छिक विवाचन ही औद्योगिक सघर्षों को कम करने तथा झगडो को रोकने का सर्वोत्तम साधन है।

6 अनुशासन सहिता (The Voluntary Code of Discipline) सन् 1957 के 15वें भारतीय श्रमिक सम्मेलन ने एक औद्योगिक अनुशासन सहिता बनाई, जिसे सन् 1958 मे लागू किया गया। इस सहिता का लक्ष्य मालिको एव मजदूरों पर एच्छिक दबाव डालना है कि वे अपने समस्त झगडे पारस्परिक वार्ता, समझौता

और ऐच्छिक विवाचन द्वारा निपटायेंगे। इस संहिता के अन्तर्गत निम्न बातो पर जोर दिया गया है :

(1) नोटिस दिये बिना हड़ताल या तालेबन्दी न की जाय।

(2) किसी भी औद्योगिक मामले में एक तरफा कार्यवाही न की जाय।

(3) 'कार्य धीरे करो' नीति का सहारा न लिया जाय।

(4) कारखाने की सम्पत्ति को जानबूझ कर क्षति न पहुचाई जाय।

(5) हिंसा, धमकी, उकसाने एव झगड़ने के लिए भड़काने के कार्य न किये जायें।

(6) औद्योगिक सघर्षों को निपटाने के हेतु वर्तमान व्यवस्था का पूर्णतया उपयोग किया जाय।

(7) निर्णय एव समझौतो को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित किया जाय।

(8) ऐसा कोई कार्य न किया जाय जिससे औद्योगिक सम्बन्धो मे बिगाड हो।

उपर्युक्त अनुशासन संहिता की पुष्टि श्रम के प्रमुख केन्द्रीय सगठनों एव सेवायोजको के सभी प्रमुख सगठनो ने कर दी है। इससे औद्योगिक शान्ति के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण हुआ है, जिससे सन् 1958 के पश्चात् औद्योगिक सघर्षों मे कमी हुई है।

7 **संयुक्त विचार-विमर्श मण्डल (Joint Consultaive Board)**. संयुक्त विचार-विमर्श द्वारा एक पक्ष दूसरे के दृष्टिकोण से भलीभांति परिचित हो जाता है तथा एक दूसरे की रचनात्मक आलोचना करने का अवसर दोनो पक्षो को प्राप्त हो जाता है। फलस्वरूप पारस्परिक द्वेष व सदेह की भावना समाप्त हो जाती है। मिलजुल कर पारस्परिक विचार-विमर्श से जो निर्णय लिये जाते हैं, उन्हें आसानी से कार्य रूप मे परिणित किया जा सकता है। योरोप मे इस प्रथा ने औद्योगिक शान्ति बनाये रखने मे काफी योगदान दिया है। भारतवर्ष मे सन् 1952 मे केन्द्रीय सरकार ने Joint Consultative Board of Industry and Labour की स्थापना एक त्रिपक्षीय समिति के रूप मे की। सन् 1954 मे इसे द्विपक्षीय समिति का रूप दिया गया। अब यह समिति राष्ट्रीय स्तर पर औद्योगिक सघर्षों को दूर करने के लिए प्रयत्न कर रही है।

8. **सामूहिक सौदेकारी (Collective Bargaining)** श्रमिक सघों एव नियोजको के बीच सामूहिक सौदेकारी की विधि औद्योगिक, क्षेत्र अथवा राष्ट्रीय या किसी भी स्तर पर अपनायी जा सकती है। इसमे मजदूरी की दरो, कार्य के घण्टो तथा अन्य सम्बन्धी मामलो पर दो पक्षो के बीच सौदेकारी के द्वारा फैसला कर लिया जाता है, ताकि मन-मुटाव या सघर्ष के कारण दूर हो जाए। इससे पारस्परिक

तनाव कम हो जाता है तथा उद्योगपतियो व श्रमिको को लाभ पहुचता है। जिन उद्योगो मे सामूहिक सौदेकारी की व्यवस्था है, वहा श्रमिक सघ अपने उत्तरदायित्व को समझने लगते हैं। बम्बई, अहमदाबाद एव जमशेदपुर तथा अन्य जिन नगरो मे सामूहिक समझौते हुए हैं, वहा औद्योगिक शाति के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार हुआ है।

9 मूल्यांकन एव क्रियान्वयन समितियां (Implementation and Evaluation Committee) - कभी-कभी निर्णयो एव समझौतो को उचित रूप से लागू न करने पर उद्योगपतियो एव श्रमिको के मध्य तनाव पैदा हो जाता है। 1958 म श्रम एव रोजगार मन्त्रालय ने एक केन्द्रीय मूल्याकन एव क्रियान्वयन समिति बनाई जिसमे मालिको व श्रमिको के 4-4 प्रतिनिधि तथा 4 सरकारी प्रतिनिधि रखे गये हैं। कुछ प्रान्तों मे भी ऐसी समितिया बनाई गयी हैं। ये समितिया निर्णयो एव समझौतो के पालन मे त्रुटि का पता चलने पर सम्बन्धित पक्ष का ध्यान आकर्षित कराती हैं तथा उन्हें दूर करने के लिए अनुरोध करती हैं। इन समितियो से मालिको एव श्रमिकों के बीच भ्रान्तिया दूर होंगी तथा औद्योगिक शान्ति को प्रोत्साहन मिलेगा।

10 मजदूरी मंडल का सगठन (Formation of Wage Boards) औद्योगिक अशाति का मुख्य कारण मजदूरी, भत्ते बोनस आदि से सम्बन्धित मागें हैं। मजदूरी सम्बन्धी समस्याओं को दूर करने के लिए मजदूर मण्डल महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इस दृष्टि से त्रिदलीय मजदूरी मण्डलो का गठन बहुत बहुत उपयोगी हो सकता है। प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग मजदूरी मण्डल बनाये जा सकते हैं। इसमे सेवा योजकों एव मजदूरो के प्रतिनिधि तथा एक स्वतन्त्र चेयरमैन होता है। इससे औद्योगिक सघर्षों को कम करने मे मदद मिलती है। ये मण्डल जीवन निर्वाह व्यय, उद्योग की अवस्था आदि को देखते हुए सम्बन्धित उद्योग मजदूरी के विषय मे सम्मति देते हैं।

11 औद्योगिक तनाव के कारण को दूर किया जाय (Removal of the causes of grievances) इसके लिए यह आवश्यक है कि तनावपूर्ण सम्बन्धो और सघर्षों के कारणो की जाच-पड़ताल की जाय, तथा उनके उपचार खोजे जाए। योजना आयोग ने भी इस प्रकार की जाच की उपयोगिता को महत्वपूर्ण बताया है। इस सम्बन्ध मे जाच का कार्य उन दोनों प्रकार के उद्योगों मे होना चाहिए जहा सघर्ष कम होते हैं और जहा सघर्ष अधिक होते हैं। इससे तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह ज्ञात किया जा सकेगा कि कौन सी समिति औद्योगिक शाति को बढ़ावा देती है और कौनसी इसके मार्ग मे बाधक है।

12 औद्योगिक शाति प्रस्ताव (Industrial Truce Resolution) - सन् 1962 मे चीनी हमले के समय नवम्बर सन् 1962 मे श्रीगुलजारीलाल नन्दा की

अध्यक्षता म केन्द्रीय श्रम सगठनो व मालिको के सगठनों की एक सभा बुलाई गयी थी जिसने देश की सुरक्षा के लिए अधिकतम उत्पादन के लक्ष्यो को स्वीकार किया था और औद्योगिक शाति प्रस्ताव पास किया गया था। इस प्रस्ताव के स्वीकार करने से सन् 1963 मे बहुत कम श्रम दिवसो का नुकसान हुआ और औद्योगिक शाति की स्थापना मे आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। अत. भविष्य मे भी ऐसी ही औद्योगिक शाति प्रस्तावो के द्वारा औद्योगिक शाति स्थापना के लिए दिल से प्रयत्न किये जाने चाहिए।

13 **स्थायी अध्यादेश** (**Standing Orders**) इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार रोजगार के नियम या शर्तें निश्चित कर देती है, जिनका श्रमिकों व सेवा-योजकों दोनो को ही पालन करना पड़ता है। इन नियमो को निश्चित कर देने से सब अपना-अपना उत्तरदायित्व निभाते हैं। फलस्वरूप औद्योगिक सघर्ष की सम्भावना कम हो जाती है।

उपर्युक्त प्रयत्न श्रम सघर्षों को रोकने के लिए किये जाते हैं। लेकिन यदि सघर्ष रुक नही पाता और हड़ताल या तालेबन्दी हो जाती है तो उसके निपटारे के लिए कानूनी व्यवस्था का प्रावधान है। अत अब हम, भारतवर्ष मे औद्योगिक सघर्षों के निपटारे के लिए जो कानूनी व्यवस्था पाई जाती है, उसका अध्ययन करेंगे।

औद्योगिक विवादो का समाधान (Settlement of Industrial Disputes)

1 **श्रम विवाद अधिनियम, 1929 (Trade Disputes Act, 1929)।** भारतवर्ष मे औद्योगिक झगड़ों को रोकने व उनका निपटारा करने के लिए उपयुक्त कानूनी व्यवस्था सबसे पहले सन् 1929 मे 'व्यापारिक झगड़ा अधिनियम, 1929' के अन्तर्गत की गयी। इस अधिनियम के अन्तर्गत औद्योगिक सघर्षों को निपटाने के लिए निम्न व्यवस्था की गयी है —

1. जाच अदालत (Court of Enquiry),
2. समझौता बोर्ड (Conciliation Board),
3. सार्वजनिक उपयोगी सेवाओं के लिए व्यवस्था (Provision for Public Utility Concerns)।

1 **जांच अदालत** इस अदालत का कार्य औद्योगिक झगड़े से सम्बन्धित बातों की जाच करके अपनी रिपोर्ट समझौता बोर्ड के सामने प्रस्तुत करना था।

2 **समझौता बोर्ड** इसका काम दोनों पक्षो को निकट लाकर परस्पर समझौता कराना होता था। समझौता बोर्ड अपने कार्य मे असफलता पाने पर तत्सम्बन्धी सघर्ष की सूचना और अपनी रिपोर्ट सरकार को भेज देता था।

3. सार्वजनिक उपयोगी सेवाओं से सम्बन्धित व्यवस्था : इस अधिनियम मे सार्वजनिक हित सम्बन्धी सेवाओं यथा रेल, डाक-तार, विद्युत एवं जल-पूर्ति आदि मे हडताल करने से 14 दिन की पूर्व सूचना देना अनिवार्य कर दिया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह ऐसे किसी भी औद्योगिक झगड़ो को अवैधानिक घोषित कर सकती है, जो सामाजिक दृष्टि से अहितकारी है।

उक्त अधिनियम की यह अच्छाई थी कि इसमे ऐच्छिक पच-निर्णय के सिद्धातों को अपनाया गया था। इस अधिनियम का दोष यह था कि इसमे झगडा रोकने की कोई व्यवस्था नहीं थी। सरकार को अदालत या बोर्ड के फैसले को लागू करने के अधिकार नहीं थे। स्थायी औद्योगिक न्यायालय के गठन का भी कोई प्रावधान नही था, अत व्यवहार मे यह अधिनियम प्रभावपूर्ण सिद्ध नहीं हुआ।

उक्त अधिनियम मे सन् 1938 मे सशोधन किया गया जिसके अनुसार सरकार को समझौता अधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार मिला। ये अधिकारी औद्योगिक सघर्षों मे मध्यस्थता के द्वारा झगडो को निपटाने का प्रबन्ध करते थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय भारत सरकार ने औद्योगिक शाति बनाये रखने के लिए, भारत सुरक्षा अधिनियम की धारा 81–ए के द्वारा हडतालो व तालेबन्दियों को अवैधानिक घोषित कर दिया।

2. औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (Industrial Disputes Act, 1947) इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत सरकार ने औद्योगिक विवाद के निपटारे के लिए दो प्रकार की व्यवस्थाएं की हैं : (क) आन्तरिक व्यवस्था, तथा (ख) बाह्य व्यवस्था।

(क) आन्तरिक व्यवस्था : कार्य समितियां (Works Committees) : उक्त अधिनियम के अन्तर्गत 100 या 100 से अधिक मजदूरो वाले कारखाने मे श्रम समितियो की स्थापना अनिवार्य है। इस समिति मे श्रमिको व नियोजको के बराबर-बराबर प्रतिनिधि होते हैं। इन समितियो का उद्देश्य श्रमिको एव नियोजको के मध्य दैनिक जीवन मे उत्पन्न होने वाले छोटे-मोटे झगडो को रोकना है। इनका मुख्य कार्य नियोजको एव श्रमिको मे पारस्परिक मतभेदों को दूर करके अच्छे सम्बन्ध उत्पन्न करना है। जून 1970 के अन्त मे केन्द्रीय सरकार के उद्यमो मे 876 कार्य-समितियाँ कार्य कर रही थी।

(ख) बाह्य व्यवस्था : औद्योगिक सघर्ष अधिनियम, 1947 के अन्तर्गत औद्योगिक झगडो के निपटारे के लिए अग्रलिखित व्यवस्था की गयी है :

1. समझौता अधिकारी (Conciliation Officer) : इस व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य सरकार किसी विशिष्ट उद्योग या क्षेत्र के लिए एक समझौता या सुलह अधिकारी नियुक्त कर देती है। जब कभी औद्योगिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है या इसके उत्पन्न होने का भय होता है तो इसे समझौता अधिकारी के सुपुर्द कर दिया जाता है। समझौता अधिकारी संघर्ष को सुलझाने का प्रयास करता है तथा उसे 14 दिन के अन्दर अपनी रिपोर्ट सरकार को देनी पड़ती है। यदि दोनों पक्षों में समझौता हो जाता है तो दोनों पक्ष इस पर हस्ताक्षर कर देते हैं और वह समझौता दोनों दलों को मानना पड़ता है। यदि वह अपने कार्य में असफल हो जाता है तो वह इस बारे में सरकार को रिपोर्ट भेजता है, जिसमें अपनी असफलता के कारण एवं अपने द्वारा किये गये प्रयत्नों का उल्लेख करता है। तत्पश्चात् सरकार झगड़े को समझौता मंडल या जाँच न्यायालय को सौंप देती है।

2 समझौता या सुलह मंडल (Board of Conciliation) समझौता मंडल में एक स्वतन्त्र प्रधान तथा समान संख्या में दोनों दलों के दो अथवा अधिक प्रतिनिधि होते हैं। समझौता मंडल को दो महीने के अन्दर ही समझौते के अपने प्रयत्न समाप्त करने होते हैं। इनके द्वारा किये गये समझौते दोनों पक्षों को कम से कम 6 महीने या दोनों पक्षों की सहमति से अधिक दिनों के लिए लागू होते हैं। असफलता की दशा में समझौता बोर्डों को अपने कार्य की रिपोर्ट सरकार को भेजनी पड़ती है।

3 जाँच न्यायालय (Court of Inquiry) समझौते की असफलता की स्थिति में सरकार संघर्ष का मामला जाँच न्यायालय को सौंप सकती है। इस अदालत में एक या दो स्वतन्त्र व्यक्ति होते हैं। इस न्यायालय को केवल झगड़े के बारे में आवश्यक तथ्य एकत्रित करने पड़ते हैं तथा 6 महीने के भीतर ही अपनी रिपोर्ट सरकार को दे देनी होती है। 6 महीने की अवधि जाँच आरम्भ करने के दिन से लगायी जाती है।

4 औद्योगिक न्यायाधिकरण (Industrial Tribunal) अन्त में, सरकार झगड़े पर अपना निर्णय देने के लिए मामला औद्योगिक ट्रिब्यूनल को सौंप सकती है। इसमें हाइकोर्ट या जिला जज पद के दो अथवा अधिक सदस्य होते हैं। जब विवाद में सम्बन्धित दोनों पक्ष अपना झगड़ा औद्योगिक न्यायाधिकरण को सौंपने के हेतु सरकार से अनुरोध करें या जब सरकार स्वयं ही यह उपयुक्त समझे कि झगड़ा औद्योगिक न्यायालय को सौंप देना चाहिए, तो वह ऐसा कर सकती है। न्यायालय का निर्णय दोनों दलों को मानना पड़ता है। सरकार को 30 दिनों

के भीतर इस निर्णय को अस्वीकार करने अथवा इसमें संशोधन करने का अधिकार होता है।

सन् 1947 के अधिनियम के अन्तर्गत सार्वजनिक सेवाओं में हड़ताल के लिए हड़ताल से 6 सप्ताह पूर्व नोटिस देना अनिवार्य है। यदि विवाद पर विचार चल रहा है या न्यायिक कार्यवाही चालू है या निर्णय दिये हुए दो माह नहीं बीते हैं, तो ऐसी अवस्था में हड़ताल अथवा तालेबन्दी अवैध होगी।

औद्योगिक संघर्ष श्रम-अपील अदालत अधिनियम, 1950 (Industrial *Disputes Labour Appellate Courts Act, 1950*) : *इस अधिनियम के* अन्तर्गत अपील अदालत की स्थापना व्यवस्था की गई है। इसकी स्थापना इसलिए आवश्यक हो गई कि औद्योगिक अदालतें विभिन्न राज्यों में परस्पर विरोधी निर्णय देने लगीं। 'अपील अदालत' मजदूरी, बोनस, ग्रेच्युटी-भुगतान व छटनी आदि के मामलों पर अपील सुनने के लिए बनाई गयी थी।

औद्योगिक संघर्ष (संशोधन एवं विभिन्न प्रावधान) अधिनियम, 1956 (Industrial Disputes (Amendment and Miscellaneous Provision) Act) : इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्न हैं—

1. अब 500 रु० प्रतिमाह पाने वाले समस्त व्यक्ति (टेक्नीकल कर्मचारी व *प्रबन्ध करने वाले कर्मचारी आदि) 'मजदूरों' की श्रेणी में माने जावेंगे।*

2. इस अधिनियम ने 'श्रम अपील अदालत' को समाप्त कर दिया।

3. इस अधिनियम के अन्तर्गत औद्योगिक न्यायाधिकरणों को बनाये रखा *गया है तथा नई संस्थायें—श्रम न्यायालय व राष्ट्रीय न्यायाधिकरण—स्थापित* की गयी हैं। ये तीन संस्थायें अलग-अलग काम करेंगी। एक संस्था से दूसरी संस्था में अपील नहीं की जा सकती, किन्तु सम्बन्धित पक्षों को हाइकोर्ट या सुप्रीम कोर्ट में अपील करने का अधिकार है।

1. **श्रम न्यायालय (Labour Courts)** राज्य सरकारों ने इस नियम के अन्तर्गत नियोजकों के विवादास्पद आदेशों, प्रबन्धकों द्वारा निलम्बित एवं पदच्युत किये गये श्रमिकों, हड़तालों और तालाबन्दी के वैधानिक या अवैधानिक होने के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए, श्रम न्यायालय स्थापित किये गये हैं। श्रम न्यायालय इन विवादों के बारे में शीघ्र निर्णय करके सरकार को रिपोर्ट भेज देते हैं। ऐसे न्यायालय में केवल उन्हीं न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती है, जिन्हें कम से कम 7 वर्षों का न्यायिक अनुभव प्राप्त हो।

2. **राष्ट्रीय न्यायाधिकरण (National Tribunals)** · राष्ट्रीय न्यायाधिकरण की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है। इन एक विवाद माग जाते हैं

जो या तो राष्ट्रीय महत्व के होते हैं या ऐसे औद्योगिक प्रतिष्ठानों से सम्बन्धित होते हैं, जो एक से अधिक राज्यों में स्थित हो। इनका निर्णय दोनों पक्षों को मानना ही पड़ता है।

सन् 1956 के अधिनियम के अन्तर्गत तीन प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था की गयी है। इन तीन न्यायालयों के अतिरिक्त औद्योगिक शांति को बनाये रखने की जो पहले से ही व्यवस्था चली आ रही है, इन सबको मिला कर वर्तमान समय में भारत में निम्न व्यवस्थाएं हैं

1 कार्य समितियां (Works Committees),

2 समझौता अधिकारी (Conciliation Officer),

3 समझौता मण्डल (Conciliation Board),

4 जांच न्यायालय (Court of Inquiry),

5 श्रम न्यायालय (Labour Courts),

6. औद्योगिक न्यायाधिकरण (Industrial or State Tribunals), तथा

7 राष्ट्रीय न्यायाधिकरण (National Tribunals)।

इस प्रकार वर्तमान समय में भारतवर्ष में औद्योगिक संघर्षों को निपटाने के लिए उपलब्ध व्यवस्था में ऐच्छिक समझौता (Voluntary Conciliation), मध्यस्थता (Mediation), अनिवार्य समझौता (Compulsory Arbitration) तथा अदालती निर्णय (Adjudication) सब सम्मिलित हैं।

औद्योगिक विवाद अधिनियम में नवम्बर, 1965 में संशोधन किया गया, जिसके अन्तर्गत मजदूरों को नौकरी से पदच्युत व मुअत्तल किये जाने के विषय में और अधिक सुरक्षा प्रदान की गई तथा इसकी अवहेलना करने पर जुर्माने को और कड़ा कर दिया गया। जुलाई 1966 में पुन औद्योगिक विवाद कानून में संशोधन करने का प्रस्ताव रखा गया। इसका उद्देश्य श्रमिक अदालतों और औद्योगिक अधिकरणों को आन्तरिक जाँच के बाद ही पदच्युत के मामलों पर निर्णय देने का अधिकार प्रदान करना है।

श्री गजेन्द्रगडकर की अध्यक्षता में गठित राष्ट्रीय श्रम-आयोग ने अपनी अगस्त 1969 में दी गई रिपोर्ट में औद्योगिक संघर्षों को निबटाने के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। संक्षेप में निम्नांकित है

1. आयोग ने मालिक एवं श्रमिकों के आपसी झगड़े निबटाने के लिए केन्द्र तथा प्रत्येक राज्य में स्थायी औद्योगिक सम्बन्ध आयोग स्थापित करने का सुझाव दिया है। यह आयोग किसी श्रमिक यूनियन को मान्यता दे सकेंगे और उनके उद्योग

के साथ समझौते तथा पत्र नियुक्ति आदि के बारे मे निर्णय कर सकेंगे। केन्द्रीय आयोग राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नो पर सम्मति प्रकट करेगा और राज्यो के आयोग राज्यीय सहकारो के क्षेत्र मे व्यवहार करेंगे।

2. आयोग ने अनिवार्य और कम अनिवार्य अथवा समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण और कम महत्वपूर्ण उद्योगो मे भेद किया है। समाज की उपयोगी सेवाओ को महत्वपूर्ण माना गया है। इन उद्योगो मे हड़ताल की अनुमति नही दी जायेगी। कम महत्वपूर्ण आयोगों में भी तीस दिनो से अधिक हड़ताल नही चल सकेगी। इससे अधिक चलने पर यह आयोग हड़ताल मे हस्तक्षेप कर सकेंगे और कोई न कोई निर्णय देंगे। दोनों पक्षो को वह निर्णय माननीय होगा। इस सिफारिश को अमल मे लाने के लिए यह आवश्यक है कि सब मजदूर-दल इन निर्णयो को स्वीकार करें और इनके विरुद्ध कोई आचरण न करें। इस सिफारिश के द्वारा आयोग ने श्रमिको के हड़ताल करने के अधिकार को तो स्वीकार किया है, किन्तु उन्हे अधिक समय तक उद्योगो की हानि पहुंचाकर राष्ट्र की हानि करने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया है।

3 आयोग की सम्मति मे यदि कोई हड़ताल युक्तिसगत नही है तो उस अवधि मे श्रमिकों को वेतन लेने का अधिकार नही होगा। तालाबन्दी युक्ति सगत न होने पर उन्हें पूर्ण वेतन लेने का अधिकार होगा।

भारत के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगिक क्षेत्र मे शाति बनी रहे तथा श्रमिको और नियोजकों के मध्य सघर्षों की सख्या कम से कम हो। औद्योगिक सघर्षों की जटिल समस्या केवल नारेबाजी, प्रवचन या भाषणो से नही सुलझ सकती। औद्योगिक सघर्षों को दूर करने के लिए हमे इन सघर्षों के प्राथमिक कारणो को ढूढ निकालना होगा तथा उनका निराकरण करना होगा। हमे श्रमिको की अनेक कठिनाइयो को दूर करना होगा। उन्हें कानून द्वारा चुप नही किया जा सकता और न ही दबाया जा सकता है। उन्हे तो उचित मजदूरी देकर, कार्य की दशायें सुधार कर और प्रबन्ध मे भागीदार बना कर उद्योगो मे महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिए, ताकि देश के नव-निर्माण मे वे सहर्ष योगदान दे सके और औद्योगिक अशाति दूर हो सके। इस सम्बन्ध मे प्रो० के० एन० श्रीवास्तव के निम्नलिखित शब्द बड़े महत्वपूर्ण हैं :

"यदि जनता की सरकार, जो जनता के लिए हो और जनता द्वारा शासित होती हो, श्रमिको के हितो की उपेक्षा करती है, तो उसे जनता की सरकार कहलाने का कोई अधिकार नही। वस्तुत भूखे मरने वालों से यह कहना कि तुम अपना मुह बन्द करलो और अपने प्रति होने वाले अन्याय का विरोध न करो, केवल इसलिए कि इससे दूसरों को पीडा पहुचती है, धनी और समृद्धिशाली व्यक्तियो के सुख चैन मे

बाधा पहुँचती है, सरासर अन्याय होगा। यदि कोई रोगी तीव्र पीड़ा से कराह रहा है, तो उसका यह कह कर चुप नहीं किया जा सकता कि उसके कराहने स दूसरों की गाढ़ी नींद म बाधा पड़ती है औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए श्रमिक वर्ग की पीड़ा का कारण ढूँढना होगा और उस दूर करना होगा। श्रमिक वर्ग को चुप कराने स अथवा दबाने से काम नहीं चलेगा।'[1]

प्रश्न

1 Discuss industrial disputes in India What measures have been adopted in recent years to promote industrial peace in the country ? (Raj B A, 1960)

2 भारत में औद्योगिक सघर्षों के प्रमुख कारण क्या हैं ? औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए क्या कदम उठाये जा रहे हैं ?

(आगरा बी० काम० 1960, 61)

3 औद्योगिक सघर्ष के प्रमुख कारणों पर प्रकाश डालते हुए इन्हें दूर करने के सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

---

1 K N Shrivastava Industrial Peace and Labour in India p 111

27

भारत में श्रम संघ आन्दोलन

(Trade Union Movement in India)

"It is only one of the great social and economic weapons, that industrial worker has to emancipate itself from its present dependence upon capitalism and to win for it, in co-operation with the other sections of toilers, complete political and economic power in modern society.'

—**Prof N G Ranga**

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप विशालकाय उद्योगो का जन्म हुआ, जिनमे सहस्रो श्रमिक काम करने लगे। समाज, फलस्वरूप दो वर्गों मे बट गया—एक वर्ग था सम्पन्न पूंजीपतियो का और दूसरा वर्ग उन लोगो का जो कारखानो मे काम करते थे। पूंजीपतियो ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उत्पादन के निरीह वर्ग—श्रमिक-वर्ग का शोषण करना प्रारम्भ कर दिया। प्रारम्भ मे बहुत दिनो तक श्रमिको का शोषण होता रहा लेकिन कुछ समय बाद विचारको एव समाज सुधारको ने श्रमिको को शोषण से अपनी रक्षा करने के लिए सगठित होने को कहा। इस सम्बन्ध मे आधुनिक समाजवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होने ससार के श्रमिको को सम्बोधित करते हुए कहा, "विश्व के श्रमिको सगठित हो जाओ, तुम्हे अपनी जजीर (दासता की) के अतिरिक्त कुछ नही खोना है।"

अत ससार भर मे जहां कही भी श्रमिक बहुत बडी सख्या मे कारखानो मे काम करते थे, उन्होने शोषण से अपनी रक्षा करने के लिए अपने सगठन बनाए। इस प्रकार ससार के विभिन्न देशों मे श्रमिक सघों का उद्भव एव विकास हुआ।

श्रम सघ की परिभाषा श्रम सघ श्रमिकों का सगठन है, जो उद्योगपतियो के शोषण से बचने तथा श्रमिकों के अधिकारो व हितो की रक्षा के उद्देश्य से बनाए जाते

हैं। सिडनी व वेब के शब्दों में "श्रमिक संघ श्रमिकों के ऐसे स्थायी संगठन को कहते हैं जिसका उद्देश्य काम की दशाओं को बनाए रखना और सुधारना होता है।"[1]

प्रसिद्ध श्रम संघ नेता एवं भारत के वर्तमान राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने श्रम संघ को इस प्रकार परिभाषित किया है, "श्रम संघ श्रमिकों के ऐच्छिक संगठन है जो संगठित कार्य द्वारा श्रमिकों के आर्थिक हितों की रक्षा तथा सुधार हेतु बनाए जाते हैं।"[2]

श्रम संघ के उद्देश्य . श्रमिक संघ के उद्देश्यों के सम्बन्ध में विद्वानों के अलग अलग मत हैं। मार्क्स व एञ्जिल्स के अनुसार श्रम संघ पूँजीवादी को उखाड़ फेंकने, शासन सत्ता हथियाने तथा वर्गहीन समाज बनाने के साधन हैं। सिडनी व वेब श्रम संघों को उद्योग के क्षेत्र में जनतन्त्र के सिद्धान्त को फैलाने का साधन मानते हैं। साधारणत श्रमिक संघ निम्नांकित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित किए जाते हैं :

(1) श्रमिक एवं मालिक के बीच अच्छे सम्बन्धों को बनाने के लिए, जिससे औद्योगिक शान्ति बनी रह सके, (2) श्रमिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए ; (3) श्रमिकों में पारस्परिक भेद भाव समाप्त करने तथा उनमें भाई-चारे की भावना पैदा करने के लिए जिससे श्रमिकों में आपसी सहयोग की भावना बढ़ सके, (4) कठिनाइयों के समय श्रमिकों का मार्ग-दर्शन करने, उन्हें सलाह देने तथा दुर्घटना या बीमारी के समय उनकी आर्थिक सहायता करने के लिए, (5) श्रमिकों के कार्य करने के घण्टे, मजदूरी की दरें तथा कार्य के स्थान के वातावरण को सुधारने के लिए; (6) श्रमिकों व उनके परिवार के सदस्यों के सामाजिक, आर्थिक व नैतिक विकास के लिए, (7) समयानुकूल श्रमिकों को वैधानिक सलाह देने के लिए; (8) श्रमिकों के लिए हितकर योजनाएं प्रारम्भ करने के लिए जैसे सहकारी साख, शिक्षा, चिकित्सा एवं मनोरंजन की सुविधाएं आदि। (9) श्रमिकों को इस योग्य बनाने के लिए कि वे उद्योगपतियों से उचित व बराबर के स्तर पर सौदा-कर सकें; (10) औद्योगिक संघर्ष के समय मालिकों से मिलकर उसका समाधान कराने के लिए तथा समाधान के असफल होने पर हड़ताल की घोषणा करने तथा उसे सफलतापूर्वक

---

1. "A continuous association of wage-earners for the purpose of maintaining or improving the conditions of their working."

—*Sidney and Webb*

2. "Trade Unions are voluntary organisations of workers formed to promote and protect their interest by collective actions."

—*V. V. Giri.*

चलाने के लिए, (11) श्रमिकों में कार्य के प्रति निष्ठा एवं अनुशासन पैदा करने के लिए, (12) श्रमिकों को उद्योगों के प्रबन्ध में हिस्सा दिलाने का प्रयास करने के लिए।

श्रम संघों के कार्य श्रम संघों के कार्यों को तीन भागों में बाटा जा सकता है

1 आन्तरिक कार्य,

2. बाहरी कार्य, तथा

3 राजनैतिक कार्य।

1 आन्तरिक कार्य औद्योगिक संस्थानों के अन्दर श्रमिक संघ श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए जो कार्य करते हैं, वे आन्तरिक कार्य कहे जाते हैं। उचित मजदूरी दिलाना, काम के घटे कम करना, प्रबन्ध मे श्रमिकों को हिस्सा दिलाना, उद्योग के लाभ मे श्रमिकों को हिस्सा दिलाना आदि कार्य आन्तरिक कार्य कहे जाते हैं।

2 बाहरी कार्य श्रमिकों के कल्याण के लिए श्रम संगठनों द्वारा कार्य, करने के स्थान के बाहर जो कार्य किये जाते हैं उन्हें बाहरी कार्य कहते हैं। श्रमिकों की कार्यकुशलता बढाने के लिए उनके निवास स्थानों की सफाई की व्यवस्था करने के लिए तथा उनमे एकता, अनुशासन, आत्म-सम्मान व ईमानदारी की भावना भरने के लिए जो कार्य किए जाते है, बाहरी कार्य कहलाते हैं। इन कार्यों मे हडताल व तालेबन्दी के समय आर्थिक सहायता, बच्चो की शिक्षा, प्रौढ शिक्षा, पुस्तकालय एव वाचनालयों की व्यवस्था तथा श्रमिकों के लिए मनोरंजन सम्बन्धी किये गये सभी कार्य आ जाते हैं।

3 **राजनैतिक कार्य** वर्तमान युग के श्रमिक संघ राजनैतिक कार्यों की ओर भी विशेष रुचि रखते हैं। सदस्यों को अपने अधिकारों व कर्तव्यों के प्रति जाग्रत करना, स्वाधीनता व समानता की भावना का विकास करना, चुनावों में भाग लेकर श्रमिकों के लाभ के लिए आवश्यक अधिनियम बनवाना और यदि अवसर मिले तो श्रमिकों की सरकार बनाना इत्यादि कार्य इस श्रेणी मे आते हैं।

भारत मे श्रम संघ आंदोलन की प्रगति उद्भव एवं विकास भारतीय श्रम संघ आदोलन को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से चार कालों मे विभाजित किया जा सकता है –

1 श्रम संघ आन्दोलन का प्रादुर्भाव–(1875-1900 ई० तक),

2 श्रम संघो की धीमी प्रगति का युग–(1900 से 1918 ई० तक),

3 श्रम संघो की तेज प्रगति का युग–(1918 से 1947 ई० तक), तथा

4 श्रम संघों की वर्तमान अवस्था–(1947 से अब तक)।

1 श्रम संघ आन्दोलन का प्रादुर्भाव : अन्य देशो की भाति भारतवर्ष मे भी श्रमिक संघ आन्दोलन का जन्म एव विकास औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप हुआ। सर्वप्रथम सन् 1875 ई० मे बम्बई मे सोराबजी शापुरजी ने श्रमिको की दुर्दशा की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया था। सन् 1884 ई० श्री नारायण मेघाजी लोखाडे ने बम्बई के मजदूरो का एक सम्मेलन बुलाया था तथा उन्होने ही सन् 1890 ई० मे 'बाम्बे मिल हैण्ड्स ऐसोसियेशन' की स्थापना की थी। सन 1897 ई० मे रेलवे कर्मचारियो की एक समिति बनी। इस प्रकार 19वी शताब्दी के अन्तिम चरण तक भारतवर्ष मे श्रमिक संघो का जन्म एव प्रारम्भिक विकास हो चुका था। इस समय के श्रम सघ समुचित रूप से सगठित नही थे।

2 श्रम सघो की धीमी प्रगति का युग : सन् 1905 ई० में स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप श्रमिकों मे राजनैतिक चेतना का विकास हुआ। फलस्वरूप विभिन्न औद्योगिक केन्द्रो मे श्रम सघो की स्थापना हुई, जैसे सन् 1903 मे 'प्रेन्टर्स यूनियन कलकत्ता, 1907 मे 'पोस्टल यूनियन', 1909 मे 'कामगार हितवर्धक सभा' और 1910 मे 'सोशल सर्विस लीग' आदि की स्थापना हुई। इन श्रमिक सघो के अतिरिक्त 'इण्डियन लेबर यूनियन', 'सीमैन यूनियन' आदि श्रम सघ भी सगठित किये गये।

प्रथम विश्व युद्ध मे कीमतों के वृद्धि के फलस्वरूप उद्योगपतियो ने बहुत लाभ कमाया, लेकिन मजदूरी मे बहुत कम वृद्धि की गई। परिणामस्वरूप श्रमिको मे असतोष की भावना फैल गई। सन् 1917 ई० मे रूस की राजनैतिक क्रांति ने भी श्रमिको को प्रोत्साहित किया तथा श्रम सघो के विकास के लिए उचित वातावरण तैयार किया।

इस काल मे श्रम सघो ने केवल वैधानिक तरीको पर ही ध्यान दिया। वस्तुत इस समय तक के श्रमिक सघ सही माने मे श्रमिको के सगठन नही थे, वरन् श्रमिक नेताओ के सगठन थे जो समाज सुधारक होने के नाते श्रमिको के कल्याण के लिए तथा श्रमिको की दशा सुधारने के लिए प्रयत्नशील थे।

3 श्रम सघो की तेज प्रगति का युग प्रथम महायुद्ध के पश्चात् श्रमिक सघ आन्दोलन का विकास बडी तेजी से प्रारम्भ हुआ। सन् 1918 ई० मे श्री वाडिया ने मद्रास के सूती-वस्त्र मिल मजदूरो को लेकर 'मद्रास श्रम सघ' की स्थापना की। सूती मिलो मे काम करने वाले प्राय अधिकाश स्थानीय श्रमिक इसके सदस्य बन गए। भारतवर्ष मे सम्भवत श्रमिक सघ आन्दोलन का यह पहला सफल प्रयत्न था। सन् 1920 ई० मे श्रम सघो का प्रथम अखिल भारतीय स्तर पर एक सगठन बना जिसका नाम "आल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस" (All India Trade Union Congress) था। सन् 1922 ई० मे तीन महत्वपूर्ण सगठनो की स्थापना हुई—

श्रमिक समिति, आल इण्डिया रेलवेमेन फेडरेशन तथा आल इण्डिया पोस्ट एण्ड टलीग्राफ यूनियन।

सन् 1921 ई० में न्यायालय के द्वारा 'मद्रास श्रम-संघ' को अवैध घोषित कर दिये जाने पर श्रमिक नेताओं में असंतोष की लहर फैल गई। श्री एन० एम० जोशी ने विधान सभा में श्रमिक संघों के लिए वैधानिक संरक्षण की मांग उठाई। सन् 1926 ई० में श्रमिक संघों की उपादेयता को समझते हुए सरकार ने श्रम-संघ अधिनियम पास किया तथा इस अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिक संघों को वैधानिक मान्यता प्रदान की गई। इस अधिनियम के पारित होने से श्रमिक संघ विकास को बहुत बल मिला।

सन् 1928 ई० में श्रमिक नेताओं में फूट पड़ जाने के परिणामस्वरूप श्रम संघ दो वर्गों में बट गया। एक वर्ग का नेतृत्व उदारवादियों तथा दूसरे वर्ग का नेतृत्व उग्र वाम पंथियों के हाथ में चला गया। इस फूट के परिणामस्वरूप श्रमिक आन्दोलन की गति कुछ मन्द पड़ गई। सन् 1933 में नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन (National Trade Union Federation) की स्थापना हुई जिसमें वामपंथियों के अतिरिक्त अन्य शेष सभी श्रमसंघ में सम्मिलित हो गए। सन् 1924 से सन् 1934 ई० तक श्रमिक संघों पर साम्यवादियों का प्रभाव छाया रहा।

सन् 1933 ई० श्रमिक संघ आन्दोलन में एकता लाने की बहुत कोशिश की गई, किन्तु इसमें सफलता मिलने से पहले ही द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

4 वर्तमान काल द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त होते ही देश गुलामी की जंजीरों से हमेशा हमेशा के लिए मुक्त हो गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् भारत के विभिन्न राजनैतिक दलों ने श्रमिक संघों पर अपना प्रभाव डालने की कोशिश की। सन् 1947 ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस पार्टी ने सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस, (I.N.T.U.C.) बनाई। सन् 1948 ई० में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने 'हिन्द मजदूर सभा' (H.M.S) की स्थापना की। मई सन् 1949 में प्रो० के० टी० शाह के नेतृत्व में यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (U.T.U.C.) की स्थापना की गई। साम्यवादियों का आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर पहले से ही अधिकार था। इनमें से सबसे बड़ी 'इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (I.N.T.U.C.) है। यद्यपि इसकी स्थापना सन् 1947 में ही हुई तथापि अब इसका प्रतिनिधित्व सर्वाधिक है तथा केन्द्रीय संस्थानों की कुल सदस्यता में से आधे से भी अधिक इसके सदस्य हैं। इसके बाद साम्यवादियों से प्रभावित 'आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' (A.I.T.U.C.) है जिसके लगभग 5 लाख सदस्य हैं। इस समय भारत में अखिल भारतीय स्तर पर चार श्रमिक

संगठन पाए जाते हैं, जिनसे सम्बन्धित संघों की संख्या तथा जिनकी सदस्य संख्या का ज्ञान निम्नतालिका से प्राप्त हो सकता है

अखिल भारतीय श्रम संघों की सदस्यता (31 मार्च 1968)

केन्द्रीय संगठन का नाम	सम्बद्ध मजदूरों के संघों की संख्या	सदस्यता (लाख में)
1 इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTUC)	1165	13 26
2 आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC)	1008	6 35
3 हिन्द मजदूर सभा (HMS)	248	4 64
4 यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (UTUC)	216	1 26
योग	2637	25 51

सन् 1968 में भारतवर्ष में 584 केन्द्रीय श्रमिक संघ तथा 15128 राज्य श्रमिक संघ थे जिनमें से सरकार विवरण देने वाले संघों की संख्या क्रमशः 162 तथा 3926 थी। विवरण देने वाले इन श्रमिक संघों की सदस्य संख्या क्रमशः 4,04,630 तथा 17,79,211 थी।

श्रमिक संघ सम्बन्धी कानून श्रमिक संघ सम्बन्धी प्रथम अधिनियम सन् 1926 ई० में बना। इसके अन्तर्गत श्रमिक संघों को संगठन व हड़ताल का अधिकार दिया गया। सन् 1947 ई० में इस अधिनियम में संशोधन किया गया तथा इस संशोधन के अनुसार उद्योगपतियों के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वे श्रमिकों के संघों को मान्यता प्रदान करें। सन् 1964 ई० में इस नियम में पुनः संशोधन हुआ, जिसके अनुसार श्रमिक संघों के लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि वे अपनी रिटर्न कैलेण्डर वर्ष के आधार पर भेजें तथा ऐसे व्यक्तियों को श्रम संगठन का अधिकारी न बनाएं जो नैतिक अपराध के लिए दण्डित किये गये हों।

श्रमिकों संघों से लाभ श्रमिक संघों के स्वस्थ संगठन का प्रभाव देश के औद्योगिक विकास पर बड़ा अनुकूल पड़ता है, जिससे सभी वर्गों को लाभ पहुँचता है, संक्षेप में इस प्रकार है —

(i) श्रमिकों में एकता बढ़ती है, (ii) श्रमिकों को उचित वेतन भत्ता मिलने लगा है, (iii) श्रमिकों की शोषण से रक्षा होती है, (iv) श्रमिकों के काम के घण्टे कम व कार्य की दशा सुधर जाती है, (v) श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा एवं समाज कल्याण के अनेकानेक लाभ मिलने लगते हैं, (vi) श्रमिक संघ औद्योगिक शान्ति की स्थापना में सहायक होते हैं, (vii) श्रमिक संघ उत्पादन में वृद्धि तथा

उत्पादन के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक होते हैं, (viii) श्रमिक संघों की स्थापना से समाज में श्रमिक वर्ग का स्तर ऊंचा उठ जाता है, (ix) श्रमिक संघ राजनैतिक क्षेत्र मे प्रगति कर श्रमिकों के हितार्थ कानून बनवाते हैं, (x) श्रमिक संघों से श्रमिकों की सामूहिक सौदाकारी की शक्ति बढ़ जाती है।

श्रमिक संगठनों से हानियां श्रमिक संघों के विकास का कई लोगों ने विरोध किया है, क्योंकि इनके से विकास कई प्रकार की हानियों की सम्भावना रहती है, यथा (i) श्रमिक संघ प्रायः तात्विक सुधार (विवेकीकरण) आदि का विरोध करते हैं, (ii) श्रमिक संघ हड़तालों को प्रोत्साहित करते हैं, (iii) श्रमिक संघों के कारण श्रमिकों में अनुशासनहीनता बढ़ती है, (iv) श्रमिकों में काम करने के प्रति उत्साह कम हो जाता है, (v) श्रमिक संघ की गतिविधियों के कारण ही आज-कल घेराव की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है, (vi) अलग-अलग राजनैतिक दलों से सम्बन्धित होने के कारण श्रमिक संघ राजनैतिक तनाव पैदा करते हैं, (vii) विभिन्न दलों से सम्बन्धित होने के कारण श्रमिक संघों में पार्टीबाजी का बोलबाला हो जाता है तथा पारस्परिक एकता समाप्त हो जाती है।

श्रमिक संघों की ये कमियां वस्तुतः हानियां नहीं कही जानी चाहिए, क्योंकि ये हानियां उसी समय दृष्टिगोचर होती हैं, जबकि श्रमिक संघ का नेतृत्व स्वार्थी व दलगत राजनीति में फंसे हुये व्यक्तियों के हाथ में आ जाता है। सच बात तो यह है कि एक शक्तिशाली श्रमिक संघ जो स्वस्थ आधार-शिला पर खड़ा हो, किसी भी देश के लिए वरदान स्वरूप है।

भारतवर्ष में श्रमिक संघ आन्दोलन की समस्याएं, कठिनाइयां व दोष. यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् तथा मुख्यतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् श्रमिक संघ आन्दोलन ने हमारे देश में बड़ी प्रगति की है तथा इससे श्रमिकों को बड़ा लाभ पहुंचा है, तो भी यदि अन्य देशों के श्रमिक संघों के विकास की ओर देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष में श्रमिक संघों ने उतनी प्रगति नहीं की है जितनी प्रगति इनसे अपेक्षित थी। इसीलिए श्री रॉबर्ट्स (Roberts) ने कहा है, 'भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन इतना सुदृढ़ नहीं है जितना इसे होना चाहिए था।' प्रसिद्ध श्रम संघ नेता वी० वी० गिरि के विचार भी कुछ इसी प्रकार के हैं, "भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन अभी अपने शैशव काल में ही है।" अतः अब हम भारतवर्ष में श्रमिक संघ आन्दोलन की विविध कठिनाइयों व दोषों का विवेचन करेंगे। संक्षेप में ये दोष या कठिनाइयां इस प्रकार हैं—

1 श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति भारतीय श्रमिक स्वभाव से प्रवासी हैं। वे दूर-दूर के गांवों से शहरों की ओर कारखानों में काम करने आते हैं और चले जाते

है। वे अपना कार्य और उद्योग भी परिवर्तित करते हैं। फलस्वरूप वह श्रम-संघ के कार्यों में यथोचित भाग नहीं ले सकते।

2 श्रमिकों की निर्धनता . भारतीय श्रमिक कम वेतन पाने के कारण निर्धन हैं। फलस्वरूप वह श्रम संघ का चन्दा देने में असमर्थ हैं। आवश्यक धनराशि के अभाव में श्रम संघ प्रगति नहीं कर सकते।[1] वित्तीय आधार के कमजोर होने के कारण श्रमिक संघ अपने कर्त्तव्यों एवं उद्देश्यों को पूरा नहीं कर पाते।

3 श्रमिकों की अशिक्षा एवं अज्ञानता । भारतीय श्रमिक अशिक्षित हैं तथा अज्ञानी हैं। वे संगठन एवं अनुशासन के महत्व को नहीं समझते, फलस्वरूप श्रम संगठन के कार्य में रुचि नहीं लेते। यही कारण है कि हमारे श्रम संघ उतने शक्तिशाली नहीं हैं जितने कि पाश्चात्य देशों के श्रमिक संघ।

4 काम करने की दशाएं शहरों में श्रमिकों को कारखाने व गृहस्थी के कार्यों में इतना व्यस्त रहना पड़ता है कि संगठन आदि कार्यों के लिये उन्हें अवकाश ही नहीं मिल पाता। वे साधारणत कारखानों में 8–10 घण्टे तक काम करके आते हैं और खा-पीकर सो जाते हैं। इस प्रकार अवकाश का अभाव भी श्रमिक संघों की प्रगति में बाधक सिद्ध होता है।

5 श्रमिकों में एकता की कमी भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज, धर्म, खान-पान, रहन-सहन आदि की विभिन्नताओं के कारण श्रमिकों में प्राय पृथकता की भावना पाई जाती है, जो संगठन के मार्ग में बाधक है फलस्वरूप स्थाई श्रमिक संघ नहीं बन पाते।

6. दोषपूर्ण भर्ती प्रणाली भारतवर्ष में श्रमिकों की भर्ती प्राय मध्यस्थों के द्वारा होती रही है। मध्यस्थ श्रमिकों से घूस आदि लेकर उन्हें काम दिलाते रहे हैं। ये मालिकों के प्रतिनिधि के रूप में काम करते रहे हैं तथा मालिकों के इशारों पर श्रमिकों के संगठित होने के रास्ते में रोड़ा अटकाते हैं। चूंकि श्रमिक संघों द्वारा प्रत्यक्ष श्रमिक भर्ती की व्यवस्था में मध्यस्थों का कार्य-व्यापार समाप्त हो जाता है, इसलिए मध्यस्थों ने अपनी स्वार्थवृत्ति से प्रेरित होकर श्रमिक संघों के मार्ग में रोड़े अटकाए हैं।

7 मालिकों का विरोध भारत में मिल मालिकों की दमन नीति भी श्रमिक संघों के विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा सिद्ध होती है। श्रम संघ आन्दो-

---

1 "Indian workers oppressed by poverty and heavy debt and receiving low wages, have neither the means to pay union subscriptions regularly nor the inclination and leisure to take p rt in trade union activi ies "

—Alak Ghosh, Indian Economy-Nature & Problems, p >3

लन के प्रभावशाली बन जाने पर मालिको को श्रमिको की मांगे मानने के लिए विवश होना पड़ता है। फलस्वरूप वे श्रम सघो को उचित तथा अनुचित सभी प्रकार के साधनों से हानि पहुंचाने की कोशिश करते है तथा उनके विकास के मार्ग मे रोड़े अटकाते हैं।[1]

8 **रचनात्मक कार्यों का अभाव** भारतीय श्रम सघ अभी अपनी शैशव अवस्था मे होने के कारण केवल सघर्षात्मक कार्यों पर ही बल दे रहे है। रचनात्मक या कल्याणकारी कार्यों जैसे शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन की ओर उनका ध्यान अभी नही गया है जिनके अभाव मे वे श्रमिको को अपनी ओर आकर्षित करने मे असफल रहे हैं।

9 **उचित नेतृत्व का अभाव** भारतवर्ष श्रमिक सघो के सचालन करने वाले श्रमिक नेता न होकर बाहरी व्यक्ति हैं, जो दलगत राजनीति मे फसे हुए हैं और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए श्रमिको का गलत पथ-प्रदर्शन करते हैं। उन्होने एक प्रकार से अपना एकाधिकार कायम कर रखा है तथा कई श्रमिक सघो को एक साथ नेतृत्व करते हैं।[2]

10 **जनतात्रिक भावना का अभाव** बहुत अधिक समय तक शोषण के शिकार रहने के फलस्वरूप, भारतीय मजदूर अपनी दशा मे सुधार के प्रति उदासीन हो गए है। इन्हे अपने अधिकारों के प्रति सजग करना तथा इनमे जनतात्रिक भावना का विकास करना कठिन कार्य है। इसलिए भारतवर्ष मे श्रम सघो मे जनतात्रिक भावना का अभाव पाया जाता है। प्राय बड़े-बड़े निर्णय श्रमिको की राय जाने बिना ही ले लिए जाते हैं। इसलिये इन सघो को पूर्ण सहयोग प्राप्त नही होता।

11 **पूर्णकालिक एवं वैतनिक अधिकारियों की कमी** भारतवर्ष मे श्रम सघ के कार्यों का सचालन करने वाले लोग श्रमिको की समस्या की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाते, क्योंकि न तो उन्हे इस कार्य के लिये वेतन मिलता है और न ही वे इस कार्य के लिए अधिक समय दे पाते हैं।

---

1. They first try to scoff it (the trade union movement) then try to put it down and lastly, if the movement persists to exist then recognise it."

—N M. Joshi, Trade Union Movement in India p 17

2 "The leadership is interested in keeping a sort of leadership monopoly' and for that reason perhaps, it has not been able to train up new cadre of leadership that will be able to shoulder the responsibilities of trade union leadership, A good number of leaders are also handling the affairs of several unions simultaneously"

—O P. Bhatta AICC Economic Review, July 1, 1968

12 सीमित सदस्यता : भारतवर्ष में श्रम संघों का आकार बहुत छोटा है। लगभग तीन-चौथाई श्रमिक संघों की सदस्यता 500 से भी कम है। ग्रामीण श्रमिक तो इसकी परिधि के पूर्णतः बाहर हैं। नगरों में भी सभी श्रमिक संघों के सदस्य नहीं हैं। फलस्वरूप श्रमिकों का संगठन दृढ़ नहीं हो पाता तथा वित्तीय आधार भी मजबूत नहीं हो पाता।

13 राजनैतिक दलों से सम्बन्ध . भारतीय श्रम संघ किसी न किसी राजनैतिक दल से सम्बन्धित हैं। इन दलों के विचारों में जमीन आसमान का अन्तर पाया जाता है। स्वाभाविक है कि ऐसे संगठनों से श्रमिकों को उचित मार्ग दर्शन नहीं मिल सकता, क्योंकि वे प्रायः अपने दलगत मामलों में ही श्रमिकों को फंसाए रखना चाहते हैं।

14 अनेक श्रम संघों की समस्या : भारतवर्ष में एक ही उद्योग या कारखाने में दो या दो से अधिक श्रम संघ पाए जाते हैं जो परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। इससे सेवा नियोजकों को लाभ होता है और श्रमिक एकता की क्षति पहुँचती है। श्रम संघ किसी रचनात्मक कार्य को भी इसीलिये नहीं कर पाते, क्योंकि उनमें मतैक्य नहीं होता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में श्रमिक संघों का विकास दृढ़ आधारों पर नहीं हो सका है। योजना आयोग के शब्दों में, "श्रमिक संघों की अधिकता, राजनीतिक मतभेद, साधनों की कमी एवं श्रमिकों में एकता का अभाव, भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन की प्रधान त्रुटियां हैं।"[2]

श्रम संघों के स्वस्थ विकास के लिए सुझाव

भारतवर्ष में श्रम संघों के स्वस्थ विकास के लिए निम्न सुझाव दिए जा रहे हैं :

1. एक उद्योग में एक ही संगठन श्री वी० वी० गिरि का सुझाव है कि 'एक उद्योग में एक संघ' की भावना का प्रसार किया जाए। यह उद्देश्य तभी पूरा

1. "In our country, the main difficulty in labour assuming constructive and responsible role is the one created by the existence of multiplicity of trade unions."
Shree G Ramanujam—General Secreary, INTUC,AICC Economic Review, July 1,1968

2. Multiplicity of trade unions, political rivalries, lack of resources and disunity in the ranks of the workers are some of the major weakness in a number of existing unions."
—Planning Commission, Second Five Year Plan

हो सकेगा, जबकि श्रमिक सघो को राजनैतिक दलबन्दी से छुटकारा मिल जाए। राष्ट्रीय श्रम आयोग द्वारा अगस्त 1969 मे दी गई अपनी रिपोर्ट मे यह मत प्रकट किया है कि प्रत्येक उद्योग मे उसी यूनियन को मान्यता दी जाय, जिसका उस उद्योग मे बहुमत हो। जिस उद्योग मे 100 या अधिक कर्मचारी काम करते हो, अथवा एक नियत मात्रा से अधिक पूजी लगी हो उसमे बहुसख्यक यूनियन ही अधिकारियो से कोई बातचीत या समझौता कर सकेगा। शेष अल्पसख्यक यूनियन अपने सदस्यो की नियुक्ति या बर्खास्तगी आदि के कारण प्रश्नो पर ही वार्ता करेंगे। यदि आयोग के इस सुझाव को मान लिया गया तो अधिकारियो की बहुत सी समस्याए हल हो जायेंगी। इन्टक (INTUC) के जनरल सेक्रेटरी, श्री जी० रामानुजम का भी यही मत है कि केन्द्र मे केवल एक शक्तिशाली श्रम सघ बनाया जाए जिससे सभी छोट सघ सम्बन्धित हो तथा जिसका नेतृत्व एक योग्य व्यक्ति द्वारा हो।[1]

2 अनिवार्य सदस्यता श्रमिक सघ की सफलता उसके आकार पर निर्भर करती है। अत श्रमिक सघ को प्रभावशाली बनाने के लिये यह प्रयत्न किया जावे कि सभी श्रमिक सघों के सदस्य हो जाए।

3 **श्रमिकों में शिक्षा का प्रसार**: श्रमिको मे शिक्षा का प्रसार किया जाना चाहिए, ताकि वे सगठन के महत्व को समझ सकें और सगठन के कार्य स्वय कर सकें। शिक्षित हो जाने पर श्रमिक, श्रम सघो के कार्यों के प्रति उदासीन न रहेंगे वरन् स्वेच्छा से सगठन कार्य मे सक्रिय सहयोग देगें।

4 **योग्य नेतृत्व** श्रमिको का नेतृत्व जहा तक सभव हो, श्रमिकों के हाथ मे ही होना चाहिए। श्रमिक नेता यदि श्रमिक वर्ग से ही आएग तो वे श्रमिको को उचित नेतृत्व प्रदान कर सकेंग। योग्य नेतृत्व के लिए प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

5 **रचनात्मक कार्यों की ओर ध्यान** श्रम सघो को श्रम कल्याणकारी कार्यों व अन्य ऐसे कार्य भी करने चाहिए जिससे श्रमिकों का बौद्धिक, शारीरिक एव शैक्षणिक विकास हो सके। केवल हडताल या घेराव तक ही उन्हें अपनी गतिविधियो को सीमित नही रखना चाहिए।

---

1 It is not merely desirable but even necessary to have a single strong national centre for trade unions in the country to which all the unions at the plant level are affiliated so that the trade union movement in the country will be genuine and will have one objective, one method and on eleadership which would enable them to march forward in an orderly and disciplined way taking the nation too along with it —ibid

6 श्रमिक कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था : श्रमिक आन्दोलन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि श्रम संघों का संचालन करने वाले श्रमिकों को समुचित प्रशिक्षण दिया जाए। कलकत्ता में श्रम संघों के सिद्धान्तों के विषय में शिक्षा देने के लिए खोला गया एशियन ट्रेड यूनियन कालेज इस दिशा में सही कदम है।

7. सेवायोजकों द्वारा मान्यता : सेवायोजकों को चाहिए कि वे श्रमिक संगठनों को मान्यता देने में अड़चनें न डालें, क्योंकि स्वस्थ श्रम संगठन सेवायोजकों के लिए भी उतना ही लाभदायक है जितना कि श्रमिकों के लिए। एक शक्तिशाली श्रमिक संगठन के रहने से औद्योगिक संघर्षों में कमी आ सकती है जिससे उत्पादन में वृद्धि होगी।

8. पूर्णकालिक एवं सवेतनिक कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति श्रम संघों को अपना कार्य नियमित रूप से चलाने के लिए पूर्णकालिक एवं सवेतनिक व प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता रखने चाहिए जिनमें विचार-स्वातन्त्र्य उत्साह एवं ईमानदारी के गुण हों।

9 हड़ताल कोषों की स्थापना : प्रसिद्ध श्रमिक नेता श्री वी० वी० गिरि का सुझाव है कि श्रमिक संघ कल्याण कोष व हड़ताल कोष रखें जिसमें कि हड़तालों के समय में संगठन अपने सदस्यों को आर्थिक मदद दे सकें और उनका नैतिक स्तर बनाए रखें।

10. जनमत को अनुकूल बनाना : श्रमसंघों को समय-समय पर अपनी गतिविधियाँ जनता को बताना चाहिए तथा श्रमिकों की समस्याओं की ओर जन-साधारण का ध्यान आकर्षित करना चाहिए, ताकि श्रमिक संघ आन्दोलन को जन-सहयोग प्राप्त हो सके।

11 दलगत राजनीति से मुक्ति . श्रमिक संघ आन्दोलन को राजनीति से दूर रहना चाहिए, क्योंकि राजनैतिक वातावरण बड़ा दूषित है तथा राजनैतिक दल श्रमिकों की भलाई के बजाय अपना राजनैतिक प्रभुत्व बढ़ाना चाहते हैं। श्रमिक संघ आन्दोलन एक पवित्र संगठन है। अतः इसे दलगत राजनैतिक से बचना चाहिए तथा केवल श्रमिकों के हितों के लिए ही कार्य करना चाहिए।

12. लोकतन्त्रीय भावना का विकास : राजकीय श्रम आयोग ने श्रमसंघों के स्वस्थ विकास के लिए यह सुझाव दिया है कि श्रमसंघ लोकतन्त्रीय भावना को सबल बनाकर अपने कार्यों का संचालन करें। इससे श्रमसंघ जो भी कार्य करेंगे उन्हें जनसहयोग प्राप्त होगा।

13. उचित सरकारी दृष्टिकोण : सरकार को भी श्रमसंघों के विकास के लिए स्वस्थ नीति अपनानी चाहिए। श्रमसंघों को उचित प्रोत्साहन देना चाहिए।

भावावेश में आकर इनके प्रति अन्धाधुन्ध पक्षपात नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे उनमें अनुशासनहीनता बढ़ेगी और संगठन कमजोर हो जायेगा।

14 संघों की वित्तीय स्थिति सुधारी जाय : भारतवर्ष में श्रमिकों के वेतन को बढ़ाकर उन्हें अपना चन्दा देने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, ताकि संघों के पास अपने कार्य संचालन के लिए पर्याप्त कोष उपलब्ध हो जाए।

15 एकता की भावना का विकास : विभिन्न केन्द्रीय संस्थाओं से सम्बन्धित श्रमिक संघों को सामान्य उद्देश्यों के आधार पर कार्यक्रम निर्धारित करके मिलजुल-कर कार्य करना चाहिए तथा अपना पारस्परिक विरोध समाप्त करना देना चाहिए।

उपर्युक्त सुझावों के साथ ही साथ अनुशासन संहिता में श्रमसंघों को मान्यता देने के लिए जो नियम बनाए गए हैं उनका समुचित रूप से पालन होना चाहिए। योजना आयोग ने श्रमसंघों के समुचित विकास के सम्बन्ध में कहा है, "श्रमिक संघों को आर्थिक एवं औद्योगिक प्रशासन के अनिवार्य अंग के रूप में माना जाना चाहिए और उन्हें जिम्मेदारियां उठाने के लिए तैयार किया जाना चाहिए। श्रमिकों में शिक्षा के कार्यक्रम को आगे बढ़ाया जाना चाहिए जिससे संघों का नेतृत्व श्रमिकों के हाथ में ही रहे। अनुशासन संहिता में श्रम संघों को मान्यता देने के लिए बनाए गए नियमों का समुचित रूप से पालन होना चाहिए। देश में सशक्त तथा स्वस्थ श्रम संघ आन्दोलन के विकास के लिए यही आवश्यक है।"

भारतवर्ष में श्रमिक संघों के स्वस्थ विकास की परम आवश्यकता है। देश में श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए उनकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति मजबूत बनाने के लिए तथा देश में उत्पादन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिक संघों का विकास स्वस्थ व उचित दिशाओं में किया जाए। जब तक श्रमिक संघों को हमारे देश में उचित नेतृत्व प्राप्त नहीं हो सकेगा, हमारे श्रमसंघ विकास नहीं कर सकेंगे। अतः श्रम संघों के विकास के लिये निःस्वार्थ, उदारभावी, कुशल, ईमानदार, लगनशील एवं उत्साही कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है, जिनके नेतृत्व में श्रमसंघ प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता है।[1]

---

1. "Like the cognate field of the co-operative movement in the Indian villages, the labour movement in our cities and towns calls for a devoted band of intellectuals who have to live unknown among the working folk for a long time to organise them and to train them for constructive union work. Correct leadership is essential for a leadership which is not prepared to sacrifice the interest of the workers to imported doctrinaire enthusiasm."

—Dr R K Mukerjee

प्रश्न

1 भारतवर्ष मे श्रमिक सघ आन्दोलन के जन्म तथा विकास का विवरण दीजिये। इसकी क्या कमजोरिया है ?

(राज० प्र० व०, टी० डी० सी० कला 1964, 1967)

2 भारत मे श्रम सघ आन्दोलन के प्रादुर्भाव एव विकास का वर्णन कीजिये। इसे सुदृढ बनाने के लिये क्या किया जाना चाहिये ?

(राज० प्र० व० टी० डी० सी० कला, 1966)

3 भारतवर्ष मे श्रमिक सघो के कार्यों का विवेचन करते हुए उनकी कमियो को बतलाइये। इन कमियो को दूर करने के लिए सुझाव भी प्रस्तुत कीजिए।

4 Survey briefly the development of Trade Union Movement in India What are the main obstacles of their growth?

(Raj B A, 1962)

5 भारतवर्ष मे श्रम सघ आन्दोलन' (मजदूर आदोलन) का सक्षेप मे विवरण दीजिए और बतलाइए कि भारत मे मजदूरो का सगठन अच्छा क्यो नही है ?

(Raj B A, Hons, 1967),

6 Discuss the growth of the Trade union Movement in India and point out its main weaknesses ? (R A S 1968)

28

भारत में सामाजिक सुरक्षा

(Social Security in India)

"Each country must create, conserve and build up the intellectual, moral and physical vigour of its active generation, prepare the way for its future generation that has been discharged from productive life. This is social security, a genuine and rational economy of human resources and values."

First Inter-American Conference on Social Security

औद्योगीकरण एवं शहरीकरण के परिणामस्वरूप आधुनिक समाज का जो स्वरूप हमारे सामने उभर रहा है, उसमे परम्परागत भारतीय संयुक्त परिवार प्रथा प्राय लुप्त होती जा रही है। अब परिवार का क्षेत्र संकुचित होकर स्त्री-बच्चो तक ही सीमित रह गया है संयुक्त परिवार प्रणाली के अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति को भी बुरे दिनो मे असहाय अवस्था का अनुभव नही होता था, किन्तु अब ऐसी बात नही रह गयी है। आज दीर्घकालीन बीमारी, वृद्धावस्था, बेकारी, असमर्थता व मृत्यु जैसी सकटापन्न अवस्थाओ मे श्रमिको व उनके परिवारों की देखभाल करने वाला उनका सयुक्त परिवार नहीं है। आज इन अवस्थाओ मे श्रमिको की रक्षा का भार समाज अथवा राष्ट्रीय सरकार ने अपने ऊपर ले लिया है।

सामाजिक सुरक्षा का अर्थ एवं परिभाषा

सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जो समाज अपनी प्रतिनिधि संस्था, राज्य के द्वारा अपने सदस्यो को उनके जीवन मे आने वाली बेकारी, बीमारी, दुर्घटनाओ, औद्योगिक रोग, प्रसूति अवस्था, बुढापा, परिवार मे जीविका कमाने वाले की मृत्यु आदि आकस्मिक विपत्तियो से उनकी रक्षा करने तथा एक वांछनीय आर्थिक, शारीरिक एवं नैतिक स्तर को बनाये रखने के हेतु प्रदान करता है।

सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा विभिन्न व्यक्तियों एवं संस्थाओं ने इस प्रकार की है :

(i) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ के अनुसार. "सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है, जो

समाज के किसी उपर्युक्त संगठन द्वारा अपने सदस्यों को उन अनिश्चित खतरों के लिए, जिनसे वे कभी भी प्रभावित हो सकते हैं।"[1]

(ii) सर विलियम बेवरिज के शब्दों में, "सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय पाँच दानवों—अभाव, बीमारी, अज्ञानता, गन्दगी और बेकारी—के ऊपर आक्रमण है।"[2]

(iii) श्री मॉरिस स्टैक के शब्दों में, "सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय हम समाज द्वारा दी गई उस सुरक्षा को समझते हैं, जो कि आधुनिक जीवन से उत्पन्न होने वाली आकस्मिक विपत्तियों, जैसे बेकारी, वृद्धावस्था, परावलम्बन, औद्योगिक दुर्घटना तथा अपंगता के विरुद्ध प्रदान की जाती है, जिनसे अपने तथा अपने परिवार की अपनी क्षमता या दूरदर्शिता के आधार पर रक्षा करने की आशा एक व्यक्ति से नहीं की जा सकती।"[3]

सर्वश्री हैबर तथा कोहेन ने सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी है, "सामाजिक सुरक्षा जनता की आर्थिक कठिनाइयों से रक्षा करने के लिए लगातार व्यापक तथा सफल प्रयत्न है, जिनके अभाव में बीमारी, बेरोजगारी अथवा वृद्धावस्था में तथा मृत्यु के पश्चात् आय में बाधा पड़ेगी, जिनसे चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएं तथा परिवारों में बच्चों के पालन-पोषण के लिए आर्थिक सहायता उपलब्ध हो जाती है।"[4]

1 Social security is the security that society furnishes through appropriate organization against certain risks to which its members are exposed
— *Approaches to Social Security* I L O p 83

2 'Social security is an attack on five giants Viz Wants Disease Ignorance, Squalor and Idleness
—*Sir William Beveridge*

3 'By Social Security we understand a programme of protection provided by society against those contingencies of modern life—sickness unemployment, old age dependency industrial accidents and invalidity—against which the individual cannot be expected to protect himself and his family by his own ability or foresight
—*Maurice Stack*

4 *Social security is the result achieved by a comprehensive and successful series* of measures for providing the public (or a large sector of it) from the economic distress that in the absence of such measures could be caused by the stoppage of earnings in sickness, unemployment or old age and after death for making available to that same public medical care as needed, and for subsidising families bringing up young children '
—*Haber and Cohen*, Readings and Social Security, p 74

प्रो० कोल के शब्दों में, "सामाजिक सुरक्षा का आशय यह है कि सरकार जो समाज का प्रतीक एवं प्रतिनिधि है अपने समस्त नागरिकों के लिए एक न्यूनतम जीवन-स्तर कायम करने के लिए उत्तरदायी है। इस स्तर में जीवन से लेकर मरण तक की सारी सुविधायें एवं आवश्यकतायें सम्मिलित होंगी।"[1]

सामाजिक सुरक्षा के रूप

सामाजिक सुरक्षा के मुख्यत दो रूप हैं—(i) सामाजिक बीमा, तथा (ii) सामाजिक सहायता। सामाजिक बीमा के अन्तर्गत सहायता पाने वाले व्यक्ति को समय-समय पर अंशदान के रूप में योगदान देना पड़ता है जैसे कर्मचारी राज्य बीमा योजना, कर्मचारी भविष्य निधि योजना आदि। सामाजिक सहायता के अन्तर्गत लाभ पाने वाले व्यक्ति को कोई अंशदान नहीं देना पड़ता। सहायता के रूप में खर्च की जाने वाली कुल धन राशि सरकार अपने खजाने से व्यय करती है, जैसे—वृद्धावस्था पेंशन, पारिवारिक भत्ता, आदि।

सामान्यत सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत जिन सुरक्षाओं अथवा सुविधाओं को सम्मिलित किया जाता है, वे हैं, (i) अस्वस्थता के समय चिकित्सा का प्रबन्ध, (ii) कार्य करते समय चोट लगने पर चिकित्सा एवं मुद्रा लाभ, (iii) अस्वस्थता के समय अवकाश एवं वेतन लाभ, (iv) मातृत्व काल में सवेतन अवकाश, चिकित्सा सुविधा एवं मुद्रा लाभ, (v) अपंगता के समय क्षति पूर्ति एवं पेन्शन, (vi) वृद्धावस्था पेन्शन, (vii) मृत्यु होने पर अन्तिम संस्कार सम्बन्धी व्यय, (viii) आश्रितों को लाभ, (ix) बेकारी के समय आर्थिक सहायता, तथा (x) पारिवारिक भत्ते परिवार के बच्चों के लिए आदि। संक्षेप में सामाजिक सुरक्षा उचित संगठन द्वारा सदस्यों की गर्भ से मृत्यु तक रक्षा करती है।[2]

सामाजिक सुरक्षा की भारतवर्ष में आवश्यकता

सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की आवश्यकता पश्चिमी देशों की अपेक्षा भारत में कहीं अधिक है। भारतवर्ष में सामाजिक सुरक्षा का महत्व इसलिए अधिक है, क्योंकि (i) भारतीय श्रमिक बहुत निर्धन है और निर्धनता के कारण अपनी सुरक्षा

---

1 The idea of social security is that the State shall make itself responsible for ensuring a minimum standard of material welfare to all its citizens on a basis wide enough to cover all the main contingencies of life of an individual from birth to death —*D G H Cole*

2 Social security saves up members from womb to the tomb through appropriate organisation

स्वय नही कर सकते, (ii) भारतीय श्रमिक अशिक्षित एव रूढिवादी हैं तथा भविष्य के बारे म ध्यान नही दे पाते, (iii) भारत मे पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत उत्पादन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए तथा श्रमिको की कार्यक्षमता बढाने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाय, (iv) भारतीय श्रमिको व उद्योगपतियों के सम्बन्ध मधुर नही है उन्हे मधुर करने के लिए तथा औद्योगिक शाति बनाये रखने के लिए, (v) भारत म श्रमिको मे मृत्यु दर बहुत ऊची है, इसे कम करने के लिए, (vi) भारतीय सविधान मे बकारी वृद्धावस्था, रोग तथा अग भग के अवसरो के लिए श्रमिक वग के लिए सरकारी सहायता को मान्यता प्रदान की गई है। वास्तव मे, सामाजिक सुरक्षा श्रमिको के जीवन को सुखी और सम्पन्न बनायेगी और वे औद्योगिक केन्द्रो मे स्थायी रूप से बस जायग। इससे औद्योगिक सघर्ष कम होग तथा आर्थिक व सामाजिक विषमता घटेगी।

भारत मे सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था

सामाजिक सुरक्षा के क्षत्र मे भारत इतनी प्रगति नही कर सका है जितनी कि ससार के अन्य उद्योग प्रधान देशो ने की है। इस समय भारतवर्ष मे सामाजिक सुरक्षा की जो व्यवस्था है, उसका अध्ययन हम निम्नलिखित अनुच्छेदो मे करेंगे।

1 श्रमिक क्षतिपूर्ती अधिनियम, 1923 (Worksmen's Compenation Act 1923) भारतवर्ष मे सामाजिक सुरक्षा का प्रारम्भ इसी अधिनियम के लागू होने से माना जाता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत सेवायोजको को मजदूर के काम करते समय चोट आ जाने पर या काम से सम्बन्धित बीमारियो से पीडित होने पर मुआवजा देना पडता है। इसके लिये यह शर्त है कि श्रमिक ने सम्बन्धित कारखाने मे 6 महिने से अधिक कार्य किया हो अयोग्यता दस दिन से अधिक हो तथा चोट लगने मे श्रमिक की स्वय कोई त्रुटि न हो। यह नियम कई बार सशोधित हो चुका है। स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात भी इस अधिनियम मे 1948, 1950, 1951 1959 व 1962 मे सशोधन किया जा चुका है। सन् 1962 के सशोधन के बाद यह अधिनियम अब उन सभी व्यक्तियो पर लागू होता है जिन्हे 500 रु० से अधिक पारिश्रमिक नही मिलता तथा रोजगार आकस्मिक नही है। इस अधिनियम के अन्तर्गत, मृत्यु, स्थायी एव पूर्ण असमर्थता स्थाई-आंशिक असमर्थता एव अस्थाई असमर्थता के लिए विभिन्न दरो से क्षतिपूर्ति निर्धारित की गयी है। श्रमिक की मृत्यु हो जाने पर क्षतिपूर्ति की रकम उनके आश्रितों को दी जाती है। इस अधिनियम मे अब तक कई सशोधन हो चुके हैं। वर्तमान समय मे मृत्यु की दशा मे क्षति पूर्ति की रकम 500 रु० से 4,500 रु० तक दी जाती है। पूर्ण अपगता की स्थिति मे हरजाने की

रकम 100 रु० से लेकर 6,300 रु० तक होती है। श्रमिकों की क्षतिपूर्ति की रकम, उनकी औसत मजदूरी और दुर्घटना की गम्भीरता पर निर्भर करती है। आंशिक अंग हानि की स्थिति में क्षतिपूर्ति की विभिन्न मात्रायें, हानि के अनुपात में दी जाती हैं। सन् 1948 म कर्मचारी राज्य बीमा योजना के लागू होने से अब जिन उद्योगों म यह योजना लागू हो चुकी है, वहाँ से श्रमिक क्षतिपूर्ति नियम हटा लिया गया है।

आलोचना श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम मे कई दोष है, जैसे (i) इसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है, बहुत से व्यवसाय इसके अन्तर्गत नही आते, (ii) मालिक क्षतिपूर्ति देने से बचने के लिए भरसक प्रयत्न करते हैं, (iii) क्षतिपूर्ति की रकम एक साथ मिल जाने के कारण श्रमिक या परिवार के लोग कुछ ही दिनो मे खर्च कर डालते है, (iv) मालिक दुर्घटनाओ की सूचना कई बार नही देते, (v) श्रमिक अशिक्षित व निर्धन होने के कारण मालिक के हरजाना न देने पर कानूनी कार्यवाही नही कर पाते, (vi) श्रमिक अशिक्षित होने के कारण अपने कानूनी अधिकारो को नही समझते, (vii) सरकारी प्रशासनिक अधिकारी मामलो के निपटाने मे देर लगा देते है, तथा (viii) इस अधिनियम का क्षेत्र भी बहुत सकुचित रहा है क्योकि इसमे बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था आदि जोखिमो की कोई व्यवस्था नही की गई।

2 मातृत्व हित लाभ अधिनियम (Maternity Benifit Acts) भारतवर्ष मे सन् 1961 से पहले *मातृत्व या प्रसूति लाभ सम्बन्धी कोई केन्द्रीय अधिनियम* नही था, जो सभी श्रमिक स्त्रियो पर लागू होता है। प्रान्तीय सरकारो ने अपने अपने क्षेत्रो मे इस सम्बन्ध म अधिनियम पारित किये थे, पर उनम एकरूपता का अभाव था। सर्वप्रथम बम्बई प्रान्त मे 1929 मे, मातृत्वहित लाभ अधिनियम पारित हुआ था। बाद मे मध्य प्रदेश ने 1930 में, आसाम ने 1934 मे यू पी ने 1938, बगाल ने 1939 म पजाब ने 1943 मे, मद्रास ने 1944, बिहार न 1945 मे केरल ने 1952 मे तथा उडीसा व राजस्थान न 1953 मे मातृत्वहित-लाभ अधिनियम पारित किये। भारत सरकार न 1941 म खान मे काम करन वाली स्त्रियो के लिये, 1948 म कर्मचारी राज्य बीमा योजना के अन्तगत तथा 1951 मे बागानो के स्त्री-श्रमिको के लिए मातृत्व हित लाभो की व्यवस्था की।

इन सबका अधिनियमो म एकरूपता का अभाव है। इनके क्षेत्र, लाभ पाने वाली शर्तों, पात्रता अवधि आदि मे भिन्नता पाई जाती है। भारत सरकार ने इन अनेक अधिनियमो मे एकरूपता के लिए 1961 मे मातृत्वहित-लाभ अधिनियम पारित

छोड़कर), जिनमे 20 या 20 से अधिक कर्मचारी काम करते हैं तथा विद्युत का प्रयोग होता है। इस योजना के अन्तर्गत अब वे सभी श्रमिक व कर्मचारी लाभ के अधिकारी हैं जिनकी मजदूरी 500 रुपये प्रति मास तक है। ठेके पर कार्य करने वाले श्रमिक भी अब इस योजना की परिधि मे आ जाते हैं।

(आ) प्रशासन : इस योजना का प्रबन्ध कर्मचारी राज्य बीमा निगम करता है, इस निगम मे 38 सदस्यो पर आधारित एक प्रबन्ध समिति है जिसमे केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारो, लोकसभा, नियोजको, कर्मचारियो तथा चिकित्सा विभाग के प्रतिनिधि शामिल होते हैं। यह समिति ही निगम का प्रबन्ध करती है। केन्द्रीय श्रम-मन्त्री इस प्रबन्ध समिति का अध्यक्ष तथा केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री उपाध्यक्ष होता है। निगम का कार्य चलाने के लिए दो समितिया होती है (अ) चिकित्सा परिषद जिसमे चिकित्सा सम्बन्धी विशेषज्ञ होते हैं और इनका काम चिकित्सा सम्बन्धी परामर्श देना होता है तथा (आ) स्थायी समिति जो सामान्य प्रशासन व निर्देशन का कार्य करती है।

(इ) वित्त व्यवस्था एवं अशदान इस अधिनियम के अन्तर्गत 'कर्मचारी राज्य बीमा निधि' बनाई गई है, जिसमे मजदूर मालिको का अशदान तथा अन्य सूत्रो से प्राप्त अनुदान शामिल है। जिन श्रमिको को प्रतिदिन 1 रुपये से कम मजदूरी मिलती है उन्हें कोई अशदान नही देना होता। जिन श्रमिको की औसत मजदूरी 1 रुपये से 1 50 रुपये के बीच मे है उन्हें 12 पैसे देने पड़ते हैं तथा 8 रु० या इससे अधिक मजदूरी पाने वालों को 1 25 रु० अशदान के रूप मे देना पड़ता है। यह श्रमिको द्वारा दिये जाने वाले अशदान की अधिक से अधिक धनराशि है। मालिक सबसे कम वेतन पाने वाले श्रमिक के लिए 44 पैसे तथा सबसे अधिक वेतन पाने वाले श्रमिक के लिए 2 50 रु० के हिसाब से चन्दा देता है।

निम्नाकित तालिका मे श्रमिको व मालिको द्वारा दिये जाने वाले अशदान को दिखाया गया है

श्रमिकों का औसत दैनिक वेतन	श्रमिकों का औसत अशदान	मालिकों का अशदान	कुल अशदान
1 00 रु से कम	—	0 44	0 44
1 00 रु से 1 50 रु तक	0 12	0 44	0 56
1 50 रु से 2 00 रु तक	0 25	0 50	0 75
2 00 रु से 3 00 रु तक	0 37	0 76	1 13
3 00 रु से 4 00 रु तक	0 50	1 00	1 50
4 00 रु से 6 00 रु तक	0 69	1 37	2 06
6 00 रु से 8 00 रु तक	0 94	1 87	2·81
8 00 रु से अधिक	1 25	2 50	3 75

योजना काल के प्रथम 5 वर्षों के कुल प्रशासनिक व्यय का $\frac{2}{3}$ भाग केन्द्रीय सरकार ने तथा $\frac{1}{3}$ भाग राज्य सरकारों ने दिया था। श्रमिकों को बीमारी अथवा मातृत्वहित लाभ प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उन्होंने कम से कम 26 सप्ताहों तक चन्दा दिया हो।

(ई) योजना के अन्तर्गत मिलने वाले लाभ इस योजना के अन्तर्गत श्रमिकों व उनके परिवारों को निम्नांकित 5 प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं :

1. बीमारी लाभ (Sickness Benefit) : बीमित श्रमिक को, निगम के डाक्टर के प्रमाण-पत्र पर 56 दिनों तक का बीमारी सम्बन्धी लाभ मिल सकता है। बीमारी के अवकाश के समय प्रथम दो दिन को छोड़कर बाद के दिनों की मजदूरी का $\frac{7}{12}$ भाग बीमारी लाभ के रूप में दिया जाता है। क्षय, कोढ़ मानसिक व अन्य बीमारियों की स्थिति में 309 दिनों के लिए बीमारी की विस्तृत सहायता मिलती है।

2. चिकित्सा लाभ (Medical Benefit) बीमित श्रमिक व उसके परिवार के सदस्यों को निःशुल्क चिकित्सा सुविधा दी जाती है। साधारण चोट अथवा बीमारी के अतिरिक्त अब क्षय रोग, कुष्ट रोग, मानसिक रोग आदि की भी चिकित्सा सुविधा प्राप्त होती है।

3. प्रसूती-लाभ (Maternity Benifit) . प्रसूती स्त्री-श्रमिक को बारह ... के लिए नकदी सहायता दी जाती है। यह धन राशि या तो औसत मजदूरी की दर से आधी, अथवा 75 पैसे, जो भी अधिक हो, की दर से दी जाती है।

4. अयोग्यता लाभ (Disablement Benefit) : यह लाभ श्रमिकों को दुर्घटना या चोट की हालत में दी जाती है। स्थायी असमर्थता की दशा में बीमित मजदूर को उसकी औसत साप्ताहिक मजदूरी का भाग जीवन-पर्यन्त दिया जाता है। अस्थायी असमर्थता के लिए, असमर्थता की अवधि तक इसी दर से लाभ मिलता है। आंशिक असमर्थता की अवस्था में उस असमर्थता के स्वभाव के अनुसार क्षति-पूर्ति अधिनियम की दरों के अनुसार दिया जाता है।

5. आश्रित लाभ (Dependent's Benfit) . कारखाने में काम करने के समय यदि बीमित श्रमिक की मृत्यु हो जाती है तो श्रमिक के आश्रितों को आर्थिक सहायता दी जाती है। मृतक श्रमिक की विधवा को अपने जीवन भर के लिए या पुनः शादी करने तक पूर्ण दर ($\frac{7}{12}$ भाग) का $\frac{3}{5}$ दिया जाता है। प्रत्येक आश्रित पुत्र व पुत्री को पूर्ण दर का $\frac{2}{5}$ भाग आश्रित लाभ के रूप में दिया जाता है।

बच्चो को यह लाभ 15 वर्ष की अवस्था तक प्राप्त होता है लेकिन यदि वे शिक्षा प्राप्त कर रहे हो तो यह लाभ 18 वर्ष की अवस्था तक प्राप्त होता है।

(उ) योजना की प्रगति यह योजना सर्वप्रथम फरवरी 1952 मे दिल्ली व कानपुर मे लागू हुई। धीरे धीरे इस योजना का विस्तार किया गया। जनवरी 1953 मे इसे बम्बई मे चालू किया गया। तीसरी योजना के अन्तर्गत इस योजना मे लगभग 30 लाख श्रमिकों को लाने का लक्ष्य रखा गया था तथा उन सभी औद्योगिक क्षेत्रों मे इसका विस्तार किया जाना था जहां 500 या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हो। 31 मार्च 1972 तक 39 76 लाख श्रमिको को 318 औद्योगिक केन्द्रो पर इस योजना के अन्तर्गत मिलने वाले लाभ प्राप्त हुए।

आलोचना राजकीय बीमा योजना मे कई दोष भी पाए जाते है, जैसे (i) इस योजना का क्षेत्र सीमित है, (ii) चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें अपर्याप्त हैं, (iii) अवकाश लाभ की अवधि कम है, (iv) योग्य डाक्टरो का अभाव है, (v) छोटे उद्योग प्राय नियमो की अवहेलना कर जाते हैं, (vi) लाभ कुछ महत्वपूर्ण जोखिमो तक ही सीमित है, तथा (vii) सहायता की धनराशि अपर्याप्त है।

4 कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम 1952 (Employees Provident Fund Act, 1952) सन 1952 ई० मे कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम पारित हुआ था। पहले इसे 6 प्रमुख उद्योगो सीमेन्ट, सिगरेट, इजीनियरिंग लोहा व इस्पात कागज तथा वस्त्र उद्योग मे लागू किया गया। बाद मे यह अधिनियम अन्य उद्योगो पर भी लागू किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिको के लिए अनिवार्य भविष्य निधि के लाभ की व्यवस्था की गई है। यह अधिनियम उक्त उद्योगो के उन कारखानो मे लागू होना है जिन्हें स्थापित हुए 3 वर्ष हो चुके हैं तथा श्रमिको की सख्या 50 या इससे अधिक है। यह अधिनियम उन कारखानो मे भी लागू होता है जिन्हें 5 वर्ष पूरे हो गये है तथा जिनके श्रमिको की सख्या 20 से अधिक तथा 50 से कम है।

इस योजना का लाभ उन सभी कर्मचारियो को मिलता है जिनकी मूल मजदूरी व महगाई भत्ता मिलाकर 1 हजार रु मासिक से अधिक न हो तथा जिन्होंने 1 वर्ष की लगातार सेवा पूरी कर ली हो अथवा 12 महीने या कम की अवधि मे 240 दिन वस्तुत कार्य किया हो। इस योजना के अन्तर्गत कर्मचारी को 6¼ प्रतिशत की दर से तथा कारखाने के मालिको को भी इसी दर से चन्दा देना पड़ता है। 30 सितम्बर 1969 तक 81 उद्योगो मे अशदान की दर बढाकर 8 प्रतिशत कर दी गई। 15 वर्ष की नौकरी के बाद, कर्मचारी के नौकरी छोडने मृत्यु हो जाने, स्थाई

सम्बन्धित एक स्थाई योजना बनाई जानी चाहिए; (VIII) भविष्य निधि को एक वैधानिक पेंशन योजना में परिणित कर दिया जाना चाहिए, तथा (IX) न्यूनतम मजदूरी नीति शीघ्रातिशीघ्र अपनाई जानी चाहिए।

श्रम पर राष्ट्रीय आयोग के अनुसार अगले कुछ वर्षों में श्रमिकों के अंशदान थोड़ी सी वृद्धि करके कुछ और जोखिमें सम्मिलित की जा सकती है। काम पर लगे हुए, बेकार हो जाने वाले व्यक्तियों के लिए आयोग ने बेरोजगारी बीमे का सुझाव दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात हो जाता है कि भारत सरकार ने श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। लेकिन इस दिशा में होने वाले कार्य अभी तक अपर्याप्त है। अभी तक जो भी सुविधाएं दी गई है, वे अलग-अलग कानूनों के अन्तर्गत हैं जिससे इनमें दोहराव पाया जाता है तथा कई कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। वस्तुतः भारत में एक ही संस्था के अधीन विविध प्रकार की सुविधाओं के एकीकरण की आवश्यकता है क्योंकि एक ओर तो मितव्ययता बढ़ेगी तथा दूसरी ओर विभिन्न सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों को आयोजित विकास कार्यक्रमों के साथ समन्वित किया जा सकेगा। एक अर्द्ध-विकसित देश होने के नाते भारत सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में सुविधा दिलाने में व्यापक कार्यक्रम नहीं अपना सकता।[1] तथापि इसे अपने उपलब्ध साधनों का उपयोग सामाजिक सुरक्षा के कार्यों में इस प्रकार करना चाहिए कि इससे श्रमिकों को अधिकाधिक सुरक्षा प्राप्त हो।

जब तक देश के श्रमिक निर्धन, अभाव-ग्रस्त, समस्या-ग्रस्त, रोग ग्रस्त, तथा भुखमरी के शिकार बने रहेंगे, तब तक न तो हमारी औद्योगिक प्रगति हो सकेगी और न ही देश का आर्थिक विकास सम्भव हो सकेगा। अतः सर विलियम बेवरिज द्वारा वर्णित, अभाव, बीमारी अज्ञानता, गन्दगी एवं बेकारी नामक पांचो दानवों पर आक्रमण कर विजय पाना ही हमारा परम लक्ष्य होना चाहिए।

प्रश्न

1 भारत में श्रमिकों के लिये सामाजिक सुरक्षा की जो व्यवस्था है, उसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। भारत में सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रम को व्यापक बनाने के लिए अपने सुझाव भी दीजिए।

---

1. "A poor underdeveloped country cannot, in the early stages of economic development, really afford much of the type of redistributive measures which in advanced countries are are known under the lablel of 'Social Security.

—*Dr Gunnar Myrdal* : I C O Asian Regional Conference Peport II, p 3.

2. 'कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम' के प्रावधानों का आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।'

3. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये—

(क) कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, 1952

(ख) मातृत्व हित-लाभ अधिनियम

(ग) श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923

4 भारतवर्ष में सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता एवं महत्व पर प्रकाश डालिये।

5. सामाजिक सुरक्षा से आप क्या समझते हैं ? भारत सरकार ने सन् 1923 से सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था के लिए कौन-कौन से कदम उठाये ?

(राज० टी. डी सी. प्रथम वर्ष, 1970)

खण्ड पाँच

1. भारत का विदेशी व्यापार
   India's Foreign Trade

2. विदेशी सहायता
   Foreign Aid

Niranjan Tiwari

29

भारत का विदेशी व्यापार

(India s Foreign Trade)

"*What is prudence in the conduct of every private family can scarcely be folly in that of a great kingdom If a foreign country can supply us with a commodity cheaper than we ourselves can make it, better buy it from them with some part of the produce of our own industry employed in a way in which we have some advan tage* —Adam Smith

वर्तमान युग मे विश्व के किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए विदेशी व्यापार की उन्नति अत्यन्त आवश्यक है। पहले हम देश में स्वावलम्बन प्राप्त करना अच्छा समझते थ, लेकिन अब वह स्थिति नही रही है। लोग विदेशी व्यापार के महत्व एव गुणो से उत्तरोत्तर प्रभावित होते जा रहे हैं। आज बहुत सी वस्तुए हैं, जो एक देश द्वारा पैदा नही की जाती है, क्योकि प्राकृतिक एव अन्य कारणो से उन्हे उचित लागतो पर पैदा करना सम्भव नही है। ऐसी स्थिति मे विदेशी व्यापार के माध्यम से उन्हे प्राप्त कर सम्बन्धित देश लाभ उठा सकते है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन विशिष्टीकरण एव विनिमय के आर्थिक लाभो को पाने के लिए विदेशी व्यापार को विकसित किया जाना आवश्यक है। प्राकृतिक स्रोतो के समुचित शोषण के लिए देश के औद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व सद्भावना बढाने के लिए, दुर्लभ विदेशी वस्तुओ की प्राप्ति के लिए देश के उत्पादको को उत्पादन विधियो मे सुधार लाने की प्रेरणा देने के लिए, आन्तरिक मूल्यो म स्थिरता लाने के लिए एव सकट काल की स्थिति मे पारस्परिक सहायता प्रदान करने के लिए भी विदेशी व्यापार का पर्याप्त महत्व है।

भारत के विदेशी व्यापार का इतिहास

भारतवर्ष अतीत काल से ही अपने विदेशी व्यापार के लिए प्रसिद्ध है। बहुत प्राचीन काल मे भी, भारत ने अनेक तत्कालीन सभ्य देशो से अपने व्यापारिक सम्बन्ध

बना रखे थे । भारत से मिश्र, रोम, चीन, अरब आदि देशों को सूती कपड़ा धातु के बर्तन, सुगन्धित द्रव्य, गरम मसाला, हाथी दांत, हथियार, रंग एवं कलात्मक सामान जैसी वस्तुओं का निर्यात किया जाता था। इनके बदले में हमारा देश सामान्यतः पीतल, तांबा, टीन, शीशा, शराब, घोड़ो आदि का आयात करता था । हमारे निर्यात प्रायः आयात से अधिक होते थे, जिसके फलस्वरूप व्यापार सन्तुलन (Balance of trade) हमेशा ही हमारे पक्ष में होता था । व्यापार सन्तुलन की अनुकूलता के कारण हमें सोना-चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुएं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती थी ।

विभिन्न देशों में की गई खुदाई और उनमें पाई गई वस्तुओं से यह प्रमाणित होता है कि ईसा से 300 वर्ष पहले भी भारत से सीपियों, बर्तनों तथा अन्य कई वस्तुओं का निर्यात मिश्र, ईराक तथा ईरान को नियमित रूप से किया जाता था । मुगल काल में भी भारत का पश्चिम में योरोप के कई देशों के साथ तथा पूर्व में चीन के साथ व्यापार निरन्तर चलता था । योरोप के कई देशों ने अपनी व्यापारिक कम्पनियाँ भारत में स्थापित की थी, जो भारत से सूती वस्त्र, मसाले आदि बहुत बड़ी मात्रा में ले जाती थी । इंगलैंड, फ्रांस, पुर्तगाल तथा नीदरलैण्ड के व्यापारी भारत में व्यापार के लिए सदैव लालायित रहते थे । मुगलों के पतन के बाद भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) का आधिपत्य स्थापित हुआ ।-ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारतवर्ष से सूती कपड़े, मलमल तथा मसाले इंगलैंड को निर्यात करती थी ।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैण्ड में होने वाली औद्योगिक-क्रान्ति ने भारत के विदेशी व्यापार को बहुत प्रभावित किया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय विदेशी व्यापार का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया। सन् 1857 के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में भारत के शासन की बागडोर ब्रिटिश सरकार के हाथ में आ गई । ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए औद्योगिक क्रान्ति से इंगलैण्ड को पूर्ण रूप से लाभान्वित कराने के लिए, विदेशी सरकार ने समय-समय पर जो नीतियाँ अपनाई उनका स्पष्ट परिणाम यह निकला कि भारत इंगलैण्ड के निर्मित माल का आयात करने वाला तथा कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बन गया । उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रेलों के विकास ने इस प्रवृत्ति को और भी अधिक बढ़ावा दिया ।

बीसवीं शताब्दी में भारत के विदेशी व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई । यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक (सन् 1914 ई. तक) भारत का विदेशी व्यापार सदैव ही भारत के अनुकूल रहा, तथापि इसकी संरचना को देखने से पता चलता है कि यह प्रगतिशील दिशा में नहीं बढ़ रहा था। आजादी से पहले इंगलैन्ड का

उपनिवेश होने के कारण भारत का विदेशी व्यापार भी औपनिवेशिक ही था। भारत योरोप के औद्योगिक देशो, विशेषकर इगलैण्ड को कच्चे माल तथा खाद्यान्नो का निर्यात करता था तथा विदेशो से, विशेषकर इगलैण्ड से बनी हुई सामग्री का आयात करता था। निर्मित माल के निरन्तर आयात का प्रभाव हमारे देश के आर्थिक विकास पर बहुत प्रतिकूल पडा, क्योकि इसके कारण भारत का औद्योगीकरण सही दिशा मे नही हो सका। देश कृषि अवस्था मे रह कर ही आधुनिक आर्थिक प्रगति की दौड मे पिछड गया। यही नही अपितु सदियो से चले आ रहे हस्त-शिल्प का भी पतन हो गया, जो किसी समय विश्व मे भारत की प्रसिद्धि का कारण था।

वस्तुत स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व यद्यपि व्यापार शेष आमतौर पर हमारे अनुकूल था, तथापि यह समय भारत की समृद्धि का नही था। क्योकि सस्ते दामो पर हमारा कच्चा माल विदेशो को भेजा जाता था, जो स्वय हमारे अपने औद्योगिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति क बाद भारत का विदेशी व्यापार

पन्द्रह अगस्त सन् 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ और लोकप्रिय सरकार का गठन किया गया। उस समय यह आशा की गयी कि देश के विदेशी व्यापार मे समुचित वृद्धि की जा सकेगी तथा भुगतान सन्तुलन की गत दो वर्षो से चली आ रही प्रतिकूलता समाप्त की जा सकेगी। लेकिन आजादी मिलने के साथ साथ देश का विभाजन हुआ और कुछ एसी आर्थिक कठिनाइया उपस्थित हो गई कि यह आशा पूरी न की जा सकी। देश के विभाजन के फलस्वरूप देश मे खाद्यान्नो तथा जूट व कपास की बहुत अधिक कमी हो गई थी। जिस कारण इनका आयात करना आवश्यक हो गया था। सितम्बर, सन् 1949 मे इगलैण्ड ने अपनी मुद्रा अवमूल्यित कर दी। विवश होकर भारत को भी अपनी मुद्रा का 30 5 प्रतिशत से अवमूल्यन करना पडा। इससे आयातो मे कमी हुई तथा निर्यातो मे बढोतरी हुई। इतना होने के बावजूद भी हमारे विदेशी व्यापार की प्रतिकूलता समाप्त न की जा सकी। इससे कमी अवश्य हो गई, परन्तु अवमूल्यन का प्रभाव अधिक समय तक प्रभावशाली न रहा। सन् 1950 तक हमारा विदेशी व्यापार अनियोजित आधार पर ही चलता रहा। सरकार ने यद्यपि इस अवधि मे निर्यातो को बढाने के लिए कई उपाय अपनाए, अपनी आयात व निर्यात नीतियो मे भी समय समय पर कई परिवर्तन किये तथा विश्व के प्राय सभी प्रमुख देशो मे व्यापारिक प्रतिनिधि नियुक्त किए एव व्यापारिक शिष्ट मडल भेजे, तथापि व्यापार सतुलन की प्रतिकूलता बनी रही। सन् 1949–50 मे व्यापार सतुलन 80 9 करोड रुपये मे प्रतिकूल था।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विदेशी व्यापार

सन् 1951 ई० से भारत ने अपनी विभिन्न आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए तथा देश के सर्वांगीण आर्थिक विकास के लिए नियोजन का मार्ग अपनाया। तब से अब तक तीन पंचवर्षीय तथा तीन एकवर्षीय योजनाएं क्रियान्वित की जा चुकी हैं। इन योजनाओं के अन्तर्गत, भारत के विदेशी व्यापार की जो प्रगति हुई है, उसका अध्ययन हम नीचे के अनुच्छेदों मे करेंगे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना मे पूर्व संचित पौण्ड पावनों की उपलब्धि, मूल्य-स्तर मे सुधार तथा योजना के अन्तिम तीन वर्षों मे खाद्यानों के उत्पादन में वृद्धि के कारण व्यापार सन्तुलन की स्थिति मे सुधार हुआ तथा प्रतिकूलता की मात्रा में कमी हुई। प्रथम योजनावधि मे भारत के कुल आयात 3,650 5 करोड़ रुपये तथा कुल निर्यात 3108 6 करोड़ रुपये के हुए अर्थात् औसतन प्रति वर्ष 730 करोड़ रु० के आयात तथ 62 2 करोड़ रुपये के निर्यात हुए। व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता योजना के पांच वर्षों मे औसतन 108 करोड़ रुपये रही।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल मे आयात, निर्यात व व्यापार-शेष की स्थिति का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है

प्रथम योजना काल मे आयात निर्यात व व्यापार शेष (करोड़ रु० में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-शेष
1951–52	962 9	730 1	– 232 8
1952 53	633 0	601 9	– 31 1
1953–54	591 8	539 7	– 52 1
1954–55	689 7	596 6	– 93 1
1955–56	773 1	640 3	– 132 8
	3650 5	3108 6	– 541 9
वार्षिक औसत	730	622	– 108

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में विकास की गति तीव्र हो गई। परिणामस्वरूप आयातों मे वृद्धि हो जाना स्वाभाविक था। द्वितीय योजना को क्रियान्वित करने के लिए मशीनों, यन्त्रों एवं कच्चे पदार्थों का बड़े पैमाने पर आयात किया गया। दूसरी योजना मे निर्यातों को बढ़ाने के लिए भी आवश्यक कदम उठाये गये,

परन्तु निर्यातों में विशेष वृद्धि न की जा सकी। इसके कई कारण थे, जैसे (i) हमारी घरेलू माग की अधिकता के कारण, हमारे निर्यात के लिए बडी मात्रा में निर्यात-पदार्थ उपलब्ध न हो सके, (ii) विदेशी बाजारों में हमारे माल की माग पर्याप्त नही थी, तथा (iii) हमें इस काल में विदेशों से बडी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पडा था। द्वितीय योजनावधि में भारत के कुल आयात 5402 6 करोड रु० तथा कुल निर्यात 3063 6 करोड रु० के हुए थे, अर्थात् औसतन 1050 करोड रु० के आयात तथा 613 करोड रु० के निर्यात प्रतिवर्ष हुए। दूसरी पचवर्षीय योजना में भारत का व्यापार म तुलन पहली योजना की तुलना में और भी अधिक प्रतिकूल हो गया। इस योजनावधि के पाच वर्षों में व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता औसतन 467 करोड रु० रही।

द्वितीय योजना काल में आयात, एव निर्यात व्यापार शष की स्थिति निम्न प्रकार रही

द्वितीय योजना काल में आयात, निर्यात व्यापार शेष (करोड रु० में)

वष	आयात	निर्यात	व्यापार शष
1956–57	1102 1	635 2	– 466 9
1957–58	1233 2	594 2	– 639 0
1958–59	1029 3	576 3	– 453 0
1959–60	932 3	627 4	– 304 9
1960–61	1105 7	630 5	– 475 2
	5402 6	3063 6	– 2338 1
वार्षिक औसत	1080 0	613	– 462

तृतीय योजनाकाल में भारत का विदेशी व्यापार

तृतीय योजनाकाल में तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों में निर्यात में मामूली वृद्धि हुई। 1963–64 व 1964–65 में निर्यात और भी बढे, लेकिन योजना के अन्तिम वर्ष में निर्यात में पूर्व वर्ष की अपेक्षा कमी हुई। 6 जून, 1966 को निर्यात बढाने की दृष्टि से ही भारतीय रुपये का 36 5 प्रतिशत से अवमूल्यन किया गया। योजनाकाल की सम्पूर्ण अवधि में व्यापार शष देश के प्रतिकूल रहा और यह प्रतिकूलता योजना के अन्तिम वर्ष में सर्वाधिक थी। योजनाकाल में आयात, निर्यात व व्यापार शष सम्बन्धी आकड निम्न तालिका में दिए गए है

तृतीय योजना मे आयात, निर्यात एव व्यापार शेष (करोड रु० मे)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार-शेष
1961–62	1041	1720	– 679
1962–63	1080	1783	– 703
1963–64	1250	1927	– 677
1964–65	1286	2126	– 840
1965–66	1269	2218	– 949
	5926	9774	– 3848
वार्षिक औसत	1185 2	1955	– 769 6

वार्षिक योजनाओं मे विदेशी व्यापारतृतीय योजना के बाद 1966–67, 1967–68 एव 1968–69 के तीन वर्षों में एक-एक वर्ष की वार्षिक योजनाए लागू की गई। इन योजनाओ के दौरान आयात, निर्यात व व्यापार शेष की स्थिति निम्न प्रकार की थी

वार्षिक योजना मे विदेशी व्यापार[1] (करोड रु० मे)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार-शेष
1966–67	1157	2078	– 921
1967–68	1199	2008	– 809
1968–69	1358	1909	– 551

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम वार्षिक योजना के प्रथम वर्ष मे जहा व्यापार सतुलन 921 करोड रु० था, वहा अन्तिम वार्षिक योजना मे घट कर 551 करोड रु० रह गया।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना में विदेशी व्यापार चतुर्थ योजना के अन्त तक भारतीय निर्यात 1900 करोड रु० तक पहुचाने का लक्ष्य है तथा आयात 2030 करोड रु० तक पहुच जायेंगे। योजनावधि मे 7 प्रतिशत वार्षिक मिश्रित दर से निर्यातो के बढाए जाने की सम्भावना है।[2] इस योजनाकाल मे निर्यात सम्बन्धी लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जो कदम उठाए जायेंगे वे है (i) देश के निर्यातित वस्तुओं के उत्पादन आधार का विस्तार, (ii) जब तक यथष्ठ आन्तरिक उत्पादन न हो,

1 Commerce 19 Aug 72

2 Ibid

तब तक खपत पर अस्थायी नियन्त्रण लगाना; (iii) किस्म-नियन्त्रण को कड़ाई से लागू करना; (iv) उत्पादन लागत में कमी करना; (v) उत्पादन प्रणाली में सुधार करके विदेशी माल की आवश्यकता को कम करना; तथा (vi) निर्यात के लिए नए-नए बाजारों की खोज करना तथा पुराने बाजार में स्थिति को सुधारना।

चतुर्थ योजना में विदेशी व्यापार[1] (करोड़ रु० में)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार शेष
1969–70	1413.21	1582.67	–169 46
1970–71	1535 16	1625.17	–90.01
1971–72	1567.00	1853 00	–286.0

योजनावधि में भारत के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताएं

यदि हम सम्पूर्ण योजनावधि की विदेशी व्यापार सम्बन्धी गतिविधियों का अवलोकन करें, तो हमें अपने विदेशी व्यापार की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएं दिखाई पड़ेंगी :

1 कुल व्यापार की मात्रा में वृद्धि : हमारे देश के विदेशी व्यापार में निरन्तर वृद्धि होती रही है। एक ओर हम निर्यात बढ़ाने का प्रयत्न करते रहे हैं, जिससे निर्यातों में वृद्धि हुई है और दूसरी ओर, आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिये उठाये गये कदमों के फलस्वरूप आयातों में भी स्वभावतः वृद्धि हुई है। इस प्रकार कुल आयात एवं निर्यात में बढ़ोतरी होती रही है। सन् 1951–52 में हमारे आयात व निर्यात क्रमशः 662 9 व 730·1 करोड़ रु० के थे, जो सन् 1971–72 में बढ़ कर क्रमशः 1853 00 व 1567 00 करोड़ रु० के हो गए।

चतुर्थ योजना के प्रथम दो वर्षों में विदेशी व्यापार की स्थिति अपेक्षाकृत ठीक रही किन्तु तीसरे वर्ष स्थिति पुन. बिगड़ गई, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :

2 व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता : 1950–51 में भारत का व्यापार सन्तुलन देश के प्रतिकूल था। यह प्रतिकूलता न केवल आज भी बनी हुई है, अपितु वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। सन् 1950–51 में भारतीय विदेशी व्यापार की प्रतिकूलता 232 8 करोड़ रु० थी, यह बढ़कर 1971–72 में 286.00 करोड़ रु० तक

---

1 Ibid

पहुँच गई। यदि हम व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता को ऐतिहासिक क्रम मे देखें तो हमे पता चलेगा कि इसमे काफी उतार-चढ़ाव रहे हैं। कभी व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता बहुत अधिक थी, तो किन्ही वर्षों में इसमे कमी भी रही है, लेकिन इस सम्पूर्ण अवधि में प्रतिकूलता निरन्तर बनी रही है।

3 कच्चे माल तथा पूँजीगत माल के आयात में वृद्धि सम्पूर्ण योजनावधि मे आयातो मे जो वृद्धि हुई है, उसम कच्चे माल व पूँजीगत सामान की प्रधानता रही है। खाद्यान्नो को छोड कर अन्य उपभोग पदार्थो के आयातों में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। कच्चे माल तथा पूँजीगत सामान के आयात मे वृद्धि होने का प्रमुख कारण यह था कि देश के औद्योगीकरण की गति को तीव्र करने के लिए इन दोनो ही वस्तुओ की आवश्यकता थी।

4 भारत के आयात मुख्यत अमेरिका से तथा निर्यात मुख्यत इगलैण्ड को हुए भारत ने देश के औद्योगिक विकास के लिए, यद्यपि पूँजीगत सामान रूस, प० जर्मनी, जापान आदि देशों से भी मगाया, परन्तु मुख्यत इस प्रकार के सामान की खरीद अमेरिका से ही की गई। इस प्रकार योजनावधि मे भारत के आयात अमेरिका से बढ़े। जहा तक निर्यात का प्रश्न है, भारत ने इस अवधि मे अपने अधिकाश निर्यात इगलैण्ड को ही किये।

भारत के विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रवृत्तियां

किसी भी देश के विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रवृत्तियों को जानने के लिए हमे सामान्यत सम्बन्धित देश की निम्नांकित बातो का अवलोकन करना चाहिए—

1 व्यापार की मात्रा (Value of Trade),

2 विदेशी व्यापार की रचना (Composition of Foreign Trade), तथा

3 विदेशी व्यापार की दिशा (Direction of Foreign Trade)।

1 व्यापार की मात्रा (Value of Trade)

व्यापार की मात्रा देश के आयात व निर्यात के कुल योग द्वारा ज्ञात की जाती है। भारतवर्ष के विदेशी व्यापार के अवलोकन से ज्ञात होता है कि गत वर्षों में इसमे पर्याप्त वृद्धि हुई है, क्योकि गत वर्षो मे भारत के आयात व निर्यात दोनो मे ही बढोतरी हुई है। हम इनका अलग अलग विवेचन करेंगे

(क) आयात—भारतवर्ष मे औद्योगिक उन्नति एव आर्थिक विकास के साथ-साथ आयातो मे तेजी से वृद्धि हुई है। जैसा कि निम्न सारिणी मे दिखाया गया है।

आयात में वृद्धि

वर्ष	आयात (करोड रु० म)
1951-52	962 90
1955-56	773 10
1960 61	1105 70
1965 66	1269 00
1966 67	2078,00
1967 68	2008 00
1968-69	1909 00
1969-70	1582 67
1970 71	1625 17
1971-72	1853 00

प्रथम, द्वितीय एव तृतीय पचवर्षीय योजनावधि मे औसत प्रति वष आयात क्रमश 730, 1080 व 1955 करोड रु० का हुआ।

(ख) निर्यात भारत मे गत वर्षों मे निर्यात व्यापार मे भी वृद्धि हुई है, लेकिन यह वृद्धि आयातो की तुलना मे पिछडी रही है। प्रथम योजना में प्रतिवर्ष औसतन निर्यात 622 करोड रु० का था तथा दूसरी योजनावधि मे यह औसत 613 करोड रु० तक ही पहुच पाया। तृतीय योजना काल मे हमारे देश का वार्षिक औसत निर्यात 1185 करोड रु० का था। भारत मे नियोजनकाल मे होने वाले निर्यात सम्बन्धी प्रगति का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है

निर्यात में प्रगति

वष	निर्यात
1951–52	730 1
1955–56	640 3
1960–61	630 5
1965–66	1269
1966–67	1157
1967–68	1199
1968–69	1358
1969–70	1413 21
1970–71	1535 16
1971–72	1567 00

उपर्युक्त विवेचन से यह पता चलता है कि गत वर्षों में हमारे आयात व निर्यात दोनों ही तीव्रगति से बढ़े हैं। आयातों में होने वाली वृद्धि निर्यातों में होने वाली वृद्धि की तुलना में कहीं अधिक रही है। यही कारण है कि व्यापार सतुलन की प्रतिकूलता निरन्तर बनी हुई है।

भारत के विदेशी व्यापार की रचना (Composition of India's Foreign Trade)

किसी देश की 'व्यापार रचना' से तात्पर्य उस देश द्वारा आयात व निर्यात की जाने वाली वस्तुओं से होता है। भारत के विदेशी व्यापार की रचना का अवलोकन करने से पता चलता है कि इसमें स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद काफी परिवर्तन हुआ है।

भारत के आयात की रचना (Composition of India's Imports).

गत वर्षों में आयातों के आकार में परिवर्तन के साथ साथ आयातों में सम्मिलित होने वाली वस्तुओं के आकार में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। सन् 1951 ई० में पूजीगत वस्तुओं के आयातों का मूल्य लगभग 24 प्रतिशत था जो तृतीय योजना के अन्त तक बढ़ कर 35.1 प्रतिशत हो गया – पूजीगत वस्तुओं के आयात में होने वाली इस वृद्धि का कारण नियोजनकाल में देश की विकास योजनाओं के लिए बढ़ती हुई पूजी उपकरणों की माग की पूर्ति करना था। पूजीगत उपकरणों के आयात प्रथम, द्वितीय एव तृतीय योजना में क्रमश। 1,154,2,283 तथा 2,500 करोड़ रु० के हुए।

प्रथम योजनावधि में 1061 करोड़ रु० के कच्चे माल का आयात किया गया था जो कुल आयात का 24.4 प्रतिशत था। दूसरी योजनावधि में कच्चे माल का आयात अपेक्षाकृत कम हुआ, अर्थात् यह घट कर 919 करोड़ रु० रह गया। यह कुल आयात का 17.7 प्रतिशत था। तृतीय पचवर्षीय योजना में कच्चे माल की माग बढ़ जाने के कारण आयात में पुन इनका भाग बढ़ गया जो कुल आयात का 22 प्रतिशत था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् खाद्यान्नों के आयात में भी वृद्धि हुई। प्रथम तथा द्वितीय योजना काल में क्रमश 15.6,14.9 प्रतिशत आयात खाद्यान्नों का था। तृतीय योजनावधि में खाद्यान्नों का आयात बढ़ कर 24.5 प्रतिशत तक पहुच गया।

निम्नांकित सारिणी प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय योजनावधि में भारत द्वारा आयात की जाने वाली वस्तुओं के वार्षिक औसत आयात पर प्रकाश डालती है .

आयात का वर्गीकरण (कुल आयात के मूल्य का प्रतिशत)

मद	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना
पूंजी पदार्थ	28 8	42 2	35 1
कच्चा माल	24 4	17 7	21 2
उपभोक्ता पदार्थ	22 5	19 8	15 5
खाद्यान्न	15 6	14 9	24 5

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि नियोजन काल के प्रथम पन्द्रह वर्षों में आयातों का स्वरूप बदल कर पूंजीगत वस्तुओं व कच्चे माल के पक्ष में हो गया है तथा उपभोक्ता वस्तुओं का आयात धीरे धीरे कम होता गया है। आयातों का यह बदला हुआ स्वरूप हमारी अर्थ व्यवस्था के बढते हुए औद्योगीकरण का प्रतीक है। खाद्यान्नों का आयात हमारी खाद्य समस्या की शोचनीय स्थिति का दिग्दर्शन करती है।

भारत के प्रमुख आयात—भारत में आयात किए जाने वाले प्रमुख पदार्थ निम्नांकित है—

1 **मशीनें व परिवहन का सामान** भारतवर्ष में नियोजन के 21 वर्षों के बाद भी, मशीन बनाने वाले उद्योगों का अभी तक पूरी तरह विकास नहीं हो पाया है। देश के पुराने कारखानों को निरन्तर चालू रखने के लिए तथा नए-नए कारखानों को खोल कर औद्योगीकरण की गति को तेज करने के लिए, भारत को विगत पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान, अपनी दुर्लभ विदेशी मुद्रा का एक बहुत बड़ा भाग मशीनों के आयात पर खर्च करना पड़ा है। हमारा देश सामान्यत ब्रिटेन, अमरीका, पश्चिमी जर्मनी, सोवियत रूस, जापान एवं पूर्वी योरोप के अन्य देशों से मशीनों का आयात करता है। सन् 1969-70 ई० में भारत ने 403 करोड़ रु० की मशीनों का आयात किया था। सन् 1970 71 में 393 8 करोड़ रु० की मशीनों का आयात किया गया।

2 **खाद्यान्न** भारत कृषि प्रधान देश होने के बावजूद भी खाद्यान्नों के मामले में आत्म निर्भर नहीं है। प्रथम योजना के अन्तिम वर्षों को छोड़ कर, हमें

सदैव ही विदेशों से गेहूँ व चावल का आयात करना पडता रहा है। गेहूँ का आयात भारत मे मुख्यत अमेरिका, कनाडा व आस्ट्रेलिया से किया जाता है, जबकि चावल मुख्यत बर्मा, थाईलैण्ड तथा सयुक्त अरब गणराज्य से मगाया जाता है। सन् 1967-68 मे हमारे देश मे 518 2 करोड रु० का खाद्यान्न आयात किया गया सन् 1970-71 मे भारत ने 213 करोड रु० का खाद्यान्न आयात किया। सन् 1971-72 मे खाद्यान्नो का आयात और कम हुआ है।

3 लोहा व इस्पात भारतवर्ष मे विगत कुछ वर्षों मे लोहे व इस्पात की माँग बहुत अधिक बढ गई है, क्योंकि देश का तेजी से औद्योगीकरण हो रहा है। नियोजन के विगत वर्षो मे हमने सार्वजनिक क्षेत्र मे तीन बडे लोहे व इस्पात के कारखाने चालू किए हैं तथा निजी क्षेत्र को भी इस दिशा मे प्रगति करने के लिए आवश्यक प्रोत्साहन प्रदान किया गया है, तथापि भारतवर्ष अब तक भी लोहे व इस्पात के मामले मे स्वावलम्बी नहीं हो सका है और हमे लोहे व इस्पात का विदेशो से आयात करना पडता है। भारत मे सामान्यत इगलैंड, अमरीका तथा पश्चिमी जर्मनी से लोहे व इस्पात का आयात किया जाता है। सन् 1970 71 मे भारत ने 147 करोड रु० का इस्पात विदेशो से मगाया था।

4 पेट्रोलियम भारत की राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की एक बहुत बडी कमी यह है कि यह पेट्रोल जैसी महत्वपूर्ण वस्तु की माग का केवल 17 प्रतिशत भाग ही पैदा करती है तथा शेष 83 प्रतिशत आवश्यकताओ के लिए हमे विदेशो द्वारा की गयी पूर्ति पर निर्भर रहना पडता है। गत कुछ वर्षो मे भारत मे तेल साफ करने के लिए कई कारखाने खोले गए हैं, लेकिन क्रूड आयल (Crude Oil) का आयात आज भी करना ही पडता है। भारतवर्ष मे परिवहन के साधनो की वृद्धि के साथ-साथ पेट्रोलियम की माँग उत्तरोत्तर बढती जा रही है, अत पेट्रोलियम का उत्पादन बढाना देश के लिए आवश्यक हो गया है। भारत सामान्यत बर्मा, ईरान, ईराक तथा अमेरिका से काफी बडे पैमाने पर पेट्रोलियम का आयात करता है। सन् 1967 68 ई० मे हमारे देश मे 59 73 करोड रु० का पेट्रोलियम विदेशो से मगाया गया। सन् 1969-70 मे 138 करोड रु० के खनिज तेल (पेट्रोल व मिट्टी का तेल) का आयात किया गया।

5 कपास विभाजन के पश्चात् से भारत मे कपास की कमी भी महसूस की जाने लगी, क्योकि कपास पैदा करने वाला एक बहुत बडा क्षेत्र, बटवारे के फलस्वरूप, पाकिस्तान में चला गया। भारत मे अच्छे वस्त्रो के निर्माण के लिए, बडे रेशे वाली कपास की जरूरत है, जो देश मे पैदा नही की जाती, अत इसे अमेरिका, सयुक्त अरब गणराज्य, सूडान एव पाकिस्तान से मँगाना पडता है। भारत मे सन्

1969-70 मे 82·8 करोड़ रु० की कपास का आयात किया गया तथा 1970-71 मे 98·8 करोड रु० की कपास का आयात किया गया।

6. उर्वरक एवं रासायनिक पदार्थ : भारत मे उद्योगो, रगो एव दवाइयों के लिए विविध प्रकार के रासायनिक पदार्थों का आयात करना पड़ता है तथा खेतो को खाद देने के लिए उर्वरको का आयात किया जाता है। सामान्यतः अमरीका, रूस तथा ब्रिटेन से इनका आयात किया जाता है। 1970-71 मे लगभग 216·5 करोड़ रु० के रासायनिक पदार्थों एव उर्वरक का आयात किया गया था।

7. जूट : विभाजन के बाद भारत मे जूट की बहुत कमी महसूस की जाने लगी थी, क्योंकि जूट के प्रायः सभी कारखाने तो भारत मे आ गए थे तथा कच्चा जूट पैदा करने वाले अधिकाश क्षेत्र पाकिस्तान में रह गए थे। धीरे-धीरे भारत ने कच्चे जूट की कमी पूरी कर ली है, लेकिन अभी भी कुछ न कुछ मात्रा मे जूट का पाकिस्तान से आयात करना पड़ता है। सन् 1969-70 मे भारत ने केवल 1·1 करोड रु० का कच्चा जूट मगाया था। सन् 1970-71 मे 0 1 करोड रु० का ही कच्चा जूट विदेशो से मगाया गया।

अन्य वस्तुएं : उपर्युक्त वर्णित वस्तुओं के अतिरिक्त भारत विदेशो से तॉबा, सीसा, रागा, आदि खनिज पदार्थों का आयात करता है। इनके अलावा सोयाबीन, तेल, गेंडे की चर्बी, कच्चा राजू, दूध का पाउडर, खोपरा, लुग्दी रबड, पेपर, पेपर बोर्ड तथा कच्चे ऊन का भी आयात करते हैं।

भारत के निर्यात की रचना (*Composition of India's Exports*) :

आयातो की भाति भारत के निर्यात व्यापार मे भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् परिवर्तन हुए। भारत के निर्यात की प्रमुख वस्तुए तीन श्रेणियो मे बाटी जा सकती है, यथा (i) उपभोग वस्तुए; (ii) कच्चा माल; (iii) अन्य वस्तुए। नीचे दी हुई तालिका मे प्रत्येक श्रेणी के निर्यातो मे हुए परिवर्तनो को दर्शाया गया है :

वस्तुये	1950–51	1955–56	1960–61	1965–66
उपभोग वस्तुये	41 0%	33 0%	37 0%	42 0%
कच्चा माल	36 0%	41 0%	36 0%	36 0%
अन्य वस्तुये	23 0%	26 0%	27 0%	22 0%
योग	100·0%	100 0%	100·0%	100·0%

उपर्युक्त तालिका से हम वस्तुओं के वर्गों की निर्यात स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकते है। निर्यात की प्रमुख वस्तुओं के औसत वार्षिक निर्यात का ज्ञान हमें अग्रलिखित तालिका से प्राप्त हो सकता है—

योजना काल में औसत वार्षिक निर्यात (करोड़ रु० में)

वस्तु	प्रथम योजनावधि में	द्वितीय योजनावधि में	तृतीय योजनावधि में	1966-67 से 1970-71
चाय	106	132	120	151
निर्मित जूट	149	120	157	209
सूती कपड़ा	81	76	55	85
कच्ची खालें	32	35	35	75
धातुयें (लोहा, अभ्रक, जस्ता आदि)	30	37	50	115
				17
कपास	27	18	16	
तम्बाकू	15	16	20	30
वनस्पति तेल	27	16	10	6

तृतीय पंचवर्षीय योजना काल मे कच्चे लोहे, चीनी, लोहे व इस्पात, हाथ करघ की वस्तुओं तथा अभियांत्रिक वस्तुओं का निर्यात बढ़ गया। इसके विपरीत चाय, जूट की वस्तुओं एवं सूती कपड़े के निर्यात में पहले की तुलना में कमी हुई। सन् 1960-61 में निर्यात में इन वस्तुओं का भाग 48 प्रतिशत था जो 1965-66 में घट कर 43 प्रतिशत रह गया। इस योजना काल मे रासायनिक तथा अभियान्त्रिक क्षेत्रों में कुछ नई वस्तुओं का निर्यात प्रारम्भ किया गया। वस्तुतः भारत का निर्यात ढांचा एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था का प्रतीक है जिसका अधिकतर भाग उपभोग वस्तुओं, कच्चे मालों और कृषि पदार्थों का है। पूंजीगत वस्तुओं का भाग 1966 67 व 1970 71 के मध्य कुल निर्यात में केवल 8.6 प्रतिशत था। निर्मित वस्तुओं का भाग 37 7 प्रतिशत, कच्चे मालो का 17 3 प्रतिशत तथा खाद्य पेय व तम्बाकू का भाग 30 प्रतिशत था।

भारत के प्रमुख निर्यात भारत के निर्यात की प्रमुख वस्तुएं निम्नांकित हैं —

1 जूट का सामान जूट के सामान का भारत के निर्यात व्यापार में महत्वपूर्ण स्थान है। जूट के टाट, चटाइयां, बोरे, गलीचे, सुतली आदि बनाये जाते हैं। आजादी से पहले जूट के सामान की पूर्ति में भारत को प्राय एकाधिकार-सा प्राप्त था, लेकिन देश के विभाजन के बाद यह स्थिति नहीं रही। पाकिस्तान हमारा प्रतिस्पर्धी बन गया तथा कई आयात करने वाले देशों ने इसकी स्थानापन्न बनाना

प्रारम्भ कर दिया, फिर भी जूट के सामान को बाहर भेज कर भारत बहुत बडी मात्रा मे डालर कमाता है। भारत सामान्यत अमेरिका, इगलैड, सयुक्त अरब गणराज्य, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड आदि देशो को जूट का सामान भेजता है। सन् 1970-71 मे जूट के निर्यात से भारत ने 190 00 करोड रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित की।

2 **चाय** जूट के समान ही चाय भी भारत के परम्परागत निर्यात की वस्तु है तथा विदेशी मुद्रा अर्जित करने का एक महत्वपूर्ण पदार्थ रहा है। इगलैड भारतीय चाय का सबसे बडा निर्यातक देश है और प्राय हमारी चाय के कुल निर्यात का दो तिहाई भाग इगलैड को ही भेजा जाता है। शेष एक तिहाई भाग के खरीददार देशो मे अमेरिका, कनाडा, ईरान, सयुक्त अरब गणराज्य, सूडान, रूस तथा पश्चिमी जर्मनी आदि देश आते हैं। आजकल भारत को चीन, लका तथा इन्डोनेशिया से चाय के निर्यात मे प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड रहा है। सन् 1970-71 मे भारत ने 184 3 करोड रु० की चाय का निर्यात किया था।

3. **सूती वस्त्र** . सूती वस्त्र तथा सूत के निर्यात मे भारत का प्रमुख स्थान है। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व, भारत की उच्चकोटि की मलमल योरोप के देशो मे बहुत ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। आजादी से पूर्व अग्रेजो की स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीति के कारण भारत को इगलैड से सूती वस्त्रो का आयात करना पडता था, लेकिन अब वह बात नही रही है। इस समय भारत इगलैंड, बर्मा मलेशिया, लका, आस्ट्रेलिया, अफगानिस्तान एव मध्य पूर्व के अनेक देशो मे सूती वस्त्रो का निर्यात करता है। इस समय चीन, जापान तथा ब्रिटेन से इसे प्रतिस्पर्धा का भी सामना करना पड रहा है। अत इस उद्योग की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति को बढाने के लिए समुचित उपाय वाछनीय है। भारत ने सन् 1970 71 मे 75 3 करोड रु० के वस्त्र का निर्यात किया था।

4 **कच्चा लोहा** भारत मे कच्चे लोहे के अतुल भण्डार उपलब्ध हैं और सम्भवत विश्व के किसी भी देश मे उसका इतना अधिक भण्डार नही है। देश के निजी व सार्वजनिक क्षेत्र के सभी कारखानो की कच्चे लोहे सम्बन्धी माग को पूरा कर लेने के बाद भी हमारा देश बड पैमाने पर कच्चे लोहे के निर्यात करने की स्थिति मे है। वर्तमान समय मे भारत का कच्चा लोहा मुख्यत जापान को भेजा जाता है। सन् 1970 71 मे भारत ने 117 3 करोड रु० का कच्चा लोहा निर्यात किया था।

5 **चमडा तथा चमडे का सामान** भारत मे विश्व के सर्वाधिक पशु पाये जाते हैं, अत हमारे देश मे प्रतिवर्ष काफी चमडा निकलता है। भारतवर्ष चमडे तथा चमडे की बनी हुई अनेक वस्तुओ का निर्यात करता है। अमेरिका, जर्मनी, फ्रास,

रूस, इंगलैंड, पश्चिमी जर्मनी तथा हालैंड हमारे देश के चमड़े तथा चमड़े के सामान के प्रमुख आयात करने वाले देश हैं। सन् 1970-71 में भारत द्वारा 72 2 करोड़ रु० का चमड़ा व चमड़े का सामान विदेशों को भेजा गया था।

6 अभ्रक विश्व के कुल उत्पादन का लगभग 80 प्रतिशत अभ्रक भारत में ही उत्पन्न होता है। भारत से जो देश अभ्रक आयात करते हैं, उनमें प्रमुख देश अमेरिका, इंगलैण्ड तथा पश्चिमी जर्मनी हैं। सन् 1969–70 मे भारत ने 15 2 करोड रु० का अभ्रक विदेशों को भेजा था।

7 तम्बाकू भारत कच्चे तम्बाकू के निर्यात करने वाले देशों मे प्रमुख स्थान रखता है। गत कुछ वर्षों से रोडेशिया एवं दक्षिणी अफ्रीका हमारे साथ तीव्र प्रतिस्पर्धा करने लगे हैं। भारत मुख्यत इंगलैण्ड, जापान, स्वीडन, हालैण्ड, मलेशिया आदि देशों को तम्बाकू का निर्यात करता है। सन् 1970–71 मे भारत ने 32 6 करोड रु० की तम्बाकू का निर्यात किया था।

8 मैंगनीज मैंगनीज भी भारत मे प्रचुर मात्रा मे पाई जाती है। वर्तमान समय मे भारत अपनी उपज का तीन चौथाई भाग विदेशों को निर्यात कर देता है। भारत अपनी मैंगनीज को अमेरिका, योरोपीय देशों व जापान को बेच कर विदेशी मुद्रा अर्जित करता है। सन् 1969–70 मे भारत ने 1100 करोड का मैंगनीज विदेशों को भेजा था।

9 वनस्पति तेल भारत मे मूंगफली, अलसी, अरण्डी का तेल काफी पैदा किया जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व हमारा देश तिलहनों का निर्यात करता था, लेकिन अब तेल मिलों की संख्या मे वृद्धि हो जाने के कारण अब भारत तिलहनों की बजाय वनस्पति तेल का निर्यात करता है। भारत से सामान्यत बर्मा, ब्रिटेन, इटली, फ्रांस, बेल्जियम आदि देशों को वनस्पति तेल का निर्यात किया जाता है। सन् 1970–71 म भारत ने लगभग 10 8 करोड रु० वनस्पति तेल के निर्यात से प्राप्त किए। इसी वर्ष तेल की खली (oilcakes) का निर्यात 55 4 करोड रुपये का हुआ।

10 विविध वस्तुए उपर्युक्त वर्णित वस्तुओं के अलावा भारत कुछ अन्य महत्वपूर्ण वस्तुओं का भी निर्यात करता है। जैसे मसाले, काजू, लाख, बिजली के पखे, कपड़ा, सीने की मशीनें, साइकिलें तथा अन्य इंजीनियरिंग वस्तुए। हाल ही मे भारत चीनी का भी निर्यात करने लगा है।

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा
(Direction of India s Foreign Trade)

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत के विदेशी व्यापार मे इंगलैण्ड तथा उसके साम्राज्य के देशों का भाग सर्वाधिक रहता था और यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि

स्वतन्त्र होने के नाते भारत अपने हितो के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र व्यापार नीति नहीं अपना सकता था। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार की दिशा मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। अब ब्रिटेन तथा उसके साम्राज्य के देशों का भारत के विदेशी व्यापार मे भाग उत्तरोत्तर कम हो गया है। भारत के विदेशी व्यापार की यह प्रवृत्ति अब भी क्रियाशील है। भारत के व्यापारिक सम्बन्ध अमेरिका, जापान, रूस तथा पूर्वी योरोप के अन्य देशो के साथ अधिक मजबूत होते जा रहे हैं। भारत के विदेशी व्यापार की दिशा मे होने वाले परिवर्तनो की कुछ तथ्यो द्वारा पुष्टि की जा सकती है, उदाहरणस्वरूप सन् 1951 मे भारत अपनी समस्त आवश्यकताओ का 11 प्रतिशत इगलैण्ड म आयात करता था, लेकिन 1966–67 से 1970–71 मे यह भाग घट कर केवल 7 7 प्रतिशत ही रह गया। इसी तरह इस अवधि मे भारत के निर्यात व्यापार म इगलैण्ड का भाग 21 6 प्रतिशत से घट कर 11 1 प्रतिशत ही रह गया।

भारत के विदेशी व्यापार मे अमेरिका, पूर्वी योरोप के देशो खासकर रूस तथा नव स्वतन्त्र अफ्रीका देशो का महत्व उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व भारत के आयात म अमरिका का भाग प्राय 7 प्रतिशत के बराबर ही रहा करता था, जो 1950–51 म बढ कर 18 0 हो गया और 1966–67 से 1970–71 मे 27 4 प्रतिशत तक पहुंच गया। इसी प्रकार भारत के निर्यातो का भी एक बहुत बडा भाग अमेरिका की ओर होता है। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व भारत के निर्यात व्यापार मे अमरिका का 9 प्रतिशत भाग था, जो 1950–51 व 1966–67 व 1970–71 मे उत्तरोत्तर बढ कर क्रमश 17 8 प्रतिशत तथा 13 5 प्रतिशत हो गया। भारत के विदेशी व्यापार की बदलती दिशा का ज्ञान हमे निम्न-तालिका से मिल सकता है

भारत का अन्य देशो के साथ विदेशी व्यापार (प्रतिशत)

देश	आयात			निर्यात		
	1950–51	1960–61	1966-67 से 1970–71	1950–51	1960–61	1966-67 से 1970–71
अमरीका	18	29 6	27 4	17 8	16 3	13 5
इगलैण्ड	11	19 6	7 7	21 6	27 2	11 1
प जर्मनी	2	11 0	6 5	1 7	3 1	2 1
सोवियत सघ	0 0	1 4	6 4	0 2	4 6	13 6
जापान	1·5	5 5	5 1	1 6	5 6	13 2
आस्ट्रेलिया	5	1 6	2 2	4 7	3 5	1 6

तालिका से स्पष्ट है कि भारत के विदेशी व्यापार मे एक ओर इगलैण्ड, आस्ट्रेलिया के हिस्से मे कमी होती जा रही है, जबकि अमरीका, रूस तथा जापान का भाग बढता जा रहा है। हाल ही मे रूस के साथ हुई सधि के परिणामस्वरूप रूस के साथ हमारे व्यापार के बढने की ओर भी अधिक सम्भावनाए है।

भारत के विदेशी व्यापार की विशेषताएँ

(Chief Characteristics of India's Foreign Trade)

भारत के विदेशी व्यापार के विस्तत विवेचन से हमे इसकी कुछ विशेषताओ का ज्ञान होता है, जो सक्षेप मे निम्नाकित है –

1 भारत के आयात व निर्यात निरन्तर बढते जा रहे है जिसके फलस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा मे गत वर्षो मे पर्याप्त वृद्धि हुई है।

2 यद्यपि भारत के आयात एव निर्यात दोनो बढ हैं, तथापि आयातो मे निर्यातों की तुलना मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई है।

3 भारत का व्यापार सतुलन स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से और विशेषकर नियोजित अर्थ-व्यवस्था के प्रारम्भ होने से प्रतिकूल चल रहा है। अब भी व्यापार सतुलन की प्रतिकूलता भारतीय अर्थ-व्यवस्था का सिरदर्द बनी हुई है।

4 गत वर्षों मे भारत के आयात मे पूजीगत वस्तुओ एव कच्चे माल का महत्व बढ रहा है तथा निर्यात मे माल का महत्व बढता जा रहा है।

5 भारत के पडोसी देशो स व्यापार विकसित न होने के कारण, भारत का अधिकाश व्यापार अर्थात् 68 प्रतिशत व्यापार, समुद्री मार्ग से होता है।

6 भारत का विदेशी व्यापार मुख्यत बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास के बन्दरगाहो से ही होता है, अत इन बन्दरगाहो पर व्यापार का काफी दबाव रहता है।

7 भारत के विदेशी व्यापार का काम आज भी विदेशी फर्मों, जहाजी कम्पनियो, विनिमय बैंको व बीमा कम्पनियो द्वारा किया जाता है, फलस्वरूप विदेशी व्यापार का अधिकाश लाभ इन्ही को प्राप्त हो रहा है।

8. भारत के विदेशी व्यापार की दिशा मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। ब्रिटेन का महत्व हमारे विदेशी व्यापार से धीरे धीरे घटता जा रहा है तथा अमरीका रूस, पूर्वी योरोप एव जापान का महत्व बढता जा रहा है।

9. भारत का प्रति व्यक्ति विदेशी व्यापार अब भी बहुत कम है। यदि हम विश्व के अन्य विकसित देशो से इसकी तुलना करे तो प्रति व्यक्ति विदेशी व्यापार का मूल्य बहुत ही कम है।

10 भारत सरकार द्वारा निर्यात सम्वर्द्धन की दिशा में किये गये प्रयत्नों को कुछ सफलता प्राप्त हुई है तथा कुछ नई वस्तुओं का निर्यात बढ़ाया जा रहा है।

11 भारत के प्रमुख आयात में मशीनों, खाद्यान्नों, कपास, पेट्रोल आदि का प्रमुख स्थान है तथा निर्यात में चाय, सूती वस्त्र एवं जूट के सामान प्रमुख है।

12 विदेशी व्यापार में द्विपक्षीय समझौतों (Bilateral Trade Agreement) का महत्व बढ़ रहा है। सुलभ मुद्रा (Soft Currency) क्षेत्रों से आवश्यक सामान प्राप्त करने तथा भारतीय माल के निर्यात को बढ़ाने के लिये इस प्रकार के समझौते किए जा रहे हैं।

13 राजकीय व्यापार (State trading) की महत्ता हमारे विदेशी व्यापार में बढ़ रही है। राजकीय व्यापार निगम साम्यवादी देशों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

14 वर्तमान समय में निर्यात की वस्तुओं जूट, मैंगनीज, काजू, सूती वस्त्र, खनिज पदार्थ में वृद्धि हुई है, लेकिन चाय, चीनी, आदि वस्तुओं का कम निर्यात हुआ है। खाद्य पदार्थों, कपास, इस्पात व लोहा, मशीनों तथा रासायनिक खाद के आयात में वृद्धि हुई है।

भारत सरकार की व्यापार नीति

किसी भी देश का विदेशी व्यापार, सम्बन्धित देश की अर्थ व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव डालता है। सुनियोजित आयात एवं निर्यात व्यापार सतुलन को पक्ष में लाकर देश को प्रचुर धनराशि प्रदान करते हैं, जिन पर देश के औद्योगिक विकास की दृढ़ नींव रखी जा सकती है। व्यापार नीति के दो पहलू होते हैं, आयात एवं निर्यात नीति। अगले अनुच्छेदों में हम भारत की आयात व निर्यात नीति की आलोचनात्मक विवेचना करेंगे।

1. **भारत सरकार की आयात नीति** स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत सरकार की व्यापार नीति का प्रमुख आधार, देश हित के साथ साथ इंगलैण्ड के हितों की रक्षा करना था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस नीति में परिवर्तन किया गया, जो स्वाभाविक था। सन् 1948 ई० में वाणिज्य मंत्री की अध्यक्षता में एक आयात सलाहकार परिषद का गठन किया गया था। यह परिषद आयातकर्त्ताओं को आयात के लिए अनुज्ञापन (लाइसेन्स) प्रदान करती है। आयात की समस्त वस्तुओं को तीन भागों में रखा गया है – (i) ऐसी वस्तुएं जिनके लिए लाइसेन्स नहीं दिये जा सकते, (ii) ऐसी वस्तुएं जिनके आयात के लिए केवल सीमित अंश तक ही लाइसेन्स दिये जाते हैं, तथा (iii) ऐसी वस्तुएं जो खुले सामान्य लाइसेन्स के अन्तर्गत

आती हैं। यह परिषद् आयात के लिए, कच्चे माल, मशीन तथा स्टर्लिंग क्षेत्र की वस्तुओं को प्राथमिकता देती है।

सन् 1950 ई० में, भारत सरकार ने एक 'आयात नियन्त्रण जाँच समिति' बनाई, जिसने आयात नियन्त्रण नीति के तीन उद्देश्यों पर बल दिया। ये उद्देश्य थे: (i) आयात, अर्जित विदेशी विनिमय तक सीमित हो, (ii) उपलब्ध विदेशी विनिमय का इस प्रकार उपयोग किया जाय कि एक ओर तो उपभोक्ताओं को अधिकतम सन्तोष प्राप्त हो तथा दूसरी ओर नियोजित विकास की उन्नति हो, तथा (iii) जहाँ तक सम्भव हो कीमतों में होने वाले उतार-चढ़ाव रोके जाएं।

इस समिति ने आयात सम्बन्धी कुछ सिफारिशें भी की थी जिनमें से प्रमुख ये हैं, (i) लाइसेन्स केवल वास्तविक उपभोक्ताओं स्थापित आयातकर्त्ता फर्मों तथा समुचित नए व्यापारियों को दिये जायें, (ii) लाइसेन्स प्रदान करने की नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि अन्ततोगत्वा उसमें सभी वस्तुयें आ जाएं, (iii) समिति ने जो प्राथमिकता क्रम सुझाया था वह इस प्रकार है (क) आवश्यक कच्चा माल (ख) मशीनों के पुर्जे (ग) कृषि से सम्बन्धित यन्त्र (घ) वर्तमान चालू उद्योगों के लिये मशीनरी, (ङ) आवश्यक उपभोक्ता सामान (च) वर्तमान उद्योगों के लिए आवश्यक मशीनरी (छ) नये उद्योगों के लिए आवश्यक मशीनरी, तथा (ज) अन्य आवश्यक सामान (iv) खुले सामान्य लाइसेन्स (Open General Licences) की सूची का विस्तार उस समय तक न किया जाय जब तक कि इसे दीर्घकाल तक बनाये रखना सम्भव न हो, (v) व्यापार नियन्त्रण सम्बन्धी प्रशासनिक कुशलता में वृद्धि की जाए। भारत सरकार ने उपर्युक्त सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली थी। केवल प्राथमिकता क्रम में परिवर्तन किया गया। नवीन प्राथमिकता क्रम इस प्रकार रखा गया . (क) आवश्यक कच्चा माल, (ख) पुरानी मशीनों के पुर्जे एवं भाग, (ग) जनकोपयोगी एवं स्वास्थ्य के लिए आवश्यक वस्तुयें, (घ) अन्य कच्चा माल तथा मशीनरी, (ङ) अन्य आवश्यक सामान, तथा (च) अनावश्यक सामान।

इस समय भारत सरकार की आयात नीति के अन्तर्गत देश के औद्योगिक विकास के लिये मशीनों, यन्त्रों एवं आवश्यक माल सामान के आयात को बढ़ाया जा रहा है। कच्चे माल के आयात में भी वृद्धि की जा रही है। अपेक्षाकृत कम महत्त्व की वस्तुओं का आयात कम किया जा रहा है। उपभोग की वस्तुओं के आयात को ऊंचे सीमा करों द्वारा हतोत्साहित किया जा रहा है। सरकार आयात के लिये लाइसेन्स देती है, परन्तु कुछ आयात वस्तुओं के कोटे निर्धारित कर दिये गये हैं। विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाई को दूर करने के लिये सरकार ने विदेशी सरकारों

से प्रायिक सहायता की है। 6 जून, 1966 को सरकार द्वारा रुपये के अवमूल्यन किये जाने के परिणामस्वरूप आयात नीति में भी परिवर्तन किया गया और इसे उदार बनाया गया। इस उदार नीति के अन्तर्गत देश के 59 प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों को कच्चे माल, मशीनों एवं उनके पुर्जों के आयात के लिये विशेष लाइसेन्स दिये गये। यह आशा की गई थी कि इससे देश का आन्तरिक उत्पादन बढ़ेगा तथा आयातों पर दबाव कम होगा। 1967-68 में सरकार द्वारा घोषित आयात नीति की मुख्य उद्देश्य उत्पादन एवं निर्यात में वृद्धि करना था।

जून 1972 में भारत सरकार के विदेश व्यापार मंत्री ने संसद में 1972–73 जिस आयात नीति की घोषणा की उसकी प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं

(i) नई नीति का लक्ष्य आत्म निर्भरता तथा निर्यात में वृद्धि करना है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आयात नीति के अन्तर्गत 160 वस्तुओं के आयात पर पूर्ण तथा 87 वस्तुओं के आयात पर आंशिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। (ii) नई आयात नीति के अन्तर्गत 96 नई वस्तुओं का आयात सरकारी संस्थाओं के माध्यम से किया जायेगा (iii) प्राथमिकता प्राप्त लघु उद्योग अपनी उत्पादन क्षमता के आधार पर ही आयात कर सकेंगे (iv) विदेशों से लौटने वाले भारतीयों को उद्योग खोलने पर 5 लाख रु० की मशीनें व 2 लाख रु० तक का कच्चा माल आयात करने की सुविधा मिलेगी, (v) निर्यात संस्थानों की अनुदान की सुविधाएं बढ़ाई जायेंगी, (vi) नई वस्तुओं के निर्यात करने वाले निर्यात संस्थानों को अधिक कच्चा माल आयात करने की छूट दी जायेगी, (vii) नई नीति के अनुसार कुछ बन्द पड़े इंजीनियरी उद्योगों और संस्थानों को खोलने के लिए विशेष सहायता दी जायेगी, (viii) ऐसे इस्पात आयात करने वालों को विदेशी मुद्रा की सुविधा दी जायेगी, जो अपने उत्पादन का निर्यात करते हैं, (ix) लाइसेंस के लिए दिए गए आवेदन पत्रों को तेजी से निबटाने के लिए आवश्यक व्यवस्था की गई है आदि।

भारत सरकार द्वारा अपनाई गई आयात नीति की विद्वानों द्वारा समय समय पर जो आलोचना की गई वह है निम्नलिखित है

(क) अनिश्चितता सरकार की आयात नीति में इतनी जल्दी जल्दी परिवर्तन किये जाते हैं कि देश में व्यापारिक अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो गया है।

(ख) सरकार की आयात नीति का आधार विदेशी विनिमय की उपलब्धता है, जबकि इसका आधार देश की व आर्थिक औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति होना चाहिये था।

(ग) सरकार द्वारा जारी की गई लाइसेन्स व कोटा प्रणाली इतनी जटिल एवं अवैज्ञानिक है कि इससे भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिल सकता है।

2 भारत की सरकार निर्यात नीति : भारत सरकार की निर्यात नीति का आधार निर्यात नियन्त्रण न होकर निर्यात-प्रोत्साहन है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही सरकार निर्यात बढ़ा कर भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करती चली आ रही है, लेकिन कई कारणों से सरकार अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हो पाई है। यही कारण है कि भुगतान सम्बन्धी समस्या का समुचित निराकरण नहीं किया जा सका है। गत कुछ वर्षों में तो भारत के निर्यात प्राय स्थिर रहे हैं। सरकार द्वारा निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिये विगत वर्षों में जो निर्यात नीति अपनाई गई है तथा जो कदम उठाये गये हैं, उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है

(i) सरकार ने विभिन्न वस्तुओं के निर्यात बढ़ाने के लिये **निर्यात प्रोत्साहन परिषदें** (Export Promotion Councils) बनाई हैं, जो निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से सरकार को समय-समय पर सुझाव देती हैं। इन परिषदों के कार्यों के फलस्वरूप रेशम, रेयन, तम्बाकू, मसाले, खल व इन्जीनियरिंग के सामान आदि के निर्यात को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

(ii) सरकार ने निर्यातकर्ताओं की जोखिम को कम करने के लिए **जोखिम बीमा निगम** (Export Risk Insurance Corporation) की स्थापना की है।

(iii) भारतीय माल के बारे में विदेशियों को आवश्यक जानकारी प्राप्त होती रहे, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सरकार ने समय-समय पर विदेशों में व्यापारिक मेलों तथा प्रदर्शनियों का आयोजन किया है।

(iv) निर्यात प्रोत्साहित हो सके इसलिये निर्यात होने वाली अधिकांश वस्तुओं पर से निर्यात कर समाप्त कर दिये गये हैं।

(v) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को यातायात सम्बन्धी सुविधाओं में प्राथमिकता दी जाती रही है।

(vi) भारत सरकार ने **'राज्य व्यापार निगम'** (State Trading Corporation) की स्थापना की है, जो सोवियत रूस तथा पूर्वी योरोप के अन्य साम्यवादी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील है। कुछ वस्तुओं के निर्यात बढ़ाने में इस निगम ने बड़ा सराहनीय कार्य किया है।

(vii) निर्यात बढ़ाने के ही उद्देश्य से सरकार ने निर्यात वस्तुओं के उत्पादन करों में छूट दे दी है तथा निर्यात वस्तुओं के निर्माण में प्रयोग होने वाली वस्तुओं पर दिये गये तट कर या उत्पादन कर को वापस कर देने की नीति अपना रही है, ताकि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की उत्पादन लागत घटाई जा सके।

(viii) रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एवं वित्त निगम, निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए निर्यात करने वालों को अल्प एवं मध्यम-कालीन साख सुविधायें भी देते है।

(ix) सरकार ने निर्यात व्यापार की वृद्धि के लिये सुझाव देने तथा सम्बन्धित समस्याओं पर सरकार को उचित परामर्श देने के लिये समय-समय पर कई जाच समितिया नियुक्त की, जिनके सुझाव निर्यात-सम्वर्द्धन मे बड़े सहायक हुये हैं। इन समितियों मे 'गोरवाला समिति' 1949, 'डी सुजा समिति' 1957 तथा 'मुदालियर समिति' 1961 के नाम उल्लेखनीय है।

(x) निर्यात सम्वर्द्धन के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिये, सरकार ने कुछ अन्य संस्थागत सगठन बनाये है जिनके कार्यों का विवरण इस प्रकार है : (क) व्यापार मण्डल 1962 इसका कार्य व्यापार के सभी पहलुओं पर विचार करके उनके सम्बन्ध मे सरकार को सलाह देना है। (ख) निर्यात सम्वर्द्धन निदेशालय 1957 : इसका प्रमुख कार्य निर्यातकर्त्ताओं को आवश्यक सूचनायें तथा सहायता देना है। (ग) क्षेत्रीय निर्यात सम्वर्द्धन सलाहकार समितियां : इन समितियों का प्रमुख कार्य अपने क्षेत्र के निर्यात से सम्बन्धित समस्याओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित कराना है। (घ) निर्यात सम्वर्द्धन परिषदें भारत मे इस समय 15 परिषदें है तथा ये विविध वस्तुओं के निर्यात सम्वर्द्धन सम्बन्धी कार्य कर रही है। (ङ) वस्तु-मण्डल . ये वस्तु-मण्डल भी निर्यात-सम्वर्द्धन परिषदों की भांति ही निर्यात बढाने के कार्य मे लगे हुये हैं। (च) निर्यात साख गारन्टी निगम 1957 : यह निगम निर्यातकों को उन जोखिमो के लिये बीमा सुविधायें दिलाता है, जो साधारण बीमा कम्पनियों द्वारा प्रदान नही की जाती है। (छ) खनिज व धातु व्यापार निगम 1963 यह राज्य व्यापार निगम से भिन्न है तथा इसका प्रमुख कार्य खनिज व धातुओं का आयात व निर्यात करना है। इस निगम ने कुछ महत्वपूर्ण धातुओं के निर्यात मे बड़ा सराहनीय कार्य किया है। (ज) निर्यात निरीक्षण परिषद् 1963 यह परिषद् किस्म नियन्त्रण का कार्य करती है, ताकि निर्यात किये जाने वाला सामान घटिया न हो।

(xi) निर्यात सम्वर्द्धन सम्बन्धी सुविधाओं के विस्तार के लिये सरकार ने कुछ अन्य कदम भी उठाए हैं, (क) निर्यात सदन—निर्यात व्यापार मे विशिष्टीकरण का विकास करने तथा निर्यातों के उच्च स्तर को बनाये रखने के लिये, सरकार ने एक योजना बनाई है जिसके अन्तर्गत प्रसिद्ध व्यावसायिक फर्मों को निर्यात सदनो के रूप मे मान्यता दी जायेगी तथा इन्हे निर्यात सम्बन्धी कतिपय सुविधायें दी जायेंगी। (ख) विपणन विकास निधि 1963—भारत से निर्यात पदार्थों एवं निर्यातकर्त्ताओं व उत्पादकों के लिये विदेशी बाजारों के विकास की योजनाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने लिये इसका गठन किया गया है। (ग) निर्यात अधिनियम 1963—

इसके अन्तर्गत बाहर भेजे जाने वाले माल पर अनिवार्य किस्म-नियन्त्रण तथा जहाज पर माल लादने से पूर्व निरीक्षण व्यवस्था अनिवार्य कर दी गई है।

(xii) 6 जून 1966 को सरकार ने निर्यात बढ़ाने के लिए रुपए का अवमूल्यन कर दिया, ताकि भारतीय वस्तुये विदेशी बाजारो मे सस्ती होकर अधिक बिक सकें।

उपर्युक्त प्रयत्नो के बावजूद भी हमारे निर्यात अभी तक यथास्थिर बने हुये हैं और इनमे कोई विशेष वृद्धि नही हुई है। 1967–68 मे सरकार ने कई निर्यात वस्तुओ पर लगने वाले करो मे कमी कर दी, जैसे चाय तथा जूट के सामान पर निर्यात कर घटा दिये गये तथा चमड़े पर निर्यात कर पूर्णतः समाप्त कर दिया गया। यही नही, कुछ चुनी हुई गैर परम्परागत वस्तुओ पर दिये जाने वाले नकद अनुदान की मात्रा बढ़ायी गई।

जुलाई 1970 मे भारतीय संसद मे प्रस्तुत निर्यात नीति प्रस्ताव मे बुद्धिमान दर से निर्यात अर्जन के लिए निर्यात मूलक उत्पादन से बढ़ाने पर जोर दिया गया है। उत्पादन मे विकास के साथ साथ आर्थिक कुशलता मे वृद्धि उत्पादन का बहु मुखीकरण तथा कुशल एव अकुशल जनशक्ति का अधिक उत्तम उपयोग करने पर बल दिया गया है। कृषि तथा विभिन्न उद्योगो मे उत्पादन वृद्धि के प्रयत्नो के साथ-साथ निर्यात करने वाले उद्योगो की सहायता के लिए विदेशी पूंजी विनियोग औद्योगिक क्षमता उत्पन्न या विकसित करने के लिए लाइसेन्स तथा मशीनरी व कच्चे माल के आयात के लिए लाइसेंसिंग प्रक्रिया मे उपयुक्त सुधार की भी व्यवस्था करने का प्रस्ताव है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सरकार ने समय-समय पर निर्यात वृद्धि के लिये आवश्यक कदम उठाये हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यद्यपि विभिन्न प्रकार के मण्डलों एव परिषदो की भी स्थापना की गई है, फिर भी इस दिशा मे और अधिक प्रयत्नो की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही हमारा देश भुगतान असन्तुलन की स्थिति से छुटकारा पा सकेगा। इस विषय मे निम्नांकित सुझाव महत्वपूर्ण हैं :— (i) निर्यात करने वाले व्यापारियो को और अधिक सुविधायें दी जायें, (ii) निर्यात वस्तुओ की उत्पादन लागत घटाई जाये, (iii) कृषि उद्योग एव खनिज पदार्थो का उत्पादन बढ़ाया जाये, (iv) सरकार, उद्योगपतियों एव व्यापारियों द्वारा संगठित एव सुनियोजित ढग से निर्यात बढ़ाने का प्रयास किया जावे, (v) भारतीय व्यापारियो एव उत्पादको को निर्यात की जाने वाली वस्तुओ के मूल्य को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धी स्तरो पर बनाय रखने के प्रयास किये जाय (vi) नये-नये विदेशी बाजारो की खोज की जाये तथा इनमे यथोचित प्रचार किया जाये, (vii) विदेशो मे औद्योगिक प्रदर्शनियां एव व्यापारिक मेले लगाये जाये, (viii) माल भेजते समय व्यापारियो द्वारा ईमानदारी बरती जावे; (ix) निर्यात की जाने वाली वस्तुओ की किस्म को सुधारा जाय, (x)

यदि निर्यातकर्त्ता राष्ट्रीय हितो की अवहेलना करें तो विदेशी व्यापार का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये; तथा (xi) निर्यात सम्बन्धी वस्तुओ की घरेलू खपत पर यथोचित नियन्त्रण रखा जाये।

प्रश्न

1 भारतवर्ष के प्रमुख आयातों व निर्यातो का वर्णन कीजिये तथा गत कुछ वर्षो मे इन्हें बढाने की दिशा मे सरकार द्वारा उठाये गये कदमो की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

2 भारत के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताओ का विवेचन कीजिये।

3 स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत का व्यापार सतुलन सदैव ही प्रतिकूल रहा है आकडो द्वारा इस कथन की पुष्टि कीजिये। व्यापार सतुलन की प्रतिकूलता को सुधारने के लिए आवश्यक सुझाव भी दीजिए।

4 भारत के विदेशी व्यापार की रचना, मात्रा व दिशा का सक्षेप म विवेचन कीजिए।

5 भारत मे गत वर्षो मे निर्यात सम्वर्द्धन की दिशा मे सरकार द्वारा क्या-क्या प्रयत्न किय गये है तथा इन प्रयत्नो को कहा तक सफलता उपलब्ध हुई है ?

6 भारत के विदेशी व्यापार के स्वरूप की सक्षप मे विवेचना कीजिए। पिछले वर्षों मे सरकारने निर्यात को वढाने के लिए क्या-क्या उपाय किए है ? उनकी चर्चा कीजिए। (Raj B A Hons, 1967)

7 हमारे आज के आयात और निर्यात की मुख्य वस्तुओ का वर्णन कीजिए। क्या हमे औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से विदेशी व्यापार के स्वरूप मे कोई परिवर्तन लाने की आवश्यकता है ? प्रकाश डालें। (Raj T.D C. Final Year 1967)

30

विदेशी सहायता

(Foreign Aid)

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात विश्व में विदेशी सहायता की आवश्यकता बहुत ही तीव्र गति से समझी जाने लगी। हालांकि जिस समय द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ, अमेरिका द्वारा जापान तथा जर्मनी को बहुत अधिक मात्रा में मार्शल योजना के अन्तर्गत विदेशी सहायता दी गई, लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिये कि एक समय ऐसा भी आया था, जब कि अमेरिका ने भी अपने आर्थिक विकास के लिए इंगलैंड तथा अन्य यूरोपीय राष्ट्रों से आर्थिक सहायता प्राप्त की थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस समय विश्व के जितने भी समृद्धिशाली राष्ट्र हैं, उन्होंने अपने आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में विदेशी सहायता का आश्रय लिया था।

विश्व की कुल जनसंख्या का 2/3 प्रतिशत भाग गरीबी की जंजीरों में फंसा हुआ है और वह एक अच्छी जिन्दगी के लिए तरस रहा है। अल्प-विकसित एवं अविकसित राष्ट्रों में यह गरीबी, उस देश की कम उत्पादकता (Low level of productivity) तथा कम उत्पादन स्तर (low level of production) का परिणाम है। किसी भी देश का आर्थिक विकास उस देश के वित्तीय आन्तरिक साधनों से प्रभावित होता है। इन राष्ट्रों में आन्तरिक साधनों का सर्वथा से ही अभाव पाया गया है तथा इन्होंने विदेशी सहायता की ओर अपने हाथ फैलाये हैं।

विश्व के विकसित राष्ट्रों की विकास-दर ने इन अल्प-विकसित राष्ट्रों को बहुत पीछे छोड़ दिया है। आज विश्व में तकनीकी तथा औद्योगिक क्रान्ति ने एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ावा दिया है। इसी सदर्भ में पियरसन कमीशन (Pearson Commission) ने अपनी रिपोर्ट में जो विश्व बैंक को 1969 में पेश की थी, यह बतलाया कि "अल्प-विकसित राष्ट्रों में विदेशी सहायता द्वारा विकास किए जाने से यह नहीं समझना चाहिए कि वो कोई एक विशेष विचारधारा को ही अपनायेंगे तथा इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि उस देश में राजनैतिक स्थिरता

भी रहेगी। यह भी आवश्यक नहीं है कि ये राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए शान्तिप्रिय तथा उत्तरदायित्व भावना को अपनाए।" इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि विदेशी सहायता का प्राप्त हो जाना इस बात का प्रतीक नहीं है, कि वह राष्ट्र आर्थिक समृद्धि की ओर अग्रसर होगा।

विदेशी सहायता की आवश्यकता

(i) अल्प विकसित राष्ट्रों मे सर्वथा से ही पूँजी का अभाव पाया जाता है, जो कि आर्थिक विकास के मार्ग मे बहुत बड़ी बाधा है। इन राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति आय भी बहुत कम है, जिसके कारण आन्तरिक बचतो को प्रोत्साहन नही मिलता। आन्तरिक साधनो के अभाव मे इन राष्ट्रो मे पूँजी निर्माण (Capital Formation) की भी बहुत नीची दर पायी जाती है।

(ii) आज के बढते हुए वैज्ञानिक युग मे देश मे उद्योगो की स्थापना को भी एक विशेष महत्व दिया गया है। उद्योगो की स्थापना के लिए पूँजी की आवश्यकता बहुत ही अधिक मात्रा मे पडती है तथा पूँजी के अभाव मे इन अल्प विकसित राष्ट्रो को विदेशी सहायता प्राप्त करने के लिए मजबूर होना पड़ता है।

(iii) विकसित तथा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो के बीच आर्थिक असमानता की खाई को कम करने के लिए भी विदेशी सहायता की आवश्यकता दिनो-दिन बढ़ती जा रही है।

भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही देश मे आर्थिक विकास का भार बढ गया। योजना निर्धारित करने वाले अर्थ शास्त्रियो तथा राजनीतिज्ञो ने राष्ट्र के पुनः निर्माण तथा विकास की आवश्यकता को समझा तथा जिसके बिना देश की आर्थिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। स्वतन्त्रता के बाद से ही राष्ट्रीय सरकार ने भारत को एक कल्याणकारी राज्य बनाने की घोषणा की तथा पचवर्षीय योजनाओ की शुरुआत भी इसी उद्देश्य को लेकर की गई। यही कारण है कि भारत की पहली पचवर्षीय योजना मे देश के आन्तरिक साधनो का विदेशी सहायता के साथ समन्वय स्थापित किया गया और भारत को पिछले 20 वर्षों मे बहुत ही मात्रा मे विदेशी सहायता प्राप्त हुई है।

पचवर्षीय योजनाओं मे विदेशी सहायता की मात्रा

भारत की पचवर्षीय योजनाओ मे विदेशी सहायता बहुत ही अधिक मात्रा मे प्राप्त हुई है। पहली योजना मे कुल विनियोग का 5 8%, दूसरी योजना मे 13 1%, तीसरी योजना मे 19 4%, तीन वार्षिक योजनाओ मे 34 2% तथा चौथी योजना मे 8 7% विदेशी सहायता के रूप मे प्राप्त किया गया है। पिछले

बीस वर्षों में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त की गई सहायता तथा उसके उपयोग में निम्न तालिका में दिखाया गया है

कुल विदेशी सहायता (रुपये करोड़ में)

अवधि	स्वीकृत की गई विदेशी सहायता (Authorization)	प्रयोग में लाई गयी विदेशी सहायता (Utilization)
तृतीय योजना के अन्त तक	5730.8	4508.8
1966–67	1419.0	1054.9
1967–68	717.9	1195.7
1968–69	942.3	902.6
1969–70	634.3	866.3

इस प्रकार उक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत को 1951 से 1970 तक करीब 10,000 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता स्वीकृत की गई है, जिसमें से 8500 करोड़ रुपये का प्रयोग किया जा चुका है। इस सहायता के प्रयोग करने की गति भारत में शुरू में बहुत धीमी रही, लेकिन जैसे जैसे विकास के बीज बोये जाने लगे, वैसे वैसे विदेशी सहायता का प्रयोग भी तीव्र गति से किया जाने लगा है।

मार्च 1971 तक कुल प्रयुक्त सहायता में अमरीकी सहायता का अंश 53.4% पश्चिम जर्मनी व ग्रेट ब्रिटेन प्रत्येक का 7.2%, अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सियों[1] का 12.9%, सोवियत रूस का 5.7% तथा अन्य राष्ट्रों का 13.6% था।

प्रथम योजना की अवधि में भारत को लगभग 382 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता स्वीकृत हुई, जिसमें से इस योजना में 197 करोड़ रुपये प्रयुक्त किए गए। दूसरी योजना में 2539 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई, जिसमें से 1320 करोड़ रुपये प्रयोग किए गए तथा तृतीय योजना में 2810 करोड़ रुपये में से 2673 करोड़ रुपये प्रयुक्त किए गए। तथा चौथी योजना में विदेशी सहायता का लक्ष्य 2134 करोड़ रुपये का रखा गया है।

विदेशी सहायता का वर्गीकरण—भारत की विदेशी सहायता कई प्रकार से प्राप्त हुई है, जिसका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

---

1 विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक आदि के नाम प्रमुख हैं।

(i) ऋण (Loans) विदेशी सहायता में ऋणों का एक विशेष महत्व है। इस प्रकार की विदेशी सहायता को ब्याज पर प्राप्त किया जाता है, अर्थात इस पैसे की वापसी एक निश्चित ब्याज दर पर की जाती है। भारत को अभी तक प्राप्त कुल विदेशी सहायता का 60% सहायता ऋणों के रूप में मिली है।

(ii) अनुदान (Grants) : अनुदान के अन्तर्गत प्राप्त राशि पर किसी भी प्रकार से ब्याज नहीं देना पड़ता तथा न ही इस श्रेणी के अन्तर्गत प्राप्त सहायता की वापसी ही की जाती है। इस प्रकार की सहायता का अंश कुल सहायता का 9% है।

(iii) खाद्यान्नों के रूप में आर्थिक सहायता इस प्रकार की सहायता अमरीकी सार्वजनिक कानून (PL 480 तथा PL 665) के अन्तर्गत प्राप्त हुई है। इसके अन्तर्गत प्राप्त ऋणों का भुगतान रुपयों में किया जाता है। उस राशि का उपयोग विशेषतया भारत में ही निजी क्षेत्र में विनियोजित करके किया जाता है। इस प्रकार की सहायता का अंश 31 प्रतिशत है।

विदेशी सहायता का वर्गीकरण बँधी हुई (tied) अथवा 'स्वतन्त्र' (untied) के आधार पर भी किया जाता है। बँधी हुई सहायता या तो देश के अनुसार होती है, या विशेष परियोजना (project) के अनुसार होती है, अर्थात उसी राष्ट्र से माल खरीदना पड़ता है, जिसने सहायता दी है। इस प्रकार की सहायता में अगर निर्धारित समय में धन का प्रयोग नहीं किया जाता है तो सहायता भी उपर्युक्त ही रह जाती है तथा दूसरी तरफ स्वतन्त्र सहायता में किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं होता है। इसीलिए आजकल इसी प्रकार की विदेशी सहायता को एक विशेष महत्व दिया जाने लगा है।

इस विदेशी सहायता के अलावा भारतवर्ष में विदेशी निजी पूँजी का विनियोग भी अधिक मात्रा में होता है। इसका वर्गीकरण भी दो आधार पर किया गया है —

(i) प्रत्यक्ष विनियोग (Direct Investment) इस प्रकार के विनियोग के अन्तर्गत सम्पूर्ण नियन्त्रण विदेशी स्वामित्व में होता है।

(ii) पोर्टफोलियो विनियोग (Portfolio Investment) इस प्रकार के विनियोग के अन्तर्गत सम्पूर्ण नियन्त्रण भारतीय स्वामित्व में रहता है तथा विनियोग पर या तो ब्याज या लाभांश आदि का भुगतान कर दिया जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि विदेशी सहायता विभिन्न राष्ट्रों से किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश के सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों में विदेशी पूँजी ने एक बहुत ही

महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। अर्थ-व्यवस्था के हर क्षेत्र में चाहे वह कृषि हो अथवा उद्योग बड़ी मात्रा में विदेशी पूंजी विनियोजित है।

विदेशी सहायता की सम्भावित कठिनाइयाँ

किसी भी राष्ट्र को विदेशी सहायता का प्रयोग करने से कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ये कठिनाइयाँ ब्याज के बोझ तक ही सीमित नहीं है, बल्कि कई प्रकार के राजनैतिक कारण भी विदेशी सहायता की मात्रा निर्धारित करते हैं।

(i) किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र को विदेशी सहायता प्राप्त करने से उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता का हनन होता है, क्योंकि इस प्रकार की पूंजी राजनैतिक कारणों से प्रभावित होती है। आज विश्व के दो महान राष्ट्र सोवियत रूस तथा अमरीका द्वारा जितनी भी विदेशी पूंजी, ऋण अथवा अनुदान के रूप में दी जा रही है, राजनैतिक कारणों से प्रभावित है। इस प्रकार इन राष्ट्रों से विदेशी पूंजी प्राप्त करने के लिए देश की आर्थिक नीतियों में उसी प्रकार से परिवर्तन करना पड़ता है, जिस आधार पर इसकी सुविधाएं प्रदान की जा रही हैं।

(ii) अधिक मात्रा में विदेशी सहायता प्राप्त करने से देश की आर्थिक निर्भरता भी ऋण तथा अनुदान की सुविधाएं देने वाले राष्ट्र की तरफ बढ़ जाती है। इस निर्भरता से कोई भी अल्पविकसित राष्ट्र अपने आन्तरिक साधनों को विस्तार करने की कोशिश नहीं करता। फलस्वरूप वह राष्ट्र गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा रहता है।

(iii) विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों को जो सहायता दी जाती है, उसका मुख्य उद्देश्य अपने पूंजीगत उत्पादन को यथष्ठ विपणन सुविधा प्रदान करना होता है। ऋणदाता देश शर्तयुक्त सहायता प्रदान करते हैं जिसके अन्तर्गत सहायता प्राप्त करने वाले देश को सहायता प्रदान करने वाले देश से पूंजीगत प्रसाधन एवं कच्चा माल आदि प्राप्त करना होता है। दूसरी ओर, विकसित राष्ट्र विकासोन्मुख राष्ट्रों से उपभोक्ता एवं प्रविधिकृत (processed) वस्तुएं आयात करने को तैयार नहीं रहते जब तक कि ये वस्तुएं उन्हें न्यूनतम मूल्य पर न दी जाएं। इसका परिणाम यह होता है कि सहायता प्राप्त करने वाला देश ऋण राशि लौटाने में प्रायः असमर्थ रहते हैं और उन्हें पुराने ऋणों को चुकाने के लिए नए ऋण लेने पड़ते हैं जिससे उनका प्रतिकूल भुगतान शेष तथा विदेशी ऋण-दायित्व बढ़ जाता है।

(iv) इस आर्थिक निर्भरता अथवा राजनैतिक दबाव के अलावा विदेशी सहायता के परिणामस्वरूप देश पर ब्याज तथा ऋण के भुगतान का बोझ निरन्तर बढ़ता रहता है। आगे दी गई तालिका से भारत के कुल ऋण सम्बन्धी अदायगियाँ स्पष्ट हो जाएंगी

कुल ऋण सम्बन्धी अदायगियाँ

(करोड़ रुपये में)

	मूलधन की अदायगी	ब्याज की अदायगी	कुल ऋण सम्बन्धी अदायगियाँ
प्रथम योजना	10·5	13 3	23.8
द्वितीय योजना	55·2	64 2	119.4
तृतीय योजना	305 6	237·0	542 6
1966-67	159 7	114 8	274.5
1967-68	210·7	122·3	333 0
1968-69	236·2	138 8	375 0
1969-70	268·5	144 8	412.5
1970-71	282·5	152 2	434.7

Source : Economic Survey 1970-71

इस प्रकार उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत के ऊपर मूलधन व ब्याज को चुकाने का भार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यह धन राशि जो कि 23.8 करोड़ रुपये जो कि पहली योजना में थी, बढ़कर 1970-71 में 434.7 करोड़ रुपये तक पहुँच गई है। इस बढ़ती हुई ऋण अदायगी से भारत में विशुद्ध विदेशी सहायता (Netforeign aid) का अंश काफी कम हो गया है और यह 1971-72 में कुल सकल विदेशी सहायता (gross foreign aid) का 43% था, अतः स्पष्ट है कि कुल विदेशी सहायता का 57% ऋण सम्बन्धी अदायगियों के रूप में वापिस किया जा रहा है।

इस बढ़ती हुई ऋण सम्बन्धी अदायगी का मुख्य कारण एक तो निर्यात को प्रोत्साहन न मिलने के कारण तथा दूसरा ऋणों का ठीक प्रकार से उपयोग न करने के कारण विदेशी मुद्रा की सदा से ही भारत में कमी महसूस की गई।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि पिछले 23 वर्षों में भारत को बहुत ही अधिक मात्रा में विदेशी सहायता प्राप्त हुई है और यह भी स्पष्ट है कि अगर इस प्रकार से विदेशी सहायता प्राप्त नहीं होती तो भारत में औद्योगिक तथा कृषि के विकास के लिए जो विस्तृत कार्यक्रम बनाये गये हैं, अपूर्ण रहते। आज भारत के हर औद्योगिक क्षेत्र में विदेशी पूँजी किसी न किसी रूप में लगी हुई है।

लेकिन उसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि अगर विकास के लिए विदेशी पूँजी की ओर पूर्ण निर्भरता रखी गई, तो देश का विकास विदेशियों के हाथ में फंस जाएगा तथा देश की स्वतन्त्रता को उससे खतरा लगेगा, जैसाकि 1971 के भारत-पाक युद्ध से स्पष्ट हो गया है। अमरीका द्वारा दी जाने वाली विदेशी

सहायता से पाकिस्तान उसके नियन्त्रण मे रहा, लेकिन इस प्रकार के ऋण की सुविधायें भारत को बन्द हो जाने से भारत के ऊपर कोई असर नहीं पडा। अत जिस प्रकार की नीति अमरीका ने 1971 मे दक्षिणी पूर्वी एशिया मे अपनायी, उससे पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि अमरीका सिर्फ अपना राजनैतिक प्रभुत्व जमाने के लिए इस क्षेत्र मे अधिक मात्रा मे विदेशी सहायता प्रदान कर रहा है।

जहाँ तक प्रश्न भारतीय अर्थ-व्यवस्था का है भारत के ऊपर इन विदेशियो का अभी तक कोई प्रभाव नहीं पडा है और अब सरकार प्रयत्नशील है कि सन् 1980 तक भारत पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर हो जाए। ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि तभी देश अपनी नीतियो मे स्वतन्त्रता बनाए रख सकेगा।

प्रश्न

1 भारतीय योजनाओ मे विदेशी सहायता के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

2 विदेशी सहायता से किसी भी राष्ट्र को जिन समस्याओ का सामना करना पडता है, उनका सविस्तार वर्णन कीजिए।

3. विगत नियोजन काल मे भारत को जो विदेशी सहायता मिली है उसका उल्लेख करते हुए उन समस्याओ पर प्रकाश डालिए जो इसके भुगतान से सम्बन्धित है।

खण्ड छठा

1 भारत की राष्ट्रीय आय

(National Income of India)

2 भारत की पचवर्षीय योजनाओ के उद्देश्य एव व्यूह रचना

(Objectives and Strategy of India s Five Year Plans)

3 भारतीय योजनाओ की अर्थ व्यवस्था

(Financing of Indian Plans)

4 भारत मे नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक प्रगति

(Economic Progress under Planning in India)

31

भारत की राष्ट्रीय आय

(National Income of India)

'National Income Statistics provide a vide view of the Country s entire economy, as well as of the various goups in the population who participate as producers and incme receivers, and that if available over a substantial period, they reveal clearly the basic changes in the Country s economy in the past and suggest, if not fully reveal trends for the future

—National Income Committee

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)

राष्ट्रीय आय किसी देश की किसी वर्ष विशेष मे वस्तुओ व सेवाओ के उत्पादन के कुल योग के बराबर होती है। किसी देश की अर्थ व्यवस्था मे उत्पत्ति के विभिन्न साधनो द्वारा सम्मलित रूप से वस्तुओ एव सेवाओ का जो कुल उत्पादन होता है, उसे राष्ट्रीय आय के नाम से पुकारा जाता है। इस सम्बन्ध मे राष्ट्रीय आय एवं राष्ट्रीय सम्पत्ति के अर्थों के अन्तर को समझ लेना भी अनुपयुक्त न होगा। राष्ट्रीय आय प्राय देश के एक वर्ष मे होने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन को कहते है, जबकि राष्ट्रीय सम्पत्ति से आशय है कि समय विशेष पर देशवासियो के पास होने वाली समस्त सम्पत्ति स है।

राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध मे प्रो० मार्शल, पीगू तथा फिशर ने अलग-अलग मत दिए हैं। प्रो० मार्शल के अनुसार, "एक देश का श्रम एव पूजी इसके प्राकृतिक साधनो की सहायता से प्रति वर्ष भौतिक एव अभौतिक वस्तुओ (जिनमे सेवाए भी सम्मिलित हैं) की एक निश्चित शुद्ध उत्पत्ति करता है। इसे ही वास्तविक शुद्ध वार्षिक आय अथवा राष्ट्रीय आय कहते हैं।"[1] प्रो० पीगू ने राष्ट्रीय आय को इस

1 The Labour and Capital of a country acting on its natural resources produce annually a certain net aggregate of commod ties, material and immaterial including services of all kinds This is the true Net Annual Income or Revenue of the country or the National D vidend '

—Marshall

है (विदेशों से प्राप्त आय सम्मिलित करते हुए), जिसे मुद्रा में मापा जा सकता है।'[1] इस प्रकार पीगू राष्ट्रीय आय में केवल उस उत्पत्ति को सम्मिलित करते हैं, जो मुद्रा में नापी जा सकती है। फिशर इन दोनों विचारधाराओं से सहमत नहीं है इनके मतानुसार राष्ट्रीय आय सम्पूर्ण उत्पत्ति या वह भाग है जिसे किसी वर्ष उपभोग में लिया जाता है। प्रो० फिशर के ही शब्दों में, 'राष्ट्रीय आय या लाभांश में केवल प्रकार परिभाषित किया है, "राष्ट्रीय आय समाज की भौतिक आय का वह भाग वही सेवाएं, चाहे ये उनके भौतिक वातावरण से प्राप्त हो या मानवीय वातावरण से, सम्मिलित होती हैं क्योंकि अन्तिम उपभोक्ताओं द्वारा प्राप्त की जाती हैं।"[2] प्रो० साइमन कुजनेट्स का विचार बहुत कुछ फिशर की धारणा से मिलता-जुलता है। कुजनेट्स के शब्दों में, "राष्ट्रीय आय वस्तुओं तथा सेवाओं की विशुद्ध उत्पत्ति है जो अन्तिम उपभोक्ताओं के हाथों में पहुँचती है अथवा देश के पूंजीगत माल के स्टॉक में वृद्धि करती है।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रो० मार्शल की परिभाषा अव्यावहारिक है, क्योंकि (i) कुल उत्पत्ति की गणना करना कठिन है, तथा (ii) राष्ट्रीय आय को वस्तुओं व सेवाओं के रूप में प्रगट करने पर इसकी उपयोगिता कम हो जाती है। पीगू की परिभाषा यद्यपि निश्चित एवं व्यावहारिक है लेकिन यह तर्क संगत नहीं है, क्योंकि इसमें ऐसी वस्तुओं व सेवाओं को सम्मिलित नहीं किया जाता जो मुद्रा के माध्यम से नापी नहीं जा सकती हैं। प्रो० फिशर की परिभाषा भी व्यावहारिक नहीं है क्योंकि उपभोग में प्रयोग हुई वस्तुओं की गणना करना और भी कठिन काम है। अतः तर्कसंगत न होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से पीगू की ही परिभाषा को उपयुक्त माना जा सकता है।

1949 की भारत की राष्ट्रीय आय समिति (Indian National Income Committee) ने भी राष्ट्रीय आय को परिभाषित किया है। इसके अनुसार, "राष्ट्रीय आय एक निश्चित समय में वस्तुओं और सेवाओं को माप है। इसमें देश

1. 'National Dividend is [illegible] of the objective income of the community, including, of course, income derived from abroad, which can be measured in terms of money.' —Pigou

2. "National Dividend or Income consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environment." —Irving Fisher

3. "National income is the net output of commodities and services flowing during the year from the country's productive system into the hands of the ultimate consumers or into net additions to the country's stock of capital goods." —Kuznets

की सभी आर्थिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है, चाहे इनका सम्बन्ध जूते या जहाजों के निर्माण करने से हो या चिकित्सा एवं न्याय सम्बन्धी सेवाओं से।"[2]

राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व (Importance of the Study of National income) :

किसी भी देश की राष्ट्रीय आय का अध्ययन कई कारणों से महत्वपूर्ण होता है। ये कारण अग्रलिखित हैं :

1. **देश के आर्थिक कल्याण की माप :** किसी देश के आर्थिक कल्याण में हुए परिवर्तनों को मापने में राष्ट्रीय आय के अनुमानों का सहारा लिया जा सकता है। प्रो० मार्शल के मतानुसार, "अन्य बातें समान रहने पर, किसी देश की राष्ट्रीय आय जितनी अधिक होती है, उस देश का आर्थिक कल्याण उतना ही अधिक समझा जाता है।"

2. **जीवन-स्तर सम्बन्धी ज्ञान .** किसी देश की राष्ट्रीय आय से उस देश के निवासियों के रहन-सहन के स्तर का गहरा सम्बन्ध होता है। सामान्यतः देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ-साथ लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है। लेकिन देश में यदि आर्थिक असमानता पाई जाती है तो राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने के बावजूद जीवन-स्तर में कोई अन्तर नहीं आता है। राष्ट्रीय आय के वितरण सम्बन्धी आँकड़ों से हमें मालूम पड़ सकता है कि समाज के विभिन्न वर्गों में असमानता बढ़ रही है अथवा घट रही है।

3. **देश की आर्थिक अवस्था का ज्ञान** देश के आर्थिक विकास की अवस्था सम्बन्धी जानकारी भी हमें राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से प्राप्त हो सकती है। ये आँकड़े देश की अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक प्रगति की दर पर प्रकाश डालते हैं। इन आँकड़ों को देखकर ही यह निश्चय किया जाता है कि देश विकसित है अथवा अल्प-विकसित। इन आँकड़ों के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि अर्थ-व्यवस्था सुधार की दिशा में उन्मुख है या नहीं।

4 **आर्थिक नियोजन में महत्व :** राष्ट्रीय आय का अध्ययन आर्थिक नियोजन के लिए महत्त्वपूर्ण है। योजनाओं को बनाने एवं उनके लक्ष्य निर्धारित करने के लिए राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। इन आँकड़ों पर ही बचत एवं विनियोजन की दर निर्भर करती है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत देश की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न अंगों, क्षेत्रों एवं वर्गों में से किसको प्राथमिकता दी जाय, इसका निश्चय राष्ट्रीय आय के आँकड़ों के आधार पर ही किया जाता है। स्वयं आर्थिक नियोजन का मूलभूत उद्देश्य भी तो राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना ही होता है।

5. **सरकारी नीति के निर्धारण में महत्व :** राष्ट्रीय आय सरकार की आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण आधार का काम करती है। उचित मौद्रिक, राजस्व तथा रोजगार सम्बन्धी नीतियाँ निर्धारित करने के लिए ये आँकड़े आवश्यक माने जाते हैं। लेकिन इनकी उपयोगिता बहुत कुछ व्यापकता एवं विश्वसनीयता पर निर्भर करती है।

6. **विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं की तुलना में सहायता।** राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से हम विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं की तुलना करने में सहायता मिलती है। विभिन्न देशों की कुल अथवा प्रति-व्यक्ति राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से हम इन देशों की आर्थिक स्थिति की तुलना कर सकते हैं। राष्ट्रीय आय की ही जानकारी से यह मालूम किया जा सकता है कि विभिन्न देशों में उद्योग, व्यापार, कृषि, परिवहन से प्राप्त आय कुल आय का कितना भाग है। इस प्रकार के तथ्यों की जानकारी से सम्बन्धित क्षेत्रों की प्रगति का ठीक एवं तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश की राष्ट्रीय आय का अध्ययन कई कारणों से महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) का यह कथन उचित ही है, "राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े देश की सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था का एक व्यापक दृश्य प्रस्तुत करते हैं और साथ ही देश की जनसंख्या के उन वर्गों पर भी प्रकाश डालते हैं जो या तो उत्पादक के रूप में भाग लेते हैं अथवा आय प्राप्त करने वालों के रूप में। यदि राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े एक लम्बी अवधि के उपलब्ध हैं, तो इनसे देश की अर्थ-व्यवस्था में हुए आधारभूत परिवर्तनों का पता चलता है और यदि पूरी तरह से रहस्योद्घाटन न भी करें तो भी ये आँकड़े, भविष्य की प्रवृत्तियों की ओर संकेत देते हैं।"[1]

राष्ट्रीय आय और आर्थिक उन्नति
(National Income and Economic Progress)

सामान्यतः किसी देश की राष्ट्रीय आय अथवा प्रति व्यक्ति आय को देश की आर्थिक उन्नति का प्रतीक माना जाता है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से प्रति व्यक्ति आय बढ़ती है तथा देश की उत्पादन क्षमता एवं उपभोग सम्भावनाओं में भी वृद्धि

---

1. 'National Income statistics provide a view of the country's entire economy, as well as of the various groups in the population who participate as producers and income receivers and that if available over a substantial period they reveal clearly the basic changes in the country's economy in the past and suggest, if not fully reveal, trends for the future.'

National Income Committee

हो जाती है। लेकिन ऐसा सदैव नही होता। निम्नलिखित परिस्थितियों मे राष्ट्रीय आय मे होने वाली वृद्धि, देश की समृद्धि का सकेत नही देती है :

(1) देश के निवासियो की मौद्रिक आय के बढ जाने के बावजूद भी यदि मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाय तो उनका वास्तविक उपभोग नही बढ पाता।

(2) राष्ट्रीय आय के बढने से यह तो ज्ञात होता है कि देश मे वस्तुओं का उत्पादन बढ रहा है। युद्ध काल मे यदि देश मे युद्ध सामग्री के उत्पादन मे वृद्धि होती है तो इससे राष्ट्रीय आय मे तो वृद्धि हो ही जाती है, लेकिन देश के लोगो का जीवन-स्तर ऊँचा नही उठता। इसी प्रकार यदि शान्ति-काल मे गांजा, चरस, शराब जैसी नशीली वस्तुओ का ही उत्पादन बढता है तो इससे भी सामान्य जनता के वास्तविक जीवन स्तर मे कोई उन्नति नहीं होती।

3 राष्ट्रीय आय की वृद्धि, यदि लोगो के आराम रहित परिश्रम का परिणाम है तो राष्ट्रीय आय के बढने के बावजूद भी लोगो का जीवन सुखमय नही हो सकता। राष्ट्रीय आय के आकडे इस तथ्य को नही प्रकट करते कि इसे प्राप्त करने के लिए देश की जनता को कितना कष्ट उठाना पड़ा है।

4 यदि देश की राष्ट्रीय आय मे होने वाली वृद्धि देश के प्राकृतिक साधनो के अति अल्पकाल मे अत्यधिक अनियोजित शोषण के फलस्वरूप हुई है, तो ऐसी आय वृद्धि के दूरगामी परिणाम देश की अर्थव्यवस्था के लिए अच्छे नही होगे।

5 देश की राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होने से प्रति व्यक्ति औसत आय मे वृद्धि हो जाती है। लेकिन इस औसत आय की वृद्धि के साथ साथ देश मे आय के वितरण की विषमता भी बढती जाती है, तो जनसाधारण का रहन सहन का स्तर ऊंचा होने की बजाय नीचा भी हो सकता है।

6 यदि राष्ट्रीय आय मे होने वाली वृद्धि को बराबर विनियोजन में वृद्धि की जाती है, तो इससे देश के भावी आर्थिक विकास पर तो अनुकूल प्रभाव पडता है लेकिन देश के निवासियो के वर्तमान उपभोग व जीवन स्तर पर बुरा असर पडता है।

राष्ट्रीय आय की गणना की रीतियां निम्न लिखित हैं
(Methods of Calculating National Income)—

1 उत्पत्ति गणना प्रणाली (Census of Production Method) · इस प्रणाली के अन्तर्गत हम एक वर्ष की अवधि मे उत्पत्ति का विशुद्ध मूल्य ज्ञात कर लेते हैं। इसको ज्ञात करते समय हम कुल उत्पत्ति के मूल्य में से घिसाई के कारण हुआ

मूल्य-ह्रास तथा कच्चे माल का मूल्य निकाल देते हैं। सभी उद्योगों का विशुद्ध मूल्य मालूम करके योग कर लिया जाता है। इस प्रकार हमें विशुद्ध घरेलू उत्पादन मालूम हो जाता है। इसमें विदेशों से प्राप्त होने वाली विशुद्ध आय को जोड़कर विशुद्ध राष्ट्रीय आय ज्ञात कर ली जाती है।

2. आय गणना प्रणाली (Census of Income Method). इस प्रणाली के अनुसार उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को प्राप्त होने वाली आय को जोड़ लिया जाता है। उन सभी व्यक्तियों का जो आय कर देते हैं, तथा जो आय-कर नहीं देते हैं उनकी आय को जोड़कर राष्ट्रीय आय ज्ञात कर ली जाती है। इसमें सरकारी तौर पर प्राकृतिक सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय को भी जोड़ लिया जाता है। आय की गणना करने में यह सावधानी रखनी चाहिए कि एक आय को दो बार न जोड़ लिया जाय।

3. उत्पादन गणना तथा आय गणना प्रणाली का सम्मिलित उपयोग—कई बार इन दोनों प्रणालियों को मिलाकर राष्ट्रीय आय को मालूम किया जाता है। डा० वी० के० आर० वी० राव ने इन दोनों प्रणालियों के सम्मिलित प्रयोग का सफलता से किया है। भारत जैसे पिछड़े हुए देश में यह विधि विशेष रूप से उपयोगी है। भारतवर्ष में राष्ट्रीय आय समिति ने राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने में इन दोनों विधियों का सम्मिलित उपयोग किया है। कृषि, पशु-पालन, वन उद्योग, शिकार, मछली पकड़ने, खान खोदने तथा औद्योगिक उत्पादन के अनुमानों के लिए उत्पादन गणना प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। व्यापार, परिवहन, प्रशासन, ललित कलाओं तथा घरेलू सेवाओं के अनुमान लगाने के लिए आय प्रणाली का प्रयोग किया जाता है।

भारतवर्ष में राष्ट्रीय आय के अनुमान (Notional Income Estimates of India) भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अनुमान लगाए गए हैं। इस सम्बन्ध में सबसे पहले सन् 1868 ई० राष्ट्रीय आय का पता दादा भाई नौरोजी ने लगाया। उनके अनुमान के अनुसार उस वर्ष देश की प्रति व्यक्ति आय 20 रुपये थी। तब से लेकर आज तक अनेक विद्वानों द्वारा राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में अनुमान लगाए गए हैं।

(क) स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अनुमान स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारतवर्ष में राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाए गए थे, उनमें से प्रमुख अनुमान पृष्ठ 473 पर दी गई तालिका में दिए जा रहे हैं।

स्वतन्त्रता–पूर्व-काल मे प्रति व्यक्ति आय के अनुमान

अनुमानकर्त्ता	अनुमान का वर्ष	प्रति व्यक्ति वार्षिक आय (रु० मे)
दादा भाई नौरोजी	1868	20
क्रोमर तथा बारबर	1881	27
विलियम डिग्बी	1899	18
लॉर्ड कर्जन	1900	30
फिण्डले शिराज	1911	49
वाडिया और जोशी	1922	116
शाह एव खम्बत	1913-14	74
वी. के. आर वी. राव	1921	65
आर सी. देसाई	1913-14	85
ईस्टर्न इकानमिस्ट	1931-32	72
	1913-14	
	1939-40	

उपर्युक्त अनुमानो मे से अधिकतर अनुमानो का केवल ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि वे या तो व्यक्तिगत प्रयासो के परिणाम थे या फिर प्रशासकीय आवश्यकताओ के फलस्वरूप लगाए गए थे। इनमें से अधिकाश अनुमानो मे गम्भीर त्रुटियाँ थी क्योकि एक तो इन व्यक्तियो के साधन अत्यन्त सीमित होने के कारण उनके लिए समस्त देश के उत्पादन सम्बन्धी आँकडे एकत्र करना सम्भव नही था तथा दूसरे, अलग-अलग अनुमानकर्त्ताओ ने भिन्न-भिन्न विधियो का उपयोग किया था, जिससे इन अनुमानो की उपयोगिता अत्यन्त कम हो गई। इन आँकडो मे अनुमान का ही अश अधिक होने के कारण इन्हे विश्वसनीय नही माना जा सकता। चूंकि स्थिर मूल्यो पर क्रम-अनुमान (series estimate) तैयार करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, अत इन आँकडो के आधार पर हम विभिन्न समयो के राष्ट्रीय आय अनुमानो मे तुलना नही कर सकते।

इन अनुमानो की एक त्रुटि यह भी है कि ये निष्पक्ष नहीं थे। ये अनुमान या तो ब्रिटिश सरकार की नीतियो का विरोध करने के लिए राष्ट्रवादी विचारो वाले व्यक्तियो द्वारा तैयार किये गये थे या स्वय सरकार द्वारा अपनी नीतियो के समर्थन के लिए या अपना पक्ष प्रबल करने के लिए तैयार किए गए थे।

इन त्रुटियों के बावजूद भी अनुमानकर्त्ताओ को श्रेय देना उचित होगा, क्योंकि गम्भीर सीमाओ के बावजूद भी इन व्यक्तियों ने राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने का

वह कार्य हाथ में लिया, जो साधारणतः देश की सरकार को करना चाहिए था। उपर्युक्त अनुमानों में डा० वी. के आर वी. राव के अनुमान अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक माने जाते हैं। डा० राव ने ग्राम सर्वेक्षण से सम्बन्धित उपलब्ध सामग्री का प्रयोग करने के अतिरिक्त कुछ वैयक्तिक तदर्थ जाच भी की।

(ख) स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् किए गए अनुमान : सन् 1947 ई० में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय आय सम्बन्धी तथ्य ज्ञात करने की आवश्यकता को महसूस करते हुए, भारत सरकार ने 4 अगस्त, 1949 ई० को कलकत्ता स्थित भारतीय सांख्यकीय संस्थान (Indian Statistical Institute) के प्रो० प्रशान्तचन्द्र महालनाबिस की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) का गठन किया। इस समिति के अन्य सदस्य प्रो० डी आर गाडगिल तथा प्रो० वी. के. आर वी राव थे। इस समिति के लिए पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय के प्रो० साइमन कुजनेट्स तथा केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० रिचर्ड स्टोन और राष्ट्र-संघ सेवा कार्यालय के डा० जे बी डी० डरसेन जैसे विशेषज्ञों से परामर्श लेने की भी व्यवस्था की गई।

इस समिति के लिए अग्रलिखित कार्य निश्चित किए गए

(1) राष्ट्रीय आय एवं सम्बन्धित तथ्यों पर रिपोर्ट तैयार करना,

(2) प्राप्त आंकड़ों में सुधार करना तथा नए आंकड़ों के संग्रह के सम्बन्ध में सुझाव देना, तथा

(3) राष्ट्रीय आय सम्बन्धी शोध-कार्य को प्रोत्साहन देना।

राष्ट्रीय आय समिति की पहली रिपोर्ट 15 अप्रैल, 1951 को तथा अन्तिम [illegible] 14 फरवरी, 1954 को प्रकाशित हुई। भारत के आर्थिक इतिहास में राष्ट्रीय आय समिति की रिपोर्ट का प्रकाशन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी, क्योंकि इससे पहली बार सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रीय आय के आंकड़े उपलब्ध हुए थे। इस समिति के अनुसार 1948–49, 1949–50 तथा 1950–51 में हमारी राष्ट्रीय आय, चालू मूल्यों में क्रमश 8650, 90[illegible] तथा 9530 करोड़ रुपये थी तथा प्रति व्यक्ति आय क्रमश 246 9, 253 9 तथा 265 2 रु० प्रति वर्ष थी।

राष्ट्रीय आय समिति ने राष्ट्रीय आय को मालूम करने के लिए उत्पादन गणना एवं आय गणना दोनों ही रीतियों का प्रयोग किया था। समिति को कुछ क्षेत्रों में आय ज्ञात करने के लिए अनुमानों का सहारा लेना पड़ता था, क्योंकि उन क्षेत्रों सम्बन्धी आंकड़े पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं थे। राष्ट्रीय आय समिति की रिपोर्ट की प्रमुख बातें अग्रलिखित हैं :

(i) राष्ट्रीय आय में कृषि लगभग आधा योगदान देती है, (ii) राष्ट्रीय आय का लगभग छठवां भाग खनिज, निर्माण व हस्तशिल्प से होता है, (iii) वाणिज्य, परिवहन व सचार का योगदान राष्ट्रीय आय में राष्ट्रीय आय के छठवें भाग से कुछ अधिक है, (iv) सेवाओ व्यवसायो, प्रशासनिक व घरेलू सेवाओं आदि का अंश राष्ट्रीय आय का 15 प्रतिशत है, (v) कृषि, खनिज, कारखानों व हस्तशिल्प से राष्ट्रीय आय का लगभग दो तिहाई भाग प्राप्त होता है, (vi) कुल राष्ट्रीय आय में सभी प्रकार की सेवाओ का योगदान लगभग एक तिहाई है, (vii) घरेलू उद्योगो का भाग आन्तरिक उत्पादन में लगभग दो-तिहाई है जबकि कारखाना उत्पादन से आन्तरिक उत्पादन का 10 से 11 प्रतिशत उत्पादन प्राप्त होता है, (viii) देश की कुल श्रम शक्ति कुल जनसख्या की 39 8 प्रतिशत थी, (ix) यद्यपि कुल श्रम शक्ति का 72 4 प्रतिशत भाग कृषि में लगा हुआ था, तथापि राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान केवल 51 3 प्रतिशत ही था, जो कृषि के सबसे कम उत्पादक व्यवसाय होने का सूचक है, (x) समस्त उद्योगो में काम करने वाले श्रमिको की सख्या लगभग 140 लाख थी, जिसमे से 110 लाख छोटे उद्योगो मे थे, शेष 30 लाख बड़े कारखानों मे, (xi) 1950–51 मे शुद्ध घरेलू उत्पादन मे सार्वजनिक व निजी क्षेत्र का भाग क्रमश 7 6 प्रतिशत व 92 4 प्रतिशत था (xii) राष्ट्रीय व्यय में सरकार का भाग 1950–51 मे 820 करोड़ रुपये अर्थात राष्ट्रीय आय का 8 2 प्रतिशत था।

योजनाकाल में राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति भारतवर्ष ने सन् 1965–66 तक अपनी तीन पचवर्षीय योजनाए पूरी कर ली है। भारतीय नियोजन का प्रभाव राष्ट्रीय आय पर क्या पड़ा, इसे समझने के लिए 1950–51 से 1965–66 के काल मे राष्ट्रीय आय की वृद्धि का अध्ययन करना आवश्यक है।

योजनाकाल मे राष्ट्रीय आय की प्रगति

वर्ष	शुद्ध राष्ट्रीय आय (अरबो रुपयो मे)		प्रति व्यक्ति आय (रुपयो मे)	
	चालू मूल्यो पर	1948–49 के मूल्यो पर	चालू मूल्यो पर	1948–49 के मूल्यो पर
1950–51	95 3	88 5	266 5	247 5
1955–56	99 8	104 8	255 0	267 8
1960–61	141 4	127 3	306 1	293 2
1965–66	203 4	146 6	425 0	301 8
1966–67	231 2	149 5	482 7	300 8
1970–71	342 5	N/A	633 1	N/A

इस प्रकार हम देखते है कि प्रथम तीन योजनाओ के अन्तर्गत वर्षो 15 की अवधि मे 1948–49 के स्थिर मूल्यो पर भारत की राष्ट्रीय आय 65 5 प्रतिशत बढ़ी है और प्रति व्यक्ति आय केवल 21 7 प्रतिशत। इसलिए इन वर्षो मे राष्ट्रीय आय की औसत वार्षिक वृद्धि की दर 3 5 प्रतिशत से कम रही है और प्रति व्यक्ति आय की 1 3 प्रतिशत से कुछ अधिक रही। तृतीय पचवर्षीय योजना के बाद के तीन वर्षो मे भी प्रगति प्राय इसी प्रकार रही है। विकास की यह गति भारत के समान आकार एव साधनो वाले अन्य देशो का विकास की गति की अपेक्षा कम है। इस सम्बन्ध मे एक तथ्य यह भी है कि राष्ट्रीय आय की तुलना मे जनसख्या की गति इस अवधि मे अधिक थी, अत यह स्वाभाविक था कि 1965–66 मे प्रति व्यक्ति आय मे कमी हो जाती।

भारतवर्ष मे जनसख्या प्राय 2 5 प्रतिशत की गति से बढ रही है, जबकि आर्थिक विकास की गति मन्द होती जा रही है। इन दोनो तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए प्रति व्यक्ति आय के तीव्र गति से बढने की सम्भावना अपेक्षाकृत अधकारमय दिखाई पडती है।

राष्ट्रीय आय का क्षेत्रवार वितरण

(Sectoral Distribution of National Income)

भारत की राष्ट्रीय आय के क्षेत्रवार वितरण को निम्न तालिका म दिखाया गया है

राष्ट्रीय आय के विविध स्रोत[1]

(कुल आय के प्रतिशत मे)

मद	1950–51	1955–56	1960–61	1965–66
1 कृषि तथा तत्सम्बन्धी कार्य	49 0	47 9	46 4	39 0
2 खनिज, निर्माण एव लघु सस्थान	16 7	16 8	16 6	18 2
3 वाणिज्य, बैंकिंग एव परिवहन	18 8	18 8	19 3	20 3
4 अन्य सेवाए	15 5	16 5	17 7	22 5

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत की राष्ट्रीय आय मे कृषि का सर्वोच्च स्थान है। राष्ट्रीय आय का अधिकाश भाग कृषि से ही प्राप्त होता है। 1960–61 के मूल्यो के आधार पर तो 1965–66 मे कृषि का कुल राष्ट्रीय आय मे योगदान 48 1 था, जो 1966–67 मे बढ कर 48.4 हो गया, घट गई, गई, यह अनुसार, क्रम मे उद्योग व खनन, व्यापार, बकिंग एव बीमा आदि हैं। विगत 15 वर्षो मे भारतीय अर्थ व्यवस्था प्राय स्थायी रही है।

1 ये समक 1948 49 क मूल्यों पर आधारित हैं।

विश्व के अन्य देशों से तुलना

(Comparision with other countries)

भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय विश्व के प्राय सभी सुसम्य देशों से कम है। आय की यह कमी हमारी निर्धनता की निशानी है। भारत की प्रति व्यक्ति आय की अन्य देशों की प्रति व्यक्ति आय से तुलना निम्न तालिका मे की गई है, जो विश्व बैंक के एक प्रकाशन पर आधारित है। इस तालिका मे दिए गए अक अव-मूल्यन (1966) के पूर्व के हैं '

प्रति व्यक्ति वार्षिक आय (अमरीकी डालर मे)

देश	आय	देश	आय
1 अमरीका	3,240	7 संयुक्त अरब गणराज्य	150
2 आस्ट्रेलिया	1,730	8 श्रीलका	140
3 फ्रान्स	1,620	9 भारत	90
4. इगलैण्ड	1,550	10 पाकिस्तान	85
5 जापान	760	11 नाइजीरिया	80
6 टर्की	230	12 बर्मा	65

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत की प्रति व्यक्ति आय केवल 90 डालर प्रति वर्ष है। अवमूल्यन के पश्चात तो यह केवल 60 डालर ही प्रति वर्ष रह गई है।

राष्ट्रीय आय वितरण की अन्य देशों में आय वितरण से तुलना (Distribution of National Income and its comparision with other countries) राष्ट्रीय आय के वितरण से सम्बन्धित आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि अन्य देशों की अपेक्षा भारत मे वितरण सम्बन्धी अधिक समानता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित आँकड़े इस सम्बन्ध मे यथोचित प्रकाश डालते हैं। भारत-वर्ष मे (सन् 1953-54 से लेकर सन 1956-57 के मध्य) नीचे के 20 प्रतिशत व्यक्तियों के पास राष्ट्रीय आय का 8 प्रतिशत तथा नीचे के 60 प्रतिशत व्यक्तियों के पास राष्ट्रीय आय का 36 प्रतिशत भाग था। अमेरिका मे (1950 ई॰ मे) उपर्युक्त दोनो वर्गों के पास क्रमश 4 8 व 32 प्रतिशत राष्ट्रीय आय थी तथा इगलैण्ड मे (1951-52) में क्रमश 5 4 व 33 3 प्रतिशत राष्ट्रीय आय थी। इसी प्रकार ऊपर के 5 या 10 व्यक्तियों के पास, भारत की तुलना मे, इन देशो मे, आय का अधिक भाग प्राप्त था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत मे इन पूजीवादी देशों की तुलना मे, आय के वितरण मे अपेक्षाकृत कम असमानता थी।

राष्ट्रीय आय का विभिन्न राज्यो में वितरण (Distribution of National Income in different States) सन् 1960–61 मे National Council of Applied Economic Research, (NCAER) द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण से, भारत के विभिन्न राज्यो मे राष्ट्रीय आय के वितरण व प्रति व्यक्ति आय की स्थिति के विषय मे आवश्यक जानकारी प्राप्त होती है। इस सर्वेक्षण के अनुसार भारत के विभिन्न राज्यो मे राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आय इस प्रकार थी

भारतीय राज्यों में आय का वितरण

राज्य	शुद्ध उत्पत्ति (करोड रु० मे)	प्रति व्यक्ति आय (रुपयो मे)
1 दिल्ली	232	871 6
2 महाराष्ट्र	1,853	468 5
3 पश्चिमी बगाल	1,623	464 6
4 पजाब	917	451 3
5 गुजरात	812	393 4
6 तामिलनाडु	1,125	334 1
7 आसाम	396	333 3
8 त्रिपुरा	38	329 9
9 हिमाचल प्रदेश	42	328 4
10 केरल	532	314 9
11 मैसूर	719	304 7
12 उत्तर प्रदेश	4,193	297 4
13 जम्मू एव कश्मीर	103	289 0
14 आन्ध्र प्रदेश	1,063	287 0
15 मध्य प्रदेश	924	285 4
16 उडीसा	486	276 2
17 राजस्थान	539	267 4
18 बिहार	1 025	220 7

राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक शोध परिषद (NCAER) के सर्वेक्षण के अनुसार देश के प्रति व्यक्ति की आय 1960–61 मे 9C15 रुपये थी। उपर्युक्त आँकडो से स्पष्ट है कि केवल 4 राज्यो में, अर्थात् महाराष्ट्र, प बगाल, पजाब व गुजरात मे, प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत से अधिक है, मद्रास व आसाम की प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत से थोडी ही कम है, शेष 12 राज्यो मे प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत से कम है। राज्यो में प्रति व्यक्ति आय सम्बन्धी यह असमानता इस तथ्य पर प्रकाश डालती है कि इतने वर्षों के नियोजन के बावजूद भी राज्यो के मध्य आर्थिक समानता नही लाई जा सकी है, जो राज्य पहले से ही समृद्ध थे, वे इन वर्षों में और समृद्ध हो गए हैं। आर्थिक क्षेत्र में पिछडे हुए राज्यो

में आर्थिक विकास के फलस्वरूप कुछ सुधार अवश्य हुआ है, पर राज्यों की असमानता में विशेष अन्तर नहीं आ सका है। इन आँकड़ों से यह भी पता चलता है कि कृषि प्रधान व ग्रामीण जनसख्या वाले राज्यों में, उद्योग प्रधान एवं नागरिक जनसख्या वाले राज्यों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक निर्धनता है।

भारत की राष्ट्रीय आय की विशेषताएं (Main features of National Income of India) भारत की राष्ट्रीय आय के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन से भारत की राष्ट्रीय आय के निम्नलिखित प्रमुख लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है :

1 भारत में प्रति व्यक्ति औसत आय, विश्व के अन्य सुसभ्य देशों की तुलना में बहुत कम है।

2 कृषि, भारतवर्ष में, राष्ट्रीय आय का महत्वपूर्ण स्रोत है, लेकिन इसकी दशा पिछड़ी हुई है।

3 भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों में राष्ट्रीय आय का वितरण असमान है, औद्योगिक एवं नागरिक क्षेत्रों में, ग्रामीण व कृषि क्षेत्रों की अपेक्षा आय अधिक है।

4 राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ साथ जनवृद्धि हो जाने से, राष्ट्रीय आय की वृद्धि के बावजूद भी प्रति व्यक्ति की आय में विशेष वृद्धि नहीं हो पाती।

5 राष्ट्रीय आय में देश के लघु उद्योगों का अंशदान, बड़े उद्योगों की अपेक्षा 6 गुना अधिक है।

6 अल्प विकसित होने के नाते भारतवर्ष में राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग (लगभग 53 प्रतिशत) खाद्यान्नों पर व्यय कर दिया जाता है।

7 ग्रामीण क्षेत्रों में, नागरिक क्षेत्रों की तुलना में प्रायः दुगुनी निर्धनता है।

भारत में राष्ट्रीय आय कम होने के कारण (Causes of Low National Income of India) भारत में, अन्य सुसभ्य राष्ट्र आने वाले देशों की तुलना में, राष्ट्रीय आय बहुत कम है, जिसके लिए कई कारण उत्तरदायी हैं, जैसे (i) भारतीय अर्थ व्यवस्था कृषि प्रधान है, फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि की गति अत्यन्त शिथिल है, क्योंकि कृषि प्राकृतिक तत्वों के आधीन है, (ii) भारत में अन्य देशों की अपेक्षा बचत व विनियोजन की दरें बहुत नीची हैं, (iii) भारत औद्योगीकरण की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है, (iv) यहां जनसख्या वृद्धि की दर बहुत ऊंची है, (v) देश के विभिन्न भागों का असतुलित विकास हुआ है, (vi) परिवहन व्यापार का यथोचित विकास नहीं हुआ है, (vii) बैंकिंग व अन्य वित्तीय संस्थाएं अपेक्षाकृत कम हैं, (viii) सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं द्वारा आर्थिक प्रगति

में प्राय बाधा उपस्थित की गई है, (ix) दीर्घकालीन विदेशी शासन ने अर्थ-व्यवस्था को अपगु बना दिया था, जिसे सुधारने में समय का लगना स्वाभाविक है; (x) शिक्षा के अभाव में देशवासियों में महत्वाकांक्षा की भावना नहीं पाई जाती, वरन् वे भाग्यवादी अधिक बन गए हैं, जिससे विकास सम्बन्धी उत्साह का अभाव पाया जाता है।

राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के सुझाव (Suggestions for Increasing National Income of India) भारत की राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करने के लिए मुख्य सुझाव निम्नलिखित हैं

1 **उत्पादन में वृद्धि** भारतवर्ष में राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए सभी दिशाओं में प्रयत्न किए जाने चाहिए। कृषि कुटीर एवं लघु-उद्योग, खान, व्यापार, परिवहन आदि सभी को उन्नत करके उत्पादन में वृद्धि की जानी चाहिए।

2 **बचत व विनियोग की दर में वृद्धि** भारतवर्ष में बचत व विनियोग दोनों की दरें कम हैं। देश के निवासियों को कष्ट उठा कर भी बचत व विनियोग की दरों में वृद्धि करने की चेष्टा करनी चाहिए।

3 **जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण** परिवार-नियोजन सम्बन्धी कार्यक्रमों को लोकप्रिय बना कर जनसंख्या की वृद्धि को रोकना चाहिए, ताकि राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय सम्बन्धी लक्ष्यों की प्राप्ति में कठिनाई न हो।

4 **धन के वितरण की असमानता में कमी करना** देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना पैदा करने के लिए तथा देश के सभी क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाने के लिए उनमें उत्साह तभी पैदा किया जा सकता है जबकि बढ़ते हुए उत्पादन में उन्हें यथोचित हिस्सा मिले। अत देश में व्याप्त आर्थिक विषमता को कम करने के प्रयास करने चाहिए।

5 **सतुलित आर्थिक विकास के लिए प्रयत्न** देश के सतुलित आर्थिक विकास के लिए, एक तो, देश में औद्योगीकरण की गति को तेज करके अर्थ-व्यवस्था की कृषि पर निर्भरता कम की जानी चाहिए तथा दूसरे, विकास की प्रक्रिया देश के सभी भागों में समान रूप से गतिशील होनी चाहिए। पिछड़े हुए क्षेत्रों को भी विकसित किया जाना चाहिए।

6 **सामाजिक सुविधाओं में वृद्धि** देश के नागरिकों को शिक्षा, चिकित्सा रोजगार सम्बन्धी सुविधायें दिलाई जानी चाहिए, ताकि उनका स्वास्थ्य ठीक रहे। उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो सके तथा वे अपने श्रम का उचित उपयोग करके देश के उत्पादन में वृद्धि कर सकें।

राष्ट्रीय आय की आकलन सम्बन्धी कठिनाइयां (Difficulties of National Income Estimation in India) : किसी देश की राष्ट्रीय आय का आकलन करना बड़ा कठिन कार्य है। भारत जैसे अल्प-विकसित देश में तो आकलन सम्बन्धी कठिनाइयां और भी अधिक हैं। प्रमुख कठिनाइयां निम्नलिखित हैं :

1 **असंगठित एवं अमौद्रिक क्षेत्र की विद्यमानता** भारतीय अर्थ-व्यवस्था का अधिकांश भाग असंगठित एवं अमौद्रिक (Non-monetised) है। राष्ट्रीय आय की गणना के समय साधारणत यह मान लिया जाता है कि उत्पादित वस्तुओं व सेवाओं का मुद्रा से विनिमय होता है। लेकिन भारत जैसे अल्प-विकसित एवं कृषि प्रधान देश में उपज का काफी भाग बिक्री के लिए बाजार में नहीं लाया जाता। या तो उत्पादक उसे निजी उपभोग के लिए रख लेते हैं या वस्तुओं अथवा सेवाओं से विनिमय में दूसरे उत्पादकों को दे देते हैं। उत्पादन के उस भाग में, जो कि मुद्रा में विनिमय नहीं किया जाता, मूल्यांकन में कठिनाई पैदा हो जाती है।

2 **छोटे उत्पादकों की आय के सम्बन्ध में सामग्री का उपलब्ध न होना** भारतवर्ष में अधिकांश घरेलू कारीगर एवं छोटे छोटे उत्पादकों से उनके उत्पादन के सम्बन्ध में कोई निश्चित व विश्वसनीय सूचना नहीं प्राप्त की जा सकती, क्योंकि इन उत्पादकों में से अधिकांश इतने अशिक्षित हैं कि या तो वे लेखा रखना जानते ही नहीं या इनकी आवश्यकता का ही अनुभव नहीं करते, फलस्वरूप उनके उत्पादन के मूल्यांकन में अनुमान से ही कार्य चलाना पड़ता है।

3 **आर्थिक क्रियाओं के सामान्य वर्गीकरण का न अपनाया जा सकना** भारत में व्यावसायिक विशिष्टीकरण के अभाव में विभिन्न व्यवसायों के आधार पर, देश की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि यहां एक ही व्यक्ति विभिन्न समयों पर विभिन्न कार्य करता है। उदाहरणार्थ भारतीय कृषि श्रमिक कुछ समय खेतों में, कुछ कुटीर उद्योगों में तथा कुछ अन्य किसी कार्य में लगाता है। ऐसी स्थिति में इन लोगों की आय का अनुमान लगाना कठिन होता है तथा राष्ट्रीय आय के आकलन में दोहरी गिनती का भय रहता है।

4 **विश्वसनीय आँकड़ों का अभाव** राष्ट्रीय आय की गणना के लिए उत्पादन, उपभोग, बचत, कार्यशील जनसंख्या आदि से सम्बन्धित सही आंकड़े उपलब्ध होना आवश्यक है। पर इनसे सम्बन्धित विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। भारत की अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्र में रहती है। ग्रामीण क्षेत्रों में आँकड़े एकत्र करने वाले या तो पटवारी होते हैं या ग्राम-सेवक, जिनका न तो गणना करना मुख्य कार्य है और न ही वे इस कार्य के लिए प्रशिक्षित होते हैं। फलस्वरूप उनके द्वारा प्राप्त किए गए आँकड़े विश्वसनीय नहीं होते।

5. क्षेत्रीय विभिन्नताएं : भारत एक विशाल देश है, जिसके विभिन्न क्षेत्रों की परिस्थितियां एक-सी नहीं हैं, फलस्वरूप किसी एक क्षेत्र से सम्बन्धित जानकारी का प्रयोग दूसरे क्षेत्रों में नहीं किया जा सकता।

6. अशिक्षा एवं अन्ध-विश्वास : अशिक्षा एवं अन्ध-विश्वास के कारण, अधिकांश लोग अपनी आय व्यय, व्यापार आदि से सम्बन्धित जानकारी देने में आनाकानी करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों का आकलन बड़ा कठिन कार्य है। प्रायः बहुत से तथ्यों को अनुमान पर ही आधारित करना पड़ता है। इसलिए कई अर्थ-शास्त्रियों का विचार है कि इन अनुमानों को बन्द कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि इनमें अटकलबाजी का अंश बहुत अधिक होता है। राष्ट्रीय आय समिति ने इसलिए अपने अनुमानों में 10 प्रतिशत अशुद्धता का अंश (margin of error) माना है।

सुधार के लिए सुझाव (Suggestion for Improvement) : भारत की राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों की उपलब्धि के लिए राष्ट्रीय आय समिति ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। विभिन्न क्षेत्रों में सुधार के लिए निम्नांकित उपाय प्रयुक्त किये जाने चाहिए।

1. कृषि : कृषि क्षेत्र में व्यापक सर्वेक्षण किये जाने चाहिए तथा हरएक गाँव में कृषि उपज सम्बन्धी अंकों का हिसाब देखा जाना चाहिए। कृषि की फसलों से सम्बन्धित आँकड़ों की जानकारी के लिए फसल कटाई प्रयोग रीति (Crop cutting experiment method) का प्रयोग किया जाना चाहिए। विगत वर्षों में फसलों की वैज्ञानिक कटाई के आकस्मिक आकलन किये गये थे, लेकिन वे भी पूर्ण रूपेण संतोषजनक नहीं हैं, क्योंकि वे राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण की सामग्री पर आधारित उत्पत्ति के आँकड़ों से काफी भिन्न हैं। कृषि सम्बन्धी आँकड़ों के आकलन के सम्बन्ध में डा० वी० के० आर० वी० राव द्वारा निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं :

(क) भूमि उपयोग के सम्बन्ध में सारी कृषि भूमि की गणना करके तल चिन्ह गणना (Bench Mark Census) करना, (ख) उपज के अनुमानों के लिए आकस्मिक नमूना (Random Sampling) फसल कटाई पद्धति, सब कृषि फसलों के बारे में अपनाई जाए, (ग) मूल्यों के बारे में सही आँकड़े प्राप्त करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में विभाजन होना चाहिए, जिनके अन्तर्गत इनकी समय-समय पर नमूना-जाँच (Sample checking) की व्यवस्था हो सके; (घ) पूरे गाँवों को नमूना आधार पर तल-चिन्ह गणना की जानी चाहिए, जिनमें सभी परिवारों के उत्पादन, उपभोग सम्बन्धी आँकड़े शामिल हों।

2 पशु-गणना . पशुओं की गणना का कार्य वार्षिक होना चाहिए तथा इसके लिए प्रति वर्ष केवल चुने हुए 20 प्रतिशत क्षत्रों को ही चुना जाना चाहिए। इस गणना के आधार पर पूरे पशुओं की सख्या की गणना की जा सकती है।

3 निर्माण उद्योग (लघु एवं बडे उद्योग) राष्ट्रीय आय समिति ने लघु एवं बडे उद्योगों से सम्बन्धित आकलन कार्य को अलग-अलग करने का सुझाव दिया है तथा वार्षिक आकलन का सुझाव दिया है। प्रत्येक राज्य में प्रति वर्ष एक या दो लघु उद्योगों का व्यापक अध्ययन किया जाना चाहिए तथा इस अध्ययन का दायित्व शिक्षण व शोध विभागों को दिया जाना चाहिए।

4 खनिज उद्योग राष्ट्रीय आय समिति ने खनिज उद्योग सम्बन्धी आंकडों को श्रम सस्थान द्वारा ही आकलन कर प्रकाशित करते रहने की सिफारिश की है।

5 व्यापार व्यापार सम्बन्धी आंकडों के आकलन में राज्य के बिक्री कर-विभाग से सहायता लेनी चाहिए लेकिन प्राप्त आंकडों को प्रयुक्त करने से पहले उनमें यथोचित सशोधन कर लेना चाहिए।

6 भवन-निर्माण चूंकि भवन निर्माण से पूर्व निर्माणकर्त्ताओं को नगर पालिकाओं अथवा पचायतों से अनुमति लेनी पडती है, इसलिए ये आंकडे उन्ही सग्रहित कराये जाने चाहिए।

7 परिवहन रेल परिवहन से सम्बन्धित आंकडे तो उपलब्ध होते हैं, केवल मोटर परिवहन सम्बन्धी आंकडे के आंकलन की आवश्यकता पडती है। इस कार्य को केन्द्रीय परिवहन मत्रालय व राज्य परिवहन निगम कुशलता से कर सकते है। इन्हे मोटर परिवहन सम्बन्धी तथ्य एकत्रित कर प्रकाशित करने चाहिए।

8 आय कर समिति का आय कर के सम्बन्ध मे सुझाव है कि आय-कर विभाग को चाहिए कि वह आय कर न देने वाले व्यक्तियों की आय के भी सर्वे करवाए।

9 स्वतन्त्र व्यवसाय समिति ने इस सम्बन्ध मे सुझाव दिया है कि स्वतन्त्र व्यवसायो मे कार्य करने वाले लोगो के वेतन, भत्ते, ब्याज, लाभाश, क्षति-पूर्ति आदि के आंकडे अलग-अलग सग्रह कराए जाय।

10 सार्वजनिक व्यवसाय . इस समिति का सुझाव है कि केन्द्रीय सांख्यिकीय सगठन सरकारी व अर्द्ध-सरकारी सस्थानो के प्रगति विवरण अर्थात उत्पादन व्यय से सम्बन्धित आंकडे प्रकाशित करे।

11. राष्ट्रीय आय इकाई : वित्त मत्रालय मे स्थापित राष्ट्रीय आय इकाई (National Income Unit) के सम्बन्ध मे समिति ने सुझाव दिया है कि इसे केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन मे स्थानान्तरित कर दिया जाय तथा इसके द्वारा राष्ट्रीय आय सम्बन्धी शोध कराई जाय।

राष्ट्रीय आय समिति उपर्युक्त के वर्णित सभी सुझावों का सरकार ने मान लिया है फलस्वरूप अब राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकड़े अधिक विश्वसनीय होने लगे हैं।

प्रश्न

1 राष्ट्रीय आय से आप क्या समझते हैं ? भारत की राष्ट्रीय आय के कम होने के कारणों का उल्लेख करते हुए इसे बढ़ाने के लिए सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

2 राष्ट्रीय आय क्या है ? भारत में इसका माप कैसे होता है ?

(आगरा बी ए 1967)

3 पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भारत में राष्ट्रीय आय के विकास की विवेचना कीजिए। (जबलपुर बी ए 1962)

4 What do you understand by National Income ? What is the National Income of India ? (Raj T D C Final, 1967)

5 What are the main difficulties in estimating India s national Income (Delhi, B A , 1961, 1965)

6 What do you understand by National Income ? How has it been calculated for India from time to time and how far it be taken to be an index of her economic prosperity ?

[Punjab B A, 1963]

7 Give an estimate of India s National Income indicating the proportion derived from different sectors How has the position changed during Five Year Plans ?

(Bhagalpur U B A, Honours 1966)

32

भारत में पंचवर्षीय योजनाएं: उद्देश्य एवं व्यूह-रचना

(Objectives and Strategy of India's Five Year Plans)

' If we want to accelerate the rate of economic development then the volume of state expenditure on right type of projects has to be stepped up, the flow of new investment has to be increased, social structure has to be properly adjusted and floodgates of popular enthusiasm have to be opened up '

Alak Ghosh

नियोजन के उद्देश्य तथा व्यूह-रचना

(Objectives and Strategy of Planning)

आर्थिक नियोजन का प्रमुख उद्देश्य पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों को निश्चित समय में प्राप्त करना होता है, अतः अर्थव्यवस्था को इस प्रकार संगठित एवं संचालित किया जाता है कि देश में उपलब्ध समस्त भौतिक तथा मानवीय साधनों का पूर्ण तथा कुशलतम उपयोग किया जा सके। भारत में भी, जब से आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, तब से इसी प्रमुख उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न किये जा रहे हैं।

भारतवर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के योजनाबद्ध आर्थिक विकास के लिए सन् 1950 ई० में योजना आयोग का गठन किया गया। इस आयोग का प्रमुख कार्य देश के भौतिक, मानवीय एवं पूँजीगत साधनों की जाँच करना तथा इनके सर्वाधिक प्रभावपूर्ण तथा सन्तुलित उपयोग के लिए पंचवर्षीय योजनाएं बनाना है। भारतीय योजना आयोग ने अपनी सर्वप्रथम योजना की रूपरेखा दिसम्बर 1952 में भारतीय संसद के समक्ष प्रस्तुत की। तब से अब तक इसने तीन पंचवर्षीय योजनाएं एवं तीन एक-एक वर्षीय योजनाएं बनाई है, जो क्रियान्वित की जा चुकी है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना अप्रैल, 1969 से लागू मान ली गई है।

इस अध्याय मे हम भारत की विभिन्न योजनाओ के उद्देश्यो का विशद विवेचन करेंगे तथा योजनाकाल मे अपनाई गई आर्थिक विकास की व्यूह रचना की समीक्षा करेंगे।

स्वतन्त्रता से पूर्व की शताब्दियो मे विदेशी शासन, शोषण व दिकिश्रता ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था को निर्धनता, बेकारी, तथा आर्थिक स्थिरता के कुचक्र मे ढकेल दिया था। तत्कालीन सरकार की उपेक्षा एव स्वार्थपूर्ण नीतियों के परिणाम-स्वरूप भारत विश्व के एक पिछड़े हुये देश के रूप मे अपनी अर्थ-व्यवस्था को किसी प्रकार घसीटते हुए चल रहा था। देश मे न तो कृषि की ही अवस्था ठीक थी और न ही उद्योग धन्धो की। आधारभूत उद्योग धन्धो का अभाव था तथा उन दिशाओ मे उन्नति के कोई प्रयत्न नहीं किये गये थे, जो एक देश को आर्थिक विकास का एक दृढ़ आधार प्रदान करती है, अत आजादी मिलने के बाद योजना आयोग द्वारा देश के आर्थिक विकास के लिए जो कार्यक्रम बनाया गया, उसका प्रमुख ध्येय भारतीय अर्थ व्यवस्था से अविकास, अस्थिरता तथा अनिश्चितता की स्थिति दूर करना था तथा देश के आर्थिक विकास की एसी आधारशिला रखना था जिससे देश के आर्थिक विकास स्वाभाविक एव निरन्तर गति मे हो सके। हमारी आर्थिक योजनाओ के उद्देश्य सुस्पष्ट एव देश की परिस्थितियो को ध्यान मे रख कर निर्धारित किये गये हैं। अब तक देश की विभिन्न आर्थिक योजनाओ के जो उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं, उनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं —

1 राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करना।

2 खाद्यान्नो के मामले मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करना तथा कृषि उत्पादन मे अधिकाधिक वृद्धि करना।

3 देश के औद्योगीकरण के पिछड़पन को दूर करके उद्योग धन्धो का तीव्र गति से विकास करना।

4 देश मे व्याप्त बेरोजगारी को दूर करने के लिए रोजगार के अवसरो मे वृद्धि करना।

5 आय एव धन सम्बन्धी व्याप्त असमानताओ को कम करना।

6 मूल्य वृद्धि को रोकना।

7 जनसख्या की वृद्धि पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखना।

8 देश की अर्थ व्यवस्था को गतिशील बनाना तथा देश का सर्वांगीण विकास करना।

उपर्युक्त उद्देश्यो को ध्यान से देखने पर स्पष्ट विदित हो जाता है कि ये उद्देश्य परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। राष्ट्रीय आय तथा व्यक्तिगत आय मे वृद्धि

तभी सम्भव है जबकि अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न अंगों में पर्याप्त मात्रा में विनियोजन किया जाय। अर्थात् देश की कृषि व्यवस्था को सुधारा जाय तथा आधारभूत उद्योगों का विकास किया जाय, अर्थ व्यवस्था के इन दोनों महत्वपूर्ण अंगों के विकास के लिए देश में उपलब्ध जन-शक्ति तथा प्राकृतिक साधनों का अधिकतम व लाभप्रद उपयोग किया जाना आवश्यक है। भारत जैसे घनी जनसंख्या वाले देश में, जहां जन-शक्ति के आधिक्य के कारण, बेकारी व अर्द्ध-बेकारी का साम्राज्य है, रोजगार के अवसरों को बढ़ाना एक स्वाभाविक एवं आवश्यक उद्देश्य हो जाता है। देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि देश के उन करोड़ों लोगों को योजना से होने वाले लाभों में हिस्सा मिले, जो जी-तोड़ मेहनत के बावजूद भी निर्धन बने हुए हैं और निम्नतम जीवन-स्तर व्यतीत करने के लिए परिस्थितियोंवश बाध्य हैं। अतः आर्थिक विषमताओं को कम से कम करने का उद्देश्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। देश के विविध क्षेत्रों में उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ यदि मूल्य-स्तर भी बढ़ते चले गये तो देश की वास्तविक प्रगति की दर कम हो जायेगी, अतः मूल्यों पर नियन्त्रण रखना भी आवश्यक है। जनसंख्या की वृद्धि हमारी आर्थिक विकास की योजना की प्रगति पर पानी डाल सकती है। जनसंख्या की विस्फोटक वृद्धि ही हमारी सभी समस्याओं का मूल कारण है, अतः योजनाओं में बढ़ती हुई जनसंख्या को नियन्त्रित करने का उद्देश्य भी बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि बिना इस समस्या का निराकरण किये, किसी भी प्रकार की आर्थिक प्रगति सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे आर्थिक नियोजन के लक्ष्य परस्पर सम्बन्धित व समन्वित हैं तथा एक दूसरे के पूरक हैं। इन उद्देश्यों को नियोजन में निर्धारित करके ही देश सर्वांगीण विकास के मार्ग को प्रशस्त कर सकता है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य
(Objectives of the First Five Year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan)—प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप जुलाई 1951 में प्रकाशित किया गया था, पर इसका अन्तिम रूप दिसम्बर, 1952 में ही उपलब्ध हो सका। इस योजना की अवधि 1 अप्रैल, 1951 से 31 मार्च, 1956 तक की थी। इस योजना में वास्तविक व्यय 1960 करोड़ रुपया हुआ। प्रथम पंचवर्षीय योजना कृषि-प्रधान योजना थी।

योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रतिवेदन में इसके उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा था—"भारतीय योजनाकरण का केन्द्रीय उद्देश्य जनता के जीवन-स्तर को ऊंचा करना तथा उनके अच्छे जीवन के लिए अवसर प्रदान करना है, इसलिए योजनाकरण का लक्ष्य एक तरफ तो देश के उन मानवीय और भौतिक

क्रम बनाये व क्रियान्वित किये जाए जिससे आने वाले वर्षों मे विशाल विकास-योजनाओं की नींव डाली जा सके। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश मे विकास के आधारभूत साधनों का अभाव था, यथा सिंचाई, कृत्रिम खाद, विद्युत, लोहा-इस्पात, मशीन, परिवहन के साधनों आदि की कमी थी। आधारभूत उद्योगों का अभाव था, जिनके अभाव मे आर्थिक विकास की किसी भी योजना को कार्यान्वित करना कठिन था। अत. प्रथम योजना मे इनके विकास पर पर्याप्त बल दिया गया था।

(ए) इस योजना का एक यह भी उद्देश्य था कि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो तथा आर्थिक विषमता को जहाँ तक सम्भव हो कम किया जाय। संविधान के निर्देशक सिद्धान्तो (Directive Principles) के अनुसार विस्तृत रूप मे सामाजिक न्याय के उपायो को लागू किया जाय, लोगो के रहन सहन के स्तर को ऊंचा उठाया जाय।

(V इस योजना का एक उद्देश्य यह भी था कि ऐसी प्रशासनिक व अन्य सस्थाएँ बनाई जायें जो भारत के भावी विकास के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक हो।

इस प्रकार प्रथम पचवर्षीय योजना मे जहाँ इस बात का ध्यान रक्खा गया था कि पूँजी का विनियोग इस प्रकार किया जाय कि जिससे उपलब्ध साधनो द्वारा तत्कालीन उद्देश्यो को पूरा किया जा सके, वहाँ दूसरी ओर इस बात का भी ध्यान रक्खा गया था कि भविष्य मे इन साधनो का यथोचित विकास हो सके तथा वे अधिकाधिक गतिशील बन सके। यह सब एक दीर्घकालीन दृष्टिकोण के आधार पर किया गया था। योजना मे कल्याणकारी सिद्धातो पर आधारित एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के निर्माण को आदर्श के रूप मे स्वीकार किया गया था।

(ट) प्रथम पचवर्षीय योजना की व्यूह रचना
(Strategy of the First Five Year Plan)

प्रथम पचवर्षीय योजना मे विभिन्न मदो पर सरकारी क्षेत्र मे 2069 करोड रुपये व्यय किये जाने थे, लेकिन कुछ समय पश्चात् देश की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुये यह धनराशि बढ़ाकर 2378 करोड रुपये कर दी गई, पर वस्तुत. योजनावधि मे केवल 1916 करोड रुपया व्यय किया जा सका। प्रथम योजनावधि मे विभिन्न मदो पर होने वाला व्यय अग्रलिखित तालिका मे दिखाया गया है :—

मद	वास्तविक व्यय (करोड़ रुपयों में)	वास्तविक व्यय का प्रतिशत
1 कृषि तथा सामुदायिक विकास	291	15
2 बड़ी तथा मध्यम सिंचाई योजनाएँ	310	16
3. सचालन शक्ति (Power)	260	13
4. ग्रामीण तथा लघु उद्योग	43	2
5 उद्योग एवं खनिज	74	4
6 परिवहन एवं सचार	523	27
7. सामाजिक सेवाएं एवं विविध मद	459	23
कुल व्यय	1960	100

उपर्युक्त तालिका मे विभिन्न मदो पर किए गए व्यय की धनराशि इस योजना की व्यूह रचना का स्पष्ट आभास देती है। प्रथम योजना मे कृषि विकास कार्यक्रमो को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है। इस योजना मे 861 करोड़ रुपये अर्थात् कुल व्यय का 44 प्रतिशत भाग कृषि विकास पर व्यय किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उद्योगों के विकास की ओर कम ध्यान दिया जा सका। सार्वजनिक क्षेत्र का केवल 4 प्रतिशत भाग ही उद्योग व खनिज विकास कार्यक्रम पर व्यय किया गया। सवाल उठता है कि प्रथम योजना मे कृषि पर अधिक और उद्योगो के विकास पर कम बल क्या दिया गया ? इस बात पर प्रकाश डालते हुये प्रथम योजना मे इस प्रकार की नीति को उचित ठहराते हुए कहा गया है .

"पहले पाँच वर्षों के लिए हमारे विचार से कृषि, जिसमें सिंचाई तथा सचालन शक्ति भी समाविष्ठ है, को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इसे महत्व देने का उद्देश्य चालू योजनाओ को पूरा करना है। इसके अतिरिक्त हमारा यह दृढ निश्चय है कि उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल तथा खाद्यान्न के उत्पादन मे भारी वृद्धि किये बिना औद्योगिक विकास की तीव्रगति को कायम रखना सम्भव न होगा।"

—योजना आयोग

प्रथम पचवर्षीय योजना मे यह नीति (Strategy) अपनाई गई थी कि देश के औद्योगिक एवं सर्वांगीण विकास के लिए पहले कृषि विकास की ओर ध्यान दिया जाय। एक अर्द्धविकसित देश मे, कृषि की उपेक्षा करके, उद्योगो को प्राथमिकता नहीं दी जा सकती, क्योंकि इससे औद्योगिक विकास का मार्ग अवरुद्ध होवेगा। जब तक देश मे खाद्यान्नों एवं कच्चे माल के उत्पादन को बढ़ाया नहीं जाता, कृषि उपज

की दर बढाई नही जाती, तब तक औद्योगिक विकास की कल्पना नही की जा सकती। कृषि विकास से एक ओर खाद्यान्नो एव कच्चे माल की पूर्ति बढ जाने से औद्योगिक विकास की आधारशिला तैयार होती है तो दूसरी ओर बहुसख्यक लोगो की आय पर अच्छा असर पडने से उनकी उपभोग क्षमता (Propensity to consume) बढ़ जाती है। इगलैड जैसे उद्योग प्रधान देश में भी पहले कृषि क्रान्ति ही हुई थी, उसके बाद ही औद्योगिक क्रान्ति सम्भव हो सकी।[1] अत कृषि और उद्योग के आधारभूत सम्बन्ध की उपेक्षा उस समय नही की जा सकती जबकि किसी अर्द्ध विकसित देश के सर्वांगीण विकास की व्यापक योजना का निर्माण किया जा रहा हो, अत यह आवश्यक है कि नियोजित आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे, यदि अन्ततोगत्वा औद्योगीकरण का लक्ष्य है तो कृषि विकास के मार्ग की सारी बाधाएँ दूर करदी जाएँ। उपर्युक्त विवेचन योजना आयोग की प्रथम योजना के अन्तर्गत कृषि एव सिंचाई के ऊपर दिये गए महत्व की नीति का तर्कपूर्ण स्पष्टीकरण करता है।

कृषि-विकास के लिए यह आवश्यक था कि ग्राम्य जीवन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जाय तथा कृषि सम्बन्धित सभी समस्याओ को प्रभावपूर्ण ढग से सुलझाया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो उपाय प्रथम पचवर्षीय योजना मे अपनाये गये, उन्होंने दो सहायक शैलियो को जन्म दिया।

पहली सहायक शैली परिवहन, सिंचाई, विद्युत, सामुदायिक विकास योजनाओ से सम्बन्धित थी। योजना के निर्माण कर्त्ताओ का विश्वास था कि इनके विकास से बाह्य मितव्ययिताओ (external economies) मे वृद्धि होगी, लोग कृषि मे अधिकाधिक विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित होगे, फलस्वरूप उत्पादन वृद्धि सरलता से हो सकेगी। सामुदायिक विकास योजनाओं को प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जो अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। उससे कई उद्देश्यो की पूर्ति की आशा की गई थी, यथा (1) इससे ग्रामीण क्षेत्र के अर्द्ध बेकारों को काम मिल सकेगा, क्योंकि सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत ग्रामीण सडको के निर्माण, स्वास्थ्य एव सफाई, भवन निर्माण, समाज कल्याण आदि कार्यों का समावेश

---

1. "Even in countries like Great Britain where planning was not undertaken for economic growth, an agricultural revolution preceded an industrial revolution and it was the reorientation of agriculture which increased agricultural productivity and released surplus labourers for industry This basic relationship between agriculture and industry cannot be ignored when planning is undertaken for an all round development and ultimate industrialisation of underdeveloped economy"

Alak Goth New Horizons in planning, p. 124

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्नांकित थे —

1 राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि करना ताकि देशवासियों का जीवनस्तर ऊंचा उठ सके। प्रथम योजनावधि में राष्ट्रीय आय 9110 करोड़ रुपये से बढ़कर 10,800 करोड़ हो गई थी, अर्थात् योजनाकाल में 18.4 प्रतिशत की दर से राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई थी। यह वृद्धि पर्याप्त नहीं थी, अत जीवन स्तर को उन्नत करने के लिए तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए और अधिक आर्थिक विकास आवश्यक था। इसलिए दूसरी पंचवर्षीय योजनाकाल में 25% राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया, अर्थात् राष्ट्रीय आय को 10,800 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 13,480 करोड़ करने का लक्ष्य रखा गया। इसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति औसत उपभोग व्यय में 8% की वृद्धि का उद्देश्य था जोकि देशवासियों के रहन सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए आवश्यक था।

2 तीव्र गति से औद्योगीकरण को बढ़ावा देना द्वितीय पंचवर्षीय योजना का दूसरा प्रमुख उद्देश्य आधारभूत एवं भारी उद्योगों पर विशेष जोर देते हुए, तीव्र गति से उद्योग-धन्धों का विकास करना था। तीव्र औद्योगीकरण के लिए मशीन बनाने वाली मशीनों के निर्माण कार्य को प्रारम्भ करना आवश्यक था। लोहा व इस्पात, कोयला, सीमेण्ट, भारी रसायन आदि को प्राथमिकता देना जरूरी था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए, द्वितीय योजना में, औद्योगीकरण को, खास कर, आधारभूत तथा भारी उद्योगों के विकास को उच्च प्राथमिकता दी गई।

3 रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना जनसाधारण को समाजवादी अर्थ-व्यवस्था अथवा नियोजित अर्थ व्यवस्था के महत्व का आभास तभी मिल सकता है जबकि देश की बेरोजगारी व अर्द्ध बेरोजगारी समाप्त हो जाय। भारतवर्ष में प्रथम योजना के बावजूद भी यह समस्या न हल हो सकी, वरन उल्टे प्रथम योजना के अन्त में बेरोजगारों की संख्या पहले से अधिक बढ़ गई। अत दूसरी योजना में बेरोज-गारी की समस्या को हल करने का प्रमुख उद्देश्य सामने रखा गया। योजना आयोग ने इस दिशा में दीर्घकालीन व्यावहारिक नीति द्वारा 1966-67 तक देश में पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करने का दृढ़ निश्चय किया। इस योजना के अन्तर्गत कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में 80 लाख अतिरिक्त व्यक्तियों तक के लिए रोजगार के अवसर दिलाने की व्यवस्था की गई थी। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए श्रम प्रधान-उद्योगों (Labour Intensive Industries) पर बल देने के साथ-साथ औद्योगिक ढाँचे में विविधता लाने पर जोर दिया गया। बड़े उद्योगों के साथ कुटीर व लघु उद्योगों पर जोर दिया गया ताकि रोजगार के अवसर बढ़ सकें।

4. आर्थिक विषमताओं को दूर करना : द्वितीय पंचवर्षीय योजना का चौथा महत्वपूर्ण उद्देश्य आय तथा सम्पत्ति की असमानताओं को *कम करना तथा आर्थिक शक्ति का अधिक समान वितरण करना* था। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में सम्पत्ति एवं आय का वितरण बड़ा ही दोष पूर्ण होता है, अतः जन-कल्याण के उद्देश्य से आय के वितरण की इस असमानता को दूर करना आवश्यक होता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस उद्देश्य पर अधिक बल नहीं दिया जा सका, लेकिन समाज के समाजवादी ढाँचे के आदर्श को अपनाये जाने के कारण, दूसरी योजना में इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। इस उद्देश्य की सफलता के लिए एक ओर तो सामान्य जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना जरूरी होता है तथा दूसरी ओर सम्पत्ति के सकेन्द्रण (Concentration) को रोकना आवश्यक होता है। एकाधिकारी शक्ति के द्वारा, विभिन्न तरीकों से जनता का शोषण किया जाता है, अतः समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में एकाधिकार के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

संक्षेप में, योजना आयोग के शब्दों में, – "हमारी द्वितीय पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य ग्रामीण भारत का पुनर्निर्माण करना, भारत की औद्योगिक प्रगति की सुदृढ़ नींव रखना, *जनता के शक्ति-हीन एवं अधिकार-हीन वर्ग को समुन्नति का* अवसर प्रदान करना तथा देश के सभी भागों का सन्तुलित विकास करना है।"

2. (ख) द्वितीय पंचवर्षीय योजना की विकास शैली या व्यूह-रचना
(Strategy of the Second Five Year Plan)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में विभिन्न मदों पर, सरकारी क्षेत्र में 4800 करोड़ रुपये व्यय किये जाते थे, परन्तु वस्तुतः इस योजनावधि में सरकारी क्षेत्र में केवल *4600 करोड़ रुपयों का ही विनियोग किया गया।* इस योजना पर विभिन्न मदों पर होने वाला व्यय निम्नांकित तालिका में दिखाया गया है .

मद	वास्तविक व्यय करोड़ रुपयों में	वास्तविक व्यय का प्रतिशत
1. कृषि तथा सामुदायिक विकास	530	11
2. *वृहत तथा मध्यम सिंचाई-योजनाएं*	*420*	9
3. संचालन शक्ति	445	10
4. ग्रामीण तथा लघु उद्योग	175	4
5. उद्योग एवं खनिज	900	20
6. परिवहन एवं संचार	1300	28
7. सामाजिक सेवाएँ एवं विविध मद	830	18
कुल व्यय	4600	100

उपर्युक्त तालिका के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस योजना मे कृषि को उतना महत्व नही दिया गया, जितना की प्रथम योजना मे दिया गया था। प्रथम योजना मे कृषि तथा सिंचाई पर कुल व्यय का 31 प्रतिशत व्यय किया गया था, लेकिन द्वितीय योजना मे इन कृषि विषयक मदो पर कुल व्यय का 20 प्रतिशत व्यय किया गया। इस योजना में उद्योग एव खनिजों को उच्च प्राथमिकता दी गई और इन पर व्यय का सापेक्षित प्रतिशत प्रथम योजना में 4 से बढ कर द्वितीय योजना मे 20 हो गया। परिवहन एव सचार को दोनों योजनाओ मे लगभग समान महत्व मिला जबकि सामाजिक सेवाओ का प्रतिशत प्रथम योजना मे 23 से घटकर द्वितीय योजना मे 18 रह गया। द्वितीय योजना मे व्यय सम्बन्धी आँकडे इस योजना मे अपनाई गई शैली पर प्रकाश डालते है, जिसका अध्ययन अब हम नीचे के अनुच्छेदो मे करेंगे।

द्वितीय पचवर्षीय योजना की मूल शैली औद्योगिक क्षेत्र के विकास की सम्भावनाओ से सम्बन्धित है। प्रथम योजना मे कृषि विकास पर बल देकर अर्थ व्यवस्था की आधारशिला रखी जा चुकी थी। अत इस आधारशिला पर औद्योगिक विकास के ढाचे को निर्मित करना द्वितीय योजना का लक्ष्य था। यह शैली व्यावहारिक एव तर्कसगत भी है, आर्थिक विकास के सिद्धात हमें बताते है कि आर्थिक प्रगति की प्रारंभिक अवस्था मे औद्योगिक विकास की गति तथा बाजार मे अतिरिक्त खाद्यान्नो की पूर्ति एक दूसरे से प्रभावित होती है। दूसरे शब्दो मे, जब तक देश में खाद्यान्नों की उपलब्धि व पूर्ति को यथोचित मात्रा मे न बढाया जायेगा, तब तक देश मे औद्योगिक विकास की गति को भी तेज नही किया जा सकेगा। चूँकि भारत मे प्रथम योजना अवधि मे खाद्यान्नो की पूर्ति मे आवश्यक वृद्धि की जा चुकी थी, अत द्वितीय योजना मे योजना के निर्माणकर्त्ताओं ने भारी व मूलभूत उद्योगो के विकास पर जोर देकर उचित शैली को अपनाया। दूसरी योजना मे लोहा व इस्पात, सीमेंट भारी रासायनिक तथा मशीन निर्माण उद्योग जैसे आधारभूत एव भारी उद्योग के विकास पर बल दिया गया। इनके विकास के पीछे मूल उद्देश्य यह था कि देश मे द्रुत औद्योगीकरण की विशाल आधारशिला कम से कम समय मे निर्मित की जा सके। इन उद्योगो के विकास पर बल दिये जाने का औचित्य इसलिए भी है कि इन उद्योगो मे बडे पैमाने से सम्बन्धित सभी लाभ प्राप्त किए जा सकते है तथा बड़े पैमाने के उद्योग परस्पर एक दूसरे को तीव्रगति से प्रगति की ओर ले जाते हैं और देश के आर्थिक विकास की *गति को अत्यधिक बढा देते है, अत दूसरी योजना मे इन उद्योगों को उच्च प्राथमिकता* देना न केवल उचित ही नहीं वरन् आवश्यक एक तत्परता भी था।

चूँकि भारत एक कल्याणकारी राज्य है, अत कल्याण सम्बन्धी खर्चों मे कटौती नही की जा सकती थी, अत: योजना के निर्माताओ ने कल्याणकारी कार्यों

पर व्यय के लिए एक बहुत बड़ी धन-राशि (कुल व्यय का 22.6 प्रतिशत) का प्रावधान किया था। इस योजना में ग्रामावास, स्वास्थ्य, शिक्षा, अनुसंधान, समाज कल्याण, सामाजिक सुरक्षा तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों में लगभग 830 करोड़ रुपये खर्च किए गये जो कुल व्यय का 18 प्रतिशत था।

द्वितीय योजना में वृहत उद्योगों के साथ साथ ग्रामीण व लघु उद्योगों के विकास पर भी समुचित बल दिया गया था। आधारभूत उद्योगों के विकास से देश में उपभोक्ता पदार्थों की कमी आ जाने की सम्भावना थी, एक ओर श्रमिकों के वेतन बढ़ जाने से तथा दूसरी ओर उपभोक्ता पदार्थों की कमी समाज में विचित्र स्थिति पैदा कर सकती है तथा इससे आर्थिक विकास में बाधाएं उत्पन्न हो सकती हैं। इसी-लिए दूसरी पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण व लघु उद्योगों के विकास पर समुचित बल दिया गया था। इन उद्योगों के विकास से देश में एक ओर तो उपभोक्ता पदार्थों की कमी दूर की जा सकती थी और दूसरी ओर देश के अधिकाधिक लोगों को रोजगार की सुविधाएं दिलाई जा सकती थीं। यही नहीं, इनका विकास समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप भी था। इस प्रकार द्वितीय योजना में बहुत उद्योगों के साथ-साथ ग्रामीण व लघु उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करना इस योजना की महत्वपूर्ण शैली थी।[1]

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की मुख्य नीति या शैली को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है द्वितीय योजना में पूंजीगत विकास पर बल दिया गया तथा अर्थ-व्यवस्था को दृढ़ आधार पर रखने का प्रयास किया गया। इस मूल शैली को पूरक शैली रूप में समाज कल्याण सम्बन्धी सेवाओं पर बल दिया गया। उक्त दोनों मूल-भूत एवं पूरक शैलियों के अपनाने से लोगों के पास क्रय-शक्ति बढ़ जायेगी जिससे वे अधिकाधिक उपभोक्ता सामान की मांग करेंगे। इस समस्या का हल करने के लिए

---

[1] "This means that at the one end we have deep capital-intensive investment with low employment potentiality and high overhead expenditures, at the other end we have labour intensive investments with high employment possibility and low overhead costs. The former effectively prepares the ground for industrialisation and accelerated growth and the latter endeavours to solve simultaneously the problems of consumption and employment."

—Alak Ghosh New Horizons in Planning P 136

दूसरी पचवर्षीय योजना मे कुटीर एव लघु उद्योगो के विकास को बढावा दिया गया।[1] इससे उपभोक्ता वस्तुओ की पूर्ति बढने से लोगो की बढती हुई उपभोक्ता वस्तुओ की माँग पूरी की जा सकेगी, साथ ही अधिक लोगो को कार्य दिलाया जा सकेगा।

द्वितीय योजना मे आर्थिक विकास की जिस शैली को अपनाया गया है उसमे कुछ कमियां अथवा दोष रह गये हैं जो इस प्रकार है, (1) भारी उद्योगो के परिमाणात्मक (Quantitive) लक्ष्यो पर ध्यान तो दिया गया, लेकिन गुणात्मक पहलू की ओर ध्यान नही दिया गया। उत्पादन की तकनीक सुधारने व श्रम-कुशलता बढाने की ओर ध्यान नही दिया गया। (2) कुटीर एव लघु उद्योगो मे होने वाली बचत को एकत्र करने की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया, इसमे पूँजी का एक बहुत बडा भाग, जो देश के आर्थिक विकास मे विनियोजित हो सकता था, विनियोजित नही किया जा सका। (3) इस योजना मे अपनाई गई विकास शैली ने लागतो को कम करने एव सम्पूर्ण कार्यक्षमता बढाने की समस्या की ओर यथोचित ध्यान नही दिया। (4) यद्यपि नियोजित अर्थ व्यवस्था मे धीरे-धीरे कृषि की अपेक्षा औद्योगिक क्षेत्र बढाना चाहिए, लेकिन भारत मे कृषि क्षेत्र मे यथोचित विकास न होने के बावजूद भी द्वितीय योजना मे इसके विकास की उपेक्षा की गई। फलस्वरूप देश मे भुगतान सतुलन सम्बन्धी कठिनाइयाँ, मुद्रा प्रसार सम्बन्धी दोष, बेकारी की समस्या आदि कई आर्थिक कठिनाइयाँ पैदा हो गई।

सार्वजनिक क्षेत्र में 7500 करोड़ रुपये व्यय किए जाने का प्रावधान था किन्तु पाँच वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र में वस्तुतः 8631 करोड़ रुपये व्यय किये गए, अर्थात् 1131 करोड़ रुपये निर्धारित धनराशि से अधिक खर्च किये गये।

तृतीय पंचवर्षीय योजना कृषि-अवस्था को सुदृढ़ बनाने, विद्युत एवं परिवहन का विस्तार करने, औद्योगिक एवं प्राविधिक परिवर्तन की गति को तेज करने, अवसर की समानता एवं समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा में तीव्र गति से बढ़ने तथा रोजगार के साधनों में वृद्धि करने के उद्देश्य से निर्मित की गई थी। इस योजना का प्रमुख उद्देश्य स्वावलम्बी और स्वय-स्फूर्ति अर्थ-व्यवस्था (Self-reliant and self-generating Economy) रखा गया। इस योजना के मुख्य-मुख्य उद्देश्य निम्नांकित थे :

1. राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना : योजना काल के पाँच वर्षों में राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रक्खा गया। विनियोग इस प्रकार से करने की व्यवस्था की जानी थी कि आगामी योजनाओं में भी इस विकास की दर को बनाये रक्खा जाय। प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनावधि में राष्ट्रीय आय में 42 6 प्रतिशत वृद्धि हुई थी। तृतीय योजना में कुल 25 प्रतिशत से अधिक राष्ट्रीय आय 19000 करोड़ रुपय हो जाने की आशा थी। प्रति व्यक्ति आय को भी 330 रुपये से बढ़ाकर तृतीय योजना के अन्त तक 385 रु० प्रति वर्ष की जानी थी।

2. खाद्यान्न की उपज में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना : तृतीय योजना का दूसरा मुख्य उद्देश्य खाद्यान्न की उपज में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना तथा कृषि-उपज में इतनी वृद्धि करना था कि एक ओर देश के उद्योगों की कच्चे माल सम्बन्धी आवश्यकताएं पूरी की जा सकें तथा दूसरी ओर इनका कुछ निर्यात भी हो सके। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि के महत्व को कम करने के कारण योजनाकाल में खाद्यान्नों का अभाव हो गया था, इसलिए तृतीय योजना में कृषि विकास पर पुन. जोर दिया गया। योजनावधि में कुल कृषि उत्पादन में 30% तक खाद्यान्नों के उत्पादन में 26 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था। ऐसी आशा की जाती थी कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के पश्चात् देश खाद्यान्नों के मामले में आत्मनिर्भर हो जायेगा।

3. आधारभूत उद्योगों का विस्तार करना : इस योजना में बुनियादी उद्योगों पर यथोचित जोर दिया गया। इस्पात, बिजली, तेल, ईंधन, रासायनिक उद्योगों का विस्तार करना तथा मशीन निर्मित करने वाले कारखानों की स्थापना करना ताकि आगामी 10 वर्षों में देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मशीनें देश से ही प्राप्त की जा सकें। द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण नि सन्देह आवश्यक है, इसीलिए इस योजना में आधारभूत उद्योगों के विकास पर पर्याप्त जोर

दिया गया। योजनावधि में औद्योगिक उत्पादन में 69 प्रतिशत वृद्धि करने का आयोजन था।

4 रोजगार के साधनों में वृद्धि करना : इस योजना का चौथा प्रमुख उद्देश्य रोजगार के साधनों को बढ़ाना था ताकि देश की मानव शक्ति का अधिकतम सीमा तक उपयोग किया जा सके। इस योजना के सम्मिलित कार्यक्रमों के फलस्वरूप योजनावधि में 140 लाख अतिरिक्त लोगों के लिए रोजगार की व्यवस्था का आयोजन था। इसमें से 30 लाख व्यक्तियों को कृषि-क्षेत्र में तथा शेष 105 लाख व्यक्तियों को गैर कृषि क्षेत्र में रोजगार दिलाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

5 आर्थिक विषमता को दूर करना : तृतीय पंचवर्षीय योजना का पाँचवा उद्देश्य धन एवं आय के वितरण की विषमता को कम कर आर्थिक शक्तियों का अधिक न्यायोचित वितरण करना था। इस योजना में समय के साथ साथ अधिकाधिक मात्रा में जनता में समान अवसर उपलब्ध कराने पर विशेष बल दिया गया।

3 (ख) तृतीय पंचवर्षीय योजना की विकास शक्ति या व्यूह रचना (Strategy of the Third Five Year Plan)

तृतीय पंचवर्षीय योजना में विभिन्न मदों पर, सार्वजनिक क्षेत्र में 7500 करोड़ रुपये व्यय किए जाने थे, पर वस्तुतः 8631 करोड़ रुपये खर्च हुए, अर्थात् अनुमानतः 1131 करोड़ रुपये निर्धारित राशि से अधिक व्यय किए गए। इस योजना पर विभिन्न मदों पर होने वाला व्यय निम्न तालिका में दिया है :

मद	वास्तविक व्यय करोड़ रुपयों में	वास्तविक व्यय का प्रतिशत
1 कृषि एवं सामुदायिक विकास	1103	12·8
2. बृहत् एवं मध्यम सिंचाई योजनाएँ	675	7·6
3 विद्युत या संचालन शक्ति	1262	14·6
4 ग्रामीण एवं लघु उद्योग	220	2·6
5. संगठित उद्योग एवं खनिज	1735	20·1
6. परिवहन एवं संचार	2116	24·5
7. सामाजिक सेवाएँ एवं विविध	1538	17·8
कुल	8649	100·0

उपर्युक्त तालिका के देखने से स्पष्ट है कि तृतीय योजना मे कृषि, सिंचाई, एव सामूहिक विकास पर कुल व्यय का 35 0 प्रतिशत व्यय किया गया जबकि द्वितीय योजना मे इन मदो पर 30 प्रतिशत व्यय किया गया था। इस प्रकार तृतीय पचवर्षीय योजना मे पुन: कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। परिवहन एव सचार अपेक्षाकृत इस योजना मे उपेक्षित रहा, क्योकि इस योजना मे इस पर 20 प्रतिशत धनराशि ही खर्च की गई, जबकि दूसरी योजना मे इस मद पर 28 प्रतिशत व्यय किया गया था। अन्य मदों के व्यय स्वरूप मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। यह सच है कि इस योजना मे कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई, पर ऐसा उद्योगो के स्थान पर नही किया गया। आधारभूत उद्योगो के विस्तार को आर्थिक विकास की दृष्टि से आवश्यक समझा गया, फलस्वरूप इस योजना मे भी इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया।

तृतीय योजना मे आर्थिक विकास की जो शैली अपनाई गई, उसमे कृषि विकास को देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक समझा गया। प्रथम दो योजनाओ, खास कर दूसरी योजना, मे जो अनुभव प्राप्त हुआ, उससे यह स्पष्ट हो गया कि इस समय कृषि-उत्पादन की जो मन्द गति है, वह देश की अर्थ व्यवस्था की प्रगति को सीमित रखने वाले प्रमुख कारणो मे से एक है। इसीलिए तृतीय योजना मे कृषि उत्पादन को यथा सम्भव बढ़ाने पर बल दिया गया और कृषि के विषय मे लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए पर्याप्त साधनो की व्यवस्था की गई। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को विभिन्न दिशाओ मे मोड़ने के प्रयत्नो पर जोर देकर कृषि पर निर्भर रहने वाले लोगो के अनुपात को कम करने का प्रयास किया गया। योजना मे निर्माणकर्त्ताओ ने इस बात पर जोर दिया था कि कृषि अर्थ-व्यवस्था का मानव साधनो के उपयोग और अन्य ग्रामीण क्षेत्रो के साधनो से घनिष्ट सम्बन्ध है, अत यदि कृषि के विकास पर यथोचित ध्यान दिया गया तो इससे सम्पूर्ण ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे सुधार होगा। कृषि क्षेत्र मे विकास कार्यों के अभाव मे भारत जैसे जनाधिक्य वाले देश मे औद्योगिकरण की गति तीव्र नही की जा सकती। इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए इस योजना मे ग्रामीण अर्थ व्यवस्था के विविधीकरण के द्वारा सहायक लघु एव कुटीर उद्योगो मे मानव शक्ति का उपयोग करके कृषि पर से मानव भार कम करने का प्रयास किया गया। बेरोजगारी को दूर करने के लिए, अधिक जनसख्या के दवाव वाले क्षेत्रो मे श्रम प्रधान (labour intensive) कार्यक्रमो पर जोर दिया गया। कहना न होगा कि कृषि व्यवस्था भारत मे सर्वाधिक महत्व रखती है और इस पर दिया गया बल उचित ही था। इस योजना मे कृषि विषयक जो कार्यक्रम अपनाए गए, उनमे से प्रमुख य है : (i) सिचाई सुविधाओ का विस्तार किया गया, (ii) भू-सरक्षण, सूखा खेती एव नई भूमि का कृषि के अन्तर्गत लाने के कार्यक्रमो को गहन

किया गया (iii) खाद एवं उर्वरकों के वितरण करने की समुचित व्यवस्था की गई; एवं (iv) अपेक्षाकृत उन्नत हल एवं उन्नत किस्म के यन्त्रों के प्रयोग को समुचित प्रोत्साहन दिया गया।

कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हुए भी मूलभूत उद्योगों के विकास के महत्त्व को भी पर्याप्त मात्रा में स्वीकार किया गया। इस योजना में ऐसे उद्योगों के विकास पर विशेष जोर दिया गया, जो अर्थ व्यवस्था को स्वयं स्फूर्ति दायक बनाने में सहायक हो सकते थे, यथा इस्पात व मशीन निर्माण उद्योग, ईंधन, सचालन शक्ति रसायन उद्योग आदि, दुर्गापुर, भिलाई व राउरकेला के स्टील बनाने के कारखानों को विस्तृत करने एवं एक सार्वजनिक क्षेत्र में चौथे कारखाने को खोलने की व्यवस्था औद्योगिक आधार को मजबूत बनाने पर बल दिया गया।

योजना आयोग ने परिवहन व संदेश-वाहन के साथ के आर्थिक विकास में महत्व को समझते हुए इसके विकास पर भी पर्याप्त व्यय की व्यवस्था की कृषि एवं उद्योगों का विकास तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक इस प्रकार की सेवाओं का समुचित विस्तार न किया जाय। सक्षेप में, तृतीय पचवर्षीय योजना में आर्थिक विकास की जो शैली अपनाई गई वह कृषि एवं उद्योग दोनों के सतुलित विकास की एसी अवस्था तक ले जाने वाली थी, जहाँ अर्थ व्यवस्था स्वावलम्बी व स्वय स्फूर्तिमय हो जाती है।

सन 1962 तथा 1965 में क्रमश चीन एवं पाकिस्तान के आक्रमण के कारण इस योजना की व्यूह रचना में कुछ परिवर्तन नितान्त आवश्यक हो गए थे। योजना को देश की प्रतिरक्षा के लिए प्रतिरक्षा परक (Defence Oriented) बनाना पड़ा। औद्योगिक अनुसधान एव कृषि विकास तथा पुनर्गठन के साथ साथ प्रतिरक्षा के क्षेत्र में अनुसधान की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया।

4 (क) चौथी पचवर्षीय योजना के उद्देश्य
(Objectives of Fourth Five Year Plan)

इस योजना का प्रारूप प्रो डी आर गैडगिल द्वारा अप्रैल 1969 में ससद में प्रस्तुत किया गया था परन्तु अन्तिम रूप इसे मई 1970 में दिया गया। इस प्रारूप में योजना के उद्देश्य भी बतलाये गये थे। उद्देश्यों के बारे में लिखा था कि "योजना का बुनियादी उद्देश्य समानता और सामाजिक न्याय को प्रोत्साहित करने वाले उपायों द्वारा जनता के जीवन-स्तर को तेजी से ऊचा उठाना है। जन-सामान्य, निर्बल वर्गों तथा कम अधिकार प्राप्त लोगों पर विशेष बल देना है।" परन्तु योजना के दो ही वर्ष पूरे हुए थे कि प्रो गैडगिल एवं उनके साथियों ने योजना आयोग को त्यागपत्र दे दिया। इसके पश्चात् देश के प्रधान मन्त्री ने नये योजना आयोग का

गठन किया जिसमे श्री सी सुब्रामान्यम योजना मन्त्री नियुक्त किये गये, जो अप्रैल 1971 के तीसरे सप्ताह मे इसके उपाध्यक्ष बना दिए गये। श्री सी सुब्रामान्यम एव उनके साथियो ने प्रो गैडगिल द्वारा बताये गये उद्देश्यो पर पुन विचार किया और इस योजना के निम्नलिखित तीन उद्देश्य बताए —

(1) आत्म निर्भरता प्राप्त करना (To ahvieve Self Reliance)

इस योजना का प्रथम एव प्रमुख लक्ष्य आत्म निर्भरता प्राप्त करना रखा गया। इसमे विदेशी सहायता को आधी कर देने का लक्ष्य रखा गया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये पी एल 480 के अन्तर्गत मिलने वाली सहायता को 1970–71 तक बिल्कुल समाप्त करने का लक्ष्य रखा गया। इस विदेशी निर्भरता को समाप्त करने के लिये निर्यातो मे 7 प्रतिशत की वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया। इस प्रकार निर्यातो से आय 1360 करोड रुपये से बढा कर 1973–74 तक 1900 करोड रुपये करने का लक्ष्य रखा गया।

(2) क्षेत्रीय समानता (Regional balance)

इस योजना का दूसरा उद्देश्य योजना के विकास मे क्षेत्रीय असमानताओ को दूर करना रखा गया अर्थात विकास के लाभो को सभी क्षेत्रो मे समान रूप से वितरित किया जाएगा। प्रो गैडगिल इस विचार के समर्थक थे कि देश का विकास करने के लिये सभी क्षेत्रो का विकास करना आवश्यक है। पिछली सभी योजनाएँ क्षेत्रीय असमानता के आधार पर बनाई गई थी जैसे प्रथम योजना कृषि विकास के लिये, द्वितीय योजना उद्योगो के विकास के लिये इस योजना मे कृषि एव उद्योग दोनो क्षेत्रो का विकास करने का लक्ष्य रखा गया है। इसम कृषि मे 5 प्रतिशत एव उद्योगो मे 8 से 12 प्रतिशत तक आर्थिक विकास प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है। इसी आधार पर सम्पूर्ण देश के वार्षिक विकास की दर 5 5 प्रतिशत प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है।

(3) स्थिरता के साथ विकास (Growth with Stability)

इस योजना का अन्तिम लक्ष्य देश का स्थिरता के साथ विकास करना रखा गया, परन्तु यह इस योजना का नया लक्ष्य नही था। यह लक्ष्य तो जब से योजना बननी प्रारम्भ हुई हैं, तभी से है। परन्तु पिछले तीन वर्षो मे मूल्यो मे 45 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, जिससे यह अनुभव हुआ है कि देश के समुचित विकास के लिये मूल्य स्थिरता बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यदि इस लक्ष्य की प्राप्ति बिना यदि अन्य सभी लक्ष्य पूरे भी कर दिये गए तो वे बेकार सिद्ध होगे। इसलिये इस उद्देश्य को योजना का प्रमुख उद्देश्य कहना अतिशयोक्ति नही होगी।

4 (ख) चौथी पंचवर्षीय योजना की विकास शैली
(Strategy of the Fourth Five Year Plan)

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में 1509 करोड़ रुपये व्यय करने का लक्ष्य निर्धारित किया है तथा उक्त तालिका से चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में निर्धारित प्राथमिकताओं के आधार पर व्यय के वितरण का अनुमान लगाया जा सकता है :

मद	अनुमानित वितरण	(करोड़ रुपयों में) कुल परिव्यय का प्रतिशत वितरण
1 कृषि व सम्बन्धित क्षेत्र	2728.2	17.1
2 सिंचाई व बाढ़ नियन्त्रण	1086.6	6.8
3 शक्ति	2447.5	15.4
4 ग्रामीण व लघु उद्योग	293.1	1.8
5 उद्योग व खनन	33[illegible]7	21.0
6 यातायात व सचार	3237.3	20.3
7 सामाजिक सेवाएँ व अन्य	2771.8	17.6

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि चतुर्थ योजना में देश के कृषि विकास को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है, उत्पादन के लिए भी 5% वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया, तथा बरानी इलाके में किसानों को अधिक से अधिक सुविधाएं प्राप्त कराने का भी लक्ष्य सरकार ने रखा। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अनुसन्धान कार्यों को अपनाना, रासायनिक खाद आदि का प्रयोग करना तथा वितरण व्यवस्था में सुधार करना, आदि विधियाँ (strategies) निर्धारित की गईं।

औद्योगिक उत्पादन की वार्षिक वृद्धि का अनुमान भी 8–10% लगाया गया है, तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति कारखानों की पूर्ण क्षमता का प्रयोग करके, नए कारखाने लगा कर, आदि द्वारा पूरा करने की बात सोची गई।

इसके अलावा विद्युत विकास, परिवहन तथा परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को भी विस्तृत रूप से प्रोत्साहन देने का लक्ष्य निर्धारित किया।

5 पांचवीं योजना के उद्देश्य

योजना आयोग द्वारा पांचवी योजना की परिकल्पना पर 30 और 31 मई, 1972 को प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की अध्यक्षता में राष्ट्रीय विकास परिषद ने विचार किया जिसमें गरीब वर्गों की न्यूनतम बुनियादी आवश्यकताएँ

उपलब्ध कराने के राष्ट्रीय कार्यक्रम पर जोर दिया गया। पहली पचवर्षीय योजना मे कृषि पर, दूसरी एव तीसरी योजनाओं मे औद्योगिक विकास पर और चौथी योजना मे सामाजिक स्थिरता के विकास पर जोर दिया गया था। इन योजनाओं के दौरान यद्यपि कुछ क्षेत्रो मे उल्लेखनीय प्रगति हुई है, लेकिन बढ़ती हुई बेरोजगारी और समाज के एक वर्ग की भयकर गरीबी ने देश के सामने गभीर सामाजिक एव राजनैतिक समस्याएं खड़ी कर दी है। यह निर्धनतम वर्ग देश की पूरी आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा है इसमे प्रत्येक पाच भारतीयो मे से दो आते हैं। इस प्रकार भयकर गरीबी का जीवन जीने वाले ये लोग भारत के समस्त नागरिको का 2/5 मे लेकर 1/2 हिस्सा तक है। इसलिए पाचवी योजना का प्रमुख लक्ष्य व्यापक स्तर पर रोजगार की सुविधाओं की व्यवस्था कर बेरोजगारी की समस्या पर प्रत्यक्ष प्रहार करना और लोगो की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर 'गरीबी हटाओ' के वायदे को पूरा करना है। इस योजना का प्रमुख उद्देश्य "तेजी मे आर्थिक विकास और रोजगार के अवसरो के विस्तार, आय एव सम्पत्ति की असमानताओं मे कमी, आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की रोकथाम और एक स्वतन्त्र तथा समानता पर आधारित समाज के मूल्यो और दृष्टिकोणो के निर्माण के लिये समाजवादी आधार पर विकास करना है।"

इस योजना के प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित है :

(1) आत्म निर्भरता इस योजना की अवधि मे आत्म-निर्भरता के लक्ष्य की ओर पूरा करना है। सन् 1978–79 तक शुद्ध विदेशी सहायता को शून्य कर देना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस योजना मे अनाज मे आत्म निर्भरता को और मजबूत बनाना, इस्पात एव अलौह धातुओ, उर्वरको, बिना साफ किये तेल, पैट्रोलियम के सामान, इजीनीयरी सामान और बुनियादी रसायनो का उत्पादन बढ़ाना होगा। अनाज मे आत्म निर्भरता प्राप्त करने के बाद गरीबो की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए खपत योग्य वस्तुओ के पुनर्वितरण की व्यवस्था की जायगी। मध्यम और उच्च आय के लोगो को अपनी खपत के सम्बन्ध मे सयम रखना होगा, विशेषकर ऐसी वस्तुओ और सेवाओं के बारे मे जिनका आयात करना आवश्यक है। घरेलू टक्नालाजी का भी देश के विकास सम्बन्धी प्रयासो और आत्मनिर्भरता के अभियान मे महत्वपूर्ण स्थान है। इसमे विदेशी टेक्नालाजी को बिल्कुल समाप्त नही किया जायगा, बल्कि आयातित तथा विदेशी टक्नालाजी का मिला-जुला प्रयोग इस प्रकार किया जायगा कि धीरे धीरे देशी टेक्नालाजी का हिस्सा बढ़ता जाय।

आत्म निर्भरता के लक्ष्य को पूरा करने के लिए निर्यातो मे वृद्धि की जायगी। इस योजना मे निर्यातो मे 7 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है। निर्यात की

दृष्टि से देश में कीमतों को भी स्थिर रखा जायगा। इसमें उन वस्तुओं के आयातों पर प्रतिबन्ध रखा जायगा जिनका देश के भुगतान सन्तुलन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु आयातों में उन वस्तुओं को महत्त्व दिया जायगा जो देश के निर्यातों में वृद्धि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

(2) विकास की दर एवं स्वरूप पाचवी योजना की अवधि में विकास की दर और स्वरूप का निर्धारण योजना के लक्ष्यों एवं कार्य विधि के आधार पर किया गया है। अनेक विकास दरों पर विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुचा गया है कि प्रति वर्ष 5 5 प्रतिशत की औसत विकास दर ही सही होगी। यह विकास दर देश के निर्धन वर्गों की खपत के स्तर को पर्याप्त ऊचा नहीं उठा सकती, परन्तु इससे आबादी के 30 प्रतिशत निम्नतम लोगों को रहन सहन का अधिक सतोषजनक स्तर प्राप्त करने में सहायता हो सकेगी।

अन्य विकास के स्वरूप में कृषि, महत्वपूर्ण एव बुनियादी उद्योगों और व्यापक खपत का सामान बनाने वाले उद्योगों पर विशेष जोर दिया गया है। योजना आयोग ने यह सिफारिश की है कि प्रति वर्ष 7 प्रतिशत की दर से निर्यात वृद्धि के लिए प्रयास किया जायगा। असमानता में कमी करने आयात होने वाले सामान के स्थान पर देश में बने सामान के अधिक उपयोग और निर्यात वृद्धि के प्रयासों से इस योजना के अन्त तक शुद्ध विदेशी सहायता की समाप्ति की स्थिति में पहुच जायगी।

योजना के लक्ष्यों के अनुरूप गरीबी को समाप्त करने के लिये असमानता में कमी की जायगी। सन 1978–79 तक देश की 30 प्रतिशत न्यूनतम खपत वाली आबादी की खपत प्रति व्यक्ति प्रति माह बढ़कर देहाती इलाकों में 36 64 रु० और शहरी इलाकों में 39 60 रुपये हो जायगी इस प्रकार पूरे देश के लिये 37 10 रु० औसत बैठता। 1973–74 के बुनियादी स्तर से पाचवी योजना की अवधि में गावों के गरीब लोगों के लिए यह वृद्धि 60 प्रतिशत और शहरी गरीब लोगों के लिए यह वृद्धि 50 प्रतिशत बैठती है। पिछड़े हुए क्षेत्रों एव इलाकों के विकास पर विशेष रूप से जोर देकर समाज के निर्धन वर्गों की आय में निश्चय ही वृद्धि की जा सकती है।

3 निर्धनता उन्मूलन पाचवी योजना का बुनियादी लक्ष्य यह है कि सबसे अधिक गरीब लोगों का स्तर ऊचा उठाया जाय और इस प्रकार देश आर्थिक स्वाधीनता की दिशा में एक कदम और आगे बढ़। गरीबी समाप्त करने के मार्ग में एक महत्त्वपूर्ण अवरोध तेजी से या ऊची दर से आबादी में वृद्धि होना है। इस अवरोध को समाप्त करने के लिये उचित एव उत्पादक रोजगार देना आवश्यक

है। रोजगार नीति इस प्रकार की होगी कि वेतन पर अधिक से अधिक काम देने की व्यवस्था के साथ ही साथ लोगों को स्वयं अपने धन्धे शुरू करने का भी प्रोत्साहन दिया जायगा। इस नीति से उत्पादकता वृद्धि में सहायता मिलेगी। इस योजना में गैर-कृषि क्षेत्र में वेतनभोगी कर्मचारियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की सम्भावना है। ये गैर-कृषि क्षेत्र निर्माण, खनन एवं उत्पादन, बिजली का उत्पादन, बिजलीघरों से सुदूर स्थानों पर उसे पहुँचाना और वितरण की व्यवस्था, परिवहन और सचार, व्यापार, भण्डारण, बैंक-व्यवस्था, बीमा कम्पनियां और सामाजिक सेवाएं हैं।

पाचवी योजना की अवधि में वेतन पर काम करने वाले लोगों के लिये अधिक संख्या में रोजगार की जो सम्भावना है, वह काम चाहने वाले लोगों की संख्या के अनुरूप नहीं है, इसलिए लोगों को स्वयं धंधा शुरू करने के प्रोत्साहन देने की गुन्जाइश है।

रोजगार की सम्भावनाओं के विस्तार की सामान्य नीतियों के साथ-साथ शिक्षित बेरोजगारों को उत्पादक कार्यक्रमों में लगाने के लिये विशेष कार्यक्रम भी शुरू करने होंगे। इस उद्देश्य से कुशल व्यक्तियों एवं सामान्य व्यक्तियों के बीच अन्तर करना होगा। जहां तक डाक्टरों एवं चिकित्सकों की सहायता का सम्बन्ध है इनके रोजगार की समस्या अपेक्षाकृत सरल है। वैज्ञानिकों, इंजीनियरों और तकनीशियनों को पूर्ण रोजगार देने का समाधान गहन अनुसंधान और विकास की तीव्र गतिविधियों और औद्योगिक विकास में निहित है इसके साथ ही विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा का इस प्रकार नियमन करना होगा ताकि युवकों के लिये उपलब्ध रोजगार की सम्भावनाओं के अनुसार ही स्नातक तैयार हो सकें।

कृषि क्षेत्र में अधिक रोजगार उपलब्ध कराने के लिये खेती के काम में मशीनों का अन्धा-धुन्ध प्रयोग नहीं किया जायगा। केवल उन्हीं मशीनों का उपयोग किया जायगा जो भूमि की प्रति इकाई उपज बढ़ाने में सहायक हो सकें। पाचवी योजना में कृषि क्षेत्र में सघन खेती कार्यक्रम को लागू करने के लिये विशेष व्यवस्था की गई है।

4 सामाजिक खपत का मानक निर्धारित करना : गरीबी को समाप्त करने के सम्बन्ध में समाज के निर्धन वर्गों को अधिक रोजगार एवं आय देने की कार्यवाइयों के साथ-साथ किसी एक न्यूनतम स्तर तक सामाजिक खपत की व्यवस्था करनी होगी। यह सामाजिक खपत शिक्षा, स्वास्थ्य, पौष्टिक आहार, पीने के पानी, मकान सचार, और बिजली के रूप में होगी।

जहां तक प्राथमिक शिक्षा का सम्बन्ध है इस योजना मे 6-11 उम्र वर्ग के सब बच्चो और 11-24 उम्र वर्ग के 60 प्रतिशत बच्चो की शिक्षा देने की व्यवस्था करना सम्भव होगा। प्रत्येक गाव क एक से पाच किलोमीटर के भीतर एक प्राइमरी स्कूल और पाच किलोमीटर के भीतर एक मिडिल स्कूल होगा। इस योजना मे लड़कियो की शिक्षा के लिये विशेष व्यवस्था की जायगी। इस योजना मे प्राथमिक शिक्षा को सफल बनाने के लिये प्रस्तावित धन-राशि चौथी योजना के चार गुने से भी अधिक है।

इस योजना मे गावो मे पीने के पानी की पूर्ति और बिजली पहुचाने के कार्यक्रमों को प्रोत्साहन दिया जायगा। इसके लिए ग्रामीण विद्युतीकरण निगम की तरह ही ग्रामीण पानी सप्लाई निगम की स्थापना की जायगी।

गावो के स्वास्थ्य कार्यक्रम मे रोगो की रोकथाम, परिवार नियोजन, पौष्टिक आहार तथा बच्चो के रोगो पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। गावो के स्वास्थ्य केन्द्रो एव उप केन्द्रों के लिये डाक्टर एव चिकित्सा सहायक तैयार किये जायेंगे। जिनके लिये तीन वर्ष के मेडिकल डिप्लोमा कोर्स को फिर से प्रारम्भ किया जायगा और स्वास्थ्य शिक्षा को सामान्य शिक्षा प्रणाली का अग बनाया जायगा। पौष्टिक आहार के अभाव को समूल नष्ट करने के लिये गर्भवती स्त्रियो एव दूध पिलाने वाली माताओ तथा निर्धन वर्गों के स्कूल न जाने वाले बच्चो के पौष्टिक आहार की व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

गावों में भूमिहीन लोगो के लिए मकान बनाने के लिये जमीन प्रदान की जायगी गावों म जमीन को बेहतर और अधिक सुविधाजनक बनाने के लिए इस योजना के अन्त तक 1500 की आबादी के प्रत्येक गाव तक हर मौसम मे उपयोग योग्य सड़कें बनाने का लक्ष्य रखा गया है। इस योजना म 30-40 प्रतिशत ग्रामीण आबादी को बिजली की सुविधा उपलब्ध कराने का लक्ष्य है।

5 क्षत्रीय असन्तुलन को दूर करना। सभी पचवर्षीय योजनाओ म क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर करने के प्रयत्न किये गए, परन्तु उसका पर्याप्त प्रभाव दिखाई नही देता। इस योजना मे पिछड़े इलाको के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया है क्योंकि आबादी के 40 प्रतिशत निर्धनतम लोगो के रहन सहन का स्तर ऊपर उठाना है। पिछड़े हुए इलाको का विकास करने के लिये पूरे इलाके को ध्यान मे रखते हुए कार्यक्रम बनाए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध मे पहला कदम यह होगा कि पिछड़े हुए इलाकों का नामांकन किया जाय और बाद मे उपलब्ध साधनो का मूल्यांकन किया जाए और इस समय जो बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध हैं उनकी व्यापकता

एव प्रभावशालिता का पता लगाया जाय। इन कार्यक्रमो मे सिचाई, सचार, ऋण, हाट, बिजली, शिक्षा स्वास्थ्य एव प्रशिक्षण व्यवस्था म सुधार की ओर विशष रूप से ध्यान दिया जाय। इस योजना मे पिछड हुए वर्गों के विकास की कार्य-प्रणाली के अन्तर्गत सामान्य क्षेत्र की प्रमुख कार्यक्रम प्रस्तुत करने की भूमिका पर अधिक जार दिया जाएगा।

(6) वेतन, दाम और आय के मध्य उचित सतुलन स्थापित करना वेतन, दाम और आय के बीच उचित सन्तुलन कायम करने और उस सन्तुलन को बनाये रखने की आवश्यकता है। पूजी विनियोग के कार्यक्रमो मे इस बात का ध्यान रखा जा रहा है कि आवश्यकता से अधिक माग की स्थिति न बना जाय। योजना मे ऐसी वस्तुओ का पर्याप्त उत्पादन बढाने की व्यवस्था है जिनकी दैनिक जीवन मे आवश्यकता होती है। अनिवार्य खपत की वस्तुओ की नियमित पूर्ति के लिए सार्वजनिक स्तर पर इन वस्तुओ को पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त करने और वितरण करने की प्रणाली चालू की जायेगी और यह व्यवस्था कम से कम निर्धन वर्गों के लिए अवश्य की जायगी। खेती की उपज के बारे मे माग और पूर्ति के बीच सन्तुलन स्थापित रखना बडा मुश्किल होता है, क्योकि इस पर मानसून का बहुत अधिक असर पडता है। इसके अतिरिक्त बिना साफ की हुई कपास, पटसन, तिलहन और रबड ऐसी कुछ चीजें हैं जिनमे मौसम के अनुसार बहुत उतार-चढाव आता है। निरन्तर प्रगति बनाये रखने तथा उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों के हितो को ध्यान मे रखते हुए यह आवश्यक है कि दामो के इस उतार-चढाव को यथा सभव नियन्त्रित किया जाय। इस योजना मे दामो को कम करने के लिए लागत घटाने को अत्यधिक महत्व दिया गया है, क्योकि तकनीकी, प्रबन्ध सम्बन्धी और अन्य उपायो से लागत घटाई जा सकती है।

इस योजना म इस बात पर विशेष जोर दिया जायगा कि उत्पादकता मे सुधार के बिना वेतन वृद्धि से बचा जाय। क्योकि उत्पादकता म वृद्धि करते हुए यदि वतनो मे वृद्धि की जाती है तो इससे प्रति इकाई उत्पादन की दृष्टि से वेतन और लागत का अनुपात बढ जाता है। इसके लिऐ राष्ट्रीय स्तर पर एक न्यायसगत वेतन प्रणाली तैयार करनी होगी जो सार्वजनिक एव निजि क्षेत्र दोनो पर लागू होगी। साथ ही उन लोगो को भी उचित अनुशासन रखने की आवश्यकता है जिन्हे सम्पति एव उद्यमो से आय प्राप्त होती है।

प्रश्न

1 "भारत मे आर्थिक नियोजन का उद्देश्य समाजवाद जैसी अर्थव्यवस्था करन का होना चाहिए।' भारत की योजनाओ के क्या उद्देश्य हैं ? वे कहाँ तक इस कथन से मेल खाती हैं।

(राज टी डी सी द्वितीय वर्ष कला 1969)

2 आर्थिक नियोजन के विविध उद्देश्यो पर प्रकाश डालिये। हमारी पंच-वर्षीय योजनाओ मे य उद्देश्य कहाँ तक अपनाए गए है ?

3 भारत की विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ क उद्देश्यो का सक्षेप मे वर्णन कीजिए ?

4 भारत म आर्थिक विकास क लिए योजनाओ मे अपनाई गई शैली का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।

33

भारतीय योजनाओं की अर्थ-व्यवस्था

(Financing of Indian Plans)

Unless the habits of consumption and saving, the institutions and legal framework for accumulation lending and investing can be adopted to the building and maintenance of capital, foreign aid can bring only transitory benefits. A permanent basis for higher living standards must be created within the society, indeed this is the very meaning of economic development. Unless the chief nature of growth is indigenous the society is constantly exposed to retrogression.

-N. S. Buchanan and H. S. Ellis.

आर्थिक नियोजन का उद्देश्य पूर्व निर्धारित लक्ष्यों को निश्चित काल में प्राप्त करना होता है। इसके लिए आवश्यक वित्तीय साधनों को जुटाना पड़ता है, क्योंकि बिना वित्तीय साधनों के देश के आर्थिक विकास की कल्पना करना प्रायः बिना अस्त्र शस्त्रों के युद्ध जीतने की कल्पना के समान ही होगा। बिना पर्याप्त वित्तीय साधनों के देश के आर्थिक विकास की गति को वांछित रूप में गति नहीं प्रदान की जा सकती, इसीलिए देश की पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण के समय यह प्रयत्न किया जाता है कि योजनावधि में आवश्यक वित्तीय साधनों को किसी न किसी प्रकार अवश्य जुटाया जाय। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक विकास के लिए वित्तीय साधन जुटाना एक सतत प्रक्रिया है। इस अध्याय में हम भारतवर्ष की पंचवर्षीय योजनाओं के लिए वित्तीय साधनों का अध्ययन करेंगे।

भारतीय नियोजन के लिए उपलब्ध वित्तीय स्रोत

भारतवर्ष में योजनाओं के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आन्तरिक व बाह्य दोनों प्रकार के वित्तीय साधनों का सहारा लिया जाता है। आन्तरिक वित्तीय साधन वे साधन हैं जो देश में ही उपलब्ध हो जाते हैं यथा चालू राजस्व से बचत, रेलों का

योगदान, सार्वजनिक ऋण, अल्प बचतें, सार्वजनिक उपक्रमों से होने वाली बचतें, भविष्य निधियाँ अतिरिक्त कर, इस्पात समीकरण-कोष, हीनार्थ प्रबंधन आदि। देश के आन्तरिक साधनों से प्राप्त होने वाले वित्तीय साधनों को दो भागों में बांटा जा सकता है प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होने वाला वित्त तथा परोक्ष रूप से प्राप्त होने वाला वित्त। प्रत्यक्ष रीति से वित्तीय साधनों के अन्तर्गत घाटे की अर्थ-व्यवस्था को छोड़ कर उपर्युक्त वर्णित सभी साधन आ जाते हैं, क्योंकि इन सभी साधनों से वित्त की प्राप्ति प्रत्यक्ष रूप में होती है, लेकिन आधुनिक समय में केवल प्रत्यक्ष वित्तीय साधनों पर ही देश की सरकार निर्भर नहीं रहती। देश के प्रचुर प्राकृतिक साधनों का विदोहन आवश्यक होता है, अतः यदि प्रत्यक्ष साधनों से नियोजन के लक्ष्य प्राप्त करने में कठिनाई होती है, तब सरकार अप्रत्यक्ष रीति से वित्तीय साधन जुटाती है, अर्थात् सरकार घाटे की अर्थव्यवस्था अपनाती है। इस प्रकार वित्तीय साधनों की कमी को अधिक नोटों को छाप कर पूरा किया जाता है। आजकल, भारत में ही क्या, संसार के सभी देशों में घाटे की अर्थ-व्यवस्था को एक महत्वपूर्ण वित्तीय साधन के रूप में अपनाया जा रहा है।

अल्प विकसित अथवा विकासशील देशों में आर्थिक विकास की प्रारम्भिक दशा में पूंजी निर्माण की गति बहुत धीमी होती है, फलस्वरूप देश के आर्थिक विकास के लिए आन्तरिक साधनों से वित्तीय साधन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाते। भारत भी एक विकासशील देश है। भारत में भी पूंजी निर्माण की गति बहुत मन्द रही है, अतः यहां भी आन्तरिक साधनों के साथ-साथ बाह्य साधनों से भी वित्त प्राप्त करने के प्रयत्न सदैव किए गए हैं। भारत में तकनीकी ज्ञान एवं उत्पादन के लिए आवश्यक मशीनें तथा अन्य साज-समान विदेशों से आयात करने के लिए विदेशी मुद्रा की अत्यधिक आवश्यकता थी, लेकिन व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता के कारण देश विदेशी मुद्रा अर्जित करने की स्थिति में नहीं था और अब भी नहीं है। इसीलिए भारत प्रारम्भ से ही, नियोजन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विदेशी सहायता लेता रहा है और आज भी विदेशी सहायता पर बहुत कुछ निर्भर रह रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत ने अपनी योजनाओं के लिए आवश्यक वित्त जुटाने के लिए आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रकार के वित्तीय साधनों का सहारा लिया है। हम अब इनमें से प्रमुख वित्तीय साधनों का अलग अलग वर्णन करेंगे और कुल वित्तीय साधनों में इनके योगदान की समीक्षा करेंगे।

(क) आन्तरिक वित्तीय स्रोत (Internal Financial Resources)

1 **करारोपण द्वारा** (Taxation) आन्तरिक वित्तीय स्रोतों में करों का प्रमुख स्थान है, आर्थिक और सामाजिक नीति के व्यापक सदर्भ में करारोपण निजी

क्षेत्र के लोगो से रुपया लेने का एकमात्र उपाय ही नही, वरन् राष्ट्रीय नीति का एक प्रमुख साधन है। हमारे देश मे करारोपण के प्रमुख उद्देश्य है, (i) सरकारी क्षेत्र के विकास कार्यक्रमो के लिए साधन जुटाना, (ii) सम्पत्ति एव आय की विषमताओ को कम करके आर्थिक न्याय के ध्येय को आगे बढाना, तथा (iii) व्यक्तिगत बचत और उत्पादक पूजी विनियोग को प्रोत्साहन देना।

भारत मे आयकर, व्यक्तिगत आयकर, सम्पत्ति कर, व्यय-कर, धन कर आदि करो द्वारा राष्ट्रीय आय का लगभग 14 प्रतिशत भाग कर के रूप मे लिया जाता है।[1] योजना के आरम्भ से ही, सरकारी क्षेत्र के अतर्गत विकास व्यय को पूरा करने के लिए हर वर्ष कर राजस्व मे वद्धि की जाती रही है। इसीलिए कुछ आलोचको का मत है कि करो की दर अधिक होने के परिणामस्वरूप उत्पादन और बचत पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पडा है। परन्तु यह आलोचना उचित प्रतीत नही होती क्योकि नियोजन के दौरान निजी क्षेत्र मे पूँजी निर्माण अधिक तीव्र गति से हुआ है। 1951 के वर्ष मे निजी क्षेत्र मे पूँजी निर्माण की दर 6 प्रतिशत थी जो सन् 1956-57 मे बढ कर 16 5 प्रतिशत हो गई। नये करो के बोझ के बावजूद भी पूँजी विनियोग के योग्य धन मे विशेष कमी नही हुई।

यदि हम कुल राष्ट्रीय आय मे कराधान से प्राप्त राजस्व के प्रतिशत पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जायेगा कि हमारे यहाँ कराधान कुल राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप मे अधिक नही है। गत 18 वर्षो मे राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप मे कर से प्राप्त राजस्व मे उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है, लेकिन फिर भी यह प्रतिशत 1970–71 तक 17 प्रतिशत से भी कम रहेगा। विकसित देशो मे कर से प्राप्त राजस्व कुल राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप मे इस प्रतिशत से कही ज्यादा है। यही नही, दक्षिण-पूर्वी एशिया के कुछ अल्प विकसित देशो मे भी करो से प्राप्त आय राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप मे भारत के मुकाबले मे कही अधिक है। उदाहरणार्थ, सन् 1962 मे पश्चिमी जर्मनी म राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप मे कर राजस्व 43 5, ब्राजील मे 35 1, ब्रिटेन मे 39 7, आस्ट्रेलिया मे 27 4, अमरीका मे 24 9, लका मे 21 7 तथा बर्मा म 17 8 था।

भारत की प्रथम पचवर्षीय योजना मे कुल सार्वजनिक क्षेत्र का व्यय 1960 करोड रुपये था, जिसमे से 752 करोड रुपये करो तथा रेलो के अशदान से प्राप्त

1 श्री मोरारजी देसाई आर्थिक विकास के लिए साधन, आर्थिक समीक्षा, 26 जनवरी, 1969।

2, प्रो० वी० सी० सि हा , भारत मे नये करो की सीमा, आर्थिक समीक्षा 5 मई, 1967।

हुआ था। यह कुल व्यय का 38 प्रतिशत भाग था। द्वितीय पचवर्षीय योजना मे, अतिरिक्त करो से 1,052 करोड रुपये प्राप्त किये गये। यह धन राशि कुल वित्तीय साधनो की उपलब्धि (4,600 करोड रु०) का 22 9 प्रतिशत थी। तृतीय पचवर्षीय योजना मे नये करो से 2,880 करोड रु० प्राप्त किये गये। यह धन-राशि कुल वित्तीय साधनो (8,630 करोड रु०) का 33 8 प्रतिशत भाग थी। 1966 से 1969 तक की तीन एक एक वर्षीय योजनाओ मे अतिरिक्त करो से 910 करोड रु० प्राप्त किए गये। चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे करो से 2,455 करोड रु०, अर्थात् कुल वित्तीय साधन (1 398 करोड रु०) का 17 प्रतिशत भाग, करो द्वारा प्राप्त करने का प्रावधान किया गया है। इस प्रकार हम देखते है कि हमारी पचवर्षीय योजनाओ मे करो का आन्तरिक वित्तीय साधनो मे एक प्रमुख स्थान प्राप्त है।[1]

2 *अल्प बचतें (Small Savings)* आर्थिक नियोजन के लिए वित्तीय साधनो मे अल्प बचतो का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत मे राष्ट्रीय आय औसतन तीन से चार प्रतिशत तक बढती रही है साथ ही देश की जनसख्या भी लगभग 2 5 प्रतिशत की दर से बढती रही है। अधिकाश व्यक्तियो की आय का स्तर अत्यन्त निम्न होने के कारण बचत की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। लेकिन छोटी छोटी बचतो को जब मिलाया जाता है तो इससे काफी धन राशि एकत्र हो जाती है। व्यक्तिगत अल्प बचतें कई बातो पर निर्भर है यथा (i) वर्तमान आय मे वृद्धि अथवा कमी की सम्भावना (ii) ब्याज की वर्तमान दर और ब्याज की दरो मे होने वाले परिवर्तनो की सम्भावना (iii) आय का वितरण एव विषमता का स्वरूप, (iv) मूल्य-स्तर और भविष्य म मूल्य स्तर बढने या घटने की सम्भावना (v) मुद्रा के मूल्य म स्थिरता (vi) ऋण और देनदारियो की स्थिति (vii) अभीष्ट वस्तुओ और सेवाओ की उपलब्धि (viii) जीवन स्तर की प्रवृत्तिया (ix) परिवार के सदस्यो की सख्या, (x) राजनैतिक स्थायित्व (xi) कानून और व्यवस्था की स्थिति तथा जान-माल की सुरक्षा, (xii) परिवार के प्रति उत्तरदायित्व की भावना, एव (xiii) बचत की सुविधाओ का होना, आदि।

आर्थिक नियोजन सम्बन्धी योजनाओ के लिए विदेशी सहायता की तुलना

1 भारतवर्ष मे 1951–52 से 1955 56 तथा 1956 57 से 1960-61 तक, तथा 1961 62 से 1965 66 तक करो से प्राप्त कुल आय क्रमश 3,583 0, 5 599 1 तथा 11195 0 करोड रुपये थी। इससे प्रत्यक्ष करो से आय क्रमश 1234 4, 1749 7 तथा 3144 9 करोड रु० थी जबकि परोक्ष करो स आय क्रमश 2348 6 3849 4 तथा 8050 0 करोड रु० थी।—स्रोत, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन, मार्च तथा अगस्त 1967

मे यह साधन अधिक अच्छा है। विदेशी सहायता राजनैतिक दृष्टि से अवाछनीय होने के अतिरिक्त, अनिश्चित भी रहती है और इस अनिश्चितता के कारण आर्थिक विकास की प्रक्रिया को हानि हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। अत एक अल्प-विकसित देश मे निर्धनता और अल्प-विकास के कुचक्र को तोडने के लिए घरेलू अल्प बचतें, पूँजी विनियोग का अधिक उपयोगी साधन है।

भारतवर्ष मे डाकखाना बचत विभाग, सहकारी ऋण समितियाँ, राष्ट्रीय बचत योजना सर्टीफिकेट, राष्ट्रीय योजना सर्टीफिकेट, आदि कई माध्यमो से अल्प बचतें प्राप्त की जाती है। चूकि इस प्रकार की अल्प बचतो का वित्तीय साधन के रूप मे काफी महत्व है। अत इन बचतो को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार को कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाने चाहिए, यथा (i) पोस्ट ऑफिस, स्टेट बैंक तथा सहकारी समितियो का विस्तार किया जाय। (ii) अल्प बचत करने वालो के लिए विनियोजन के आसान माध्यम सुलभ किए जाए। (iii) देश मे दिखावटी तथा विलासिता सम्बन्धी उपभोग की वस्तुओ के उपभोग-वृद्धि को कम से कम 10–15 वर्षो तक के लिए सम्भावनाए कम कर दी जाय। (iv) कीमतो मे होने वाली वृद्धि पर रोक लगाई जाए।

भारत मे प्रथम पंचवर्षीय योजना मे अल्प बचत योजनाओ एव चालू ऋण के रूप मे 304 करोड रुपये प्राप्त किए गए थे, जो कुल वित्तीय साधनो का 16 प्रतिशत था। द्वितीय तथा तृतीय पचवर्षीय योजनाओ मे अल्प बचतों से क्रमश: 400 करोड रु० व 585 करोड रु० की धन-राशि प्राप्त हुई, जो कुल वित्तीय स्रोतो की क्रमश 9 व 63 प्रतिशत थी। 1966-69 के बीच की एक एक वर्षीय योजनाओ में अल्प-बचत द्वारा 355 करोड रुपये प्राप्त किए गए। चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे अल्प बचतो से 1,000 करोड रुपये की धन-राशि, जो कुल वित्तीय स्रोत का 6·3 प्रतिशत है, प्राप्ति की आशा की गई है।

3 सार्वजनिक ऋण (Public Debts) भारत जैसे विकासशील व अर्द्ध-विकसित देश मे सरकार को लम्बी अवधि के सार्वजनिक ऋण लेने पडते है, ताकि योजनाबद्ध विकास के कार्यक्रमो को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया जा सके। पाश्चात्य विकसित देशो मे सार्वजनिक ऋणो की आवश्यकता अल्प अवधि के लिए होती है।

विकासशील देशो मे नए कर लगाने अथवा पुराने करो की दरो मे वृद्धि करने का सामान्यत भारी विरोध किया जाता है। यदि कर पद्धति ज्यादा व्यापक क्षेत्र मे लागू की जाय तो भी कर की चोरी भारी मात्रा मे होती है। इस प्रकार, इन देशो मे कर-राजस्व के सीमित होने के कारण सरकार को देशवासियों से दीर्घ-

कालीन ऋण लेने पड़ते हैं। सरकार की इस प्रकार सार्वजनिक ऋण लेने की नीति देश में पूंजी निर्माण की प्रक्रिया को बल पहुँचाते तथा सरकार के लिए आवश्यक राजस्व जुटाने में सहायक होती है।

भारत में प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में भारत सरकार के ऋण-पत्रों के खरीदने की ओर काफी लोग आकर्षित हुए और बाजार में इनके द्वारा 205 करोड़ रुपए एकत्र कर लिए गए, जो कि निर्धारित लक्ष्य से 90 करोड़ रुपये अधिक था। इस योजनावधि में अगस्त 1951 में 7-वर्षीय ऋण-पत्र 3 प्रतिशत ब्याज दर पर जारी किए गए। जून 1953 में भारत सरकार ने ब्याज दर बढ़ा कर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दी और 8-वर्षीय राष्ट्रीय योजना बाण्ड जारी किए जिनसे 75 करोड़ रुपये सार्वजनिक ऋण के रूप में प्राप्त हुए।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सरकार को अपेक्षाकृत अधिक वित्तीय साधनों की आवश्यकता थी, क्योंकि यह योजना पहली योजना की अपेक्षा बहुत बड़ी थी। सरकार प्रारम्भिक वर्षों में अपनी ऋण नीति की ओर दिखाए गए, जन उत्साह का पूरा उपयोग करना चाहती थी। अतः उसने बाजार ऋण, सार्वजनिक ऋण का लक्ष्य 700 करोड़ रुपया रक्खा था। सन 1958 के वर्ष को छोड़कर (उस वर्ष वर्षा अच्छी नहीं हुई थी)। बाजार में सरकारी ऋण पत्रों की माग अच्छी रही और दूसरी योजना की अवधि में भारत सरकार ने 780 करोड़ रुपए ऋण पत्रों से प्राप्त किए। इस योजनावधि में 1 अप्रैल 1960 से पांच वर्षीय इनामी बाण्ड चालू किए गए। सन् 1963 में प्रीमियम इनामी बाण्ड की योजना चालू की गई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में सार्वजनिक ऋणों द्वारा 800 करोड़ रु० प्राप्त करने का लक्ष्य रक्खा गया था, लेकिन अक्टूबर 1962 में भारत पर चीनी हमले के कारण तथा सन 1965 में पाकिस्तानी आक्रमण के कारण सरकार की वित्त सम्बन्धी आवश्यकताएं बढ़ती गईं। उसने नवम्बर 1962 में दस वर्षीय राष्ट्रीय रक्षा बाण्ड और पन्द्रह वर्षीय स्वर्ण बाण्ड, क्रमश 4 1 प्रतिशत और 6 1 प्रतिशत की दर पर जारी किए तथा इन्हें सम्पत्ति कर व पूंजीगत लाभ कर से मुक्त रक्खा गया।[1] 1963–64 में आय कर देने वालों पर अनिवार्य जमा योजना लागू की गई। सन् 1964–65 में इसकी जगह पर 15,000 रु० से अधिक आय पाने वालों के लिए वार्षिक जमा योजना लागू की गई। 1968–69 में इसे समाप्त कर दिया गया। तृतीय योजना काल में सार्वजनिक ऋणों से 915 करोड़ रु० प्राप्त हुए। तीन एक-एक वर्षीय योजनाओं में इस मद से 719 करोड़ रु० प्राप्त किए गए। चतुर्थ

1 केवल 10 000 से अधिक के बाण्डों पर आय-कर लगाया गया।

योजना में इस स्रोत से 1,800 करोड़ रु० प्राप्त होने की आशा की गई है जो कुल वित्तीय साधनों का 5 5 प्रतिशत है।

अल्प-विकसित देशों में सार्वजनिक ऋणों से प्राप्त होने वाले वित्तीय साधनों में प्राय कुछ रुकावटें आती हैं। इन देशों में जनता अपनी बचत, आभूषणों के रूप में या जमीन के नीचे छिपा कर रखती है, खासकर ग्रामीण क्षेत्र के लोगों में यह प्रवृत्ति बनी हुई है। रुपये जमा करने की इस आदत का नतीजा यह होता है कि सम्पूर्ण बचत का उपयोग उत्पादन में नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त इन देशों में मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति से जनता की बचत करने की क्षमता और इच्छा कम हो जाती है।

4 **सार्वजनिक उपक्रमों से** प्राप्त अधिशेष (Surpluses from Public Undertakings) भारत में स्वाधीनता के बाद देश की लोकप्रिय सरकार ने मिश्रित अर्थ व्यवस्था को, देश के आर्थिक विकास के लिए, नीति के रूप में स्वीकार किया है। सन् 1948 की औद्योगिक नीति में इस प्रकार की नीति की स्पष्ट घोषणा की गई थी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों को चालू करने का क्रम प्रारम्भ किया। सन् 1956 की नई औद्योगिक नीति में सार्वजनिक क्षेत्र को और अधिक व्यापक किया गया। सार्वजनिक क्षेत्रों से प्राप्त होने वाले लाभ भी सरकार को योजनाओं के लिये एक वित्तीय स्रोत प्रदान करते हैं। भारत में इस समय सरकारी क्षेत्र में 80 से ऊपर औद्योगिक संस्थान हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में, केन्द्रीय सरकार के आधीन कारखानों एवं व्यापारिक उद्यमों में इस समय कुल मिला कर देश की 3500 करोड़ रुपए की पूँजी लगी हुई है। इनके अतिरिक्त रेल परिवहन, भारत सरकार का सबसे बड़ा उपक्रम है। डाक तार सेवाएँ, सिंचाई तथा बिजली सम्बन्धी योजनाएँ भी सार्वजनिक क्षेत्र में आती हैं। रेलों को छोड़ कर, प्रथम तथा द्वितीय योजना में, सार्वजनिक उद्योगों से योजना के कार्यक्रमों के लिए, कोई वित्त उपलब्ध न हो सका। तीसरी योजना में सार्वजनिक उपक्रमों में 395 करोड़ रुपए प्राप्त हुए, जो कुल वित्तीय साधन का 4 5 प्रतिशत था। 1966-69 के दौरान लागू की गई एक-एक वर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक उपक्रमों से 409 करोड़ रुपये प्राप्त किए गए। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा बचत से 1,730 करोड़ रुपए प्राप्त होने का अनुमान है, जो कुल वित्तीय साधन का 12 0 प्रतिशत है।

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों से वांछित बचतों की प्राप्ति प्राय संदिग्ध रहती है, क्योंकि हमारे देश के अधिकांश सरकारी उद्यम घाटे पर चल रहे हैं। हेवी इंजीनियरिंग कॉरपोरेशन, भारत हेवी इलेक्ट्रिकल्स, हेवी इलेक्ट्रिकल्स (इंडिया) लिमिटेड तथा माइनिंग एण्ड एलाइड मशीनरी कॉरपोरेशन आदि घाटे पर चल रहे

हैं। इण्डियन ऑयल कम्पनी, हिंदुस्तान ऐरोनाटिक्स, फर्टिलाइजर कॉरपोरेशन, भारत इलक्ट्रानिक्स, तेल और प्राकृतिक गैस कमीशन आदि सरकारी उद्यम भी अभी तक घाटा उठा रहे थे। देश के तीनों इस्पात कारखानों को प्रारम्भ से लेकर 1967-68 तक कुल मिला कर 127 करोड़ रुपये का घाटा हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकारी उद्यमों में कई कमियां हैं, जिनसे इन्हें घाटा होता है और ये भारत में अच्छे विकास साधन, नहीं बन पाए हैं। इनकी निम्नलिखित समस्याएं हैं, (i) कार्य प्रबन्ध में विलम्ब होना, (ii) प्रबन्ध अकुशलता, (iii) दोष-पूर्ण योजना का होना (iv) अपव्यय, (v) दिखावटी खर्चों पर अधिक व्यय, (vi) कच्चे माल व श्रमिकों को आवश्यकता से अधिक लगाया जाना। सरकार इन समस्याओं के प्रति जागरूक है और उसने सरकारी उद्यमों की कार्य विधि को सुधारने के लिए कई कदम उठाए हैं—यथा, उत्पादनों में विविधता का समावेश, प्रशासनिक तथा वित्तीय अधिकारों में वृद्धि, योग्य व्यक्तियों की प्रबन्धकों के रूप में नियुक्ति, और फिजूल खर्चों को रोकने एवं किफायतदारी बढ़ाने के लिए सचारु लेखा परीक्षण की व्यवस्था आदि।

3 अन्य प्रत्यक्ष आन्तरिक वित्तीय स्रोत (Other Direct Financial Resources) आन्तरिक प्रत्यक्ष वित्तीय स्रोतों में, जिनका नियोजन के वित्तीय साधनों में महत्वपूर्ण स्थान है, अनिवार्य निक्षेप योजना, भविष्य निधि योजना विविध पूंजीगत आय आदि हैं। ये साधन कुल वित्तीय स्रोत में अपेक्षाकृत छोटा अंश रखते हैं। फिर भी वित्तीय साधन के रूप में इनका महत्व है और गत पंचवर्षीय योजना में इनसे आशातीत धनराशि की उपलब्धि हुई है। पहली पंचवर्षीय योजना अवधि में पूंजी खाते की विविध प्राप्तियों से 1 करोड़ रुपये प्राप्त हुए, जो कुल वित्तीय साधनों का 5 प्रतिशत था।

लिया जाता है। डा वी के आर वी राव के अनुसार, 'घाटे की वित्त व्यवस्था एक ऐसी स्थिति है, जब सरकार करों और दूसरी प्राप्तियों से होने वाली आय से अधिक सरकारी खर्च करने की नीति अपनाती है।' पहली पचवर्षीय योजना मे कहा गया है कि 'घाटे के बजट द्वारा, चाहे यह घाटा राजस्व खाते के बजट मे रखा जाय या पूँजी खाते के बजट मे कुल राष्ट्रीय व्यय मे प्रत्यक्ष वृद्धि को घाटे की वित्त व्यवस्था कहा जाता है।' भारत मे घाटे की वित्त व्यवस्था का अर्थ रिजर्व बैंक द्वारा सरकार के आदेशानुसार अधिक धन राशि के नोट छापना है।

भारत के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था वरदान सिद्ध हुई है और हमारे आयोजकों के लिए राजस्व और व्यय के बीच की खाई को पाटने के लिए इसने जादू का सा काम किया है। यदि घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा नहीं लिया गया होता तो पचवर्षीय योजनाओं मे रखे गए लक्ष्यों की प्राप्ति मे वर्तमान सीमा तक हम सफल नहीं हुए होते।

भारतवर्ष मे प्रथम, द्वितीय एव तृतीय पचवर्षीय योजनाओं मे क्रमश 420, 948 व 1150 करोड रु० की व्यवस्था घाटे की वित्त व्यवस्था को अपनाकर ही की गई, जो कुल वित्तीय उपलब्धियों का क्रमश 21, 20 8 तथा 12 2 प्रतिशत थी। 1966–69 के दौरान लागू की गई तीन एक एक वर्षीय योजनाओं मे 682 करोड रुए हीनार्थ प्रबन्धन से प्राप्त किए गए। चौथी योजना को प्रारम्भिक रूप रेखा तैयार करने वालों ने कहा कि चौथी योजना मे घाटे की वित्त व्यवस्था नहीं की जायगी। लेकिन इसके बावजूद उन्होंने किसी कोष से न दिखाए गए ऋण के लिए 65 करोड रुपये जगह दिखाया गया था, जिसके माने है अधिक पत्र मुद्रा जारी करना। नवीन पचवर्षीय योजना (1969–74) मे हीनार्थ प्रबन्धन से 2709 करोड रुपये प्राप्त होने की आशा है जो कुल प्रस्तावित वित्तीय साधनों का 18 7 प्रतिशत है।

हीनार्थ प्रबन्धन के फलस्वरूप बढती हुई कीमतें हानिकारक होती है, क्योंकि इससे मुद्रा स्फीति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और योजना के लिए रखे गए अनुमान गलत होने लगते है। मूल्यों और वेतनों मे वृद्धि हो जाने से ही योजना की लागत, अनुमानित लागत से बढ जाती है। इसके लिए और अधिक मुद्रा का प्रसार करना पडता है, फलस्वरूप मूल्य और भी बढने लगते हैं। इन बढते हुए मूल्यों के कारण श्रमिकों द्वारा हडतालें की जाती है। समाज के वेतन भोगी वर्ग पर बहुत बुरा असर पडता है। भारतवर्ष मे गत तीन योजनाओं मे घाटे की अर्थव्यवस्था का अधिक सहारा लिए जाने के कारण देश मे मुद्रा प्रसार अत्यधिक बढ गया है, और राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के लिए यह एक चिन्ताजनक विषय बन गया है। लेकिन आज

आज विदेशी सहायता लेना व देना ससार के किसी भी देश के लिए सामान्य बात है, क्योंकि पारस्परिक सहायता से ही देशो का आर्थिक उत्थान स्थायी रूप से हो सकता है। आज एक देश की समस्याएं धीरे धीरे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं बन जाती है। यही कारण है कि आज विकसित देश, अल्प विकसित देशो की सहायता का कार्यक्रम व्यापक पैमाने पर चला रहे है। अल्प विकसित देशो के पास सामान्यत पूजी की कमी रहती है, क्योंकि ऐसे देशो मे बचत कम होती है, आय कम होती है और औद्योगिक विकास की प्रक्रिया मे वे आत्म निर्भर नही होते है। इन देशो मे तकनीकी ज्ञान व प्रशिक्षित श्रम की कमी रहती है, फलस्वरूप ऐसे देशो मे प्रचुर प्राकृतिक साधनो के होते हुए भी उनका समुचित विदोहन नही हो पाता। विदेशी सहायता से पूजी, तकनीकी ज्ञान, उन्नत मशीन प्राप्त करके ऐसे देश अपना आर्थिक विकास कर सकते हैं। विदेशी विनियोग से आर्थिक सहायता के साथ साथ तकनीकी ज्ञान, व आधुनिकतम मशीनो के रूप मे सहायता प्राप्त होती है। साधारणत अल्प विकसित देश नए उद्योगो को प्रारम्भ करने मे व पूजी लगाने म हिचकते है, परन्तु विदेशी सहायता की प्राप्ति के फलस्वरूप यह स्थिति नही रहती। भारतवर्ष मे आर्थिक विकास के कार्यक्रमो को पूरा करने के लिए विदेशी सहायता का सदैव ही स्वागत किया गया है।

प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे सरकारी व निजी क्षेत्र दोनो मे मिला कर 3 (00 करोड रुपया व्यय हुआ, इसमे से 194 करोड विदेशी सहायता के रूप मे प्राप्त हुआ जो कुल विनियोजन का 5 8 प्रतिशत तथा सरकारी विनियोजन का 10 1 प्रतिशत था। सहायता देने वाले प्रमुख देश अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, नार्वे न्यूजीलैण्ड इत्यादि थे। विदेशी सहायता के रूप मे प्राप्त राशि मे इन देशो का प्रतिशत भाग क्रमश 69 3 प्रतिशत, 10 1 प्रतिशत, 2 7 प्रतिशत, 0 3 प्रतिशत 0 2 प्रतिशत तथा विश्व बैंक का भाग 17 4 प्रतिशत था।

द्वितीय योजना काल मे विदेशी सहायता का भाग 1422 करोड रु० रहा। प्रथम योजना काल मे प्राप्त रकम मे से जिसका उपयोग प्रथम योजनावधि मे नही हो सका उसका उपयोग भी द्वितीय योजना काल मे हुआ। यह योजना उद्योग-प्रधान थी। औद्योगिक प्रतिष्ठानो के लिए इस योजना काल में काफी बडी मात्रा मे मशीनो का आयात करना पडा इसलिए विदेशी पूंजी का अधिक विनियोजन हुआ। सहायता प्रदान करने वाले देशो मे अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन, रूस, कनाडा, तथा जापान प्रमुख थ। इन देशो का कुल विदेशी सहायता मे क्रमश 54 1, 8 9, 8 6, 5 4, 5 3, 1 1 प्रतिशत भाग था। इस योजना मे विश्व बैंक का सहयोग कुल विदेशी सहायता का 15·8 प्रतिशत था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में 10,400 करोड़ रुपया व्यय हुआ, जिसमे विदेशी सहायता का भाग लगभग 25 प्रतिशत था। इस योजना मे विदेशी सहायता से 2,455 करोड़ रु० प्राप्त हुए। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे 2,514 करोड़ रुपये विदेशी सहायता से प्राप्त किए जाने का अनुमान है जिसम से 380 करोड़ रुपये P L 480 के अन्तर्गत तथा शेष 2,134 करोड़ रु० अन्य स्रोतो से प्राप्त किये जायेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशी सहायता हमारे वित्तीय स्रोत का एक प्रमुख अग बन गई है। सार्वजनिक क्षेत्र मे तो इसका भाग बहुत अधिक रहा है। प्रथम, द्वितीय एव तृतीय योजनाओं में केवल सार्वजनिक क्षेत्रो के लिए क्रमश 18,8 1 090, और 2,455 करोड़ रु० की विदेशी वित्तीय सहायता प्राप्त की गई।

तीन एक-एक वर्षीय योजनाओं मे सार्वजनिक कानून 480 के अन्तर्गत 919 करोड़ रु० तथा अन्य स्रोतो से 1517 करोड़ रु० प्राप्त किए गए।

भारत को वित्तीय सहायता कई रूपो मे प्राप्त हुई है यथा (1) विदेशी निजी व्यक्तियो, सस्थाओ या व्यापारियो से ऋण, (ii) विदेशी सरकारो से ऋण, (iii) विदेशी सरकारो से अनुदान, (iv) निजी व्यक्तियो, सस्थाओ द्वारा अनुदान-जैसे रॉकफेलर सस्थान, फोर्ड फाउन्डेशन आदि, (v) अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सस्थाओ से, यथा विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम आदि से सहायता।

भारतीय अर्थ व्यवस्था मे विदेशी सहायता को प्रोत्साहन देने की नीति देश के हित मे नहीं है और इसके गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। इससे कुछ हद तक देश मे आर्थिक विकास की गति तेज हो सकती है, लेकिन इससे योजना-बद्ध आर्थिक विकास की प्रक्रिया के लिए आवश्यक सामाजिक उद्देश्य को क्षति पहुँचने की सम्भावना है तथा इसमे भुगतान सतुलन की कठिनाइया भी पैदा होने की सम्भावना है। इस प्रकार की नीति ऐसा उग्र रूप धारण कर सकती है, जिससे हमारी आर्थिक स्वतन्त्रता खतरे मे पड सकती है। निजी विदेशी पूँजी के अत्यधिक प्रभाव से भारत मे एकाधिकारवादी, पूँजीवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलने की सम्भावना है, जिससे हमारे विकास का स्वरूप छिन्न भिन्न हो सकता है। सम्पत्ति के वितरण मे विषमताएँ बढ सकती है तथा भारतीय उपभोक्ताओ के शोषण को प्रोत्साहन मिल सकता है। विदेशी सहायता मे सामान्यतः परमार्थ की भावना काम नहीं करती। विदेशी सहायता, ऋणदाता देश की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का एक माना हुआ हथियार है। उसके अनेक उद्देश्य हो सकते है, जैसे-व्यापार क्षेत्र बनाए रखना और उसे विकसित करना, लाभ कमाना, समान विचारो आदर्शों और राजनैतिक प्रणालियो को पुष्ट करना, अपनी सस्कृति, भाषा, रीति रिवाज, धर्म, दर्शन, साहित्य, शिक्षा

आदि के प्रचार द्वारा पिछलग्गू देश पैदा करना, जो उनका झंडा लेकर चल सकें, आदि प्रमुख उद्देश्य होते हैं। कौन देश सहायता देते समय किस उद्देश्य को प्रमुख मानता है, यह उसकी अपनी नीति होती है, आजकल विदेशी सहायता के पीछे ये सब उद्देश्य मिले रूप से चलते हैं।[1]

अत विदेशी पूँजीपतियों व सरकारों से विदेशी सहायता लेते समय, इसमें निहित, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक उद्देश्यों की ओर पूरी तरह ध्यान देना चाहिए। विदेशी सहायता का सर्वश्रेष्ठ विकल्प, स्वदेशी साधनों का पूर्ण उपयोग व आत्म-निर्भरता है। हमें यदि अपनी योजनाओं को सफल बनाना है तो अन्ततोगत्वा हमें अपने साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा।

योजनावार वित्तीय साधनों का विवरण (Planwise Financial Resources)

अभी तक हमने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के लिए उपलब्ध प्रमुख वित्तीय स्रोतों का अध्ययन किया है और उनके सापेक्षिक महत्त्व तथा उनकी वांछनीयता की समीक्षा की है। अब हम योजनावार वित्तीय साधनों की संक्षेप में विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

1 प्रथम योजना के वित्तीय साधन

भारतवर्ष योजना की प्रथम पंचवर्षीय में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 1,960 करोड़ रु० व्यय किए गए। प्रथम योजना के विभिन्न वित्तीय स्रोत निम्नांकित हैं—

प्रथम योजना के वित्तीय साधन

साधन	धन राशि (करोड़ रु० में)	कुल वित्तीय साधन का प्रतिशत
1 कर तथा रेलवे से बचत	752	38
2 बाजार से उपलब्ध ऋण	205	10
3 लघु बचत एवं चालू ऋण	304	16
4 अन्य पूँजीगत साधन	91	5
5 विदेशी ऋण एवं सहायता	188	10
6 घाटे की वित्त व्यवस्था	420	21
कुल	1,960	100

इस तालिका से पहली पंचवर्षीय योजना के विभिन्न साधनों से प्राप्त वित्तीय साधनों का पता चलता है। प्रथम योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में केवल 1,960 करोड़

1, श्री त्रिभुवन चतुर्वेदी विदेशी सहायता और आर्थिक विकास, आर्थिक समीक्षा 20 सितम्बर, 1967

रु० का ही विनियोग किया जा सका। इस योजना में चालू राजस्व से बचत पर अधिक जोर दिया गया। योजना के लिए चालू राजस्व (करों) तथा रेलों के अंशदान से 752 करोड़ रुपये प्राप्त हुए जबकि अल्प बचत से 304 करोड़ रु० भविष्य निधि से 91 करोड़ तथा जनता द्वारा ऋणों से 205 करोड़ रुपयों की धन राशि प्राप्त हुई। इस योजना में सार्वजनिक ऋणों से कुल मिलाकर 600 करोड़ रु० प्राप्त हुए। इस योजना में न तो नए करों द्वारा वित्त प्राप्त करने की चेष्टा की गई और न ही घाटे की वित्त व्यवस्था को ही अत्यधिक बोझिल बनाया गया, विदेशी सहायता भी कम ही प्राप्त हुई। घाटे की वित्त व्यवस्था तथा विदेशी सहायता से केवल 420 व 188 करोड़ रु० ही क्रमश: प्राप्त किए गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस योजना के अधिकांश वित्तीय साधन अर्थात् 1352 करोड़ रु० प्रत्यक्ष आन्तरिक स्रोतों से प्राप्त हुए। इसका प्रभाव यह हुआ कि देश की अर्थ-व्यवस्था पर कम दबाव पड़ा तथा योजना को वांछित सफलता प्राप्त हुई।

2 द्वितीय योजना के वित्तीय साधन

प्रथम योजना की तुलना में यह योजना काफी महत्त्वाकांक्षी एवं बड़ी थी। इस योजना में प्राप्त वित्तीय स्रोत निम्न तालिका से स्पष्ट होते हैं :

द्वितीय योजना के वित्तीय साधन

(करोड़ रु० में)

साधन	प्रस्तावित धन राशि	उपलब्ध धन राशि		कुल उपलब्धि का प्रतिशत
1 चालू राजस्व से बचत (1955–56 के करों की दर पर)	350	–50		—1 3
2 रेलों द्वारा अंशदान	150	150		3 2
3 जनता से ऋण	700	780		17 4
4 अल्प बचत	500	400		9 0
5 भविष्य निधि	250	170	230	3 4
6 इस्पात समीकरण कोष		38		0 8
7 विविध प्राप्तियाँ (पूँजी खाते में)		22		5
8 अतिरिक्त कर	450	1052		22 9
9 विदेशी ऋण एवं सहायता	800	1092		23 1
10 घाटे की वित्त व्यवस्था	1200	948		20 4
कुल	4 800	4,600		100

कारण विदेशी मुद्रा का सकट भी पैदा हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि वित्तीय साधनों की प्राप्ति के दृष्टिकोण से यह योजना सतोषजनक नहीं रही।

3 तृतीय पचवर्षीय योजना के वित्तीय साधन

तृतीय पचवर्षीय योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र मे कुल 7,500 करोड रु० व्यय करने का प्रावधान था किन्तु वास्तविक व्यय 8,630 करोड रु० हुआ। इस योजना के लिए प्रस्तावित तथा उपलब्ध वित्तीय साधन अग्रलिखित तालिका से स्पष्ट है।

तृतीय योजना के वित्तीय साधन (करोड रु० मे)

साधन	प्रस्तावित धन राशि	उपलब्ध धन राशि	कुल प्राप्त धन का प्रतिशत राशि
1 वर्तमान करो के आधार पर राजस्व से बचत	550	—470	—5 4
2 रेलो द्वारा योगदान	100	80	0 9
3 सार्वजनिक उपक्रमो द्वारा बचत	450	395	4 5
4 सार्वजनिक ऋण	800	915	10 6
5 अल्प बचत	600	585	6 3
6 भविष्य निधि आदि से मिलने वाला धन	540	525	6 1
7 अनिवार्य जमा एव वार्षिकी		115	1 3
8 अतिरिक्त कर	1710	2880	33 8
9 विदेशी ऋण एव सहायता	2200	2155	28 5
10 घाट की वित्त व्यवस्था	550	1150	13 4
कुल	7,500	8 630	100 0

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से पता चलता है कि इस योजना मे वित्तीय साधनो की स्थिति अत्यधिक जटिल रही है। प्रशासनिक खर्चों मे बढोत्तरी के फलस्वरूप चालू राजस्व मे प्राप्ति की जगह हानि रही। घाट की अर्थ व्यवस्था भी लक्ष्य की तुलना से दुगनी करनी पडा। इस योजना म प्रत्यक्ष आन्तरिक वित्तीय स्रोतो से 5,025 करोड रु० तथा विदेशी सहायता एव घाट की वित्त व्यवस्था से 3 605 करोड की धन राशि उपलब्ध हुई। प्रत्यक्ष आन्तरिक वित्तीय स्रोत मे अतिरिक्त करो का महत्वपूर्ण योगदान रहा और इसी मद से सर्वाधिक धन राशि प्राप्त हुई। वित्तीय स्रोतों की प्राप्ति के इस स्वरूप का देश की अर्थ व्यवस्था पर भारी दबाव पडा।

1 इस धनराशि मे P L 480 समझौते के अन्तर्गत प्राप्त 880 करोड रु० भी सम्मिलित हैं।

मूल्य स्तर उत्तरोत्तर बढ़ते गए और जन साधारण की वास्तविक आय कम हो गई। योजनावधि में चीन एवं पाकिस्तान से युद्ध के कारण तथा लगातार दो वर्ष सूखे की स्थिति के कारण आन्तरिक साधनों पर अधिक दबाव पड़ा। भुगतान सतुलन की निरन्तर प्रतिकूलता के कारण विदेशी मुद्रा का भयंकर सकट उत्पन्न हो गया था, फलस्वरूप भारत को विश्व बैंक द्वारा मुद्रा अवमूल्यन की सलाह दी गई थी। तृतीय योजनावधि में एक नई प्रकार की अनिवार्य बचत योजना का कार्यक्रम चालू किया गया जिसे बाद में वार्षिकी जमा के रूप में बदल दिया गया। योजना काल में इस मद से 115 करोड़ रु० की धन राशि प्राप्त हुई।

तीन वार्षिक योजनाएँ (1966 to 1969)

तीसरी योजना की समाप्ति के बाद भारत के योजना इतिहास में तीन वर्ष का योजना अवकाश हो गया, अर्थात् इस अवधि में आर्थिक नियोजन बन्द-सा हो गया। लेकिन आर्थिक नियोजन के कार्य को चालू रखने के लिए वार्षिक कार्यक्रम निर्धारित करके योजना कार्य को जारी रखा गया।

सन् 1966–67 की अवधि में 2137 करोड़ रुपय व्यय किए गए, जिसकी वित्तीय व्यवस्था इस प्रकार की गई है। (i) सार्वजनिक उपक्रमों से बचत 151 करोड़ रुपये (ii) अतिरिक्त करों से बचत 153 करोड़ रुपये (iii) जनता से ऋण 204 करोड़ रुपये (iv) अल्प बचत 118 करोड़ रुपये (v) विदेशी सहायता 788 करोड़ रुपये (vi) घाटे की वित्त व्यवस्था 169 करोड़ रुपय तथा शेष अन्य साधनों से। इस योजना अवधि में विदेशी सहायता का महत्वपूर्ण हाथ रहा।

सन् 1967–68 में 2205 करोड़ रुपये व्यय किए गए, जिसमें से (i) सार्वजनिक उपक्रमों से बचत 148 करोड़ रुपये, (ii) अतिरिक्त कराधान 299 करोड़ रुपये, (iii) जनता से ऋण 200 करोड़ रुपये, (iv) अल्प बचत 110 करोड़ रुपये, (v) घाटे की वित्त व्यवस्था 14 करोड़ रुपय, (vi) विदेशी सहायता 991 करोड़ रु तथा (vii) अन्य शेष अन्य साधनों से प्राप्त किए गए।

सन् 1968–69 में 2337 करोड़ रुपये व्यय किए गए, जिसमें से (i) सार्वजनिक उपक्रमों से बचत के रूप में 179 करोड़ रुपये, ii) अतिरिक्त कराधान से 499 करोड़ रुपय, (iii) सार्वजनिक ऋण से 150 करोड़ रुपये, (iv) अल्प बचत से 120 करोड़ रुपये, (v) घाटे की वित्त व्यवस्था से 307 करोड़ रुपये, तथा (vi) विदेशी सहायता से 876 करोड़ रुपये तथा शेष अन्य साधनों से एकत्र किए गए।

4. चौथी पंचवर्षीय योजना के वित्तीय साधन चौथी योजना का निर्माण तृतीय योजना की निराशाजनक प्रगति के वातावरण में हुआ। इस योजना में सार्व-

जनिक क्षेत्र मे 15902 करोड रुपये खर्च करने का प्रावधान रखा गया है। इस योजना के व्यय को पूरा करने के लिए निम्नलिखित साधन निर्धारित किए गए हैं।

	(करोड रुपये)
1 वर्तमान करो के आधार पर राजस्व से बचत	1673
2 रेलो द्वारा योगदान	265
3 सार्वजनिक उपक्रमो द्वारा बचत	1764
4 *रिजर्व बैंक* के रख लिए गए लाभ	202
5 सार्वजनिक ऋण	1415
6 अल्प बचतें	769
7 वार्षिक जमा, अनिवार्य जमा, इनामी बॉण्ड	−104
8 भविष्य-निधि	560
9 फुट कर पूजीगत त्रुटिया	1685
10 L I C तथा सरकारी धन्धो के बाजारी कर्ज कुल	506
11 सरकारी वित्तीय सस्थाओ से लिए गए ऋण	405
12 अतिरिक्त कर	3198
13 विदेशी ऋण	2614
14 घाटे की व्यवस्था	850
कुल	15902 करोड

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि चौथी योजना मे आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सर्वाधिक ध्यान सरकार ने कर आदि पर दिया है। इसके अलावा सार्वजनिक ऋण की प्राप्ति मे भी वृद्धि की गयी है। इस योजना मे विदेशी ऋण के ऊपर सरकार की निर्भरता धीरे धीरे कम होनी शुरू हो गई है। सन् 1971 मे चौथी योजना मे कुछ परिवर्तन किए गए तथा सार्वजनिक क्षेत्र मे विनियोग बढाकर 15 898 करोड रुपये कर दिया गया है।

भारत मे वित्तीय साधनों की समस्याए भारतवर्ष के आर्थिक नियोजन के 18 वर्षों को गतिविधियो की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि हमारे देश के आर्थिक विकास के मार्ग मे वित्तीय साधनो का अभाव एक महत्वपूर्ण बाधा रही है। जब तक देश की योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए पर्याप्त वित्त साधन उपलब्ध न हों तब देश का आर्थिक विकास सम्भव नही हो सकता, क्योकि आर्थिक विकास के लिए नए-नए उद्योगो की स्थापना, देश के प्राकृतिक

साधनों का शोषण और व्यापार में वृद्धि के उद्देश्य से विभिन्न प्रकार के विनियोग करने पड़ते हैं, जिनके लिए पर्याप्त मात्रा में वित्तीय साधनों की आवश्यकता पड़ती है। वित्तीय साधनों के अभाव में सभी विकासात्मक कार्य रुक जाते हैं और देश, आर्थिक क्षेत्र में पिछड़ जाता है। भारत के नियोजन के मार्ग में भी कई समस्याएं हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित है —

1 **व्यक्तिगत बचतों से कठिनाई** . भारत में राष्ट्रीय आय एवं व्यक्तिगत आय बहुत कम है, परिणामस्वरूप बचत की कौन कहे, सामान्य जीवन स्तर बनाए रखना भी, जनसाधारण के लिए कठिन हो रहा है। इच्छा रखते हुए भी लोग बचत नहीं कर पाते हैं। नियोजित आर्थिक विकास के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय का अधिकांश भाग उपभोग में समाप्त हो जाता है। इसके अलावा देश में बढ़ते हुए मूल्य स्तरों का प्रभाव भी बचत करने की शक्ति पर विपरीत पड़ रहा है। घाटे की अर्थव्यवस्था के कारण लोगों की मौद्रिक आय तो बढ़ गई है पर वास्तविक आय नहीं बढ़ी। प्रो० शिनाय (Prof Shenoy) के मत में मूल्य वृद्धि के इस चक्र में वास्तव में बचतें केवल घटी ही नहीं है, अपितु पिछली बचतों का उपयोग वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर लिया गया है। यही कारण है कि भारत में घरेलू बचतों से अधिक वित्त प्राप्त नहीं किया जा सकता।

2. करों में वृद्धि की सम्भावना का न होना भारतवर्ष में गत तीन योजनाओं में करों द्वारा बहुत बड़ी धन राशि वित्तीय-साधन के रूप में एकत्र की गई है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि भारत में कर ह्रासमान प्रतिफल नियम की स्थिति तक पहुंच गए हैं जिनमें अब बढ़ोत्तरी करना सम्भव नहीं है, क्योंकि अब ऐसा करना हानिकारक होगा। कर-भार की अधिकता के परिणामस्वरूप बचत पर भी बुरा असर पड़ता है और इस प्रकार देश में पूंजी निर्माण के मार्ग में बाधा उपस्थित हो जाती है।

3 **प्रशासनिक व्यय में भारी वृद्धि** . मूल्य स्तर में बढ़ोत्तरी के साथ-साथ सरकार को अपने कर्मचारियों के वेतन बढ़ाने पड़ते हैं, महगाई भत्ते में वृद्धि करनी पड़ती है। प्रशासनिक व्यय में होने वाली वृद्धि, योजना के समस्त अनुमानों को छिन्न-भिन्न कर देती है। गत द्वितीय व तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में चालू राजस्व से मिलने वाले वित्तीय साधन इसी कारण घाटे में परिवर्तित हो गए। अतः बढ़ते हुए प्रशासनिक व्यय भी वित्तीय साधनों की प्राप्ति के मार्ग में समस्या पैदा कर रहे हैं।

4 **घाटे की वित्त-व्यवस्था की सीमा** देश के आर्थिक विकास के लिए भारतवर्ष में विगत तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में घाटे की वित्त-व्यवस्था अपनाई गई है, इसके परिणामस्वरूप द्वितीय व तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में मूल्य स्तरों में

क्रमश 30 व 40 प्रतिशत की वृद्धि हो गई। इससे देश की साधारण जनता को अपनी अपनी आवश्यकताओ की सतुष्टि के लिए अधिक खर्च करना पडता है, अत. सामान्य बचत को आघात पहुचता है। मूल्य वृद्धि ने जमाखोरी, चोर-बाजारी, अनुचित सट्टेबाजी जैसे असामाजिक प्रवृत्तियो को जन्म दिया है। सम्पूर्ण भारत बढते हुए मूल्यो से तग आ चुका है, अत. अब इस साधन से वित्त प्राप्त करना न तो सम्भव है और न वाछनीय ही।

5 **सरकारी उद्यमो मे हानि** भारत मे केन्द्रीय सरकार के आधीन उपक्रमो मे, अब तक 3,500 करोड रु० का विनियोजन किया जा चुका है लेकिन फिर भी ये अपने पैरो पर नही खडे हो सके हैं। इनमे से अधिकाश उपक्रम घाटे मे चल रहे हैं जिसके लिए अकुशल प्रबन्ध, नौकरशाही व्यवस्था अधिक उत्पादन लागत, भ्रष्टाचार, निर्णय लेने मे देरी, राजनीतिज्ञो का अनुचित हस्तक्षेप, कल्याणकारी दृष्टिकोण आदि कई कारण जिम्मेदार हैं। अत भावी नियोजन के कार्यक्रमो को पूरा करने के लिए इस साधन से भी वित्त की प्राप्ति सदिग्ध है।

6 **विदेशी सहायता की अनिश्चितता** भारतवर्ष ने गत तीन पचवर्षीय योजनाओ मे विकास कार्यक्रमो के लिए उदारतापूर्वक विदेशी ऋण लिए हैं जिनके लिए उसे मूलधन के साथ साथ ब्याज चुकाना पड रहा है। गत कुछ वर्षों मे भारत को जितनी विदेशी सहायता प्राप्त हुई है, उससे अधिक विदेशी मुद्रा पुराने ऋणों की किस्त चुकाने के लिए आवश्यक रही। यही नही, विदेशी सहायता मे अब उत्तरोत्तर सहायता का अश कम होता जा रहा है और ऋण का अश बढता जा रहा है। कई विदेशी ऋणो के उपयोग के बारे मे ऋण लेने वाले राष्ट्र स्वतन्त्र नही होते। यह कहना अनुचित न होगा कि विदेशी ऋणो की अपर्याप्तता एव अनिश्चितता के कारण ही भारत को अपनी चतुर्थ पचवर्षीय योजना का स्थगन करना पडा। अब भी यह समस्या बनी हुई है।

7. **भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता** भारतवर्ष का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी गत 10–15 वर्ष से भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता से पीडित है। हमे कई कारणो से आयात अधिक करने पड रहे हैं। न हम केवल पूजीगत माल ही विदेशो से मगाते अपितु हमे खाद्यान्नो का भी बहुत बडी तादाद मे आयात करना पडता है। फलस्वरूप हमारे विदेशी व्यापार प्रतिकूल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण, बजाय बढने के, घट रहे हैं। हम भुगतान सतुलन को पक्ष मे लाकर आवश्यक विदेशी मुद्रा द्वारा देश के वित्तीय स्रोतो को बढाने मे असमर्थ हैं।

8. *अन्य समस्याएं :* भारत मे वित्तीय साधनो की समस्याओ के उपर्युक्त वर्णित कारणो के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं जो इस समस्या को और भी

जटिल बना रहे हैं, यथा (i) बैंक व अन्य साख सम्बन्धी सुविधाओं का अपर्याप्त होना, (ii) परिवर्तनशील, अस्थाई व अनिश्चित व्यावसायिक औद्योगिक व वित्तीय नीतियां, (iii) जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि, (iv) सन्तुलित आर्थिक विकास का अभाव; (v) योग्य, अनुभवी एवं कुशल साहूकारों की कमी आदि कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कारण हैं जो वित्तीय स्रोतों की उपलब्धि के मार्ग में बाधक हैं।

सुझाव भारत में वित्तीय साधनों को बढ़ाना, एकत्र करना, तथा उनका उचित उपयोग करना देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है, अतः वित्तीय स्रोतों की वृद्धि के मार्ग में जो कठिनाइयाँ या समस्याएं हैं, उन्हें दूर किया जाना चाहिए। इन समस्याओं को हल करने के लिए निम्नांकित सुझाव महत्वपूर्ण हैं

(1) प्रशासनिक व्यय सम्बन्धी फिजूलखर्ची को दूर करके प्रशासनिक कुशलता में वृद्धि की जाय।

(2) अल्प बचत सम्बन्धी कार्यक्रम को और अधिक व्यापक बनाया जाय। इसके लिए पोस्ट आफिसों, सहकारी समितियों एवं बैंकों की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए तथा इनका विस्तार उन क्षेत्रों में किया जाय, जहां इनकी संख्या अभी कम है। यूनिट ट्रस्ट जैसी वित्तीय संस्थाओं को विकसित किया जाय।

(3) भारत में कुल राजस्व कर का लगभग 72 प्रतिशत भाग शहरी क्षेत्रों से तथा शेष 28 प्रतिशत भाग ग्रामीण क्षेत्रों से प्राप्त होता है। गत कुछ वर्षों में ग्रामीण क्षेत्रों की आय में पर्याप्त वृद्धि हुई है, खासकर सम्पन्न किसानों की आय में काफी वृद्धि हुई है, जिसे कर द्वारा वसूल करके वित्तीय साधनों में यथोचित बढ़ोतरी की जा सकती है।

(4) विदेशों से यथा सम्भव कम से कम ऋण लिए जाय और देश की योजनाओं को यथासाध्य साधनों के अनुरूप बनाया जाए।

(5) उत्पादन तथा उपभोग पर उचित नियन्त्रण रख कर घाटे की वित्त-व्यवस्था सम्बन्धी कुप्रभावों को रोका जाए। साथ ही घाटे की वित्त व्यवस्था को उसी सीमा तक ले आया जाय जहाँ तक इसे ले जाना वांछनीय हो।

(6) कर राजस्व से वित्तीय साधनों को बढ़ाने के लिए अनावश्यक उपभोग पर नियन्त्रण रखा जाए, कृषि आय पर कर लगाया जाय तथा कर से बचाव की गुंजाइश न रखी जाय, परोक्ष करों की अपेक्षा प्रत्यक्ष करों को बढ़ाया जाय।

(7) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को दिखावटी व प्रतिष्ठा-मूलक खर्चों से बचना चाहिये तथा इन्हें शुद्ध व्यावसायिक आधार पर चलाया जाना चाहिए। मूल्य निर्धारित करते समय, लाभ के दृष्टिकोणों को भी ध्यान में रखा जाय।

(8) आयात प्रतिस्थापन तथा निर्यात सवर्द्धन नीतियों के द्वारा देश के भुगतान सतुलन को पक्ष मे लाने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। लोगो को स्वदेशी वस्तुओं के उपभोग के लिए प्रेरित किया जाना चाहिये तथा कृषि क्षेत्र मे खाद्यान्नो की उत्पत्ति बढा कर आत्म-निर्भरता प्राप्त करने के प्रभावशाली प्रयत्न किए जाने चाहिए।

(9) सरकार द्वारा योजनाओं का निर्माण बहुत सोच-विचार कर किया जाना चाहिए तथा किसी भी एसे कार्यक्रम को प्रारम्भ नही करना चाहिये, जिसे बीच मे छोडना पड । यदि सरकार अपनी फिजूलखर्ची को रोकने मे समर्थ हो जाय तो पर्याप्त धन बचाया जा सकता है और निर्माण कार्य के लिए उपयोग मे लाया जा सकता है।

अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि वित्तीय स्रोत किसी देश की अर्थ-व्यवस्था के विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। हमे इन स्रोतो को सभी सम्भव तरीको से बढाना चाहिए ताकि इनके अभाव मे देश के आर्थिक विकास की गति धीमी न पड जाए। साथ ही हमे इनका विवेकपूर्ण उपयोग भी करना चाहिये, ताकि देश को इनके लिए भिक्षा का पात्र लेकर इधर-उधर न भटकना पडे। कोई भी देश दूसरो की मदद पर हमेशा नही रह सकता। अत हमे अपने पैरों पर खडे होने की चेष्टा करनी चाहिये तथा आन्तरिक साधनो को जहाँ तक सम्भव हो, बढाना चाहिए।

प्रश्न

1 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

भारत की पचवर्षीय योजनाओ के लिए वित्तीय साधन।

(राजस्थान वि वि द्वितीय वर्ष, टी डी सी कला, 1969)

2 भारत के विभिन्न पचवर्षीय योजनाओं के लिए वित्तीय साधन जुटाने के लिए किन किन स्रोतो का सहारा लिया गया है ? क्या ये साधन पर्याप्त मात्रा मे वित्त प्रदान करने मे सफल रहे है ?

3 भारतीय योजनाओ के लिए आवश्यक वित्त जुटाने मे किन किन समस्याओ का सामना करना पड रहा है ? इन समस्याओ को सुलझाने के लिए अपने सुझाव भी दीजिए।

4 भारतीय नियोजन के सदर्भ मे निम्नाकित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये —
(क) घाटे की वित्त व्यवस्था, (ख) विदेशी ऋण एव सहायता, (ग) अल्प बचत योजनाए, (घ) सार्वजनिक ऋण

5 भारत की चतुर्थ पचवर्षीय योजना (1969–74) के वित्तीय साधनो की समीक्षात्मक व्याख्या कीजिये।

6

भारत मे नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक प्रगति

(Economic Progress under Planning is Indie)

सन 1950–51 से 1970–71 की अवधि मे भारतवर्ष ने आर्थिक नियोजन के बीस वर्ष पूरे कर लिए हैं। इस अवधि के दौरान हम तीन पचवर्षीय योजनाए तथा तीन एक एक वर्षीय योजनाए पूरी कर चुके हैं। चतुर्थ पचवर्षीय योजना की अवधि भी धीरे धीरे अब समाप्त होने जा रही है। लोकतन्त्रीय राजनीतिक ढाचे की सीमाओ, योजना के निष्पादन मे भावनात्मक एव सचालन सम्बन्धी कमजोरियो तथा समन्वित नीतियो के एक सिलसिले की कमी होते हुए भी 1950–51 से लेकर 1970–71 तक के दो दशको मे भारत का विकास कार्य अत्यन्त प्रभावशाली रहा है तथा इसकी तुलना विकसित देशो द्वारा अपने विकास की समान स्थिति मे की गई प्रगति मे की जा सकती है। सच तो यह है कि 19वी शताब्दी मे विकसित देशो ने जिन परिस्थितियो मे योजना कार्य प्रारम्भ किया था, उसकी तुलना मे भारत को अधिक बाधाओ एव कठिनाइयों का सामना करना पडा है। इस अध्याय मे हम योजनाकाल मे हुई आर्थिक प्रगति एव असफलताओ तथा कमियो का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

नियोजन काल मे हुई आर्थिक प्रगति एव सफलताए

(Progress and Achievements under Economic Planning)

राष्ट्रीय आय मे वृद्धि प्रथम तीन पचवर्षीय योजनाओ की अवधि मे शुद्ध राष्ट्रीय आय मे लगभग 69 प्रतिशत वृद्धि हुई। राष्ट्रीय आय 1950–51 मे 9850 करोड रुपये से बढ कर सन् 1965–66 मे 15441 करोड रुपये (1960–61 के मूल्यो पर) हो गई। सन् 1970-71 मे राष्ट्रीय आय बढ कर 18755 करोड रुपये हो गई। दूसरे शब्दों मे, 1950–51 की तुलना मे 1970–71 मे राष्ट्रीय आय लगभग दूनी हो गई। पहली योजनावधि मे राष्ट्रीय आय 3 5 प्रतिशत, दूसरी मे 4 प्रतिशत और तीसरी मे औसतन 2 9 प्रतिशत की दर से बढी। सन् 1966–67, 1967–68 व 1968–69 की एक-एक-वर्षीय योजनाओ मे राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर क्रमश 1 5 प्रतिशत, 9 3 प्रतिशत व 2 4 प्रतिशत रही। चतुर्थ पचवर्षीय योजना के प्रथम दो वर्षो मे अर्थात् 1969–70 व 1970–71 मे राष्ट्रीय आय

क्रमश 5 3 व 5·5 प्रतिशत की गति से बढी। इस प्रकार हम देखते है कि आर्थिक नियोजन के काल मे हमने राष्ट्रीय आय की दिशा मे महत्वपूर्ण प्रगति की है। इसमे समग्र रूप से विगत बीस वर्षो मे लगभग 94 प्रतिशत अथवा प्रति वर्ष चक्र वृद्धि दर पर लगभग 3 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसख्या 36·1 करोड थी, जो 1971 मे बढ कर 54 7 करोड रुपये हो गई, अर्थात् विगत 20 वर्षो मे 18 6 करोड व्यक्तियो की वृद्धि हुई। जनसख्या की इतनी तीव्र गति के बावजूद भी प्रति व्यक्ति आय मे लगभग सवा गुनी वृद्धि हुई है जो निश्चय ही सतोषजनक कही जा सकती है। सन् 1950-51 मे प्रति व्यक्ति आय लगभग 270 रुपये थी, जो 1970-71 मे बढ कर 347 रुपए (सन् 1960–61 के भावो पर) हो गई। इस प्रकार विगत 20 वर्षो की अवधि मे प्रति व्यक्ति आय मे 28 प्रतिशत वृद्धि हुई। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय मे प्रति वर्ष 1 5 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई।

कृषि मे प्रगति गत 20 वर्षो के नियोजन काल मे कृषि उत्पादन मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। कृषिगत उत्पादन का सूचनाक जो सन् 1950-51 मे 95 6 था, (सन् 1949–50 = 100), वह सन् 1970-71 मे 182 2 हो गया। इस प्रकार विगत 20 वर्षो मे कृषि उत्पादन मे लगभग 90 प्रतिशत वृद्धि हुई। खाद्यान्नो का उत्पादन सन् 1950-51 मे 55 मिलियन टन था, जो बढ कर 1970-71 मे 107 8 मिलियन टन तक पहुँच गया और सौभाग्य से हम खाद्यान्नो के आयात के बोझ से प्राय मुक्त हो गए। नियोजनकाल के प्रारम्भिक वर्षो मे तो कृषि उपज को बढाने के लिए कृषिगत उत्पादन क्षेत्र मे वृद्धि की गई, लेकिन बाद मे उत्पादकता बढाने पर जोर दिया गया। तृतीय एव चतुर्थ योजना के अन्तर्गत जल, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयाँ, उत्तम कोटि के बीज, तथा सिंचाई आदि की सुविधाओ के विस्तार से कृषि क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किए गए। कृषि क्षेत्र मे इस हरित क्रान्ति ने उत्पादन मे उल्लेखनीय वृद्धि को प्रोत्साहित किया है। विगत 20 वर्षो मे कुछ चुनी हुई कृषिगत वस्तुओ के उत्पादन मे जो वृद्धि हुई है, उसका अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है

कृषि उत्पादन मे वृद्धि

फसल	1950–61	1960–51	1970–71
खाद्यान्न (मिलियन टन)	55 0	82 2	107 8
तिलहन (मि० टन)	5 0	6 9	9 2
गन्ना (गुड) (मि० टन)	7 0	11 4	13 2
कपास (मि० गाँठें)	2 9	5 2	4 6
जूट (मि० गाँठें)	3 5	4 1	4 9

औद्योगिक क्षेत्र मे प्रगति —

औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र मे विगत 20 वर्षों मे जो प्रगति हुई है, वह अत्यन्त महत्व की है। विशाल इस्पात के कारखाने, केमिकल, सूती वस्त्र, दवाईयो के उद्योग, इन्जिनियरिंग, फर्टीलाइजर, मशीन टूल्स तथा हैवी इलेक्ट्रिकल्स के कारखाने स्वाधीनता के बाद हमारी उपलब्धियो के चमकते उदाहरण है। आज हमारे उद्योगों मे तकनीकी और विज्ञान का उपयोग तेजी से बढता जा रहा है और हमने अनेक वस्तुओ के उत्पादन मे आत्म-निर्भरता की स्थिति प्राप्त कर ली है। विगत 20 वर्षों मे देश औद्योगिक उत्पादन मे लगभग तीन गुनी वृद्धि हुई है। आज हमारा देश विश्व के दस-बारह औद्योगिक राष्ट्रों मे गिना जाने लगा है। देश मे नए-नए आधुनिक उद्योग स्थापित किए गए हैं और इनके कारण उद्योगो और खनिजो का शुद्ध उत्पादन 170 प्रतिशत बढ गया है। पहले हमारे देश मे ज्यादातर पटसन व सूती कपडे व कृषि पर आधारित छोटे-मोटे उद्योग ही थे। घरेलू आवश्यकता के लिए अधिकतर पूंजीगत सामान विदेशो से मगाया जाता था, लेकिन अब यह सब सामान देश मे ही तैयार हो रहा है।

नियोजन-काल मे यद्यपि सरकारी व गैर सरकारी, दोनो क्षेत्रो मे बहुत अधिक धन का विनियोजन किया गया है तो भी सरकारी क्षेत्र का फैलाव अपेक्षाकृत और अधिक तेजी से हुआ है। सरकारी क्षेत्र मे अनेक महत्वपूर्ण एव जटिल परियोजनाओ को स्थापित किया गया है। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, इण्डियन टेलीफून इण्डस्ट्रीज, हिन्दुस्तान इन्सेक्टीसाइड्स हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक्स, भारत इलेक्ट्रानिक्स, हिन्दुस्तान केबिल्स, आदि प्रतिष्ठान सार्वजनिक क्षेत्र के जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। प्रारम्भ में तो नए उद्योगो की स्थापना के लिए बहुत अधिक पूंजी आयातित सयन्त्रो, कल-पुर्जों तथा विशेषज्ञो की आवश्यकता पडी जिसके कारण देश के विदेशी मुद्रा के साधनो पर असाधारण दबाव पडा लेकिन धीरे-धीरे देश की विदेशो पर आश्रिता कम होती चली गई। अब औद्योगिक क्षेत्रो मे उत्पादन वृद्धि के लिए उत्तरोत्तर आन्तरिक साधनो को ही अपनाने पर बल दिया जा रहा है।

शक्ति एवं परिवहन की क्षमता में वृद्धि विगत 20 वर्षों मे शक्ति की प्रस्थापित क्षमता मे लगभग 7 गुनी वृद्धि हुई है। सन् 1950–51 मे बिजली की प्रस्थापित क्षमता 23 लाख किलोवाट थी जो 1970–71 मे बढ कर 165 3 लाख किलोवाट हो गई। बिजली लगे गावो एव कस्बो की संख्या 3700 से बढ कर 1,09,438 हो गई।

नियोजन-काल मे भारतीय रेलो ने आत्म निर्भरता और प्रगति का एक स्वर्णिम

युग रखा है। आज भारत विश्व ऐसे कि-चुने देशों में पहुंच गया है, जिन्हें रेल सम्बन्धी प्रत्येक क्षेत्र की जानकारी है। भारतीय रेलें अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ साथ विदेशों को भी रेल सामग्री का निर्यात कर रही हैं। पहले हम रेल के डिब्बों तक का विदेशों से आयात करते थे, लेकिन अब देश में ही अधिकांश साज-सामान के निर्माण के अलावा हम इनका निर्यात भी कर रहे हैं। विगत 20 वर्षों में रेलों की माल होने की क्षमता 93 मिलियन टन से बढ़ कर 199 मिलियन टन अर्थात् दुने से भी अधिक हो गई है। जहाजरानी के क्षेत्र में भी हमने यथेष्ठ प्रगति की है। 1950-51 में विश्व की कुल टन भार क्षमता 872 4 लाख टन (जी आर टी) थी जिसमें भारत का भाग केवल 3·9 लाख टन अर्थात केवल 0 45 प्रतिशत था। 31 दिसम्बर, 1971 को यह टन भार क्षमता बढ़ कर 25 लाख टन हो गई। इस प्रकार टन भार क्षमता में 6 गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 के अन्त तक केवल 6·8 प्रतिशत विदेशी व्यापार में भारतीय जहाजरानी का योगदान था, जो अब 20 प्रतिशत से अधिक हो गया है।

सामाजिक सेवाओं में प्रगति नियोजन के विगत 20 वर्षों में शिक्षा, स्वास्थ्य चिकित्सा, परिवार नियोजना, पिछड़ी जातियों के कल्याण, औद्योगिक श्रमिकों के लिए आवास व्यवस्था आदि की दिशा में भी महत्वपूर्ण प्रगति की गई है। प्राथमिक स्कूलों माध्यमिक स्कूलों व विश्वविद्यालयों के प्रवेश में क्रमशः 5 9, 9 6 तथा 10 प्रतिशत की वार्षिक दर से वृद्धि हुई है। उच्च तकनीकी शिक्षा के लिए प्रवेश क्षमता में 9 से 11 प्रतिशत की वार्षिक दर से वृद्धि हुई है। अस्पतालों में डाक्टरों और बिस्तरों की संख्या में क्रमशः 3 5 प्रतिशत और 4 3 प्रतिशत की वार्षिक दर से वृद्धि हुई है। साक्षरता की दर 16 5 प्रतिशत से बढ़ कर 29 4 प्रतिशत हो गई है, जबकि जन्म के समय जीवनकाल की सम्भावना 32 ० वर्ष से बढ़ कर 52 वर्ष हो गई है।

जीवन-स्तर में में सुधार आयोजना के दो दशक में जीवन-यापन स्तर में भी सुधार हुआ है। आज आम व्यक्तियों के भोजन, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं सामाजिक जीवन में नया परिवर्तन दिखाई देता है। बिजली, सड़कों साईकिलों, रेडियो, ट्रान्जिस्टरों तथा अनेक नागरिक सुविधाओं के प्रादुर्भाव से सामान्य व्यक्ति पहले से कहीं अधिक खुशहाल है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को प्राप्त करने की दिशा में उन्नति दिखाई पड़ती है, जैसा कि आगे दी गई तालिका से अनुमान लगाया जा सकता है

प्रतिव्यक्ति उपलब्ध वस्तुएं

	1951	1971
खाद्यान्न (ग्राम) प्रति दिन	394 9	456 8
खाने का तेल (किलोग्राम)	2 7	3 3
चीनी (किलोग्राम)	3 0	7 3
सूती वस्त्र (मीटर)	11 0	13 6
चाय (ग्राम)	257 0	383 0
काफी (ग्राम)	51 0	64 0
घर के लिए बिजली (किलोवाट)	1 6	7 0

स्रोत 1971–72 आर्थिक सर्वेक्षण, भारत सरकार

योजना के विगत 20 वर्षों मे उपर्युक्त वर्णित क्षत्रो के अतिरिक्त कई अन्य अनेक क्षत्रो मे भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। सन् 1950–51 मे घरेलू बचत राष्ट्रीय-आय का 5 5 प्रतिशत थी, जो 1968–69 मे 8 4 प्रतिशत हो गई। इसी प्रकार विनियोग की दर सन् 1950–51 म 5 5 से बढ कर 1968–69 मे 9 5 प्रतिशत हो गई। यद्यपि नियोजन काल मे बरोजगारी की समस्या को हल नही किया जा सका है तो भी रोजगार की मात्रा मे विगत वर्षों मे काफी वृद्धि हुई है। नियोजन काल मे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को कम करने के लिए अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाए गए है। निर्धन व पिछडी हुई जनता तथा पिछडे इलाको के लाभ के लिए विशष कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए।

भारत मे आर्थिक नियोजन की कमिया एव असफलताए
(Shortcomings and Failuret of Planning in India)

योजनाबद्ध आर्थिक विकास के विगत 20 वर्षों मे भारतीय अर्थ-व्यवस्था ने कई दृष्टियो से उल्लेखनीय प्रगति की है। लेकिन यदि हम अपनी योजनाओ की वास्तविक उपलब्धियो की तुलना योजना मे निर्धारित किए गए लक्ष्यो व उद्देश्यो से करें तो हमे एक निराशाजनक स्थिति का आभास मिलता है। आवश्यक वस्तुओ की उत्तरोत्तर बढती हुई कमी महगाई मूल्यो मे अत्यधिक वृद्धि, विदेशी मुद्रा सकट, निर्धनता, बेरोजगारी भुखमरी आदि हमारी योजनाओं की असफलताओ को उजागर करती हैं। देश विदेश के अनेक विद्वानो ने समय समय पर इन असफलताओ की चर्चा की है जिसका सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है

1 **आर्थिक विकास की दर का असन्तोषजनक होना** भारतवर्ष मे विगत नियोजन के 20 वर्षों मे प्रति वर्ष औसतन विकास की दर 3 से 4 प्रतिशत रही है

जो सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। इसी अवधि मे जापान, थाइलैण्ड, राष्ट्रवादी चीन, मलेशिया व कोरिया मे क्रमश 6, 7, 8, 6, 6 प्रतिशत की गति से राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एशिया के तमाम देशो की तुलना मे ही हमारी आर्थिक विकास की दर बहुत कम है विकसित देशों की तुलना मे तो यह और भी अधिक निराशापूर्ण स्थिति है।

2 **मूल्य-स्तर में निरन्तर वृद्धि** हमारे आयोजन की सबसे बड़ी कमी अथवा असफलता यह है कि इससे देश के मूल्य स्तरो मे अत्यधिक वृद्धि हुई है। एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था मे सामान्यत 3 से 5 प्रतिशत तक की वार्षिक मूल्य वृद्धि शायद स्वाभाविक मानी जा सकती है। चूंकि विशाल पूंजीगत परियोजनाओ मे जितनी अधिक मात्रा मे पूंजी लगाई जाती है, उस मात्रा मे उत्पादन उतनी जल्दी नही मिल पाता, इसलिए इतनी मूल्य वृद्धि से बचना सम्भव नहीं है। लेकिन भारतवर्ष मे नियोजन-काल के दौरान यह वृद्धि चिन्ताजनक बन गई। केवल प्रथम पचवर्षीय योजना की अवधि म मूल्य स्थिति लगभग स्थिर रही या उसमे थोड़ी कमी आई। लेकिन दूसरी पचवर्षीय योजना की अवधि से पूंजीगत माल के उत्पादन पर जोर देने के कारण लगातार मूल्य मे वृद्धि हुई है। 1952–53 को आधार वर्ष मानने पर थोक मूल्य सूचनांक 1962–63 मे 127 9 और 1963–65 मे 210 2 था। 1939 को आधार वर्ष मानने पर यह सूचनाक क्रमश 446 और 800 आता है। 1961–62 को आधार वर्ष मानने पर जून 1972 मे थोक मूल्य सूचनाक 197 था, अर्थात् बीस के वर्षों मे 6 प्रतिशत के चक्रवृद्धि दर से मूल्य मे वृद्धि हुई। इस मूल्य वृद्धि का परिणाम यह हुआ कि देश मे महगाई बढ़ गई और लोगों के जीवन-निर्वाह व्यय बहुत बढ गए। मूल्य वृद्धि के कारण कर्मचारियों के वेतन व भत्तों में समय-समय पर वृद्धि की गई जिससे कीमतो मे और वृद्धि हुई। इस प्रकार नियोजन के फलस्वरूप उत्पन्न मूल्य-वृद्धि के दुश्चक्र से जन साधारण दुखी हो गया और उसका आर्थिक नियोजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया से विश्वास उठने लगा है।

3 **बेरोजगारी में वृद्धि** भारतीय आयोजन की एक बड़ी असफलता यह भी है कि यह बेरोजगारी एव अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या सुलझाने मे असफल रहा है। यह समस्या इस समय देश के नियोजनकर्त्ताओ के लिए सबसे बड़ी चुनौती बनी हुई है। गत वर्षो मे पचवर्षीय योजनाओ के माध्यम से जिस सख्या मे रोजगार के अवसरो का विकास हुआ, उससे भी कहीं अधिक देश मे श्रम शक्ति तथा फलस्वरूप बेरोजगारों की सख्या का प्रादुर्भाव हुआ। आज एक बहुत बड़ी सख्या बेरोजगार व्यक्तियों की तैयार हो गई है। इन रोजगार विहीन लोगो मे शिक्षित लोगो की सख्या भी बहुत अधिक है। 1970 में एक करोड़ से भी अधिक ऐसे व्यक्ति थे जो

मैट्रिक थ या स्नातक। बेरोजगारो की सख्या के सम्बन्ध मे अनुमान है कि वे जन-सख्या के 3 प्रतिशत से 13 प्रतिशत तक है। स्पष्ट है कि योजनाकाल मे श्रम शक्ति की वृद्धि की तुलना मे रोजगार के अवसरो मे बहुत कम वृद्धि हुई है। 1970–71 व 1971–72 मे यह समस्या और भी गम्भीर रूप धारण कर चुकी है। एक अनुमान के अनुसार यदि जनसख्या 2 5 प्रतिशत वार्षिक दर मे बढती रही तो चौथी योजना के अन्त मे अर्थात् मार्च 1974 मे बेरोजगारो की सख्या 2 करोड 80 लाख तक पहुच जायेगी।

4. धन व आय की असमानता में वृद्धि . हमारी योजनाओ की एक त्रुटि यह भी रही है कि वे देश मे धन व आय की विषमताओ को दूर करने मे असमर्थ रही है। डा० के० एन० राज के अनुसार, "आज आय व धन की असमानताए नियोजित विकास की अवधि के प्रारम्भ की तुलना मे अधिक हो गई है। यद्यपि अर्थ-व्यवस्था आज भी मिश्रित ही बनी हुई है तथापि मिश्रण के तत्व इसे समाजवादी प्रारूप की अपेक्षा पूजीवादी प्रारूप के ही अधिक समीप ले जाते हैं।"[1] वस्तुत. योजनाकाल मे धनी अधिक धनी तथा निर्धन और अधिक निर्धन हुए हैं। नियोजन-काल मे अपनाई गई नीतियों के कारण आय का हस्तान्तरण जनसाधारण व वेतन भोगी मध्यम वर्ग की ओर स ऊचे व्यवसायी वर्ग की तरफ लगातार होता गया है जिससे देश मे धन व आय की असमानताओ मे वृद्धि हुई है। प्रा गौनाय के मतानुसार आर्थिक विषमता की वृद्धि के तीन कारण है, प्रथम, आर्थिक नियत्रण, द्वितीय घाटे की वित्त व्यवस्था, तथा तृतीय आयात लाइसन्स व्यवस्था।

5 आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण में वृद्धि हमारे नियोजन की एक प्रमुख असफलता यह भी है कि इसके होने हुए भी आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण मे उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। देश की उत्पादक पूजी और परिसम्पत्ति टाटा, बिरला, डालमिया, साहूजैन, आदि कुछ गोड़े मे पूजीपतियो एव औद्योगिक घरानो के हाथों मे आ गई है। इन घरानो की सम्पत्ति नियोजनकाल मे काफी बढी है। फलस्वरूप हम अपने नियोजन के प्रमुख उद्देश्य समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना से विमुख हो गए है।

6 विदेशी सहायता पर निर्भरता मे वृद्धि—यद्यपि प्रथम योजना की रूप-रेखा से ही हमने सदा आत्म-निर्भरता का लक्ष्य सैद्धान्तिक रूप रेखा निर्धारित किया था तो भी व्यवहार मे हम निरन्तर विदेशी सहायता पर अधिकाधिक निर्भर होते चले गए। प्रथम, द्वितीय एव तृतीय पचवर्षीय योजनाओ म क्रमश. 201,1430, व

1 K. N Raj Indian Planning of 'A Critique and An alternative Approach', in Mainstream Dec 14, 19 8, p 14

2877 करोड रुपयों की विदेशी सहायता का उपयोग किया गया। 1966–67, और 1969-70 के तीन वर्षों में 4020 करोड रुपये की विदेशी सहायता का उपयोग किया गया। 1970–71 में 769 करोड रुपये की सहायता प्राप्त हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे विदेशी स्रोतों पर निर्भरता कम करने के प्राय सभी उपाय किया असफल रहे। विकास के लिए विदेशी सहायता के लाभों को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि भौतिक स्रोतों के साथ साथ प्राविधिक, ज्ञान व कार्य-क्षमता भी आयतित होती है जिसका कि एक पिछड़े देश में नितान्त अभाव पाया जाता है। किन्तु विदेशी सहायता के दुष्परिणाम कभी-कभी बड़े दुखदायी हैं। यथार्थ में कुछ उद्देश्यों से बंधा होना, आर्थिक नीति निर्धारण में विदेशी हस्तक्षेप, विदेशी राजनीतिक दबाव ब्याज, मूल धन के रूप में भारी भुगतान, आयात निर्यात की शर्तों की प्रतिकूलता, विदेशी व्यापार में प्रतिबद्धता आदि अनेक उल्लेखनीय कठिनाइयां हैं, जो विदेशी सहायता से व प्राय जुड़ी रहती हैं।

7 विविध क्षेत्रों में असफलताएं आर्थिक नियोजन के 20 वर्षों में कई अन्य क्षेत्रों में भी असफलताएं व कमियां रह गई हैं, जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं (i) नियोजन काल में हमारे भुगतान शेष के घाटे में वृद्धि हुई जिससे देश में विदेशी मुद्रा संकट उत्पन्न हो गया (ii) परिवार नियोजन के क्षेत्र में आवश्यक सफलताएं नहीं मिल सकीं फलस्वरूप देश में जनसंख्या के विस्फोट की समस्या उत्पन्न हो गई है (iii) देश में काश्तकारों को भूमि का मालिकाना अधिकार दिलाने के सम्बन्ध में तथा भूमि सुधार के क्षेत्र में कानून तो अनेक बना दिए गए हैं लेकिन उनको ढंग से लागू न कर सकने के कारण उनसे सम्भावित लाभ पूरी तरह से नहीं उठाए जा सके, (iv) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार तो उत्तरोत्तर होता जा रहा है, लेकिन उनके प्रबन्ध एवं कुशलता को बढ़ाने के लिए किए गए प्रयत्न सफल नहीं हो सके हैं, फलस्वरूप अनेक सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थान घाटे में चल रहे हैं, (v) सामुदायिक विकास खण्ड में उत्पादन बढ़ाने की दिशा में जो प्रगति हुई वह प्राय निराशाजनक रही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष ने पिछले लगभग दो दशकों में अनेक क्षेत्रों में महान् सफलताएं प्राप्त की हैं। कृषि, उद्योग परिवहन सामाजिक सेवा आदि सभी क्षेत्रों में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। इन सब उपलब्धियों को देख कर हम गौरव व संतोष का अनुभव कर सकते हैं, लेकिन आज भी हमारे सामने ने अनेक चुनौतीपूर्ण समस्यायें खड़ी हैं जिनका समाधान खोजने में हमारी नियोजन प्रणाली असफल रही हो। जब तक देश की इन समस्याओं को प्रभावशाली ढंग से हल नहीं कर लिया जाता तब तक नियोजन का लाभ देश के कोटि कोटि जन को नहीं प्राप्त हो सकेगा।

भावी आयोजन के संम्बन्ध में सुझाव

(1) **समाजवादी समाज की स्थापना** हेतु सच्चे दिल से प्रयत्न किया जाय, क्योकि समाजवाद के नाम की बार-बार रट लगाने मात्र से इसकी स्थापना होना सम्भव नही है। प्रशासन मे सुदृढ़ता के अभाव से भूमि सुधार कानून, सहकारी कृषि आदि क्षेत्रो मे वाछित परिणाम प्राप्त नही हो सके। श्री टी टी. कृष्णामाचारी के अनुसार इसकी स्थापना हेतु **बजट सम्बन्धी नीतियों एवं दिन-प्रति-दिन की नीतियों में परिवर्तन** तथा देश मे हो रहे परिवर्तनो को यथार्थवादी दृष्टि से समझना आवश्यक है। यह कार्य किसी एकाधिकारी को समाप्त करके भी करना सम्भव नही है। इसकी स्थापना हेतु उपभोग पर नियन्त्रण करना आवश्यक है, क्योंकि इसे छिपाया नही जा सकता। अत: व्यय कर को पुन लागू करना चाहिये। सरकार द्वारा अन्न का व्यापार, आयात-निर्यात कार्य, बैंको का राष्ट्रीयकरण आदि कदम उठाये जाय ताकि इससे लाभ को पुनर्विनियोजित किया जा सके एव यह लाभ कतिपय व्यक्तियों को ही न मिल सके। **कॉंग्रेस अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा** के अनुसार हमारा लोकतन्त्रीय समाजवाद भारतीय परम्पराओ, विचारो, भावनाओं तथा परिस्थितयो के अनुसार हो तथा इसमे सभी लोगो को रोटी, वस्त्र, मकान जैसी अनिवार्य आवश्यकताओं को उपलब्ध कराना आवश्यक है।

(2) **कृषि विकास सम्बन्धी सुझाव** : कृषि क्षेत्र के विकास की ओर ध्यान दिया जाय। इस हेतु उत्तम बीजो, उर्वरको, सिचाई, सस्थागत परिवर्तनो आधुनिक-तकनीक आदि की व्यवस्था की जाय। कुछ अर्थशास्त्रियो की राय मे पम्पिग सेटो, उर्वरको तथा कृषि सम्पत्ति पर कर लगाना इसके विकास के लिये हानिकारक है। कृषि व्यवस्था का उचित सगठन किया जाय।[1] सिचाई की व्यवस्था के अन्तर्गत छोटी सिचाई योजनाओ पर विशेष ध्यान दिया जाय, क्योंकि इससे अधिक श्रम शक्ति का उपयोग सम्भव हो सकेगा तथा शीघ्र फलोत्पादन होने से मुद्रा प्रसार की सम्भावना नही रहेगी। भूगर्भ विज्ञान के प्रख्यात विद्वान प्रो० जे० पी० बोष से अनुसार इससे भूकम्प का खतरा भी दूर होगा। '**झील बनाओ तथा भूकम्प को निमंत्रण दो,**" शीर्षक लेख मे उन्होने बताया कि बड़े बड़े बांध एव झीलें बनाने से, मसलन के तल, भू-भागो मे भूकम्प आये हैं, क्योंकि 100 फुट से अधिक गहरा पानी होने पर भूमि की सतह उस भार को सहन नही कर सकती है तथा फटने को विवश हो जाती है।

---

1. It is not finance but proper organisation which is the main obstacle in the path of agricultural progress in India."

—Alak Gosh

उनकी राय में महाराष्ट्र में कोयना के भूकम्प का कारण प्राकृतिक न होकर मानव निर्मित भारी झीलें हैं। कृषि विकास से उद्योगों को कच्चा माल मिलेगा, खाद्यान्न सुलभ होगा तथा रोजगार में वृद्धि होगी।

(3) **रोजगार सम्बन्धी प्रयत्न** बेरोजगारी दूर करने हेतु रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना आवश्यक है। इस हेतु श्रम शक्ति आयोजन की ओर ध्यान देना चाहिये। जनसंख्या वृद्धि की दर कम करने हेतु परिवार नियोजन कार्यक्रम का विस्तार करना आवश्यक है। विकास की दर तीव्र करनी आवश्यक है, ताकि अधिक से अधिक रोजगार के अवसर उपलब्ध हों।

(4) **आत्म स्वावलम्बन का दृढ़ संकल्प** योजना में स्वावलम्बन का दृढ़ संकल्प लेकर इस ओर भरपूर प्रयत्न करना आवश्यक है क्योंकि कहा गया है **'उद्यमेन ही सिद्धयन्ति कार्याणि न च मनोरथ।'** इस हेतु कृषि, उद्योगों, यातायात, तकनीकी ज्ञान आदि का विकास करना आवश्यक है, ताकि प्राकृतिक प्रसाधनों का अधिकतम उपयोग हो सके। अकार्यकुशलता को दूर करना, शीघ्र फलदायक इकाइयों को प्रारम्भ करना, आर्थिक साधनों पर सघन नियन्त्रण रखना, विदेशी गठबन्धन समाप्त करना, अनावश्यक नियन्त्रणों व नियमों को कम करना, निजी व सरकारी क्षेत्र को प्रोत्साहन देना, राज्यों का आर्थिक आधार पर पुनर्गठन करना, प्रशासन में अपव्यय को कम करना, कीमतों पर नियन्त्रण स्थापित करना, आयोजन को लचीला बनाना आदि बातें इसमें सहायक होंगी।

(5) **वित्तीय साधनों सम्बन्धी सुझाव** इस सम्बन्ध में विदेशी सहायता पर निर्भरता कम कर आन्तरिक साधनों से आय बढ़ाना आवश्यक है। सावधानी से कार्य करने पर सुरक्षा पर व्यय कम करके, घरेलू बचत बढ़ाकर, सरकारी क्षेत्र में स्थापित उद्योगों के ठीक संचालन द्वारा बचत पर रोक लगाकर तथा प्रशासन में अपव्यय को रोक कर घरेलू साधनों से आय बढ़ायी जा सकती है। आयात प्रतिस्थापन अथवा नियन्त्रण आदि द्वारा आयातों को कम करके तथा निर्यात प्रोत्साहन कार्यक्रमों द्वारा निर्यात बढ़ाकर विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। सरकार को विदेशी गठबन्धन कम करना चाहिये। तीन योजनाओं में लगभग 3000 विदेशी गठबन्धनों के कारण लाभांश के रूप में भारी धन राशि विदेशों को जा रही है। सन् 1956-57 से सन् 1967-68 के मध्य लगभग 388.2 करोड़ रुपया लाभांश के रूप में बाहर भेजा गया। घाटे की वित्त व्यवस्था का कम एवं सावधानी पूर्वक प्रयोग किया जाय।

(6) आर्थिक असमानताएं दूर करना . इस हेतु क्षेत्रीय असतुलन दूर करने आय एवं सम्पत्ति की असमानता को दूर करके एकाधिकारी प्रवृत्ति पर नियन्त्रण स्थापित करने की आवश्यकता है। आर्थिक विकास में अविकसित क्षेत्रों की उपेक्षा के कारण ही मुख्यत तेलगाना की समस्या उत्पन्न हुई है। श्री निजलिंगप्पा के अनुसार आर्थिक हितों के आधार पर राज्यों का पुर्नसगठन किया जाना चाहिये अन्यथा क्षेत्रीय असन्तुलन से उत्पन्न असन्तोष भयकर विस्फोट के रूप मे प्रकट होकर विनाश का कारण बनेगा। उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण तथा बड़े व छोटे उद्योगो मे समन्वय स्थापित करना आवश्यक है।

(7) आयोजन की विधि आयोजन लचीला हो, सुदृढ नीतियो को अपनाया जाय तथा अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो में समन्वय हो।

(8) सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था · शिक्षा, चिकित्सा, आदि सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था की जाय ताकि जनसाधारण का जीवन सुखी हो। नि शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा, ग्रामीण क्षेत्रो मे चिकित्सा सुविधायें उपलब्ध कराने, सक्रामक रोगो को समाप्त करने आदि के सम्बन्ध मे बहुत कुछ करना शेष है। शिक्षा का माध्यम हिन्दी तथा मातृ भाषा मे हो, ताकि भारतीय विद्वान विदेशी लेखको द्वारा प्रस्तुत विचारो का अन्धानुकरण न कर भारतीय परिस्थितियो के अनुसार स्वतन्त्र चिन्तन कर आर्थिक विकास के उपाय सुझा सकें।

9) आर्थिक नीतियो के अन्तर्गत स्वतन्त्रता प्रो० जे० के० गजरिया के अनुसार योजना आयोग को मुख्य मख्य आर्थिक नीतियो को निर्धारित कर इन नीतियो के अन्तर्गत लोगो को उनकी दैनिक आर्थिक प्रवृत्तियों को स्वतन्त्र रूप से चलने देना चाहिये। राज्य का ध्यान केवल महत्वपूर्ण आर्थिक विषयो पर ही केन्द्रित हो, अन्यथा प्रत्येक छोटी-छोटी बात को महत्वपूर्ण मानने पर सम्भव है कि बहुत सी महत्वपूर्ण बातो पर ध्यान न दिया जा सके। योजना आयोग को चाहिये कि उन सभी कारणो को समाप्त कर दे जिनसे आर्थिक प्रणाली के सगठन मे अकार्य क्षमता आ जाती है।

निष्कर्ष के रूप मे कह सकते है कि असफलताओं से न घबरा कर उसके कारणो के प्रति भविष्य मे सजग रहना आवश्यक है। देश ने आयोजित आर्थिक विकास के मार्ग को बहुत सोच विचार कर चुना है तथा भविष्य के प्रति निराशा-वादी होने का कोई कारण नहीं है।

प्रश्न

1. भारत में आर्थिक नियोजन के बीस वर्षों का आलोचनात्मक विवरण दीजिए।

2. पिछले 20 वर्षों में भारतीय अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में हुई उपलब्धियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

3. भारत में आर्थिक नियोजन की असफलता के मुख्य कारणों का विवरण दीजिए, तथा इसकी सफलता के लिए अपने सुझाव दीजिए।

राजस्थान—एक नजर में
(1972 की जनगणना पर आधारित)

1 जनसख्या	कुल	25,7,65806
	पुरुष	13,484,383
	स्त्रियां	12,281,423
2 क्षेत्र		342,214 वर्ग किलोमीटर
3 वृद्धि दर 1961–71		27 83 प्रतिशत
4 जन-सख्या का घनत्व		7> व्यक्ति प्रति किलोमीटर
5 लिंग-अनुपात		911 स्त्रियाँ प्रतिसहस्त्र पुरुष
6 कुल जनसख्या मे साक्षरता का प्रतिशत	कुल	19 07
	पुरुष	28 74
	स्त्री	8 46
7 शहरी जनसख्या मे साक्षरता		43 47 प्रतिशत
8 ग्रामीण जनसख्या मे साक्षरता		13 8> "
9 शहरी केन्द्रो की सख्या		157
10 कुल जनसख्या मे शहरी जन सख्या का अनुपात		17 63 प्रतिशत
11 कुल गांवो की सख्या	बसे हुए	33,305
	गैर बसे हुए	2,490
12 कुल जनसख्या मे ग्रामीण जनसख्या का अनुपात		82 37 प्रतिशत
13 कुल जनसख्या मे श्रमिको का प्रतिशत	कुल	31 24
	पुरुष	52 09
	स्त्री	8 34
14 कुल जनसख्या मे अनु० जाति के लोग (> costı)		15 82 प्रतिशत
15 कुल जन सख्या मे अनु जन० जाति के लोग (S tribes)		12 13 "
16 अनु० जातियो मे साक्षरता		9 14 प्रतिशत
17 अनु० जन जातियों मे साक्षरता		6 47 "

30

राजस्थान : एक परिचय

(Rajasthan An Introduction)

"Rajasthan is the collective and classical denomination of Western India, which for centuries remainde of the territory controlled, ruled and predominantly inhabited by (Rajpoot) princes"

स्वतन्त्र भारत के राज्यों में क्षेत्रफल की विशालता के आधार पर वर्तमान राजस्थान का द्वितीय स्थान है। इस राज्य का वर्तमान स्वरूप एवं आकार ब्रिटिश शासन-कालीन राजपूताना क्षेत्र के कई छोटी-छोटी देशी रियासतों एवं ठिकानों के विलयन का परिणाम है। 'राज्य पुनर्गठन एक्ट, 1956,' (State Reorganisation Act. 1956) के अन्तर्गत यह 1 नवम्बर, सन् 1956 को भारत के संघात्मक एवं गणराज्य का एक अभिन्न अंग बन गया।

इस राज्य के उद्गम (Origin) के सम्बन्ध में प्रमुखत. दो विचारधारायें प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि आज के राजस्थान का सपूर्ण भू-खण्ड प्राग्-ऐतिहासिक काल में 'टायथिस सागर' (Tythes Sea) का एक भाग था। धीरे-धीरे इस सागर के वहाँ से हटने के कारण एक विस्तृत भू-खण्ड उदय होने लगा। साभर, डीडवाना, पचभद्रा, बापरिन तथा लूनकरणसर की नमक की झीलें तथा भरतपुर में नमकीन जल के कुएं इस तथ्य के प्रमाण हैं। इस क्षेत्र में जिप्सम या खड़िया मिट्टी का होना भी इस विचारधारा को प्रमाणित करता है। पृथ्वी के भीतर गड़े हुए पत्थर के अस्थिपंजर (Fossils) भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। द्वितीय विचारधारा के अनुसार, विद्वानों का यह मत है कि प्राचीन काल में यह क्षेत्र बहुत ही उपजाऊ तथा विकसित था। ऋग्वेद के अनुसार यहाँ सरस्वती नदी प्रवाहित होती थी, जिसका प्रमाण आधुनिक घग्घर नदी का भूमितल है। सीकर जिले में हर्षगाव के निकट 'चतुर्धारा' नामक स्थान भी इस तथ्य की पुष्टि करता

है। परन्तु धीरे-धीरे भू-तत्वों के अभ्युत्थान के कारण इस क्षेत्र का अधिकांश भाग रेगिस्तान में परिवर्तित हो गया।

1. स्थिति (Situation) : राजस्थान राज्य के उत्तर-पश्चिम में 23'3 तथा30'12 उत्तरी अक्षांश रेखाओं (North Latitudes) तथा 69'30' और 78°17' पूर्वी देशान्तर रेखाओं (East Longitudes) के मध्य स्थित है। देश के विभाजन के बाद इसकी पश्चिमी सीमा के अन्त से पाकिस्तान की सीमा प्रारम्भ हो जाती है। इसके उत्तर में पंजाब, उत्तर-पूर्व में दिल्ली तथा हरियाणा, पूरब में उत्तर-प्रदेश, दक्षिण में गुजरात तथा दक्षिण-पूर्व में मध्यप्रदेश राज्य स्थित है।

2. क्षेत्रफल तथा जन-संख्या (Area and Population) . क्षेत्रफल की दृष्टि से राजस्थान भारतीय संघ का मध्यप्रदेश के बाद दूसरा बड़ा राज्य है। इस राज्य का क्षेत्रफल 1,32,147 वर्गमील या 3,12,251 वर्ग किलोमीटर है, परन्तु 'सर्वेयर जनरल ऑफ इण्डिया' (Surveyor General of India) के अनुसार इसका क्षेत्रफल 3,41,732 वर्ग किलोमीटर निर्धारित किया गया है। राजस्थान राज्य का क्षेत्रफल सम्पूर्ण देश के क्षेत्रफल का 10.14 प्रतिशत है। सन् 1971 की जन-गणना के अनुसार सम्पूर्ण राजस्थान की जनसंख्या 2.94 करोड़ है तथा जनसंख्या का घनत्व 75 है। इस प्रकार भारत के राज्यों में क्षेत्रफल के आधार पर राजस्थान का दूसरा स्थान है, परन्तु जनसंख्या के आधार पर इसका दसवाँ स्थान है।

3. सामान्य लक्षण (General Features) · इस राज्य की आकृति एक असमान एवं अनियमित समचतुर्भुज के समान है। अरावली की पर्वत-श्रेणियाँ राजस्थान को दो भागों में बाँटती हैं—उत्तरी-पश्चिमी भाग, सम्पूर्ण क्षेत्रफल का 3/5 भाग है तथा दक्षिण-पूर्वी भाग, सम्पूर्ण क्षेत्रफल का 2/5 भाग। दक्षिण-पूर्व में चम्बल नदी मध्यप्रदेश तथा राजस्थान राज्यों की विभाजन-रेखा है। इसका क्षेत्रफल विस्तृत होने के कारण, यह राज्य विभिन्न प्राकृतिक विषमताओं का प्रदेश है। जहाँ इसके एक ओर शृंखलाबद्ध पर्वत श्रेणियाँ हैं, वहीं दूसरी ओर इसके पश्चिमी भाग में मीलों तक 'थार मरुभूमि (Thar Desert) के रेगिस्तानी मैदान भी है, जहाँ या तो वर्षा होती ही नहीं,और यदि होती भी है तो बहुत कम। सबसे अधिक विषमता तो यह है कि इस क्षेत्र में कहीं-कहीं तो सूखे पठार हैं, तो कहीं-कहीं कई प्राकृतिक झीलें भी हैं। इन विषमताओं के कारण ही, इस राज्य के स्थल या भूमि की आकृति, जलवायु तथा मिट्टियों में विभिन्नता है।

4. प्राकृतिक लक्षण (Physical Features) : राजस्थान का प्राकृतिक विभाजन चार भागों में किया जा सकता है : (i) मरु प्रदेश या रेगिस्तानी भाग; (ii) अरावली पहाड़ियाँ, (iii) मैदान, तथा (iv) पठारी भाग। राजस्थान की

अर्थ-व्यवस्था मे इन प्राकृतिक भागो का अलग-अलग योगदान है। अत इनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

(i) **रेगिस्तानी भाग** (The Desert) भारत मे 'थार का मरुप्रदेश' सबसे बड़ा रेगिस्तान है। यह अरावली पहाडियो के पश्चिमी ढाल से सिन्ध तक 300 से 380 मील तक फैला हुआ है। जैसलमेर, बीकानेर, जोधपुर, बाडमेर तथा शेखावाटी के क्षेत्र इस रेतीले क्षेत्र मे ही स्थित हैं। जैसलमेर, बाडमेर तथा बीकानेर की तरफ तो मीलों तक बालू के टीबे ही टीबे (Sand dunes) नजर आते है। इन क्षेत्रों में कही पर भी हरियाली नजर नही आती। कुछ ऐसे भी स्थान है जो बिल्कुल ही निर्जन हैं। गर्मी के मौसम मे ये क्षेत्र काफी गरम रहते है तथा लू चलती है। प्राय इन स्थानो पर धूल-भरी आँधियां आती है। उत्तर से पश्चिम की ओर वर्षा की मात्रा भी घटती जाती है और कही तो वर्षा 15"–20" तक तो कही 10" मे 5" के बीच ही होती है। इस क्षेत्र मे बहुत ही कम कुए है, जिनका जल-स्तर भूमि की सतह से 200–300 नीचे होता है। कुछ क्षेत्रो मे तो पानी पहुचाने की व्यवस्था की जाती है। यातायात के साधनो का अभाव होने के कारण, ऊटो के द्वारा ही पानी पहुचाया जाता है। इसी क्षेत्र मे साभर, कुचामन, डीडवाना तथा डेगाना की नमक की झीलें है।

राजस्थान का यह मरुप्रदेश मृत्यु-प्रदेश कहलाता है। यहाँ की आबादी घनी नही है। यहाँ के निवासियो को अपनी जीविका के लिए कडी मेहनत करनी पडती है। वर्षा-ऋतु मे लूनी नदी, जो इस क्षेत्र की एकमात्र नदी है, लोगो को नवजीवन प्रदान करती है, अन्यथा इस क्षेत्र मे सिंचाई के लिए अन्य कोई साधन नही है। जहा वर्षा 15 मे 20 तक हो जाती है, वहाँ बाजरा ग्वार, मोठ, तिल तथा मूग की खेती की जाती है। कम वर्षा वाले क्षेत्र मे खरीफ की फसल ही बोयी जाती है। किसानों को बहुधा अपने जानवरो के लिए चारे तथा जल की व्यवस्था करने के लिए दूसरे क्षेत्रो की ओर जाना पडता है। इस क्षेत्र का विकास करने के लिए एक 'केन्द्रीय सूखा क्षेत्र अनुसधान सस्था' (Central Arid Zone Research Institute) स्थापित की गयी है। एक केन्द्रीय रेगिस्तान विकास बोर्ड भी रेगिस्तान को उपजाऊ भूमि मे परिवर्तित करने के लिए बना है।

(ii) **अरावली की पहाडिया** (Aravalli Hills) राजस्थान प्रदेश मे अरावली की पहाडियाँ सिरोही से खेतड़ी तथा दिल्ली तक फैली हुयी है। इन पहाड़ियों का प्रदेश अरावली का पठारी भाग कहलाता है। दक्षिण-पश्चिमी मे इन पर्वतमालाओ का विस्तार गुजरात के मैदानो तक है। इस प्रकार यह पठारी प्रदेश 430 मील या 692 किलोमीटर लम्बा है और पर्वत-मालाओ की औसत ऊँचाई 3,000 फीट है।

इसकी सबसे ऊँची चोटी माउन्ट आबू की गुरुशिखर चोटी है (5,650 फीट)। इसके अतिरिक्त सांभर-सिरोही पर्वत-मालाओं के क्षेत्र में कुछ अन्य प्रमुख पर्वत चोटियां भी हैं : गोरम, जो उदयपुर जिले में कुम्भलगढ के निकट है, 3,075 फीट, अजमेर में तारागढ 2,85 फीट (873 मीटर) सांभर-खेतड़ी क्षेत्र की प्रमुख पर्वत चोटियाँ है रघुनाथगढ (1,055 मीटर), लोहार्गल आदि।

राजस्थान के अरावली पर्वत-मालाओं के क्षेत्र को उनमें निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते है

1 **नदियां** इन पर्वत-श्रेणियों से कई नदियां निकलती है, जैसे–बनास, माही, काकनी, लूणी आदि जो वर्षा ऋतु में प्रवाहित होती हैं। इन नदियों का पानी एकत्र करके तथा बांध बना कर सिंचाई की व्यवस्था की जा सकती है।

2 **वन तथा चारागाह** इन पर्वत-मालाओं की ढाल पर घने जंगल हैं,जिनसे कई उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त होता है। इन वनों के कारण ही इस क्षेत्र में वर्षा भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। इन पर्वत-शृखलाओं की ढलानों पर चारागाह है।

3. **खनिज :** पर्वत-श्रेणियों के कारण खनिज मे राजस्थान काफी सम्पन्न है और यहा विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थ उपलब्ध हैं। अगर हम राजस्थान को खनिज पदार्थों का अजायबघर कहे तो गलत न होगा। यहा पश्चिमी क्षेत्र मे अलौह धातुएँ, जैसे–जिप्साइट, चूना, जिप्सम, नमक, संगमरमर आदि पाई जाती हैं तथा अरावली के उत्तरी क्षेत्र में तांबा, सीसा, जस्ता, लोहा, मैंगनीज आदि पाये जाते हैं। कुछ खनिज तो ऐसे है कि सारे देश मे केवल राजस्थान मे ही प्राप्त होते है, जैसे–सीसा, जस्ता, वुलफ्राम और टंगस्टन। खेतड़ी, अलवर तथा जयपुर जिले मे तांबे के नये भण्डार मिले है। कोयले और लोहे की यहा कमी है। उदयपुर से 14 मील दूर दबोक में जिंक स्मेल्टर का कारखाना खुला है, जो जस्ते को अन्य खनिजो, जैसे सीसा और चाँदी से अलग करेगा।

4 **वर्षा** इस क्षेत्र मे पहाड़ों तथा जंगलों के कारण वर्षा की मात्रा अधिक है। जहा सामान्य वर्षा होती है तथा मैदानी क्षेत्र है, वहा खेती भी की जाती है। राज्य की 90 से 95 प्रतिशत वर्षा वर्षा-ऋतु में जुलाई से सितम्बर तक होती है। राजस्थान के विभिन्न भागों में वर्षा का वितरण बहुत अधिक असमान है। वर्षा की मात्रा दक्षिण-पूर्व से उत्तर पश्चिम की ओर से कम होती जाती है। उत्तर-पश्चिम राजस्थान के थार मरुस्थल मे वर्षा सबसे कम होती है। दक्षिण-पूर्वी भागों में वर्षा 100 सेन्टीमीटर के आस-पास होती है जबकि थार के रेगिस्तान में यह 25 सेन्टीमीटर से भी कम है।

(iii) मैदान (Plains) : राजस्थान प्रदेश • मैदानी भाग अरावली के पूरब से प्रारम्भ होकर गंगा यमुना के मैदान तक विस्तृत है। राजस्थान राज्य के अन्तर्गत पूर्वी मैदान या प्रदेश दो भागों में बांटा जा सकता है—(i) बनास घाटी का मैदान तथा (ii) उदयपुर का दक्षिण-पूर्वी भाग और बांसवाड़ा और चित्तौड़गढ़ का दक्षिणी भाग। प्रथम के अन्तर्गत अलवर, भरतपुर, जयपुर, सवाई माधोपुर, टोंक, सीकर, झुंझनू तथा भीलवाड़ा के जिले आते हैं। दूसरे क्षेत्र में उदयपुर, बांसवाड़ा तथा चित्तौड़गढ़ का दक्षिणी भाग सम्मिलित है। इस क्षेत्रों में कई नदियां बहती हैं, जैसे बनास (मेवाड़ में) तथा उसकी सहायक नदियां, तथा माही और उसकी सहायक नदियां। बनास नदी घाटी का मैदान काफी उपजाऊ।

आर्थिक दृष्टि से राजस्थान का मैदानी प्रदेश काफी विकसित है। सामान्य वर्षा होने से यहां रबी तथा खरीफ दोनों की ही फसलें बोई जाती है। कुओं से सिंचाई की भी व्यवस्था की जाती है। अधिकांश लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है। इस क्षेत्र में पशु-पालन व्यवसाय भी अधिक विकसित है। उद्योग-धन्धों में सूती-वस्त्र, शक्कर तथा तेल के कारखाने भी कहीं-कहीं स्थापित किये गये है। इस क्षेत्र की मुख्य फसलें गेहूँ, चना, चावल, मक्का, ज्वार, मूंग, मोठ, बाजरा, जौ, सरसों, तिल, तथा मूंगफली हैं।

(iv) पठारी भाग (Plateau) राजस्थान के मेवाड़ के मैदानी भाग के दक्षिण पूर्व में फैला हुआ पठारी भाग 'हाड़ौती' (Hadoti) कहलाता है। इसमें कोटा, बूँदी, झालावाड़ तथा चित्तौड़गढ़ के जिले सम्मिलित है। इस क्षेत्र में अधिक वर्षा होती है। इस क्षेत्र की प्रमुख नदियाँ चम्बल, बाणगंगा, बनास, काली सिन्ध तथा पारबती हैं। वर्षा और नदियों के कारण यह भाग कृषि की दृष्टि से सम्पन्न है तथा यहाँ चावल, मक्का, ज्वार तथा मूंगफली की उपज काफी मात्रा में होती हैं।

5 मिट्टी (Soil) राजस्थान जैसे राज्य की अर्थ-व्यवस्था में, जहाँ लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है, मिट्टी की विशेष का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहा की मिट्टी या मैदानी भू-भाग भारत के विस्तृत सिन्धु-गंगा के मैदान का ही एक भाग है। परन्तु सम्पूर्ण राज्य के विभिन्न भागों में मोटे तौर पर निम्नलिखित प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं

लाल मिट्टी (Red Soil) - इस प्रकार की मिट्टी अजमेर, किशनगढ़, उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा तथा अरावली के पूर्व में पाई जाती है। इस मिट्टी में लोह की अधिकता होती है तथा इसमें चूने और पोटाश का प्रतिशत भी अधिक होता है, परन्तु नाइट्रोजन, फॉसफोरस तथा नमी की कमी होती है। इस प्रकार की मिट्टी सामान्यत उपजाऊ होती है।

(ii) काली मिट्टी (Black Soil) कोटा, झालावाड़, मालवा, बांसवाड़ा, डूंगरपुर और प्रतापगढ़ के कुछ थोड़े से क्षेत्रों में यह मिट्टी पायी जाती है। इसमें नमी को बनाये रखने की क्षमता अधिक होती है, परन्तु इसमें 'फॉसफोरिक एसिड' का अभाव रहता है। इसमें पोटास तथा चूना अधिक मात्रा में पाया जाता है। यह मिट्टी अधिक उपजाऊ होती है।

(iii) कछारी मिट्टी (Alluvial Soil) भरतपुर, अलवर तथा गंगानगर जिले के कुछ भागों में इस प्रकार की मिट्टी पायी जाती है। इसमें पोटाश, फॉसफोरस, चूना तथा लोहा पर्याप्त मात्रा में होते हैं, परन्तु नाइट्रोजन की कमी होती है। यह मिट्टी उपजाऊ होती है। कुओं तथा नहरों से सिंचाई की व्यवस्था करके इस प्रकार की मिट्टी से गेहूँ, चावल, कपास, गन्ना तथा तम्बाकू की फसलें प्राप्त की जाती है।

(iv) लेटराइट मिट्टी (Laterite Soil) इस प्रकार की मिट्टी बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ तथा कुशलगढ़ में पायी जाती है। इसमें चूने, नमी तथा नाइट्रोजन के तत्वों की कमी होती है।

(v) बलुही मिट्टी या रेत (Sand) जोधपुर क्षेत्र, बीकानेर के दक्षिण में, जैसलमेर जिले तथा जयपुर क्षेत्र के उत्तर पश्चिमी भाग में यह मिट्टी पायी जाती है। इसमें भूमि को उपजाऊ बनाने वाले तत्वों का अभाव होने तथा घुलनशील नमक का आधिक्य होने के कारण, यह मिट्टी उपजाऊ नहीं होती। जिन स्थानों पर 10" से 15" तक वर्षा होती है, वहां बाजरा, मूंग, मोठ आदि फसलें होती हैं और जहाँ पर सिंचाई की व्यवस्था है, वहाँ पर नाइट्रोजन खाद देकर चावल, गेहूँ, चना, कपास आदि की अच्छी फसलें उत्पन्न की जाती है।

6 जलवायु (Climate) राजस्थान की जलवायु उष्ण कटिबन्धीय है, अर्थात् यहां ग्रीष्म ऋतु अत्यधिक गर्म और शुष्क होती है। सर्दी के मौसम में इसके उत्तरी-पश्चिमी भाग में दक्षिण-पूर्वी भाग की अपेक्षा अधिक सर्दी पड़ती है। जलवायु की दृष्टि से राजस्थान के तीन मौसम हैं (i) ग्रीष्म ऋतु (The Hot-weatbr Season), (ii) सामान्य वर्षा ऋतु (The Season of General Rains), तथा (iii) शरद् ऋतु (The Cold Weather Season)। भारतीय ऋतु विभाग ने इस राज्य की शरद् ऋतु को भी दो उप-विभागों में विभाजित कर दिया है (अ) लौटती हुयी मानसून का मौसम, अक्टूबर से दिसम्बर तक, तथा (ब) सर्दी का मौसम, जनवरी से फरवरी तक।

उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर राजस्थान में (i) ग्रीष्म ऋतु मार्च-अप्रैल से प्रारम्भ होती है तथा सितम्बर तक रहती है। इस ऋतु में मई तथा जून के महीनों

मे अधिकतम तापमान होता है। धूल-भरी आंधियाँ भी प्राय: इसी ऋतु में आती हैं। परन्तु इस ऋतु की विशेषता यह है कि इसकी रात्रियाँ ठण्डी तथा सुखद होती है।

(ii) **वर्षा ऋतु** की अवधि जून के मध्य से सितम्बर तक है। 90 प्रतिशत वर्षा मानसून की अवधि मे जून से सितम्बर तक होती है। शरद्-ऋतु अर्थात् सर्दी के मौसम मे भी थोड़ी-बहुत वर्षा हो जाती है। सामान्य वर्षा-ऋतु मे भी, जबकि राजस्थान के पूर्वी भागो मे अधिक वर्षा होती है, पश्चिमी भागो मे उसकी मात्रा कम होती है। अरावली पर्वत की श्रेणियाँ मानसूनी हवाओ को आगे नही बढने देती, जिसमे इनके निकट तो 40" वर्षा हो जाती है, परन्तु इस राज्य के उत्तर-पश्चिमी कोने पर इसकी मात्रा बहुत ही कम हो जाती है। राजस्थान के पूर्वी भाग मे बगाल की खाडी तथा भारतीय महासागर (Indian Ocean) से आने वाली मानसूनी हवाओ से वर्षा होती है। यही कारण है कि मेवाड, हाडोती पठार तथा अरावली की पर्वत श्रेणियो के पूर्वी ढालो पर तथा डूगरपुर और बासवाडा मे अच्छी वर्षा हो जाती है। इस राज्य मे औसत वर्षा 6" से 40" तक होती है।

(iii) **शरद्-ऋतु** . राजस्थान मे शरद्-ऋतु अक्टूबर से प्रारम्भ होती है और फरवरी तक सर्दी पडती रहती है। अक्टूबर से दिसम्बर तक की अवधि मानसूनी हवाओ के लौटने की अवधि होती है जिससे राजस्थान के लगभग आधे भाग मे 25.4 cm से कुछ ही कम वर्षा हो जाती है, जिससे यहा का मौसम काफी अच्छा हो जाता है अक्टूबर महीने मे सर्वत्र तापक्रम समान ही रहता है। नवम्बर मे अपेक्षाकृत कुछ सर्दी पडने लगती है। दिसम्बर से फरवरी तक अच्छी सर्दी पडती है। अत्यधिक सर्दी पडने पर मरुस्थलीय प्रदेश मे कही-कही तापक्रम प्रायः शून्य से भी नीचे गिर जाता है। पश्चिम से आने वाले चक्रवातो से इस मौसम मे कभी-कभी वर्षा हो जाने पर गहूँ तथा चने की फसल को काफी लाभ पहुँचता है।

7 **राजस्थान की पशु-सम्पदा** राजस्थान पशु-सम्पदा मे सम्पन्न है। पशुपालन यहा की एक महत्वपूर्ण आर्थिक क्रिया है, जिसने जनसख्या के एक बहुत बडे भाग को स्वतन्त्र तथा सहायक रोटी-रोजी का साधन प्रदान किया है। वर्तमान समय मे राजस्थान मे पशु समुदाय (Live stock) की सख्या लगभग 390 लाख है, जिसका मूल्य 76 करोड रुपये है। प्रति वर्ष पशु-समुदाय या इससे सम्बन्धित उत्पत्ति के निर्यात मे लगभग 20 करोड रुपये की आय प्राप्त होती है। भारतवर्ष मे उत्पन्न होने वाली ऊन का 40% भाग राजस्थान के पशुओ से ही प्राप्त होता है।

देश की उत्तम किस्म की पशुओ की नस्ल मे से अनेक नस्ले राजस्थान मे पाई जाती है। 'राथी' (Rathi), थारपारकर (Tharparkar), गिर (Gir) व नागौरी (Nagauri) यहा की उत्तम कोटि की नस्लें है। विगत 12 वर्षों के दौरान अकाल की भयकरता के कारण राजस्थान के पशु-समुदाय पर बुरा असर पडा है।

लोगो ने पशुओ की अकाल के कारण घटती हुई सख्या से सुरक्षा के लिए उन पशुओं को भी पाल रखा है, जिन्हे आर्थिक दृष्टि मे रखना उपयुक्त नही है। इससे उनकी आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा है, साथ ही उनकी पशु-पालन की प्रेरणा हतोत्साहित हुई है।

राज्य सरकार पशु-सम्पदा की सुरक्षा एवं विकास के लिए अनेक कदम उठा रही है। राज्य मे चारे के विकास कार्यक्रम को पशु सम्पत्ति के विकास एव दूध विक्रय योजनाओ के साथ जोड़ा जा रहा है। सरकार रेगिस्तानी क्षेत्र म पशुओं के स्थिरीकरण, उनकी नस्ल के विकास, आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी पशुओ के उपयोग आदि की योजनाओ को क्रियान्वित करने के प्रयत्न कर रही है। बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, भीलवाडा, उदयपुर, अलवर, भरतपुर व कोटा मे 8 डेरियाँ खोली जा रही है, ताकि वर्तमान योजना के अन्तर्गत दूध की पूर्ति 20000 लिटर प्रति दिन से बढ कर 3 लाख लीटर प्रति दिन की जा सके। राज्य से दिल्ली को दूध व दूध से बने पदार्थों को भेजने की भी योजना बनाई जा रही है। राज्य मे पशु वध की आधुनिक सुविधाओं का विस्तार किया जा रहा है ताकि राज्य के 2 करोड़ भेड व बकरियो के स्वामी अधिक लाभ कमा सके। इस समय राज्य मे 120 लाख किलोग्राम गोश्त व 108 लाख किलोग्राम ऊन प्रति वर्ष पैदा होती है, जिसे क्रमश 150 लाख किलोग्राम तथा 120 लाख किलोग्राम तक निकट भविष्य मे बढ़ाने की योजना है। राज्य मुर्गी पालन की दिशा मे भी आगे बढ रहा है। जहा पहले राज्य से 5000 अण्डे प्रति दिन बाहर भेजे जाते थे, वहा अब प्रति दिन 1 लाख अण्डे बाहर भेजे जा रहे हैं।

राज्य की पशु-सम्पदा का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है :

राजस्थान की पशु सम्पदा (197?)

पशु	सख्या (1000 मे)
गाय, बैल	12470
भैंस, भैंसे	4593
भेड	5556
बकरी	12162
घोडे व टट्टू	49
खच्चर	1
गधे	586
ऊँट	745
सुअर	117
मुर्गे, मुर्गियाँ	1235

8 ग्रामीण तथा शहरी जनसख्या (Rural and Urban Population)

सन् 1961 की जनगणना के अनुसार राजस्थान की कुल जनसख्या का 3/5 से अधिक भाग 82 7 प्रतिशत गाँवों में निवास करता है, जबकि लगभग 16 3 शेष प्रतिशत शहरी क्षेत्रो मे। इस प्रकार मूल रूप से राजस्थान कृषि प्रधान तथा ग्रामो का प्रदेश है। यहाँ औद्योगिक विकास के कार्यक्रम अभी कुछ वर्ष पहले से ही प्रारम्भ किये गये है, परन्तु इनका विकास इतना अधिक नही हुआ है, जिनसे कि ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रो की जनसख्या के प्रतिशतो मे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो सके।

निम्नलिखित तालिका ग्रामीण जनसख्या के वितरण तथा विभिन्न आकार के गावो की सख्या को व्यक्त करती है।[1]

गाँवो का आकार तथा ग्रामीण जनसख्या का वितरण 1971

गाँवो का आकार	कुल ग्रामीण जनसख्या मिलियन मे	गावो की कुल सख्या	जनसख्या का प्रतिशत	गावो का प्रतिशत
200 से कम	0 936	8,771	4 41	26 33
200–499	3 687	11,010	17 37	33 06
500–999	5 523	78,17	26 03	23 47
1,000–1,999	5 494	4,008	25 89	12 03
2,000–4,099	4 390	1,514	20 69	4 58
5000	1 076	16[illegible]	5 07	0 50
10,000 से अधिक	0 116	10	0 54	0 03
योग	21 222	33 305	100 0	100 0

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि ग्रामीण जनसख्या 33,305 गाँवो मे निवास करती है। उपर्युक्त आकडो से यह भी ज्ञात होता है कि 83 0 प्रतिशत गाव ऐसे है जिनमे प्रत्येक की जनसख्या 1,000 व्यक्तियो से भी कम है। ऐसे गाँवो मे 48 प्रतिशत जनसख्या निवास करती है। इन गाँवो के क्षत्रीय वितरण का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि अधिकतर पश्चिमी रेतीले मैदान तथा अरावली के पहाडी क्षत्र मे बिखरे हुए है। प्राकृतिक तथा भौगोलिक परिस्थितियो के प्रतिकूल होने के कारण इनके आकार मे विस्तार नही हुआ है। अधिकतर किसान अपनी भूमि के निकट ही झोपडियो मे निवास करना पसन्द करते है। 10,000 से अधिक व्यक्तियो वाले बडे गावो मे निवास करने वाली ग्रामीण जनसख्या का प्रतिशत केवल 54 ही है।

1 Source Census of India 1971, Rajasthan Population Statistics

परन्तु इस राज्य म शहरीकरण की योजना का ग्रामीण जनसंख्या पर काफी प्रभाव पड़ा है। कई क्षेत्रो से शहरी केन्द्रो मे ग्रामो मे जनसख्या का प्रवास हुआ है, जिससे ग्रामीण जनसख्या का विकास रुक गया है। इसके अतिरिक्त राज्य की ओद्योगिक विकास की योजनाओ ने भी शहरी जनसख्या मे वृद्धि की है। वास्तव मे सन् 1921 से ग्रामीण जनसख्या मे क्रमिक कमी होती रही है। सन् 1921 मे ग्रामीण जनसख्या का प्रतिशत 86 7 था। सन् 1932 मे 86·3 प्रतिशत तथा सन् 1941 मे 85·7 प्रतिशत। अकाल तथा महामारियो के कारण भी जन्म-दर कम रही है, जिससे भी ग्रामीण जनसख्या में कोई वृद्धि नहीं हो सकी। सन् 1961 की जनगणना के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रो की जनसख्या मे कुछ वृद्धि हुई। इसका कारण यह था कि ऐसे 74 कस्बे गाँवों के वर्ग मे सम्मिलित कर दिए गए, जिनकी जनसख्या 450 हजार थी। इस प्रकार ग्रामीण जनसख्या का प्रतिशत जो सन् 1951 मे 71.5 प्रतिशत था, सन् 1961 मे बढ़कर 83 7 प्रतिशत हो गया। इसके अतिरिक्त उस समय तक कृषि योग्य भूमि का विस्तार तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि हो जाने से ग्राम-क्षेत्रो में रोजगार के साधन भी उपलब्ध होने लगे थे। सन् 1971 मे राजस्थान की ग्रामीण जनसख्या 21,222,045 थी, जबकि शहरी जनसख्या केवल 4,543,761 थी।

शहरी जनसख्या सन् 1941 तक राजस्थान मे शहरी जनसख्या मे कोई वृद्धि नहीं हुई। सन् 1901 मे सन् 1941 के मध्य यह केवल 13 0 प्रतिशत से बढकर 14 0 तक ही पहुच सकी थी। सन् 1951 म यह प्रतिशत बढकर 17 3 तक पहुच गया था, परन्तु सन् 1961 मे शहरी जनसख्या पुन घटकर 16 3 प्रतिशत हो गयी। इस राज्य मे शहरी जनसख्या मे वृद्धि कई कारणो से हुई है। गाँवो की आत्म निर्भर अर्थ-व्यवस्था के टूट जाने, कई गावो के शहरी बाजार-केन्द्रो मे परिवर्तित होने तथा यातायात एव सदेश वाहन के साधनों, वाणिज्य तथा व्यापार का विकास होने के परिणामस्वरूप शहरी क्षेत्रो की जनसख्या मे काफी वृद्धि हुई है। सन् 1951–61 के मध्य ग्रामीण जनसख्या मे 29 65 प्रतिशत तथा शहरी जनसख्या में 11 04 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, जबकि सन् 1961–71 के मध्य वृद्धि का यह प्रतिशत क्रमश 25 77 व 38·47 था। अगले पृष्ठ की तालिका शहरी जनसख्या के वितरण तथा विभिन्न आकार के शहरो की सख्या को व्यक्त करती है:

राजस्थान मे सन् 1941 से कुछ बड़े शहरों की जनसख्या मे काफी वृद्धि हुई है। मध्यम आकार के शहरो की गणना बड़े शहरो म की जाने लगी है। जयपुर शहर का विकास तो उसके राजधानी होने तथा इधर कुछ वर्षों मे औद्योगिक विकास के कारण हुआ है। गंगानगर के विस्तार का श्रेय उस क्षेत्र म कृषि के विकास को

शहरो का आकार तथा शहरी जनसख्या का वितरण (ग)

शहर का आकार	कुल शहरी जनसख्या मिलियन में	शहरो की कुल सख्या	जनसख्या का प्रतिशत	शहरो का प्रतिशत
100,000 से अधिक	1 902	7	41 87	4 46
50,000–99,999	.488	7	10.75	4 46
20000–49999	930	31	20 47	19 75
10000–19999	898	67	19 77	42 67
5000–9999	308	41	6 78	26 11
5000 से कम	017	4		
योग	4,543	157	100 00	100 00

है। कोटा मे जनसख्या राजस्थान के अन्य नगरो की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से बढी है। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि इस जिले मे औद्योगिक विकास-कार्यक्रमो मे तीव्र गति से वृद्धि हुई है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राजस्थान शहरीकरण की ओर अधिक अग्रसर हो रहा है। अधिकाश शहरो मे अच्छी आवास-सुविधाओ, बिजली की पूर्ति आमोद-प्रमोद, शिक्षा, चिकित्सा तथा यातायात की सुविधाओ और सुरक्षा ने लोगो को नगरो मे बसने की प्रेरणायें प्रदान की हैं।

9 कृषिगत ढांचा (Agrarian Structure) : यहा के लगभग 80 प्रतिशत लोगो का धन्धा कृषि ही है। राज्य की लगभग आधी आय कृषि से ही आती है। कृषि प्रधान राज्य होने के बावजूद भी, यहा की कृषि अवस्था सन्तोषजनक नही है। इसका मूल कारण यह है कि यहा कृषित-क्षेत्र के केवल 13 प्रतिशत पर ही सिचाई की सुविधाए उपलब्ध है-शेष 87 प्रतिशत भू भाग को मानसून की कृपा पर निर्भर रहना पडता है। राजस्थान मे 8 करोड 47 लाख एकड भू-भाग कृषि योग्य है। लेकिन सुविधाओ के अभाव मे केवल 4 करोड एकड भू-भाग मे ही कृषि की जाती है। पानी एव सिचाई की सुविधाओ की कमी से प्रति एकड उत्पादन भी कम ही है, परन्तु गत कुछ वर्षो से कृषि उत्पादन के क्षेत्र मे काफी परिवर्तन हुआ है। अब राजस्थान खाद्यान्नो मे निर्यात कर्ता की स्थिति मे है। व्यावहारिक, आर्थिक एव अनुसंधान की राष्ट्रीय परिषद् ने 8 लाख टन खाद्यान्नो के वार्षिक अतिरेक का अनुमान लगाया है।

10 औद्योगिक ढांचा (Industrial Structure) राजस्थान भारतवर्ष के अन्य राज्यो की तुलना मे औद्योगिक क्षेत्र मे पिछडा हुआ राज्य है। राज्य में औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक कच्चा माल व विभिन्न खनिज प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध

हैं परन्तु शक्ति व परिवहन के साधनो के अभाव मे राज्य का औद्योगीकरण नहीं हो सका है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले राज्य मे बहुत ही कम बड़े पैमाने के उद्योग थे। सात सूती कपडो की मिलो के अतिरिक्त राज्य का एक मात्र मुख्य उद्योग लाखेरी मे सीमेंट का ही था।

वर्तमान मे सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, सीमट उद्योग, शीशा उद्योग, नमक उद्योग, उर्वरक उद्योग, ऊन उद्योग आदि महत्वपूर्ण हैं। इन उद्योगो के अलावा राज्य मे प्रयोगशाला यन्त्र स्विच बोर्ड औजार, टैक्सी मीटर्स, गृह कार्य हेतु विद्युत एव पानी के मीटर आदि के कारखाने भी राज्य मे प्रारम्भ हो चुके हैं।

कोटा मे कैल्सियम कारबाइड, नाइलोन तथा रेयन के कारखाने स्थापित किये गये हैं। ये सभी कारखाने निजी क्षेत्र मे सरकारी सद्भाव व सहयोग से चलाये जा रहे हैं। राजस्थान मे सन 1970 म पजीकृत कारखानो की सख्या थी।

राजस्थान के जल साधन (Water Resorces of Rajasthan)

राजस्थान के जल स्रोतो को हम दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं, (क) भूमि की ऊपरी सतह का जल स्रोत, (ख) भूमिगत जल स्रोत।

(क) भूमि की ऊपरी सतह या धरातलीय जल स्रोत—इन जल स्रोतों के अन्तर्गत राजस्थान की प्रमुख नदियाँ एव झीलें आती है, जिनका सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है राजस्थान की प्रमुख नदियाँ राजस्थान मे निम्नलिखित प्रमुख नदियाँ है

1 **चम्बल नदी** यह नदी मध्यप्रदेश मे निकलकर राजस्थान के कोटा, बूदी व सवाईमाधोपुर जिलो मे बहती हुई उत्तरप्रदेश मे यमुना नदी मे मिल जाती है। इस नदी के पानी को एक बहुउद्देशीय योजना द्वारा रोक कर राज्य मे जल-विद्युत उत्पन्न की जाती है तथा सिंचाई के लिए प्रयोग किया जाता है।

2 **बनास नदी** आर्थिक महत्व की दृष्टि से इस नदी का स्थान राज्य में चम्बल के बाद दूसरा है। यह नदी उदयपुर जिले मे कुम्भलगढ दुर्ग से 5 किलोमीटर पूर्व अरावली की पहाड़ियो से निकलती है। इस नदी के ऊपरी क्षेत्र पहाडी है, जहाँ भारी वर्षा होती है। इसकी लम्बाई 483 किलोमीटर है और इसके दोनो ओर सघन वन हैं।

3 **लूनी नदी** यह नदी पूर्णत बरसाती नदी है जो अजमेर के आनासागर के पास नाग पहाड़ियो से निकल कर 320 किलोमीटर दक्षिण पश्चिम जोधपुर, बाड़मेर तथा जालौर के सूखाग्रस्त जिलो मे बहती है।

4 **माही नदी** यह नदी मध्यप्रदेश मे विन्ध्याचल पर्वत से निकल कर राजस्थान के बासवाड़ा व डूगरपुर जिलो मे बहती है।

5. **घग्घर नदी :** यह नदी हिमाचल प्रदेश से निकल कर राजस्थान के गंगा-नगर जिले मे भूमि मे विलीन हो जाती है। इस नदी के जल से राजस्थान के हनुमानगढ क्षेत्र मे नहरो द्वारा सिंचाई की जाती है।

6. **बेड़च नदी :** यह नदी बनास की सहायक नदी है, जो उदयपुर के उत्तर-पश्चिम मे अरावली पहाडियो से निकल कर उदय सागर झील मे गिरती है। इस नदी की पृष्ठ भूमि मे गन्ना, चावल व गेहूँ की अच्छी खेती होती है।

7. **बाण गंगा :** यह नदी जयपुर व सीकर जिलो की सीमा के पास बैराठ की पहाडी से निकल कर भरतपुर जिले मे बहती हुई आगरे के पास जमुना मे मिल जाती है। इस नदी घाटी के क्षेत्र मे पर्याप्त वर्षा होती है, फलस्वरूप यह क्षेत्र उपजाऊ है।

8. **अन्य नदियाँ :** उपर्युक्त नदियो के अलावा राजस्थान में पारवती, काली-सिंध, कोठारी नदी, खारी नदी, साबरमती नदी आदि नदियाँ भी बहती है, जिनकी घाटियो मे अच्छी फसलें उपजाई जाती हैं।

राजस्थान की प्रमुख झीलें व तालाब :

वर्षा के अभाव के कारण राजस्थान मे वर्षा के जल को सिंचाई व पीने के लिए झीलो व तालाबो मे एकत्र कर लिया जाता हैं। यही पानी मुख्यतः पहाड़ी व पठारी क्षेत्रो मे रोक लिया जाता है। राजस्थान मे अधिकाश झीलें मीठे पानी की है, लेकिन मरु-क्षेत्र की कुछ झीलें खारे पानी की भी है।

(अ) **राजस्थान की मीठे पानी की झीलें :** राजस्थान की मीठे पानी की प्रमुख झीले निम्नलिखित हैं

1 **जयसमन्द झील :** यह उदयपुर नगर से 45 कि० मी० द० पूर्व मे स्थित है। इस झील से लगभग 1800 वर्ग कि० मी० क्षेत्र का पानी एकत्र होता है। इस झील की परिधि 145 कि० मी० है। इस झील से नहरें निकाली गई है, जो सिंचाई के काम आती है।

2. **राजसमन्द झील :** यह उदयपुर नगर से 59 कि. मी. उत्तर मे काकरोली के पास है। इसकी लम्बाई 6·44 कि मी. व चौडाई 2·50 कि. मी. है। *इसमे लगभग 513 वर्ग कि. मी का पानी एकत्र होता है। इस झील से खारी नदी* को पानी दिया जाता है तथा इसका जल भी सिंचाई के काम आता है।

3. **पिछोला झील :** यह झील 7 कि. मी. लम्बी तथा 2 कि. मी. चौडी है।

4 **फतेह सागर झील :** यह झील पिछोला झील के उत्तर मे है तथा नहर द्वारा उससे जुडी हुई है। इसकी लम्बाई 2·50 कि. मी. तथा चौडाई 1·61 किलोमीटर है।

5 **अनासागर झील** यह झील अजमेर नगर के दक्षिण मे अरावली की पहाडियो पर स्थित है। यह लगभग 13 कि मी की परिधि मे फैली हुई है।

6 **अन्य झीलें** उपर्युक्त झीलों के अलावा कुछ अन्य महत्वपूर्ण मीठे पानी की झीलें भी है जैसे अलवर के पास सिलिसेड बूदी की नवलखा झील, बीकानेर के निकट कोलायत झील, डूगरपुर मे गैब सागर चित्तौड की भीमताल, ओग का पहाड-ताल जोधपुर का बाल समन्द माउन्ट आबू की निक्की झील आदि।

(आ) **राजस्थान की खारे पानी की झीलें** राजस्थान की प्रमुख खाट पानी की झीलें निम्नलिखित हैं

1 **सांभर झील** भारत की सबसे बडी खारी पानी की यह झील फुलेरा जक्शन से 8 किलोमीटर उत्तर पश्चिम मे स्थित है। इसकी लम्बाई लगभग 3? किलोमीटर तथा फैलाव 3 25 से 11 25 कि मी तक है। इसका फैलाव लगभग 234 वर्ग कि मी है जिसमे 5720 वर्ग कि मी क्षेत्र का पानी एकत्र होता है। इस झील मे मेंड, रूपनगर तथा खडला नदियाँ आकर गिरती है। इसकी गहराई 4 मीटर तक रहती है। एक अनुमान के अनुसार इसमे 650 लाख टन नमक भरा पडा है। इस झील का उपयोग नमक निकालने के लिए किया जाता है। इसमें से प्रतिवर्ष देश के कुल नमक उत्पादन का 8 7 प्रतिशत नमक प्राप्त होता है।

2 **डीडवाना झील** यह झील नागौर जिले मे डीडवाना कस्बे के पास स्थित है। इसका फैलाव 10 वर्ग कि मी है। इस झील मे से वर्ष भर नमक निकालने का काम चलता रहता है।

3 **लून करनसर झील** यह झील बीकानेर जिले मे लून करनसर कस्बे के पास स्थित है। यह भी एक खारे पानी की झील है, जिसमे से नमक निकालकर स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति की जाती है।

4 **पचभद्रा झील** यह झील बाडमेर जिले है। मे इस झील मे 1040 वर्ग कि मी क्षेत्र का पानी आकर एकत्र होता है। इस झील मे से मैगनेशियम लवण निकाला जाता है।

राजस्थान के भूगर्भिक जल स्रोत राजस्थान मे सदैव बहने वाली नदी के अभाव मे खेतो की सिचाई एक बहुत बडी समस्या रही है। इस कमी को पूरा करने के लिए प्रान्त मे भूगर्भिक जल स्रोतो का उपयोग प्रारम्भ किया गया। राज्य के दक्षिण पूर्वी भाग मे भूगर्भिक जल के उसी प्रकार पर्याप्त स्रोत है जिस प्रकार उत्तर के बडे मैदानी क्षेत्र मे हैं क्योकि राज्य के दक्षिणी पूर्वी भाग मैदानी हैं और नदियो की लाई गई मिट्टी से बने हैं। इस प्रकार के क्षेत्र मे पानी की सतह ऊची रहती है। सामान्य 15 से 20 मीटर की गहराई मे पानी उपलब्ध हो जाता है। इन क्षेत्रो

मे सिचाई के लिए कुओं से पानी, चरस, रहट तथा ट्यूब वेल द्वारा निकाला जाता है। राज्य के उत्तरी पश्चिमी मरुस्थलीय क्षेत्रो मे स्थित जैसलमेर, बाडमेर, जोधपुर बीकानेर आदि जिलो मे भूमि के नीचे अथाह जलराशि के पाये जाने का अनुमान है। एक अनुमान के अनुसार राज्य मे हुए 149 लाख एकड फीट भूगर्भिक पानी के स्रोत होने की सम्भावना है।

12 राजस्थान की खनिज सम्पदा (Mineral Wealth of Rajasthan) खनिज सम्पदा की दृष्टि से राजस्थान काफी सम्पन्न है। यहाँ विविध प्रकार के खनिज पदार्थ उपलब्ध है। अगर हम राजस्थान को खनिज पदार्थों का अजायबघर कहे तो वह गलत न होगा। यहाँ पश्चमी क्षेत्र मे अलौह धातुये, जैसे लिगनाइट, चूना, जिप्सम, नमक, संगमरमर आदि पाई जाती है तथा अरावली के उत्तरी क्षेत्र मे ताबा, सीसा, जस्ता, लोहा, मैंगनीज आदि पाये जाते है। कुछ खनिज तो ऐसे है जो देश मे केवल राजस्थान मे ही प्राप्त होते है, जैसे सीसा, जस्ता, वुलफ्राम, टंगस्टन आदि। इस समय देश का 88% जिप्सम, 87% सोप स्टोन, 67% फैल्सपार तथा 72% एसबस्टस यहाँ निकाला जा रहा है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से राजस्थान म पाये जाने वाले खनिज पदार्थों को वर्गों मे रखा जा सकता है। (क) धात्विक खनिज, ख) गैर धात्विक खनिज। धात्विक खनिजो को भी दो वर्गों मे रखा जा सकता है। (1) लोह धातु खनिज जिनमे लोहा एव मैंगनीज मुख्यतया आते है, (2) अलौह धातु खनिज जिनमे ताबा, जस्ता, सीसा, चादी, बेरेलियम, यूरेनियम, थोरियम, टगस्टन आदि। अधात्विक खनिज पदार्थों मे अभ्रक, जिप्सम, घिया पत्थर, नमक, चूना, हीरा पाईराइस, सिलीका, एसबस्टस, काच की बालू, फैल्सपार आदि आते है।

राजस्थान मे पाये जाने वाले प्रमुख खनिज निम्नलिखित है

(1) **खनिज लोहा** (Iron Ore) राजस्थान मे लोहा अन्य लोहा उत्पादक राज्यो की तुलना मे कम लोहा मिलता है। अधिकाशत यह लोहा हेमेटाइट किस्म का होता है। कही-कही क्वार्टजाइट व मैगनटाइट किस्म का भी लोहा प्राप्त होता है। यहाँ लगभग सभी लोहे के खनिज क्षेत्र अरावली पर्वतो अथवा इसके दक्षिण पूर्व क्षेत्रो मे मिलते है। यहाँ सर्व प्रथम 1953 मे लोहा निकाला गया था। राजस्थान मे सन् 1970 मे 3 2 हजार टन लोहे का उत्पादन हुआ।

2 **मैंगनीज** (Maganese) राजस्थान मे मैंगनीज का उत्पादन भी अन्य राज्यो की तुलना अपेक्षाकृत कम है। राज्य के जयपुर, उदयपुर एव बासवाडा जिलो मे मैंगनीज का खनन किया जाता है। बाँसवाड जिले के खनिज क्षेत्र सर्वाधिक

है। एक अनुमान के अनुसार राज्य मे लगभग 300 करोड़ टन चूने पत्थर के भडार हैं। सन् 1970 मे लगभग 28 लाख टन चूने पत्थर का खनन किया गया था।

10 **संगमरमर** (Marble) संगमरमर के उत्पादन मे भी राजस्थान का देश मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजस्थान मे मकराना के संगमरमर के पत्थर श्रेष्ठकोटि के गिने जाते हैं। जयपुर, अलवर, अजमेर, सिरोही, उदयपुर, नागौर जिलो मे संगमरमर का बहुतायत से खनन किया जाता है। सन् 1970 मे राज्य मे लगभग 50 हजार टन संगमरमर का खनन किया गया।

11 **घिया पत्थर** (Soap Stone) घिया पत्थर के उत्पादन मे भी राजस्थान का देश मे प्रमुख स्थान है और प्राय देश के कुल उत्पादन का 85 प्रतिशत घिया पत्थर राजस्थान मे ही निकाला जाता है। इसका प्रयोग अनेक प्रकार की वस्तुओ के बनाने मे किया जाता है। राज्य के जयपुर, डूगरपुर, भीलवाडा, उदयपुर जिले घिया पत्थर के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध है। राजस्थान मे प्रति वर्ष प्राय 2 लाख टन घिया पत्थर का उत्पादन होता है।

12 **भूरा कोयला** (Lignite) : राजस्थान मे घटिया किस्म का भूरा कोयला भी सीमित मात्रा मे निकाला जाता है। इसकी खाने बीकानेर जिले मे पाई जाती है। राजस्थान मे इस प्रकार के कोयले का वार्षिक उत्पादन 8 से 10 हजार टन होता है।

उपर्युक्त खनिजो के अतिरिक्त राजस्थान मे अन्य अनेक खनिज भी पाये जाते हैं। राज्य मे फ्लोराइट फैल्सपार, टगस्टन, बेरानाइट, इमारती पत्थर, पन्ना सेल्नाइट आदि अनेक प्रकार के खनिज भी व्यापारिक स्तर पर निकाले जाते है। राजस्थान के उत्तरी-पश्चिमी मरुस्थली क्षेत्र मे खनिज तेल की भी प्राप्त होने की सम्भावना है। भारतीय तेल एव गैस आयोग, भारतीय भू सर्वेक्षण, इंडियन ब्यूरो ऑफ माइन्स आदि द्वारा किये गये समय-समय पर सर्वेक्षणो से पता चलता है कि जैसलमेर क्षेत्र मे ही लगभग 1½ लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र मे खनिज के भण्डार उपलब्ध है।

सन् 1971 मे सीसा, जस्ता व चाँदी को छोडकर निकाली गई प्रमुख धातुओ का विक्रय मूल्य 7 83 करोड रुपया था जबकि छोटी धातुओ का विक्रय मूल्य लगभग 8 करोड रुपया था। प्रमुख धातुओ के क्षेत्र मे 25 हजार व्यक्ति तथा छोटी धातुओ के क्षेत्र मे लगभग 1 लाख लोगो को रोजगार मिला हुआ था। आजकल खानिक क्षेत्र से राज्य सरकार को लगभग 539 लाख रुपये की प्रति वर्ष आय होती है।

प्रश्न

1 राजस्थान के प्राकृतिक विभागो का विवरण देते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि उनका उसके आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

2 राजस्थान की मिट्टियां उसके कृषि-विकास मे कहा तक उपयोगी सिद्ध हुई हैं ?

3. राजस्थान की जलवायु पर एक सक्षिप्त लेख लिखिए।

4 राजस्थान की पशु-सम्पदा पर प्रकाश डालिए।

5 राजस्थान के जल-साधनो पर यथेष्ठ प्रकाश डालिए।

6. राजस्थान की खनिज-सम्पदा का उल्लेख कीजिए और यह बताइए कि राज्य खनिज की दृष्टि से यथष्ट सम्पन्न है।

31

राजस्थान में कृषि

(Agricultural in Rajasthan)

जिस प्रकार भारत एक कृषि प्रधान देश है, उसी प्रकार राजस्थान एक कृषि-प्रधान राज्य है। यहाँ के लगभग 80 प्रतिशत लोगों का धन्धा कृषि ही है। कृषि प्रधान राज्य होने के बावजूद भी यहाँ की कृषि-व्यवस्था संतोषजनक नहीं है, क्योंकि लगभग 90 प्रतिशत भू भाग को मानसून की कृपा पर निर्भर रहना पड़ता है। मानसून की अनिश्चितता राजस्थान को भी उसी प्रकार प्रभावित करती है, जिस प्रकार देश के अन्य राज्यों को। राजस्थान में वर्षा का औसत, अन्य राज्यों की तुलना में, बहुत कम है। फलस्वरूप राज्य के अधिकांश भागों में केवल एक फसल खरीफ ही उगाई जाती है। राजस्थान में 8 करोड 47 लाख एकड भू भाग कृषि-योग्य है लेकिन सुविधाओं के अभाव में केवल 4 करोड एकड भू-भाग में ही कृषि की जाती है।

राजस्थान की कृषि-विषयक विशेषताएं : कृषि के क्षेत्र में राजस्थान की कुछ अपनी विशेषतायें है जो अन्य राज्यों में नही पाई जाती है। ये विशेषतायें प्रमुखत निम्नलिखित हैं

1 प्राकृतिक वातावरण एव भौगोलिक परिस्थितयाँ राज्य की कृषि को बहुत बडी सीमा तक प्रभावित करती है। चूरू, बीकानेर, जैसलमेर, बाडमेर, सिरोही, पाली, झुनझुनू एव सीकर जिले राज्य के सूखे क्षेत्र हैं जहा वर्षा अत्याधिक कम होती है। दूसरी ओर अलवर, जयपुर, भरतपुर टौंक, सवाई माधोपुर, कोटा आदि जिले वर्षा की दृष्टि से सम्पन्न है। उदयपुर, डूगरपुर, बाँसवाडा, चित्तौड़ आदि जिले भी सूखे क्षेत्रो की अपेक्षा, वर्षा की दृष्टि से सम्पन्न कहे जा सकते हैं। फलस्वरूप कृषि के दृष्टिकोण से ये क्षेत्र सम्पन्न हैं। राजस्थान के पश्चिमी मरु व अर्द्ध मरु क्षेत्रो में केवल 25 सेन्टीमीटर औसत प्रति वर्ष पानी बरसता है, जबकि पूर्वी भाग के कई क्षेत्रो में वर्षा का औसत 200 सेन्टीमीटर है।

श्यकता पड़ती है। राजस्थान मे उदयपुर, भीलवाड़ा, अजमेर, पाली, टौंक, जयपुर, सीकर, सवाई माधोपुर, भरतपुर, अलवर व गंगानगर के जिलो मे ही लगभग 90% जौ की खेती होती है। राजस्थान मे सन् 1971–72 मे 456000 हैक्टर भूमि पर जौ की खेती की गई तथा 590000 टन जौ का उत्पादन हुआ।

5 गेंहूँ गहूँ की खेती के लिए उपजाऊ भूमि, वर्षा तथा सिचाई की आवश्यकता होती है। इसे प्राय अक्टूबर के मध्य से नवम्बर के मध्य तक बोया जाता है। दिसम्बर, जनवरी, फरवरी, मार्च के महीनो मे सिचाई की आवश्यकता होती है और इसे अप्रैल के प्रारम्भ से लेकर मई के मध्य तक काट लिया जाता है। गहूँ को बोते समय सर्द जलवायु और काटते समय गर्म जलवायु की आवश्यकता होती है। गगानगर, टौंक सवाई माधोपुर, जयपुर व कोटा मे गेहूँ की खेती की जाती है। कुल गेहूँ पैदा करने वाले कृषि क्षेत्र का 11% भाग गगानगर जिले मे है। सन् 1971-72 मे 1524000 हैक्टर भूमि पर गेहूँ बोया गया तथा 1904000 टन गेहूँ पैदा हुआ।

6 चना यह लगभग कुल कृषि क्षेत्र के 11 2% भाग पर अर्थात 1 6 मि हैक्टर क्षेत्र मे बोया जाता है। इसे 1 अक्टूबर से 20 अक्टूबर तक बोया जाता है तथा मार्च के मध्य से लेकर अप्रैल के मध्य तक काटा जाता है। राज्य के चना पैदा करने वाले कुल भू क्षेत्र का ⅓ भाग गगानगर जिले मे है। गगानगर के अलावा चूरू, झुझनू, अलवर, भरतपुर, जयपुर, टौंक सवाई माधोपुर व अजमेर मे भी चने की खेती की जाती है। डूगरपुर व बासवाड़ा भी चने की खेती के लिए उपयुक्त हैं। राजस्थान मे सन् 1971-72 मे 1644000 हेक्टर भूमि पर चना बोया गया तथा 886000 टन चना पैदा हुआ।

7 चावल राजस्थान के कुछ भागो मे चावल की भी खेती की जाती है। चावल की उपज के लिए पानी की अधिकता की आवश्यकता होती है। इसीलिए राज्य के उन भागो मे, जहाँ या तो अधिक वर्षा होती है या सिचाई की सुविधाएँ उपलब्ध है, केवल चावल पैदा किया जाता है। डूगरपुर, बासवाड़ा, उदयपुर, बूदी, कोटा व गगानगर जिलो म चावल बोया जाता है। राजस्थान मे चावल की खेती सन् 1971 72 मे 133000 हैक्टर भूमि पर की गई तथा 159000 टन चावल पैदा हुआ।

8 दालें राजस्थान मे चने को छोड कर अरहर, मूग, उर्द, मोठ आदि लगभग 1 7 मि० हैक्टर भूमि पर अर्थात कुल कृषि-क्षेत्र के 12 1% भाग पर बोई जाती है। यदि चने को भी मिला लिया जाय, तो राज्य के कुल कृषि भूमि के 1/5 भाग पर दालें पैदा की जाती है। जयपुर, झुझनू, सीकर, नागौर, जोधपुर, बीकानेर

तथा चूरू जिलों में कुल दाल उपजाने वाले क्षेत्र का 85% क्षेत्र पाया जाता है। सन् 1971–72 में चने समेत 3714000 हैक्टर भूमि पर दालें बोई गईं तथा 1319000 टन दाल पैदा की गई।

9 **कपास** : राजस्थान में लगभग 2,36,300 हैक्टर भूमि पर कपास उगाई जाती है जो कुल कृषि-क्षेत्र का 1 7% भाग है। कुल कपास उगाने वाले क्षेत्र का 30% भाग अकेले गंगानगर जिले में तथा लगभग ½ भाग उदयपुर, चित्तौडगढ़, भीलवाडा, अजमेर व झालावाड में पाया जाता है। कपास बोने का कार्य अप्रैल से जून के मध्य तक तथा चुनने का काम सितम्बर के अंत से दिसम्बर के अंत तक चलता रहता है। कपास की खेती के लिए वर्षा अथवा सिंचाई के अन्य साधनों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। सन् 1971–72 में 33500 हैक्टर भूमि पर कपास बोई गई तथा 394000 गाँठ कपास का उत्पादन हुआ।

10 **गन्ना** राज्य के जिन भागों में सिंचाई की सुविधायें उपलब्ध है, वहाँ गन्ने की खेती की जाती है। यह फरवरी से अप्रैल तक बोया जाता है तथा नवम्बर से इसकी कटाई शुरू हो जाती है। राज्य के गन्ना उत्पादन क्षेत्र हैं गंगानगर, भरतपुर, सवाई माधोपुर, टोंक, कोटा तथा उदयपुर। सन् 1971–72 में 8000 एकड़ भूमि पर गन्ने की खेती की गई 1203000 टन गन्ने का उत्पादन हुआ।

11 **तिलहन** तिलहन में मूंगफली राजस्थान में मुख्यतः पैदा की जाती है। यह प्रति वर्ष 2 लाख हैक्टर भूमि में बोई जाती है तथा प्रति वर्ष लगभग 1 लाख टन से कुछ अधिक पैदा होती है। राज्य के जिन जिलों में मूंगफली पैदा की जाती है, वे हैं चित्तौड, कोटा, झालावाड व सवाई माधोपुर। मूंगफली के अलावा राज्य के प्रायः सभी भागों में तिल उगाया जाता है। तिल का उत्पादन लगभग 6 लाख हैक्टर भूमि में किया जाता है और प्रति वर्ष लगभग 75 हजार टन तिल पैदा किया जाता है। इन दोनों फसलों के अलावा सरसों, अलसी, तोरिया आदि भी राज्य के सभी भागों में तिलहन के रूप में पैदा किये जाते हैं। सन् 1971–72 में राजस्थान में 1348000 हैक्टर भूमि पर तिलहन उगाया गया तथा 387000 टन तिलहन पैदा हुआ।

राजस्थान ने विभिन्न फसलों की पैदावार में भी विगत कुछ वर्षों में उल्लेखनीय प्रगति की है। सन् 1966–67 व 1967–68 के वर्षों में कृषि उत्पादन में भारी वृद्धि हुई, जैसा कि आगे दी गई तालिका से स्पष्ट है

प्रमुख फसलों का उत्पादन (हजार टनों में)

उत्पादन	1965–66	1966–67	1967–68	1968–69	1969–70	1970–71	1971–72
बाजरा	940	1229	1423	448	801	2676	1371
ज्वार	292	346	428	201	392	573	255
गेहूँ	785	872	1319	1175	1258	1951	1904
मक्का	642	614	1026	423	517	930	752
जौ	448	474	766	575	510	764	590
चावल	24	32	95	57	99	135	159
तिलहन	214	201	328	152	218	534	368
गन्ना	940	393	312	52	670	1235	1203
कपास[1]	165	184	226	172	119	229	394

1. कपास का उत्पादन हजार गाँठो मे दिया गया है। प्रत्येक गाठ मे सामान्यत 180 किलोग्राम कपास होती है।

भूमि का उपयोग

(हजार हैक्टर म)

वर्गीकरण	1951–52	1951–52 म कुल भौगोलिक क्षत्रफल का प्रतिशत	1966–67	1966–67 म कुल भौगोलिक क्षत्रफल का प्रतिशत
कुल भौगोलिक क्षत्रफल	34280	100 00	34023	100 00
1 वन	1159	3 4	1145	3 4
2 कृषि के लिये प्राप्त	8980	26 2	6010	17 9
3 अन्य बिना बोया गया क्षत्र (चालू पडत के अतिरिक्त)	9003	26 3	8244	24 2
4 पडत	5825	17 0	4027	11 8
5 वास्तविक बोया गया क्षत्र	9313	27 1	14597	42 9
6 एक से अधिक बार बोया गया क्षत्र	442	1 3	849	2 5
7 (5 + 6) – कुल बोया गया क्षत्र	9755	28 4	15446	45 4

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि सन 1966–67 म कुल भौगोलिक क्षत्रफल का 45 4% कुल बोया गया क्षत्र था जबकि 1951–52 मे यह केवल 28 4% ही था। पन्द्रह वर्षों मे कृषि के लिए अप्राप्त भूमि की मात्रा मे काफी कमी आयी है जिससे वास्तविक बोये गय क्षत्रफल म वृद्धि हो गयी है।

कृषिगत विकास की दर

1952–53 से सन 1964–65 की अवधि मे राजस्थान मे क्षत्रफल की वृद्धि प्रतिवर्ष 2 9% रही जो भारत म सबसे अधिक थी। लेकिन इस राज्य के सम्बन्ध मे एक चिन्ता का विषय यह रहा है कि इसमे उत्पादन मे गिरावट आई है। इस अवधि मे यह प्रतिवर्ष 0 11 प्रतिशत घटी है।

राजस्थान मे इसी अवधि म खाद्यान्नो मे उत्पादन की चक्रवृद्धि वार्षिक वृद्धि की दर 2 42 प्रतिशत रही है और जनसख्या की 2 68 प्रतिशत रही है। इस प्रकार जनसख्या की वृद्धि की दर खाद्यान्नो की वृद्धि की दर से 0 26 प्रतिशत आगे रही है।

कृषिगत विकास में नई नीति का उपयोग :

अन्य राज्यों की भांति राजस्थान में भी कृषिगत विकास की नई नीति सन् 1965–66 में प्रारम्भ की गई। इसके अन्तर्गत चुने हुए क्षेत्रों मे कृषिगत विकास के कार्यक्रम अपनाये जाने लगे। संकर बाजरा, संकर ज्वार, संकर मक्का व मैक्सिकन गेहूँ के अन्तर्गत नया क्षेत्र लाया जाने लगा। अधिक उपज देने वाली किस्मों का विस्तार सन् 1968–69 में लगभग 3 लाख हैक्टेयर तक कर दिया गया। सन् 1968-69 में रासायनिक खादों का उपभोग 1 ,0 लाख टन कर दिया गया। इसी प्रकार सिचाई के विस्तार से खाद्यान्नो, कपास व तिलहन तथा गन्ने मे उत्पादन की गई क्षमताएँ उत्पन्न की जा रही है। इसी के साथ राजस्थान राज्य मे भी हरित क्रान्ति प्रारंभ हो गई है। इसमे उत्पादन मे महत्त्वपूर्ण रूप से वृद्धि होने की आशा है।

राजस्थान में पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि

प्रथम पंचवर्षीय योजना में : कृषि सम्बन्धी मदो पर कुल 210 88 लाख रु०, अर्थात् कुल योजना का 81% भाग, व्यय किया गया था इस योजना के अन्तर्गत 7 हजार 50 कुओं का निर्माण किया गया था। एक हजार 'पर्शियन व्हील' तथा 348 पम्पिग सेट लगाये गये थे। कृषि उपज को बढ़ाने के लिए 7 हजार 123 टन अमोनियम सल्फेट तथा 025 टन सुपर फॉसफेट खाद तथा 9 हजार 142 टन उन्नत किस्म के बीजो का वितरण किया गया था। 290 लाख रु० की कीमत की फसलो के पौधो की सुरक्षा की व्यवस्था की गई थी। कृषि मे यन्त्रीकरण को प्रोत्साहित करने के लिए 199 ट्रेक्टरो को खरीदने हेतु 14 16 लाख रु० उधार दिए गये थ कृषि अनुसधान एव शिक्षा के सम्बन्ध मे भी महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये थे। कोटा मे एक अनुसधान क्षेत्र तथा सवाई माधोपुर व उदयपुर मे दो बुनियादी पाठशालाएँ खोली गई थी। इन सब कार्यो के परिणामस्वरूप कृषि-उत्पादन मे आशातीत वृद्धि हुई थी और राज्य खाद्यान्न के मामले मे अन्य राज्यो पर निर्भर रहने के बजाय आत्म-निर्भर हो गया था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि कार्यक्रमो के लिए 31555 लाख रु० के व्यय करने का प्रावधान किया गया था। सन् 1960-61 तक खाद्यान्नो मे 21%, तिलहन मे 60%, गन्ने मे 149% तथा कपास मे 82% वृद्धि का लक्ष्य निर्धारित किया गया था उक्त लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए नई जमीनो को खेती के अन्तर्गत लाने दोहरी फसल उगाने तथा गहरी कृषि को अपनाने के लिए सिंचाई, भू संरक्षण, उन्नत बीज, उन्नत कृषि-यन्त्र, पौध-सरक्षण आदि की विधियो पर बल दिया गया था। इस योजना काल मे 38 बीजों के फार्म तथा 174 बीज-गोदाम बनाये गये थे, 16.75

लाख भूमि पर उन्नत बीजों का प्रयोग किया गया था, 10 हजार 465 टन नाइट्रोजन की खाद तथा 2 हजार 540 टन फॉस्फेट की खाद 1960--61 में वितरित की गई थी। इसी वर्ष 13 35 लाख टन कम्पोस्ट की खाद भी बाँटी गई थी। 41 लाख हैक्टर भूमि पर हरी खाद का प्रयोग किया गया था। 20 हजार कृषि-यन्त्रों का भी वितरण किया गया था। 11 47 लाख हैक्टर भूमि पर पौधों की सुरक्षा प्रदान की गई थी तथा नवम्बर सन् 1960 से राज्य के पाली जिले में 'पैकेज कार्यक्रम' चालू किया गया था। इस योजना में कृषि-विषयक प्रशिक्षण एवं शिक्षा का भी विस्तार किया गया था।

4 05 लाख हैक्टर भूमि पर दोहरी फसलों की खेती की जाती थी। 45 लाख हैक्टर नई जमीन कृषि के अन्तर्गत लाई गई थी तथा 7 9 लाख हैक्टर भूमि में चकबन्दी की गई थी। राज्य ने 319 57 लाख रु० कृषि-कार्यों पर व्यय किये थे। इस योजना के अन्तर्गत खाद्यान्न कपास, गन्ना व तिलहन के उत्पादन के क्रमश 11 30 लाख टन, 60 लाख गाँठें, 27 लाख टन तथा 64 लाख टन की वृद्धि हुई थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि-कार्यों पर 639 35 लाख रुपया व्यय किया गया। इस योजना के अन्तर्गत कृषि-उत्पादन में 32% बढ़ोत्तरी का लक्ष्य रखा गया था। इस योजना काल के 5 वर्षों में से लगभग 3 वर्षों में अकाल की स्थिति रहने के कारण इसमें निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करना कठिन हो गया। योजना अवधि में खाद्यान्नों में केवल 11 97 लाख टन की ही वृद्धि हुई। कपास, गन्ना तथा तिलहन में भी क्रमश 1 46 लाख गाँठें, 61 लाख टन तथा 99 लाख टन की ही वृद्धि हुई, जबकि खाद्यान्न, कपास, तिलहन व गन्ने के उत्पादन में बढ़ोत्तरी का लक्ष्य क्रमश 16 26 लाख टन, 1 52 लाख गाँठ, 1 12 लाख टन तथा 91 लाख टन का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। तृतीय योजना के अन्तर्गत 51 30 लाख हैक्टर भूमि तक पौधों को सुरक्षा प्रदान की गई उन्नत बीज एवं यन्त्रों का भी वितरण किया गया। 1 69 लाख हैक्टर अतिरिक्त भूमि कृषि के अन्तर्गत लाई गई तथा 4 20 लाख हैक्टर भूमि तक दो फसलों के उगाने की सुविधाओं का विस्तार किया गया। 11·72 लाख हैक्टर भूमि पर चकबन्दी की गयी। कृषि सम्बन्धी शिक्षा एवं प्रशिक्षण की सुविधाओं का भी विस्तार किया गया। कृषि-सेवाओं में सिंचाई, खाद, भू-संरक्षण आदि सेवाओं पर भी विशेष ध्यान दिया गया।

तीन वार्षिक योजनाएं एवं चतुर्थ पंचवर्षीय योजना :

राजस्थान की चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में पहले 43 4 करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था की गयी थी और अतिरिक्त उत्पादन के लक्ष्य रखे गये थे। 17 लाख टन खाद्यान्न, 1 62 लाख टन तिलहन, 8 55 लाख टन गन्ना और 1 97 लाख टन

गाठ कपास। लेकिन विदेशी सहायता की अनिश्चतता के कारण योजना स्थगित हो गयी और 1966–67 से 1968–69 तक की अवधि में केवल वार्षिक योजनाएं ही बनाई गई, जिनका ब्योरा निम्न तालिका में दिया जा रहा है

राजस्थान में योजनान्तर्गत व्यय (1966–69)

(लाख रु में)

क्षेत्र	1966–67	1947–68	1968–69	कुल व्यय
कृषि कार्यक्रम	865 47	594 91	551 15	2011 53
सहकारिता एव सामुदायिक विकास	245 33	147 47	115 26	508 06
सिंचाई एव विद्युत	2943 83	2286 86	3023 88	8254 57
योग	4054 63	3029 24	3690 29	10774 16

वार्षिक योजनाओं में कृषि की उपज बढाने के लिए अनेक कार्यक्रम लागू किय गये, जिनमे चकबन्दी, प्रशिक्षण केन्द्रो का विस्तार कृषि प्रयोगशालाओं का विकास, खरीफ की फसलो मे ज्वार, मक्का बाजरा और ताईचु ग धान तथा रबी की फसल मे मैक्सिकन गेहू की अधिक पैदावार देने वाली किस्मो का प्रचलन शामिल था। इसके अतिरिक्त राजस्थान नहर पोंग बाँध आदि जैसी सिचाई की छोटी और बडी परियोजनाओं को कार्यान्वित किया गया। इन उपायों से 1966–67 में उत्पादन क्षमता में वृद्धि इस प्रकार रही—खाद्यान्न 52 हजार मीट्रिक टन तिलहन 4 हजार टन, कपास 19 हजार गाठें और गन्ना 5 लाख टन। इसी अवधि में 4 69 लाख हैक्टर अतिरिक्त जमीन मे सिंचाई की भी व्यवस्था हुई। 1966 67 में 42,5000 एकड़ जमीन में अधिक उपज देने वाले बीज बोए गये और 24 3 हजार हैक्टर भूमि की चकबन्दी पूरी की गयी। 1967–68 मे उत्पादन क्षमता मे वृद्धि इस प्रकार रही खाद्यान्न 2 08 लाख मीट्रिक टन तिलहन 9 हजार मीट्रिक टन, गन्ना 5 हजार मीट्रिक टन और कपास 15 हजार गाँठे। अधिक उपज देने वाले बीजो की बुआई का क्षेत्र बढा कर 4 10 लाख एकड़ हो गया। 1968–69 की वार्षिक योजना मे अतिरिक्त उत्पादन के लक्ष्य ऊँचे रखे गये हैं परन्तु अकाल की स्थिति के कारण उनके पूरे होने में सदेह है।

चौथी योजना के निर्देशपत्र मे योजना आयोग ने सुझाव दिया है कि कृषि उत्पादन मे वृद्धि की न्यूनतम मिश्र दर 5 प्रतिशत वार्षिक रखी जाय। राज्य सरकार ने जो लक्ष्य निर्धारित किये हैं, वे आगे दी गई तालिका मे दिए गये हैं—

कृषि क्षेत्र के महत्वपूर्ण लक्ष्य
वृद्धि की दर

फसल	आधार वर्ष का उत्पादन	प्रतिवर्ष	चौथी योजना	चौथी योजना मे अतिरिक्त उत्पादन	चौथी योजना के अन्त मे कुल उत्पादन
	(लाखटन)	(प्रतिशत)	(प्रतिशत)	(लाख टन)	(लाखटन)
खाद्यान्न	64 30	6	32 60	21 00	85.30
तिलहन	3 30	9	48 40	1 60	4.20
गन्ना	21 50	6	33 00	7 10	28.60
	लाख गाँठें			लाख गाँठें	लाख गाँठें
कपास	4 00	8 5	50 00	2 00	6.00

विभिन्न खाद्यान्नो और व्यापारिक फसलो की उपरोक्त वृद्धि दरो की प्राप्ति के लिए कृषि कार्यक्रमो के वास्ते 24 03 करोड रुपये निर्धारित किये गए हैं। चौथी योजना मे पैदावार बढाने वाले वस्तुओं के प्रमुख लक्ष्य निम्न तालिका मे दिये जा रहे है

कार्यक्रम	लक्ष्य
अधिक उपज वाले बीजो की बुआई	45 00 लाख एकड
उर्वरको की खपत का क्षेत्र	9 65 लाख टन
पौध सरक्षण उपाय जहाँ किये गये	125 00 लाख एकड
भू सरक्षण	5 00 लाख एकड

नियोजन के अन्तर्गत कृषि क्षेत्र मे उपलब्धियाँ—

तीनो पचवर्षीय योजनाओ मे राजस्थान मे कृषि विकास कार्यक्रम, सामुदायिक विकास और सिचाई पर कुल मिला कर 202,74 करोड रुपये (कुल वास्तविक व्यय का 54 90 प्रतिशत) खर्च हुए। इसके परिणामस्वरूप तीनो योजनाओ मे कृषि विकास की उपलब्धियाँ इस प्रकार रही —

(क) खाद्यान्न की अतिरिक्त उत्पादन क्षमता लगभग 26 36 लाख टन बढी है।

(ख) राजस्थान की राष्ट्रीय आय मे कृषि तथा उससे सम्बद्ध गतिविधियो का योगदान जो 1954–55 मे 40 12 प्रतिशत था, 1965-66 मे बढकर 46 92 प्रतिशत हो गया।

(ग) 1950–51 मे 15.72 लाख हैक्टर भूमि की सिचाई हो रही थी, जबकि 1965–66 मे 30.80 लाख हैक्टर की होने लगी। इसी तरह कुल कृषि भूमि के मुकाबले सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत 9 से बढकर 13 हो गया।

(घ) 18.71 लाख हैक्टर से अधिक भूमि मे चकबन्दी का काम पूरा हो गया।

1966–67 और 1967–68 की वार्षिक योजनाओ मे खेती, सहकारिता और सामुदायिक विकास पर 17.6 करोड रुपये तथा सिचाई और बिजली पर 52.3 करोड रुपये खर्च हुए। 1968–69 मे इन क्षेत्रो के लिए क्रमश: 6.28 करोड और 21.19 करोड रुपये रखे गये थे।

विफलताए —

इस प्रगति के बावजूद, कृषि के क्षेत्र मे हमे अपनी विफलता दो दृष्टियो से स्वीकार करनी होगी।

(1) राजस्थान 15 साल के आयोजन के बावजूद, खाद्यान्न के मामले मे आत्मनिर्भर नही हो सका है। खाद्यान्न का अभाव बराबर बना हुआ है और भारत के बचत वाले राज्यो और विदेशो के खाद्यान्नो के आयात पर निर्भर रहना पडा है। यह देखते हुए कि आबादी का काफी बडा भाग खेती मे लगा हुआ है, अभाव की स्थिति एक विडम्बना प्रतीत होती है। यह स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है —

वर्ष	अनुमानित आबादी (लाख मे)	खाद्यान्नो की कुल अनुमानित आवश्यकता (लाख टनो मे)	वास्तविक उत्पादन (लाख टनो मे)	(+) बचत या (—) कमी	
1961–62	205.1	49.86	56.61	(+)	6.75
1962–63	208.7	50.54	50.48	(—)	0.06
1963–64	212.4	51.28	40.11	(—)	11.17
1964–65	216.2	52.07	53.08	(+)	1.01
1965–66	220.4	52.91	37.77	(—)	15.14
1966–67	224.3	53.71	42.55	(—)	11.16

(2) राजस्थान मे मुख्य फसलो की पैदावार राष्ट्रीय स्तर से केवल नीचे ही नही है, बल्कि विश्व के उन्नत देशो मे होने वाली प्रति हैक्टर पैदावार की एक चौथाई से पचमाश भर है। कृषि भूमि के अनुपात मे सिंचित भूमि का क्षेत्रफल भी अखिल भारतीय स्तर से कम है।

इस निराशाजाक स्थिति ँ गारण ये हैं — कृषि वर्षा पर निर्भर, मशीनो से होने वाली खेती लोकप्रिय नही है, सरचनात्मक और सगठनात्मक कमिया है तथा कृषि अनुसधान और ऋण सुविधाएं अपर्याप्त हैं।

सुझाव :

चौथी पंचवर्षीय योजना में कृषि क्षेत्र के लिए निर्धारित लक्ष्य प्राप्त करने के लिए राजस्थान सरकार कृषि विकास कार्यक्रम पर निम्नलिखित सुझावों को ध्यान में रखते हुए पुन: विचार करें, ताकि वांछित विकास की गति प्राप्त की जा सके।

(1) राज्य में कृषि विभाग को चाहिए कि वह उदयपुर विश्वविद्यालय के कृषि संकाय के सहयोग से खेती के तरीकों, अधिक उपज देने वाले नये पौधों को कीड़ों और रोगों से बचाने के उपायों, जल व्यवस्था की विधियों, सम्बद्ध विषयों से प्राप्त अनुभव पर आश्रित कृषि अनुसंधान कार्य को बढ़ायें। इस अनुसंधान कार्य से अनेक प्रकार से प्रति एकड़ उपज बढ़ाने में सहायता मिल सकती है। कृषि के तौर-तरीकों में परिवर्तन से अधिक सक्षम विस्तार सेवा की मांग होगी। इसे सम्भव बनाने के लिए राज्य सरकार को शिक्षा पर पर्याप्त खर्च करना चाहिए, जिससे कृषि अनुसंधान कार्य और विस्तार सेवा के लिए प्रशिक्षित लोग मिलते रहें।

(2) राज्य की योजना बनाने वाले अधिकारियों को चाहिए वे पैदावार बढ़ाने वाली कुछ आवश्यकताएं जैसे अधिक उपज बढ़ाने वाले बीज, आधुनिक रसायनिक खाद, सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी की व्यवस्था, पौधों को रोगों और कीड़ों से मुक्त रखने के लिए कीटनाशक दवाएं प्राप्त करायें। सबसे बड़ी बात यह है कि खेती के सुधरे हुए साज-सामान और ट्रैक्टर आदि मशीनें किसानों को और अधिक संख्या में उपलब्ध कराई जाय, जिससे बड़े पैमाने पर मशीनों से खेती हो सके। राजस्थान सरकार को खेती के साज सामान, सुधरे उपकरणों, रहट और उर्वरकों आदि के उद्योगों को भी बढ़ावा देना चाहिये। इन उद्योगों का एक लाभ यह होगा कि औद्योगिक आधार व्यापक होगा, ग्रामीणों की बेरोजगारी घटेगी और लोगों की गांवों से शहर की ओर जाने की रुझान कम होगी।

खेतिहरों को पर्याप्त मात्रा में धन उपलब्ध कराया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में राजस्थान कृषि निगम, जिसका गठन जल्द ही किया जाने वाला है, और सामाजिक नियन्त्रण के आधीन वाणिज्य बैंक हमारे किसानों के सीमित साधनों को बढ़ाने में बहुत सहायक हो सकते हैं।

हमारी दृष्टि से यदि राजस्थान में कृषि विकास की योजना बनाते समय उपर्युक्त सुझावों को ध्यान में रखा जाय तो सरकार के लिए विकास की प्रस्तावित वृद्धि दर का लक्ष्य प्राप्त करना कठिन नहीं होगा। इस प्रकार इस कमी वाले राज्य को बचत वाला राज्य बनाया जा सकता है।

32
राजस्थान मे उद्योग
(Industries in Rajasthan)

राजस्थान में उद्योग (Industries in Rajasthan) राजस्थान भारतवर्ष के अन्य राज्यों की तुलना में औद्योगिक क्षेत्र मे पिछडा हुआ राज्य है। यद्यपि राज्य में औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक कच्चा माल व विभिन्न खनिज प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, और यहाँ के उद्योगपति अपनी योग्यता के लिए विख्यात हैं, तथापि इन विशेषताओं के उपरान्त भी राजस्थान एकीकरण के समय औद्योगिक क्षेत्र मे बहुत पिछडा हुआ था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय राज्य मे बहुत कम बड़े पैमाने के उद्योग थे। सात सूती कपडो की मिलो के अतिरिक्त राज्य का एकमात्र मुख्य उद्योग लाखेरी मे सीमेन्ट का ही था। इस प्रकार राज्य मे बडे पैमाने के उद्योग प्राय: नागण्य ही थे। सन् 1949 तक राज्य के समस्त कच्चे माल को अन्य राज्यों के कारखानों के लिए भेजा जाता था तथा अन्य राज्यो से बना हुआ माल मगाया जाता था। राज्य की औद्योगिक क्षमता का न तो पता लगाया गया था और न राज्य के औद्योगिक विकास के लिये कोई ठोस कदम ही उठाये गये थे। राज्य के औद्योगिक विकास के लिये बडे व छोटे, उद्योगो का प्रथम बार उचित रीति से सर्वेक्षण द्वितीय पचवर्षीय योजना के दौरान ही किया जा सका। इस प्रकार राज्य के औद्योगिक विकास का श्रीगणेश उस समय हुआ, जबकि अन्य राज्यो मे उद्योग अपनी स्थिति काफी मजबूत कर चुके थे।

राजस्थान के प्रमुख उद्योग राज्य के प्रमुख उद्योगो का अध्ययन राज्य के औद्योगिक विकास की स्थिति के ज्ञान के लिए परमावश्यक है। अतः अब हम राज्य के कुछ उद्योगो का विस्तृत अध्ययन करेंगे, जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं

1. सूती वस्त्र उद्योग :

राज्य के उद्योगो मे सूती वस्त्र उद्योग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस उद्योग के विकास के लिये कच्चे माल के रूप मे कपास की आवश्यकता होती है सौभाग्य-

यहां राजस्थान में छोटे व मध्यम रेशे वाली कपास की पर्याप्त खेती है। लम्बी रेशे वाली कपास के उत्पादन के लिये भी प्रयास जारी है तथा देश के अन्य भागों से भी कपास प्राप्त की जा रही है। सस्ते श्रमिकों की पूर्ति भी आवश्यक संख्या में उपलब्ध है। आस-पास के क्षेत्र के स्त्री-पुरुष आसानी से व कम मजदूरी पर काम करने के लिए कारखानों में आ जाते हैं। अधिकांश कारखानों में शक्ति के साधन के रूप में कोयले की आवश्यकता पड़ती है, जिसे बाहर से मंगा कर पूरा किया जाता है। सूती वस्त्र उद्योग के विकास के लिये विस्तृत बाजार की भी सुविधा की जरूरत होती है। राज्य की विशालता, इस उद्योग को बाजार सम्बन्धी कठिनाइयों से भी मुक्त रखती है। जहां तक जलवायु का प्रश्न है आजकल सूती वस्त्र उद्योग के केन्द्रित होने में यह बाधा महत्वपूर्ण नहीं होती, क्योंकि कृत्रिम ढंग से जलवायु को उद्योगों के विकास के अनुकूल बनाया जा सकता है। जिन स्थानों में सूती वस्त्र उद्योग का विकास किया जा रहा है, उन्हें सस्ती भूमि व जल सम्बन्धी सुविधाएँ भी प्राप्त हैं।

तीसरी योजना के अन्त में राज्य में 17 सूती मिलें थीं, जिनमें 3,09,456 तकुए लगे हुए थे। इन कारखानों के अतिरिक्त राज्य में अन्य कई कारखानों को खोलने की स्वीकृति भी राज्य सरकार द्वारा दी जा चुकी है। जयपुर, उदयपुर, पाली, किशनगढ़, विजय नगर, कोटा, गंगानगर में एक एक सूती मिलें हैं। भीलवाड़ा और ब्यावर में 3–3 सूती मिलें सूती वस्त्र उत्पादन में लगी हुई हैं। इन नगरों के अलावा डूंगरपुर, हनुमानगढ़, झुंझनू, जोधपुर, नोहर, चित्तौड़, अलवर, धौलपुर में भी सूती कारखाना शीघ्र ही खुलने जा रहे हैं। सन् 1970 में सूती वस्त्र का उत्पादन 647 लाख मीटर व सूत का उत्पादन 334 लाख किलोग्राम हुआ। सन् 1971 व 1972 में सूती वस्त्र का उत्पादन क्रमशः 549 व 497 लाख मीटर हुआ तथा सूत का उत्पादन 290 व 266 लाख किलोग्राम हुआ। इस उद्योग का कच्चे माल की निरन्तर पूर्ति होती रहे इसलिए राज्य सरकार ने गंगानगर, भीलवाड़ा, चित्तौड़गढ़ व झालावाड़ जिलों में सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार करके कपास के उत्पादन वृद्धि को प्रोत्साहित किया है। सन 1971-72 में राजस्थान में 3, 94,000 गांठ कपास का उत्पादन हुआ।

राजस्थान में सूती वस्त्र उद्योग अभी अपनी शैशव अवस्था में है। सूती वस्त्र उद्योग के सामने निम्न समस्याएं हैं (1) राज्य में केवल देश के कुल तकुओं का 1.4% भाग ही पाया जाता है, जबकि गुजरात, तामिलनाडु, महाराष्ट्र में क्रमशः 21.3, 25.4 व 29.2% तकुवे पाये जाते हैं। इसी प्रकार राज्य में देश के कुल करघों की संख्या का केवल 1.4% भाग ही पाया जाता है, जबकि इन राज्यों में करघों की संख्या क्रमशः 28.5, 3.9, 39.7 है। राज्य में केवल 6 बड़ी सूती मिलें हैं। अन्य मिलों का आकार छोटा है।

(2) राज्य की अधिकाश पुरानी मिलो मे मशीनें घिस चुकी हैं तथा पुरानी किस्म की है। इनकी उत्पादन क्षमता कम है।

(3) सूती कपड की मिलो को चलाने के लिए राजस्थान मे कोयले की कमी तो है ही, साथ ही विद्युत शक्ति का भी अभाव पाया जाता है।

(4) आये दिन हडतालो के कारण राज्य के सूती कपडों के मिलों के उत्पादन मे बाधा उत्पन्न होती रहती है।

(5) राज्य मे पैदा होने वाली कपास छोटे रेशे वाली एव घटिया किस्म की है।

(6) कच्चे माल की दृष्टि से भी राजस्थान की स्थिति बहुत अच्छी नही कही जा सकती। राज्य मे केवल कपास की 18–19 लाख गाँठें ही पैदा होती हैं, जो राज्य के सूती वस्त्र उद्योग के विकास को देखते हुए अपर्याप्त है। कारखानों की स्थिति की दृष्टि से भी सूती वस्त्र उद्योग का विकास अनुकूलतम परिस्थितियो को ध्यान मे रख कर नहीं किया गया है। जिन क्षेत्रो मे कपास का उत्पादन किया जाता है या कपास के उत्पादन मे वृद्धि की सम्भावना है, उन क्षेत्रो मे से कई क्षेत्रो मे अभी तक सूती मिलें स्थापित नहीं की गयी हैं।

सुझाव राज्य मे सूती वस्त्र उद्योग को विकसित करने के लिए शीघ्रातिशीघ्र कई कदम उठाये जाने चाहियें, यथा (i) उत्तम कोटि की कपास को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। (ii) उद्योग के लिए सस्ते शक्ति के साधन अर्थात् सस्ती बिजली की व्यवस्था की जानी चाहिए। (iii) पुरानी मिलो मे अभिनवीकरण किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे 5 करोड रु० की पूजी से राज्य द्वारा प्रस्तावित राज्य निगम महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है। (iv) राज्य मे काते जाने वाले सूत की खपत के लिए सूती वस्त्र उद्योग से सम्बन्धित अन्य सहायक उद्योग जैसे होजरी उद्योग का विकास किया जाना चाहिए। (v) राज्य सरकार को उद्योग के विकास के लिए उदारतापूर्ण शर्तें व सुविधाएँ दी जानी चाहियें, ताकि राज्य के प्रमुख उद्योगपति राज्य के औद्योगिक निगम के प्रति आकर्षित हो सकें। (vi) राज्य मे औद्योगिक शांति की स्थापना के लिए राज्य सरकार, उद्योगपतियो एव श्रमिक सघो को मिल कर प्रयास करना चाहिए।

2 चीनी उद्योग

राजस्थान मे भी गन्ने से ही चीनी बनाई जाती है। गन्ने के अतिरिक्त इस उद्योग के लिए ईधन, चूने के पत्थर व गन्धक की आवश्यकता होती है। सामान्यत गन्ने के वजन का 9 से 12% भाग चीनी के रूप मे प्राप्त होता है। राजस्थान मे उदयपुर, भरतपुर, भीलवाडा, बूदी, चित्तौडगढ, झालावाड, कोटा, गगानगर, सवाई माधोपुर तथा टौंक मे मुख्यत गन्ने की खेती की जाती है। राज्य के सम्पूर्ण गन्ने

का उत्पादन एक तिहाई केवल उदयपुर व भरतपुर जिलों में पैदा किया जाता है। राज्य में सर्वाधिक गन्ने का उत्पादन, अर्थात् 17%, गंगानगर में किया जाता है। इस समय राज्य में चीनी उद्योग भीलवाड़ा, गंगानगर, भोपाल सागर (उदयपुर) तथा विजय नगर (अजमेर) में केन्द्रित है।

तृतीय योजना के अन्त में राज्य में दो चीनी मिलें गंगानगर व भोपाल सागर में चल रही थी। इनकी वार्षिक क्षमता क्रमश: 1 हजार मीट्रिक टन एवं 8 हजार मीट्रिक टन है। तृतीय योजना के अन्त में चीनी का उत्पादन 13 हजार मीट्रिक टन था। सन् 1966 ई० में राजस्थान में चीनी का उत्पादन 18 हजार मीट्रिक टन हुआ। सन् 1970 में 28.5 हजार टन चीनी का उत्पादन हुआ। सन् 1971 व 1972 में चीनी का उत्पादन क्रमश: 11 हजार व 10 हजार टन हुआ। सिंचाई की सुविधाओं के विस्तार के साथ-साथ गन्ने की फसल में सुधार एवं वृद्धि होती जा रही है। राज्य के गंगानगर, सवाई माधोपुर, बूंदी, कोटा एवं भरतपुर जिलों में और अधिक चीनी मिलें स्थापित किये जाने के सुअवसर राज्य में विद्यमान हैं। बूंदी जिले में केशवराय पाटन नामक स्थान पर सहकारिता के आधार पर निकट भविष्य में एक चीनी फैक्टरी स्थापित किए जाने की सम्भावना है।

राजस्थान की जलवायु एवं मिट्टी गन्ने की उपज के लिए बहुत उपयुक्त नहीं है। सिंचाई की सुविधाओं का अभाव तथा वर्षा की कमी के कारण गन्ने के उत्पादन को नहीं बढ़ने देते। राजस्थान में गन्ने की किस्म भी अच्छी नहीं है। सन् 1961-62 में राजस्थान में गन्ने का उत्पादन 8.1 लाख टन था, जबकि 1965-66 व 1969-70 में इसका उत्पादन क्रमश: 5.4 व 6.7 लाख हुआ। गंगानगर व भोपाल सागर की मिलों में गन्ने से प्राप्त होने वाली चीनी की मात्रा क्रमश: 9.66 व 9.8% है। गन्ना जल्दी सूखने के कारण तथा सूखन के कारण चीनी कारखानों की स्थापना गन्ने उत्पादन क्षेत्र में ही उपयुक्त रहती है। राजस्थान में चीनी उद्योग के विकास की सम्भावनाएं पर्याप्त हैं। चीनी की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है। सिंचाई की सुविधाओं के विस्तार के साथ साथ गन्ने की खेती का भी विस्तार हो रहा है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि राज्य में या तो वर्तमान चीनी मिलों की उत्पादन क्षमता बढ़ाई जाय अथवा पूर्वी गन्ना उत्पादक क्षेत्रों में जैसे भरतपुर व बूंदी में चीनी उत्पादन की नई मिलें खोली जाय। पूर्वी क्षेत्रों में ही 20 से 30 टन गन्ना पेरने की क्षमता वाले, चीनी उद्योग के लघु स्तरीय कारखानों को भी विकसित किया जाना चाहिए।

3. सीमेण्ट उद्योग

सीमेण्ट उद्योग आधारभूत उद्योगों में प्रमुख स्थान रखता है। सब प्रकार के निर्माण कार्यों के लिये सीमेण्ट की आवश्यकता पड़ती है। देश के औद्योगिक विकास

के साथ-साथ इस उद्योग के विकास की भी आवश्यकता है। इस उद्योग के लिये कच्चे माल के रूप मे चूने के पत्थर (Limestone) व खड़िया (Gypsum) की मुख्यत: आवश्यकता पड़ती है। कच्चे माल को सीमेण्ट मे परिणित करने के लिए शक्ति के साधन के रूप मे कोयले की भी आवश्यकता पड़ती है। चूने के पत्थर व खड़िया को एक निश्चित अनुपात मे मिला कर 2400° फारेनहाइट से 3000° फारेनहाइट ताप मान तक गर्म किया जाता है। सामान्यत: एक बैरल (Barrel) सीमेण्ट बनाने के लिए 120 पौण्ड कोयले की आवश्यकता पड़ती है तथा 2 टन कच्चे माल के प्रयोग से 1 टन सीमेण्ट प्राप्त की जा सकती है।

राजस्थान मे इस समय सीमेण्ट के तीन कारखाने है। एक सवाई माधोपुर मे है, दूसरा लाखेरी (बूंदी) मे तथा तीसरा चित्तौड़गढ़ मे। सवाई माधोपुर का सीमेण्ट का कारखाना देश का ही नही अपितु समस्त एशिया का सबसे बड़ा सीमेण्ट का कारखाना है। इसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता 8·49 लाख मैट्रिक टन है। लाखेरी के सीमेण्ट के कारखाने की वार्षिक उत्पादन क्षमता 3 52 लाख मैट्रिक टन है। सन् 1966 ई० मे राज्य मे 11 24 लाख टन सीमेण्ट का उत्पादन किया गया। सन् 1965 ई० मे सीमेण्ट का उत्पादन 10 48 लाख टन था। तृतीय पचवर्षीय योजनाकाल मे चित्तौड़गढ मे सीमेण्ट का तीसरा कारखाना प्रारम्भ किया गया। सन् 1972 मे राज्य मे 16 14 लाख टन सीमेण्ट का उत्पादन हुआ।

सीमेण्ट उद्योग की समस्याए राज्य के सीमेण्ट उद्योग को निम्नलिखित समस्याओ का सामना करना पड रहा है :

(1) उद्योग को यथष्ट मात्रा मे कोयला नही मिल पा रहा है। राज्य मे तो कोयले का उत्पादन कम है, बाहर से भी परिवहन व्यय अधिक एव वैगनों की कमी की समस्या के कारण कोयला पर्याप्त मात्रा मे उद्योग का नही मिल पा रहा है; (2) इस उद्योग को उत्पादन बढाने के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता है, जो उपलब्ध नही हो पा रहा है, (3) उद्योग मे काम करने के लिए कुशल श्रमिकों का अभाव है। श्रमिको को उद्योग से सम्बन्धित प्रशिक्षण दिलाने की सुविधाए भी नही है, (4) उद्योग मे लाभ का प्रतिशत कम है, अत: बाह्य पूँजी इस उद्योग की ओर आकर्षित नहीं हो पाती; (5) लाखेरी के कारखाने की मशीनें पुरानी पड चुकी हैं, जिनके नवीनीकरण की समस्या है; (6) राज्य मे इस उद्योग पर सरकारी हस्तक्षेप इसे स्वतत्र रूप से नही पनपने देता। सरकार की वितरण व मूल्यो सम्बन्धी नीति समय समय पर बदलते रहने के कारण उद्योग मे प्राय: अनिश्चितता की स्थिति बनी रहती है।

4 शीशा उद्योग

राजस्थान शीशे की रेत के लिए काफी प्रसिद्ध है। शीशे की रेत की प्रचुर उपलब्धि से लाभ उठाने के लिए राज्य मे शीशे के उद्योग का विकास किया जा रहा है। इस समय राज्य मे शीशे के दो कारखाने हैं, जो भरतपुर जिले के धौलपुर नगर में स्थापित किये गये हैं। सोडा एश, गन्धक, मैगनीज, ऑक्साइड आदि कच्चे माल की आवश्यकता इस उद्योग को पड़ती है, जो प्राय धौलपुर के निकट ही उपलब्ध है। कच्चे माल की प्रचुरता एव कोयले की उपलब्धि भी इस उद्योग के लिए आवश्यक है। कोयले की पूर्ति प्राय मध्य प्रदेश व बिहार से मगा कर की जाती है। धौलपुर के कारखाने मे शीशे की बोतलें, वैज्ञानिक उपकरण, गिलास व अन्य विविध प्रकार की शीशे की वस्तुओ का निर्माण किया जाता है। सन् 1965 व 1966 ई० मे राज्य मे क्रमश 3,86,000 व 2 88 000 टन शीशे का निर्माण किया गया।

5 नमक उद्योग ·

राज्य के बड़े उद्योगों मे नमक उद्योग का भी महत्वपूर्ण स्थान है। साधारण देश मे पैदा होने वाले नमक का लगभग 100' भाग राजस्थान मे ही पैदा किया जाता है। साभर, डीडवाना, और पचभद्रा झील नमक उद्योग के लिए, राज्य में प्रसिद्ध क्षेत्र हैं। इन झीलों के अतिरिक्त फलौदी, कुचामन, पोकरण, एव सुजानगढ झीलों से भी नमक बनाया जाता है। सन् 1965, 1966 व 1972 ई० मे राज्य मे नमक का उत्पादन क्रमश 544 7, 410 8 व 564 5 हजार टन हुआ था।

6 उर्वरक उद्योग

कृषि विकास के लिए रसायनिक उर्वरको की माग की पूर्ति के लिए कोटा मे एक कारखाना खोला गया है। इस कारखाने की प्रति वर्ष लगभग 221285 मीट्रिक टन रसायनिक उर्वरक उत्पन्न करने की क्षमता है। सन् 1971 व 1972 मे क्रमश 259583 व 254014 मीट्रिक टन उर्वरक का उत्पादन हुआ।

7 ऊन उद्योग :

राजस्थान उत्तम कोटि के ऊन उत्पादन के लिए प्रसिद्ध है। राज्य मे लगभग 7 5 मिलियन भेड़ें पाई जाती हैं, जिनसे प्रति वर्ष लगभग 29 मिलियन पाउण्ड ऊन प्राप्त होती है। राज्य के झुन्झुनू व सीकर जिले मे तथा जयपुर, चूरू व नागौर के कुछ भागो में उत्तम कोटि की ऊन प्राप्त की जाती है। बीकानेर, गगानगर, जोधपुर, अल्वर, भरतपुर, सवाई माधोपुर व जयपुर जिले के क्षेत्र मे उत्तम व मध्यम किस्म की ऊन प्राप्त की जाती है। टौंक व कोटा मे मध्यम व घटिया किस्म की तथा उदयपुर डिविजन मे अत्यधिक घटिया किस्म की ऊन पाई जाती है। राज्य में पाई

जाने वाली अधिकाश ऊन कालीन बनाने के काम मे आती है तथा अन्य राज्यो को भज दी जाती है। ऊन से कुछ अन्य समान जैसे मफलर, कम्बल, जर्सी आदि राज्य मे बनाये जाते हैं। सन् 1968-69 व 1969-70 मे क्रमश 15 60 व 18 70 लाख वर्ग मीटर ऊन प्राप्त की गई।

8 खनिज पर आधारित उद्योग

भारतवर्ष को जस्ता, जिंक, एमरेल्ड एव मलाइट की पूर्ति अधिकतर राजस्थान से ही होती है। जिप्सम, सोपस्टोन आदि के भण्डार भी राज्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। उदयपुर के समीप देबारी नामक स्थान पर एक जिंक स्मेल्टर सयन्त्र की स्थापना की गयी है। कारखाना प्रतिदिन दो हजार टन के लगभग चूर्ण तथा 18 हजार टन लैक्ट्रा लाइटिक जिंक के उत्पादन की क्षमता रखता है। खतडी मे ताँबे के विशाल भण्डारो का सदुपयोग करने के लिए भारत सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र मे एक विशाल कारखाने की स्थापना की है।

9 अन्य उद्योग

उपर्युक्त उद्योगो के अलावा राज्य मे प्रयोगशाला यन्त्र, स्विच बोर्ड औजार, टैक्सी मीटर्स गृह कार्य हेतु विद्युत एव पानी के मीटर्स, हाईएण्डलो टन्शन इ सुलेटर्स तथा बी० आई० आर० के बल्ब बनाने के कारखाने भी राज्य मे प्रारम्भ हो चुके हैं। कोटा मे कैल्शियम कारबाइड नाइलोन तथा रेयन के कारखाने स्थापित किये गये है। ये सभी कारखाने निजी क्षेत्र मे सरकारी सद्भाव व सहयोग से चलाये जा रहे हैं।

1951 से सन् 1972 की अवधि मे राज्य मे विभिन्न उद्योगों मे उत्पादन बढा है, जिसका परिचय निम्नलिखित तालिका से लग जाता है

प्रमुख उद्योगों के उत्पादन मे वृद्धि

वस्तु का नाम	इकाई	1951	1966	1968	1970	1971	1972
1 सीमेण्ट	हजार मीट्रिक टन	258	1124	1346	1392 5	1398 6	1614 5
2 चीनी	हजार मीट्रिक टन	1 5	18	6	18 5	11 3	10 4
3 सूती वस्त्र	लाख मीटर	301	625	535	647	549	497
4 सूत	लाख किलोग्राम	120	345	306	334	290	266
5 बालबियरिंग	लाख सख्या	—	56	60	71 7	72 6	74 1
6 बिजली के मीटर	हजारो मे	—	170	298	556 5	491 4	380 2

1965 में राजस्थान में उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण के अनुसार 765 कारखानों ने सूचना दी। इनमें 63 करोड़ रु० की उत्पादन पूंजी लगी हुई है और औसत दैनिक रोजगार 72283 व्यक्तियों को मिला हुआ था। कुल उत्पत्ति का मूल्य 47 करोड़ रु० था।

राजस्थान में औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण

राजस्थान औद्योगिक क्षेत्र में एक पिछड़ा हुआ राज्य है। राज्य के शेखावाटी क्षेत्र के अनेक साहसी उद्योगपति, देश के कोने-कोने में फैले हुए हैं और उन्होंने इन क्षेत्रों के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, परन्तु यह एक अद्भुत विडम्बना ही है कि इन उद्योगपतियों द्वारा राज्य का औद्योगिक विकास नहीं किया जा सका। राज्य के औद्योगिक विकास के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ जो राज्य की इस पिछड़ी हुई औद्योगिक स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। इनमें से कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं :

(1) **सिंचाई के साधनों का अभाव** राज्य का अधिकांश भाग रेतीला एवं सूखा है। वर्षा की अनियमितता, अपर्याप्तता और अनिश्चितता के कारण कृषि विकास नहीं हो पाया है। एक अध्ययन के अनुसार सन् 1949 से अब तक केवल सन् 1960 के अलावा कोई वर्ष ऐसा नहीं रहा है, जबकि राज्य के कुछ क्षेत्रों को सूखा और अभाव ग्रस्त क्षेत्र घोषित नहीं किये गये हों और सरकार को राहत कार्यों पर व्यय नहीं करना पड़ा हो। जैसलमेर जैसे शहर में सात वर्ष की आयु के बच्चों ने यह नहीं देखा कि वर्षा कैसे होती है? तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई को सर्वोच्च प्राथमिकता देने के बावजूद भी सिंचित क्षेत्र बहुत कम हैं। आज भी कुल कृषित क्षेत्र का केवल 15% भाग ही सिंचाई के अन्तर्गत आ पाया है।

सन् 1968–1969 के अकाल ने राजस्थान की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को झकझोर दिया। पिछले 17 वर्षों में इतना बुरा अकाल नहीं पड़ा। इस अकाल से लगभग डेढ़ करोड़ आबादी तथा बीस लाख पशु प्रभावित हुए हैं। राजस्थान का आर्थिक विकास उसी समय सम्भव होगा, जबकि सिंचाई व जल पूर्ति की व्यवस्था में पर्याप्त सुधार हो जायेगा।

(2) **शक्ति के साधनों की अपर्याप्तता :** राज्य में कोयला एवं जल विद्युत का प्रयोग साधारणतः शक्ति के साधनों के रूप में किया जाता है। कोयले की खानों के अभाव में इसे बिहार राज्य से कोयला मंगाना पड़ता है जो काफी महंगा पड़ता है। कोयला और विद्युत् शक्ति के अभाव में औद्योगीकरण सम्भव नहीं है। यद्यपि गत कुछ वर्षों में जल विद्युत् शक्ति के विकास की दिशा में कुछ प्रगति हुई है, तथापि राज्य की औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुरूप जल शक्ति उपलब्ध नहीं है।

(3) **परिवहन साधनों का अभाव** : यहाँ एक लाख की आबादी पर सड़कों की कुल लम्बाई लगभग 150 मील है जो पर्याप्त नहीं है। परिवहन के साधनों के अभाव में कृषि, उद्योग, व्यापार तथा खनिजों का विकास नहीं होने पाया है। रेलें भी राज्य में कम है। बासवाड़ा जिले के तो किसी भी भाग में रेल नहीं पहुँची है।

(4) **कच्चे माल का अभाव** : राजस्थान का अधिकांश भू-भाग मरुस्थल है, जिसमें कपास, तिलहन, गन्ना आदि व्यापारिक फसलें नहीं उगाई जा सकती। कुछ क्षेत्रों में जहाँ वर्षा हो जाती है या सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हैं, व्यापारिक फसलें होती है; परन्तु राज्य के औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं को देखते हुये इनका योगदान बहुत कम है। फलस्वरूप कच्चे माल के अभाव के कारण औद्योगिक विकास सम्भव नहीं हो सका।

(5) **कुशल श्रमिकों का अभाव** : राजस्थान के श्रमिक सामान्यत प्रवासी प्रकृति के हैं। राजस्थान के श्रमिक गाँवों के निवासी होते हैं। वे राज्य के औद्योगिक केन्द्रों में केवल कृषि से प्राप्त अपनी आय में वृद्धि करने के लिये ही आते हैं। इस सम्बन्ध में शाही श्रम आयोग (Royal Commission on Labour, 1931) का यह कथन राजस्थान के श्रमिकों के सम्बन्ध में पूर्णतया चरितार्थ होता है "यदि औद्योगिक श्रमिकों को गाँव में ही भोजन और वस्त्र प्राप्त हो जाये, तो शायद ही उद्योगों में काम करना पसन्द करेंगे।" वास्तविकता तो यह है कि श्रमिक प्रारम्भ में अकुशल होते हैं। लाखेरी और सवाई माधोपुर की सीमेण्ट फैक्टरियों में नियुक्त किये गये श्रमिकों को आवश्यक प्रशिक्षण देने के बाद अर्द्ध-कुशल तथा कुशल श्रमिकों के रूप में महत्वपूर्ण कार्य सौंपा जाता है। कुशल श्रमिकों के अभाव में यहाँ उद्योग-धन्धों का समुचित विकास नहीं हो सका है।

(6) **ग्रामीण तथा लघु उद्योगों की प्रधानता** : राजस्थान में अधिकांश औद्योगिक कार्यकलाप ग्रामीण तथा लघु उद्योगों तक ही सीमित है। ये उद्योग परम्परागत पद्धति के अनुसार चलाये जाते हैं, जिनमे न केवल उत्पादन-लागत अधिक होती है, बल्कि श्रम, कच्चे माल व समय का अपव्यय भी होता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि राजस्थान के औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार प्राप्त श्रमिकों की कुल संख्या का 65·2 प्रतिशत भाग घरेलू उद्योगों में लगा हुआ है, जबकि सम्पूर्ण भारतवर्ष का यह औसत 54 5 प्रतिशत है।

(7) **केन्द्रीय विनियोग का अभाव** : अन्य राज्यों के औद्योगिक विकास में केन्द्रीय सरकार ने आवश्यक सहयोग प्रदान किया है, परन्तु राजस्थान में इस दिशा में केन्द्रीय सरकार से कोई महत्वपूर्ण सहयोग नहीं मिला है। सार्वजनिक क्षेत्र में ऐसी

निर्माण योजनाएँ जिनको केन्द्रीय सरकार से वित्तीय सहायता मिली हो, नही के बराबर है।

31 मार्च, 1966 तक इस राज्य मे केन्द्रीय सरकार से कुल विनियोग का 0 86 प्रतिशत भाग ही इस राज्य को प्राप्त हुआ था, जबकि मध्य प्रदेश को 25 प्रतिशत उडीसा को 22 प्रतिशत तथा बगाल को 17·6 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था।

(8) कुशल प्रशासन का अभाव राजनीतिज्ञो के आये दिन हस्तक्षेप के कारण प्रशासन अत्यधिक शिथिल एव भ्रष्ट हो चुका है। प्रशासन की अकुशलता एव भ्रष्टाचार के कारण उद्योगपतियो के प्रार्थना पत्र पर समय से विचार नही किया जाता है और प्राय आर्थिक विकास की अनेक परियोजनाएँ लालफीताशाही के चक्कर मे फस कर समाप्त हो जाती है।

(9) सार्वजनिक क्षेत्र की असफलता भारत सरकार ने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को अपनाकर यह आशा की थी कि निजी एव सार्वजनिक क्षेत्र मिलकर देश की आर्थिक प्रगति मे योगदान देंगे। दुर्भाग्यवश हमारे सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग आशानुकूल कार्य न कर सके। आज सार्वजनिक क्षेत्र के बहुत से उद्योग घाटे मे चल रहे हैं सार्वजनिक क्षेत्र की निराशाजनक प्रगति से एक ओर तो साधनो का दुरुपयोग हो रहा है और दूसरी ओर निजी क्षेत्र के साहसियो को अपनी कुशलता दिखाने का कोई मौका नही मिलता है। कुछ विद्वानो का तो यहाँ तक कहना है कि यदि सरकार ने निजी क्षेत्र को समुचित प्रोत्साहन दिया होता तो अब तक राज्य की काया ही पलट जाती और सरकार द्वारा किया गया अपव्यय न हो पाता।

राजस्थान के कुटीर तथा लघु उद्योग

(Cottage and Small Scale Industries of Rajasthan)

राजस्थान प्राचीन काल से ही महत्वपूर्ण हस्तशिल्प उद्योगो के लिए विख्यात रहा है। राजस्थान का सबसे महत्वपूर्ण हस्तशिल्प उद्योग कताई व बुनाई रहा है। खादी-उत्पादन का राजस्थान एक महत्वपूर्ण केन्द्र माना जाता है। यहा के अन्य घरेलू उद्योगो मे नमदा कमाई, घानी तेल, रस्सी बनाने, कम्बल बनाने आदि के उद्योग प्रमुख हैं। राजस्थान के वन उद्योगो मे कत्था उत्पादन भी घरेलू उद्योग के वर्ग मे आता है।

राजस्थान के प्रमुख घरेलू उद्योग निम्नलिखित है

1. घरेलू वस्त्र उद्योग (Textiles) यह सबसे पुराना उद्योग है और सभी गाँवो मे समान रूप से चलाया जाता है। इस उद्योग मे गाँवों के अधिकाश व्यक्ति लगे हुए हैं। इस उद्योग के द्वारा केवल मोटे कपड़ा का ही उत्पादन नही किया जाता,

बल्कि सु दर रेशमी साडियो का भी उत्पादन किया जाता है। मसूरिया कपड तथा कोटा की साडिया और जरी पल्ले इतने आकर्षक होते हैं कि उन्होने इस घरेलू उद्योग की प्रतिष्ठा को बनाये रखा है। जयपुर तथा उदयपुर मे पगडी के लिए सु दर मल्मल तैयार की जाती है।

2 छपाई व रगाई कपडो को रगाई तथा छपाई का काम गावो तथा शहरों-दोनो ही जगह किया जाता है। शहरो मे फुहार रोगन (Spray printing) का प्रयोग किया जाता है। पक्के रग की छपाई बहुत ही आकर्षक होती है। सागानेर की छीट या छपाई पक्के रग तथा 'डिजाइन' के लिए विख्यात है। जोधपुर की चुनरी तथा साफा उदयपुर का लहरिया, बाडमेरी धोता तथा पर्दे इस उद्योग की ही देन हैं। बधज का काम केवल शहरो मे ही किया जाता है। यह उद्योग जयपुर, सीकर, झु झुनू तथा जोधपुर मे प्राय मुसलमान कारीगरो के हाथो मे ही है।

3 दरी तथा निवार राजस्थान की दरियाँ अधिक टिकाऊ, अच्छी किस्म तथा पक्के रग की होती है। दरियाँ तथा निवार प्राय जलो मे ही तैयार कराये जाते हैं।

4 गोटा उद्योग गोटा सुनहला तथा रुपहला होता है या उसमे दोनो रगो का मिश्रण होता है। यह बादला सोने या चादी के तार से तैयार किया जाता है। सोने या चाँदी के तार का गोटा हाथ से हथ करघे द्वारा तैयार किया जाता है। गोटा नकली या असली दोनों ही प्रकार का होता है। जयपुर का गोटा पूरे देश मे विख्यात है। गोटा निर्माण का दूसरा केन्द्र जोधपुर भी है।

5 नमदा तथा फल्ट (Namdas and Felts) द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व नमदा तयार करने का काम गाँवो मे किया जाता था परन्तु युद्ध काल मे ही शहरों मे भी इसका उत्पादन किया जाने लगा। इसके उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र जयपुर, जोधपुर तथा बीकानेर हैं।

6 चमडा उद्योग चमडा कमाने का घरेलू उद्योग अब भी अधिकतर गाँवो मे ही चल रहा है। वहा चमडा कमाने का काम पुराने तरीको से किया जाता है। वास्तव मे राजस्थान का चमडा आगरा तथा मथुरा भेज दिया जाता है जहा उसकी कमाई आधुनिक तरीके से की जाती है। देशी जूते गावो मे ही तैयार किये जाते हैं। कामदार जूतियाँ जोधपुर तथा जयपुर मे तैयार की जाती हैं। जालौर मे भीनमाल भी एसी जूतियो का एक अच्छा उत्पादन केन्द्र है। जोधपुर मे चमड़े के कामदार थैले भी तैयार किये जाते हैं।

7 कागज हाथ से कागज सागानेर सवाई माधोपुर उदयपुर तथा कोटा

मे तैयार किया जाता है। यह सबसे पुराना घरेलू उद्योग है। सांगानेर मे यह उद्योग जयपुर राज्य के सरक्षण के कारण ही पनपा है।

8. **कागज की लुगदी के खिलौने (Papier Mache)** : कागज की लुगदी से अनेक प्रकार के खिलौने तैयार किये जाते हैं। इस उद्योग के मुख्य केन्द्र सवाई माधोपुर तथा उदयपुर है।

9 **सगमरमर पत्थर का काम** सगमरमर से अनेक वस्तुओ तथा मूर्तियों का निर्माण जोधपुर, खामनोर, उदयपुर तथा रिखदेव मे किया जाता है। डूगरपुर मे घरेलू वस्तुओं, जैसे—प्याले, चकला, बेलन आदि का निर्माण किया जाता है। बडे आकार की सफेद सगमरमर की मूर्तिया जोधपुर तथा मकराना मे तैयार की जाती हैं।

10 **लाख की चूडियाँ** इस उद्योग का प्रमुख केन्द्र जयपुर है। यहा बहुत ही सुन्दर तथा कलात्मक चूडियाँ तैयार की जाती हैं, जिनकी काफी अधिक माग है। सवाई माधोपुर, ख डेला, जयपुर तथा उदयपुर मे सुनहरी वार्निश और लकडी के लेख (Lacquer) खिलौने, मोमबत्ती दान, फूलदान, बिजली के लैम्प आदि भी बनाये जाते हैं।

11 **हाथी-दांत तथा चन्दन की लकडी का काम** यह भी जयपुर की विशेषता है। ये दोनो वस्तुए (हाथीदांत तथा चन्दन की लकडी) मैसूर से प्राप्त की जाती है और यहा इनसे अनेक सुन्दर और कलात्मक वस्तुएँ तैयार की जाती है। पाली तथा जोधपुर इन वस्तुओ के निर्माण केन्द्र हैं।

12 **मिट्टी के नीले तथा सफेद बर्तन** इस प्रकार के बर्तन जयपुर मे बनाये जाते है। यहा इनके बनाने के लिए कच्चा माल प्राप्त हो जाता है। फूलदान, कटोरे तथा अन्य इसी प्रकार की सुन्दर वस्तुए यहा तैयार की जाती हैं।

13 **पीतल का काम** जयपुर पीतल की सुन्दर और कलात्मक वस्तुओं के लिए विख्यात है। नाथद्वारा तथा प्रतापगढ मे भी पीतल पर 'एनैमल' का काम किया जाता है। इस उद्योग मे हजारों श्रमिक काम करते हैं।

खादी तथा ग्राम उद्योग

सन् 1957 मे अखिल भारतीय खादी तथा ग्राम उद्योग आयोग (All India Khadi and Village Industries Commission) ने अपना क्षेत्रीय कार्यालय जयपुर मे स्थापित किया था। राजस्थान सरकार ने भी अपनी *'राजकीय खादी तथा ग्राम उद्योग बोर्ड'* स्थापित किया है। तेल, चमडा, गुड खाडसारी, ताड–गुड, साबुन मधुमक्खी पालन, आटा-चक्की, हाथ से बना कागज आदि घरेलू उद्योगों को यह बोर्ड समय-समय पर आर्थिक सहायता प्रदान करता है।

वर्ष 1970–71 मे इन उद्योगो की उत्पादन मात्रा नीचे दी गयी तालिका मे दी गयी है .

ग्राम-उद्योग उत्पादन-मात्रा व मूल्य

उद्योग	उत्पादन की इकाई	(उत्पादन 1970–71)	
		परिमाण	मूल्य, 000, रु० मे
1 घानी तेल	क्विन्टल	29577	14,450
2 गुड व खाडसारी	,,	67053	5,845
3 हाथ का बना कागज	कि० ग्राम	2329	789
4 अखाद्य तेल	,,	7511	1,923
5 मिट्टी के बर्तन	सख्या	N A	1599
6 मधुमक्खी पालन (शहद)	कि० ग्राम	250	3 54
7 हाथ से कुटा हुआ चावल	क्विन्टल	8126	851

लघु उद्योग (Small Scale Industries)

राजस्थान मे निम्नलिखित लघु उद्योग विभिन्न स्थानो पर स्थापित किये गये हैं .

राजस्थान के लघु उद्योग

उद्योग	राजस्थान, जहा पर वे स्थित है
1 इन्जीनियरिंग	जयपुर तथा जोधपुर
2 छाते बनाने वाली फैक्टरियाँ	जोधपुर तथा फालना
3 रबर फैक्टरी	कोटा
4 साबुन फैक्टरी	सभी कस्बों तथा नगरो मे
5 रासायनिक उत्पादन तथा औषध-निर्माण	,, ,, ,, ,,
6 कार्पेट फैक्टरिया	बीकानेर तथा जोधपुर
7 ऊन-दाब की फैक्टरियाँ	उदयपुर
8 सलमा तथा गोटा फैक्टरिया	जयपुर
9 चावल मिलें	गगानगर, विजयनगर तथा हिन्डौन
10 होजरी फैक्टरी	जयपुर तथा भीलवाडा
11 खनिज फैक्टरी	दौसा ।

उपर्युक्त उद्योगो के विकास के लिए योजनाकाल मे पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान की गयी । राजस्थान की प्रथम पचवर्षीय योजना मे 32 50 लाख रुपये देशी

रियासतों मे चल रहे लघु उद्योगो के पुनर्संगठन के लिए प्रदान किये गये थे। योजना-काल मे सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत कोई महत्वपूर्ण लघु उद्योग नही स्थापित किया गया।

द्वितीय योजना काल मे लगभग 2,0000 नयी लघु औद्योगिक इकाइयां स्थापित की गयी। इनमे से 640 इन्जीनियरिंग उद्योगो, 62 लोहमय आधारभूत धातुओं के उद्योग, 150 रासायनिक उद्योग तथा 1,100 से अधिक साबुन, आदि की इकाइयाँ थी। इस योजना-काल मे 56 83 लाख रुपये लघु, ग्राम, हाथ–करघो तथा दस्तकारी उद्योगों पर व्यय किये गये। कार्यशील पूंजी, कच्चा माल खरीदने, भूमि, भवन तथा मशीन के लिए ऋण आदि के लिए सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान की गयी। कई नगरो में औद्योगिक बस्तियाँ स्थापित की गयी। सरकार ने इन उद्योगो को समय-समय पर अनुदान (Subsidy) भी प्रदान किया गया। कई स्थानो पर प्रशिक्षण केन्द्र तथा नगरो में बिक्री केन्द्र भी खोले गये।

तृतीय योजना काल मे इन उद्योगो के लिए 260 24 लाख रुपयों की राशि निर्धारित की गयी। इस योजना के अन्तर्गत पंचायत समितियो के अन्तर्गत सामान्तर सुविधा केन्द्रो को स्थापित करने की योजना चालू की गयी। अब तक एसे 27 केन्द्र स्थापित किये जा चुके हैं।

राजस्थान मे लघु उद्योग निगम (Small Industries Corporation) भी स्थापित किया गया है जिसकी अधिकृत पूंजी 25 लाख रुपये है। इस निगम द्वारा लघु उद्योगो की आवश्यकतानुसार कच्चा माल प्राप्त किया जाता है तथा उसकी पूर्ति से आती है। यह निगम विपणन सम्बन्धी सुविधाए भी प्रदान करता है।

राजस्थान सरकार ने 59 लाख रुपयो की लागत से 11 औद्योगिक बस्तियो का निर्माण किया है। 5 लाख रुपये डिजायन विस्तार केन्द्रो (Design Extension Centres) स्थापित करने के लिए प्रदान किये गये हैं। एसे 16 केन्द्र स्थापित किये जा चुके हैं। दस्तकारी उद्योगो के उत्पादन के किस्म निर्धारण की योजना भी कार्यान्वित की गयी है। केन्द्रीय सरकार की सहायता से 330 शक्ति द्वारा चलने वाले करघे (Powerlooms) लगाये गये हैं। एसे 1 100 करघ लगाने की योजना है। *नागोर तथा चूरू जिलो मे लघु उद्योगो के गहन विकास की योजना बनायी गयी है।* इस कार्य के लिए 20 लाख रुपये निर्धारित किये गय हैं।

राजस्थान वित्तीय निगम (Rajasthan Financial Corporation) ने जिसकी स्थापना 1955 मे की गई, अपनी स्थापना के समय से लेकर अब तक 848 इकाइयो को 17 52 करोड रुपए की साख प्रदान किया है, जिसमे से 5 19 करोड रुपए की साख 414 इकाइयो को विगत दो वर्षों, अर्थात् 1971 व 1972, मे

प्रदान की गई। सन् 1970 से 1972 के मध्य इंजीनियर–साहसियो को लघु-उद्योगो के लिए 5 54 लाख रुपए का ऋण प्रदान किया गया। अभी हाल ही मे एक योजना चालू की गई है जिसके आधीन कारीगरो को नाम मात्र की ब्याज दर पर कच्चा माल, औजार, रासायनिक पदार्थ आदि खरीदने के लिए ऋण सुविधा प्रदान की गई है। राज्य सरकार लघु उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए चुंगीकर, बिक्रीकर आदि मे भी छूट प्रदान कर रही है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राजस्थान राज्य सरकार ने लघु तथा ग्राम उद्योगो के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया है।

सन् 1966–67, 1967–68 व 1968–69 मे क्रमश 14.76 लाख, 43 51 लाख तथा 59 33 लाख रुपए वृहत एव मध्यम उद्योगो के विकास के लिए व्यय किए गए। ग्रामीण एव लघु आकार के उद्योगो के विकास के लिए इसी अवधि मे क्रमश 11 48, लाख रुपए, 8 57 लाख रुपए तथा 11 38 लाख रुपए व्यय किए गए। इस प्रकार 1966 से 1969 की अवधि मे वृहत एव मध्यम आकार के उद्योगों पर कुल मिला कर 149 03 लाख रुपये व्यय किए गए।

चतुर्थ योजना के प्रथम वर्ष मे अर्थात् 1969 70 मे वृहत एव मध्यम आकार के उद्योगो के विकास पर 45 96 लाख रुपए तथा कुटीर एव लघु उद्योग पर 10 48 लाख रुपए व्यय किए गए।

जो बिना किसी तैयारी तथा पूर्व विचार के बनायी गयी थी। इस योजना का एकमात्र उद्देश्य जल्दी में निर्धारित की गई प्रयोजनाओं (Projects) तथा योजनाओं का आधार तैयार करना था, क्योंकि यह योजना राज्य के वित्तीय साधनों का अनुमान लगाये बिना ही तैयार की गयी थी। यही कारण है कि जबकि अन्य राज्य अपनी प्रथम योजना को क्रियान्वित करने में लगे हुए थे, यह राज्य केवल उपर्युक्त समस्याओं के समाधान में व्यस्त था। अतः राजस्थान की प्रथम पंचवर्षीय योजना सार्वजनिक वित्त की कुछ निश्चित परियोजनाओं का ही सामूहिक रूप था, जिसे आर्थिक नियोजन की भूमिका कहना असंगत न होगा।

1 प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951–1956)

राजस्थान की प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य प्रमुखतः राज्य तथा लोगों की प्रारम्भिक या आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करना मात्र ही था, न कि राज्य की आय तथा लोगों की सार्वजनिक सुविधाओं में वृद्धि करना। प्रारम्भ में (वर्ष 1951–52 में) इसके अन्तर्गत व्यय का प्रावधान 15 26 करोड़ रुपये के बराबर निर्धारित किया गया था, परन्तु वर्ष 1955–56 में इसे बढ़ा कर 27 68 करोड़ रुपये कर दिया गया। इससे द्वितीय पंचवर्षीय योजना को प्रारम्भ करने के लिए आधार तैयार करने में सहायता मिली।

उपर्युक्त प्रावधान में भाखड़ा तथा चम्बल की बहुउद्देशीय प्रायोजनाओं के लिए निर्धारित रकमें सम्मिलित नहीं की गयी थीं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित योजनाओं के लिए 37 22 करोड़ रुपये का प्रावधान भी किया गया। इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुल व्यय का प्रावधान 64 50 करोड़ रुपये के बराबर था, जो राष्ट्रीय योजना के 2 7 प्रतिशत के बराबर था। इस निर्धारित प्रावधान में से वास्तविक व्यय 54 14 करोड़ रुपये के बराबर ही किया गया, जो नियोजित प्रावधान का 84 प्रतिशत के बराबर था। विकास कार्यक्रमों के लिए निर्धारित रकमों का पूरी तरह से प्रयोग नहीं किया जा सका क्योंकि उस समय राज्य सरकार आर्थिक नियोजन के कार्यक्रमों को अपने हाथों में लेने के लिए तैयार नहीं थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में निर्धारित प्रावधान तथा वास्तविक व्यय का ब्यौरा आगे दी गयी तालिका में दिया गया है

प्रथम पचवर्षीय योजना मे प्रावधान तथा व्यय का विवरण

(करोड रुपयो में)

क्षेत्र	प्रस्तावित प्रावधान	प्रस्तावित कुल प्रावधान का प्रतिशत	प्रस्तावित व्यय	कुल वास्तविक व्यय का प्रतिशत
1 कृषि तथा सामुदायिक विकास	6 64	10 29	6 99	12 92
2 सिचाई	29 84	46 25	30 24	55 86
3 शक्ति	9 58	14 86	1 23	2 27
4 उद्योग तथा खनन	0 55	0 85	0 46	0 85
5 सडक	6 27	9 72	5 55	10 25
6 सामाजिक सवाए	11 06	17 16	9 12	16 84
7 विविध	0 56	0 87	0 55	1 01
योग	64 50	100 00	54 14	100 00

2 द्वितीय पचवर्षीय योजना (1956–1961)

राजस्थान मे वास्तविक आर्थिक नियोजन का युग द्वितीय पचवर्षीय योजना से ही प्रारम्भ होता है। प्रथम पचवर्षीय योजना के पाच वर्षों मे तो केवल कुछ एसी आवश्यक दशाओ के निर्माण करने म ही सफलता मिली थी जिसके आधार पर भावी विकास कायक्रमो को प्रारम्भ किया जा सकता था तथा उनके विस्तार की योजनाए बनायी जा सकती थी। प्रथम योजना काल मे प्राप्त अनुभव के आधार पर ही एक बडी तथा अपेक्षाकृत साहसी द्वितीय योजना तयार की गयी। राजस्थान के सार्वजनिक विकास कायक्रमो के लिए इस द्वितीय योजना मे 105 27 करोड रुपये का 2 3 प्रतिशत ही था। इस प्रकार जनसख्या के आधार पर राजस्थान की द्वितीय योजना के लिए भी किया गया आनुपातिक प्रावधान अन्य राज्यो की अपेक्षा कम ही था। द्वितीय योजनाकाल मे वास्तविक व्यय 102 74 करोड रुपये के बराबर ही हुआ जो प्रस्तावित प्रावधान का 97 60 प्रतिशत ही था। इस व्यय मे प्रतिशत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्वितीय योजना काल मे आर्थिक नियोजन की प्रगति पहली योजना की अपेक्षा सतोषजनक थी।

प्रावधान तथा वास्तविक व्यय का विवरण

(करोड़ रुपयों में)

योजना	प्रस्तावित प्रावधान	वास्तविक व्यय
प्रथम पचवर्षीय योजना	64 50	54 14
द्वितीय पचवर्षीय योजना	105 27	102 74
तृतीय पचवर्षीय योजना	236 00	212 63
योग	415 77	369 51

महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे विकास

राजस्थान मे 15 वर्षों के आर्थिक नियोजन काल मे निम्नलिखित महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे अत्यधिक विकास हुआ है

(i) सिचाई तीनो योजनाओ मे मिला कर सिचाई पर 369 51 करोड रुपये मे से 129 66 करोड रुपये केवल सिचाई पर व्यय किए गए है, जिसके परिणामस्वरूप सिचित क्षेत्र 11 74 लाख हेक्टर (1950–51 मे) से बढ कर तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्त मे 20 80 लाख हेक्टर तक पहुँच गया है।

(ii) शक्ति शक्ति के साधनो पर कुल व्यय की गयी रकम 55 02 करोड रुपए के बराबर है। वर्ष 1950–51 मे बिजली उत्पादन क्षमता 7 48 मेगावाट थी, 1967–68 मे यह बढ कर 163 मेगावाट हो गयी। वर्ष 1950–51 मे केवल 32 बिजली घर थे तथा 112 स्थानो को ही बिजली की सुविधाए प्राप्त थी। परन्तु 1967–68 मे बिजली घरो की सख्या बढ कर 70 हो गयी तथा 1,837 स्थानो को बिजली की सुविधा प्राप्त होने लगी। प्रति व्यक्ति बिजली का उपयोग भी 1965-66 तक 3 06 किलोवाट से बढ कर 15 37 किलोवाट हो गया।

(iii) सामाजिक सेवाए तीनो पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सामाजिक सेवाओ के क्षेत्र पर 75 46 करोड रुपये व्यय किए गए, अर्थात कुल व्यय का 20 42 प्रतिशत अश शिक्षा, चिकित्सा तथा श्रम कल्याण की विशेष सुविधाओ की व्यवस्था करने तथा पुरानी सुविधाओ के विस्तार पर व्यय किया गया। इससे शिक्षण सस्थाओ की सख्या 6,026 (वर्ष 1950 51 मे) से बढकर 32,826 (वर्ष 1965-66 मे) हो गयी। चिकित्सालयो तथा डिस्पेंसरी की सख्या भी 366 से 535 हो गयी। जल पूर्ति की योजनाए भी 72 ग्रामीण तथा शहरी केन्द्रो मे पूरी की जा चुकी हैं। राज्य मे तीन विश्वविद्यालय, 5 मेडिकल कॉलेज, इन्जीनियरिंग कॉलेज,

4 कृषि कॉलेज स्थापित किये जा चुके हैं। पचायती राज्य सस्थाओ के विभिन्न सदस्यो को सामुदायिक विकास एव पचायती राज्य सस्थाओ के अधिकार, कर्त्तव्य एव उत्तरदायित्व का ज्ञान कराने के लिए 10 स्थानो पर पचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र कार्य कर रहे है। विस्तार सेवाओ के क्षेत्र मे प्रशिक्षण कार्यक्रम चालू किये गये। राज्य मे 5 ग्राम-सेवक प्रशिक्षण केन्द्र हैं।

पशु पालन क्षेत्र मे प्रशिक्षण कार्यक्रम चालू किया गया। बीकानेर मे पशु-पालन महाविद्यालय मे स्नातक स्तर तक शिक्षा प्रदान की जाती है। राज्य मे मछली-पालन प्रशिक्षण विद्यालय की स्थापना उदयपुर मे की गई है। जोधपुर मे ऊन प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किया गया है। वन विभाग के कर्मचारियो के प्रशिक्षण के लिए 2 वन-पाल प्रशिक्षण विद्यालय अलवर व बाँसवाडा मे चालू किये गये है।

(iv) कृषि राजस्थान मे आर्थिक नियोजन के फलस्वरूप इन 15 वर्षों मे कृषि उत्पादन मे आशातीत वृद्धि हुई है। तीन पचवर्षीय योजनाओ मे कृषि कार्यक्रमो पर 73 09 करोड रुपये व्यय किये गये है जिससे राजस्थान आज खाद्यान्नो का निर्यात करने के लिए समर्थ है। प्रथम योजना के अन्त मे यहा खाद्यान्नो की उत्पादन मात्रा 41 75 लाख टन थी, द्वितीय योजना के अन्त मे 44 81 लाख टन थी तथा तृतीय योजना के अन्त मे प्रतिकूल प्राकृतिक कारणो से यह थोडी घटकर 44 69 लाख टन ही रह गयी।

कृषि क्षेत्र मे किये गए प्रयासो के फलस्वरूप राज्य मे प्रतिकूल प्राकृतिक कारणो के बावजूद भी कृषि उत्पादन मे वृद्धि हुयी है, जैसे कि नीचे दी गई तालिका से स्पष्ट है

कृषि-उत्पादन मे वृद्धि

(चार साल के उत्पादन के औसत के आधार पर)

फसले	इकाई	1952-53 से 1955-56 तक वार्षिक औसत उत्पादन	1957 58 से 1960-61 तक वार्षिक औसत उत्पादन	1962-63 से 1965 66 तक वार्षिक औसत उत्पादन
खाद्यान्न	लाख मैट्रिक टन	30 88	46 37	45 40
तिलहन	,, ,,	2 06	2 12	2 61
कपास	लाख गाठे	1 32	1 64	1 74
गन्ना (गुड)	लाख मैट्रिक टन	1 45	0 69	0 74

स्रोत राजस्थान सरकार, तृतीय पचवर्षी योजना प्रतिवेदन, 1961–66 पृष्ठ 19

1 **सूती-वस्त्र उद्योग** तृतीय योजना मे राज्य मे 17 सूती मिलो की क्षमता 3,09,456 की हो गयी। भील्वाडा, भवानी मण्डी तथा किशनगढ मे नयी सूती मिलें स्थापित की गयी। गगानगर, भीलवाडा, चित्तौडगढ एव झालावाड जिलो मे सिंचाई सुविधाओ मे वृद्धि होने से कपास के अन्तर्गत क्षेत्र मे वृद्धि हुयी है, जिससे इस उद्योग के विकास की पर्याप्त क्षमता राज्य मे है।

2 **चीनी उद्योग** तृतीय योजना के अन्त मे राज्य मे दो चीनी मिले थी जो गगानगर व भोपाल सागर मे स्थित हैं। तृतीय योजना के अन्त मे चीनी का उत्पादन 13 हजार मैट्रिक टन था। सिंचाई सुविधाओ के विस्तार से राज्य मे गन्ने के उत्पादन मे वृद्धि हुयी, जिससे गगानगर, सवाई माधोपुर, बूदी कोटा एव भरतपुर जिलो मे अतिरिक्त चीनी मिले स्थापित की जा सकती हैं। बूदी जिले मे केशवराय पाटन स्थान पर सहकारिता के आधार पर भी एक चीनी फैक्टरी स्थापित करने की योजना बनायी गयी है।

3 **सीमेंट उद्योग** राज्य मे सीमेंट की पुरानी फैक्टरिया सवाई माधोपुर तथा लाखेरी (बूदी) मे है। एक सीमेंट फैक्टरी चित्तौडगढ मे भी तृतीय योजनाकाल मे शुरू की गयी है, जो सन् 1968–69 से चालू हुई है। इन तीनो कारखाना का वार्षिक उत्पादन 14 लाख टन है।

4 **उर्वरक** रासायनिक उर्वरको की माग की पूर्ति के लिए कोटा मे एक उर्वरक कारखाने की स्थापना के लिए लाइसेंस प्राप्त हो गया है। इस कारखाने की उत्पादन-क्षमता 2,21 285 मैट्रिक टन होगी।

5 **खनिज पर आधारित उद्योग** राज्य ने अपने खनिज भण्डारो के समुचित प्रयोग द्वारा अपनी अर्थ व्यवस्था को दृढ बनाने के प्रयास किये है। खनिज पर आधारित उद्योग निम्न स्थानो पर स्थापित किये गये हैं

(i) **उदयपुर के पास देवारी नामक स्थान पर** जिंक शोधक (स्मेल्टर) यत्र।

(ii) **खेतडी मे भारत सरकार द्वारा सर्वजनिक क्षेत्र मे** ताबा शोधक कारखाना (कापर स्मेल्टर)।

6 **अन्य उद्योग** राज्य मे विद्युत उत्पादन मे वृद्धि होने से राज्य मे अन्य कई उद्योग भी स्थापित किये गये है, जैसे

(i) **कोटा नगर** कैल्शियम कार्बाइड, नाइलोन (जे० के० सिंथेटिक्स) एव रेयन (रेयन लिमिटेड के कारखाना), अणुशक्ति का बिजली घर, केबल तार (Oriental Power Cables) तथा खाद फैक्टरी।

(ii) **डीडवाना (नागौर)** सोडियम सल्फट का कारखाना।

(iii) **धौलपुर** दो शीशा फैक्टरिया।

(iv) भरतपुर : रेल वैगन फैक्टरी।

(v) जयपुर : (i) पानी के मीटर का कारखाना, कैप्सटन फैक्टरी।

(ii) विद्युत-मीटर का कारखाना, जयपुर मेटल्स तथा इलेक्ट्रिकल्स।

(iii) इंजीनियरिंग के सामान : मान इण्डस्ट्रियल।

(iv) बाल बियरिंग नेशनल इंजीनियरिंग वर्क्स।

7 **ग्रामीण तथा लघु उद्योग** . बड़े उद्योगो के विकास के साथ-साथ राज्य मे ग्रामीण एव लघु उद्योगो के विकास पर भी पूरा ध्यान दिया गया है। राज्य के नागौर एव चूरू जिलो मे ग्रामीण औद्योगिक परियोजनाए भी तृतीय योजना मे प्रारम्भ की गयी। लघु उद्योग सेवा निगम भी लघु सस्थाओ के लिए बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ है। इन उद्योगो को विकसित करने की दिशा मे 11 औद्योगिक बस्तियो का निर्माण किया गया है, जिनकी स्थापना जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, पाली, सुमेरपुर, श्री गगानगर, उदयपुर, भीलवाडा, मालपुरा (अजमेर), भरतपुर एव कोटा मे की गयी है। इन बस्तियो मे 379 उत्पादन केन्द्र (शैड्स) का निर्माण किया गया है, उनमे से 310 शैड्स बाट दिये गये हैं व 229 मे उत्पादन-कार्य प्रारम्भ हो गया है।

औद्योगिक विकास के लिए किये गये विभिन्न उपर्युक्त प्रयासो के परिणाम-स्वरूप यह आशा की जा सकती है कि राज्य औद्योगिक दृष्टि से विकसित होकर अपनी अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ करने मे सक्षम हो सकेगा।

3 वार्षिक योजना (1966–67)

सन् 1966 मे तृतीय पचवर्षीय योजना की समाप्ति पर देश मे व्याप्त आपत्तिकालीन स्थिति के कारण चतुर्थ पचवर्षीय योजना को स्थगित करना पडा। योजना आयोग ने, जब तक चतुर्थ पचवर्षीय योजना को चालू करने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ नही हो जाती, उस समय तक वार्षिक योजना का सम्पादन ही देश के लिए हितकर समझा। राज्य सरकार को प्राप्त आदेशानुसार राजस्थान के लिए भी 1966–67 की वार्षिक योजना तैयार की गयी तथा इस वित्तीय वर्ष मे योजनान्तर्गत *विभिन्न कार्यक्रमो के सफल कार्यान्वियन के लिए प्रारम्भ मे 36 66 करोड* रुपये का प्रावधान रखा गया था जिसे बाद मे बढा कर 48 87 करोड रुपये कर दिया गया।

वर्ष 1966–67 मे सर्वाधिक प्रावधान सिचाई एव विद्युत क्षेत्र के लिए रखा गया था। इस क्षेत्र के लिए 29 72 करोड रुपये का प्रावधान रखा गया, जो कि कुल प्रावधान की राशि का 60 81 प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त सामाजिक सेवाओ

वार्षिक योजना 1967–68 में प्रावधान एवं व्यय का विवरण

(करोड़ रुपयों में)

मद	प्रावधान	व्यय
1 कृषि कार्यक्रम	6 19	5 9›
2 सहकारिता व सामुदायिक विकास	1 47	1·47
3 सिंचाई एवं शक्ति	24 07	22·87
4 उद्योग तथा खनन	0·95	0 73
5 यातायात एवं संचार	1·25	1·29
6 सामाजिक सेवाएं	9 18	7·14
7 विविध	·54	·42
योग	43·65	39·88

वर्ष 1967–68 में सर्वाधिक प्रावधान सिंचाई एवं शक्ति को रखा गया था। इस क्षेत्र के लिए 21 82 करोड़ का प्रावधान रखा, जो कि कुल प्रावधान की राशि का 55 95% है। भारत में हरित क्रान्ति (Green Revolution) के शुभारम्भ के साथ राजस्थान में सघन खेती कार्यक्रम को विस्तृत करके यहां पर भी कृषि की प्रति एकड़ उपज में वृद्धि के लिये क्रान्ति प्रारम्भ की गई। योजना में कुल 39 87 करोड़ रु० व्यय हुए जिसमें सर्वाधिक व्यय सिंचाई एवं शक्ति पर 22 85 करो० हुआ जो कि प्रस्तावित व्यय से 1 03 करोड़ रु० अधिक था।

उपलब्धियां

खाद्यान्न 20 8 लाख मीट्रिक टन, तिलहन 9 हजार मीट्रिक टन, गन्ना 5 हजार मीट्रिक टन और कपास 15 हजार गांठें, उत्पादन क्षमता में वृद्धि हुई। अधिक उपज देने वाले बीजों की बुआई का क्षेत्र बढ़कर 4 010 लाख एकड़ हो गया। चूरू तथा लाडनूं में दो ऊनी कताई मिलें लगाई गयी, इसके साथ ही। औद्योगिक विकास के लिए सहकारी चीनी मिल व सहकारी स्पिनिंग मिल भी लगाई गई। वर्ष 1967–78 में 100 बस्तियों तथा 4000 कुओं का विद्युतीकरण किया गया। 1967–68 में 264 किलो मीटर सड़कों का निर्माण हुआ। वर्ष 1967–68 के अन्त तक 81 नगर जल प्रदाय की योजनाएँ तथा 169 ग्राम्य जल प्रदाय की योजनाएँ पूरी की जा चुकी हैं। पिछड़ी जातियों के कल्याण के अन्तर्गत 16›00 छात्रों को छात्र-वृत्तियों से लाभान्वित किया गया।

वार्षिक योजना 1968–69

राजस्थान की वार्षिक योजना 1968–69 में बजटानुसार 37 33 करोड़ रु० व्यय का प्रावधान रखा।

वार्षिक योजना 1968–69 का अनुमानानुसार व्यय विवरण

(करोड़ रुपयों में)

मद	प्रस्तावित व्यय
1 कृषि कार्यक्रम	5 . 8
2 सहकारिता एवं सामुदायिक विकास	1 20
3 सिंचाई व शक्ति	22 44
4 उद्योग तथा खनन	1 13
5 यातायात एवं संचार	1 07
6 सामाजिक सेवाएँ	8 34
7 विविध	0 42
योग	40 08

इस योजना में भी सिंचाई व शक्ति को सर्वाधिक प्राथमिकता दी गई थी। इस क्षेत्र के लिये 22 44 करोड़ रु० का प्रावधान रखा गया जो कि कुल योजना व्यय का लगभग 57 प्रतिशत है।

इसके बाद सामाजिक सेवाओं को फिर कृषि कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी गई।

योजना में लगभग 40 करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान है।

उपलब्धियाँ —

इस समय अकाल व सूखा की स्थिति के कारण कृषि लक्ष्यों को छोड़ कर, शिक्षा, सहकारिता, सड़कें व जलपूर्ति के लक्ष्यों में सफलता मिलने की आशा है। खाद्यान्न का उत्पादन पिछले वर्ष की तुलना में गिर गया है। इस योजना में गहन कृषि कार्यक्रम 10 ओर खण्डों में कराया गया जिससे गहन कृषि कार्यक्रमों के अधीन खण्डों की संख्या बढ़कर 110 हो गई है। फसलों का क्षेत्रफल 3 09 लाख हैक्टयर जबकि 1967–68 के वर्ष में यह वृद्धि 1 64 लाख हैक्टयर ही थी। 1968–69 के वर्ष में 1 20 लाख टन नाइट्रोजन व 0 39 लाख टन फास्फोरस खाद कृषकों में बाँटी गई।

सहकारी क्षेत्र में सन् 196 –69 की योजना अवधि में 1426 प्राथमिक कृषि समितियों का पुनर्गठन, 19 करोड़ रुपयों का अल्पकालीन व मध्यकालीन व

2.20 करोड़ रु० की दीर्घकालीन ऋण वितरण करना व केन्द्रीय सहकारी बैंक व भूमि बन्धक बैंक प्रत्येक की 5 अतिरिक्त शाखाएं स्थापित करना उल्लेखनीय है। 1968–69 में लगभग 234 किलोमीटर सड़क का निर्माण हुआ है, जिससे राज्य में सड़कों की कुल लम्बाई 31365 किलोमीटर हो गई है। शिक्षा के क्षेत्र में 1968–69 की योजना में 194 प्राइमरी स्कूलों को मिडिल स्कूलों, 92 मिडिल स्कूलों को हाई स्कूलों में तथा 9 हाईस्कूलों को हायर सेकेन्ड्री स्कूलों में परिणित किया गया है। साथ ही तीन नए कॉलेज खोले गये हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में प्रथम वूलन टैक्सटाइल मिल बीकानेर से स्थापित की गई है।

संक्षिप्त में तीन वार्षिक योजनाओं में कुल सम्भावित व्यय 138 करोड़ रु० हुआ है। तीन वार्षिक योजनाओं में कुल सम्भावित व्यय का लगभग 75% कृषि, सिंचाई व शक्ति पर व्यय होगा और सामाजिक सेवाओं पर 15.5% व्यय होगा। इस प्रकार कृषि, सिंचाई व शक्ति को पहले से दी जाने प्राथमिकता में और भी वृद्धि कर दी गयी है। सामाजिक सेवाओं पर किये जाने वाले प्रतिशत व्यय में द्वितीय व तृतीय योजनाओं की तुलना में कमी की गयी है। इन तीन वार्षिक योजनाओं में दो वर्ष सन् 1966–67, 1967–68 अकाल व सूखे के वर्ष रहे जिससे अर्थव्यवस्था को काफी क्षति पहुंची। 1968–69 में व्यय वितरण इस प्रकार है

1968–69 में व्यय का वितरण

(लाख रुपयों में)

मदें	व्यय
1 कृषि कार्यक्रम	551 15
2 सहकारी एवं सामुदायिक विकास	115 26
3 सिंचाई एवं	
4 शक्ति	3023 88
5 उद्योग व खनन	97 44
6. परीवहन व सन्देशवाहन	110 42
7 सामाजिक सेवाएँ	856 65
8 विविध	43 05
योग	4797 85

राजस्थान की नियोजन के 20 वर्षों में आर्थिक प्रगति

राजस्थान राज्य तीन पंचवर्षीय योजनाएँ और तीन वार्षिक योजनाएँ समाप्त

करके तथा चौथी योजना के 2 वर्ष पूरे करके 1971 मे योजना के 20 वर्ष पूरे किये। इससे राज्य का पिछड़ापन पहले की अपेक्षा कम हुआ है और विकास के लिए आधारभूत ढाँचा तैयार हो गया है, जिसका उपयोग करके चतुर्थ योजना के शेष वर्षों मे एव भावी योजनाओं मे कृषि व उद्योगो के विकास के लिए नये प्रयत्न किये जा सकेंगे। राज्य की 20 वर्षों की प्रगति का उल्लेख निम्न प्रकार से है

1 राज्य की आय मे परिवर्तन

राजस्थान राज्य की आय के आंकड़े सन् 1954 व 1955 की अवधि मे उपलब्ध है। स्थिर मूल्यो (1954–55) के भावों पर राज्य की कुल आय व प्रति व्यक्ति आय की स्थिति चुने हुए वर्षों मे इस प्रकार रही है

राज्य की आय (सन् 1954-55) के स्थिर भावों पर

	1954–55	1960-61	1965 66	1966 67	1967-68	1970 71
1 कुल आय (करोड़ रु० मे)	413 2	467 1	533 0	549 0	614 3	748
2 प्रति व्यक्ति आय (रुपयों मे)	236	237	241	243	265	302

तालिका से स्पष्ट है कि द्वितीय योजना में राज्य की कुल आय मे 13% की वार्षिक वृद्धि हुई। तृतीय योजना के अन्त मे सन् 1965 66 मे सूखे की स्थिति के कारण राज्य की आय 533 करोड़ रु० थी, जबकि सन् 1964–65 मे यह लगभग 555 करोड़ रु० थी। इस प्रकार तृतीय योजना के अन्तिम वर्ष मे राज्य की आय पूर्व वर्ष की तुलना मे घटी, लेकिन योजना के प्रारम्भ की तुलना मे यह 14% बढ़ी है।

सन 1966–67 मे आय मे 3% वृद्धि ही हुई तथा 1967–68 मे राज्य की आय पूर्व वर्ष की तुलना मे 12% बढ़ी है। अनुमान है कि 1968 69 मे राज्य की आय मे वृद्धि नही होगी।

जहा तक प्रति व्यक्ति आय का प्रश्न है, द्वितीय योजना काल मे यह स्थिर रही एव तृतीय योजना की अवधि मे इसमे केवल 1 6% वृद्धि हुई जो नगण्य थी। सन् 1966 67 मे भी प्रति व्यक्ति आय मे मुश्किल से 1% की वृद्धि ही पायी लेकिन सन 1967 68 मे लगभग 9% बढ़ा सन् 1968-69 मे इसमे गिरावट की स्थिति आई। सन् 1970-71 मे (1954-55 के मूल्यों के आधार पर) राज्य की कुल आय व प्रति व्यक्ति आय क्रमश 748 करोड़ रु० व 302 रु० थी।

अत स्पष्ट है कि राज्य की प्रति व्यक्ति आय म बहुत धीमी रफ्तार से वृद्धि हो रही है, जो वास्तव मे एक निराशाजनक स्थिति है।

2 कृषि उत्पादन व सिंचाई

1965 66 म समस्त फसलो क उत्पादन का सूचनाक सन् 1955 56 से कम तथा सन् 1960 61 से काफी कम था। मौसम की अनिश्चितता के प्रभाव से प्रत्येक वष के उत्पादन म काफी उतार-चढ़ाव उत्पन्न करते रहते हैं।

खाद्यान्नो का उत्पादन सन 1950 51 के अन्त मे 29 46 लाख टन से बढ़ कर सन 1967 68 म 66 लाख टन हो गया। इस अवधि मे राज्य मे 29 21 लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्नो के उत्पादन की क्षमता उत्पन्न हो गयी। विशुद्ध सिंचित क्षत्र लगभग दुगुना हो गया। सन 1971 72 म कुल सिंचित क्षत्र बढ़ कर 22 3 लाख हैक्टर हो गया। सन् 1970 71 मे राज्य मे खाद्यान्नों के उत्पादन म एक नया कीर्तिमान स्थापित हुआ। इस वप खाद्यान्नो का उत्पादन 88 लाख टन हुआ। सन 1951 52 म केवल 324 टन उवरक का उत्पादन होता था, जो कि 1970 71 म बढ़ कर 3 54 लाख टन तक पहुँच गया।

3 विद्युत शक्ति का विकास

योजनाकाल म विद्युत शक्ति के विकास म विशप रूप से प्रगति हुई है। सन् 1950 51 के अन्त मे शक्ति की उपलब्धि 7500 किलोवाट थी, जो बढ कर सन् 1970 71 के अन्त मे 97 करोड किलोवाट हो गया। बिजली का प्रति व्यक्ति उपयोग 2 6 इकाइ (K W H) से बढ कर लगभग 35 इकाई (K W H) से भी अधिक हो गया।

4 औद्योगिक विकास

योजना अवधि मे राज्य म बड़े नये कारखाने खोले गये हैं। राज्य मे सीमेंट का उत्पादन 1951 से 1971 मे लगभग पाच गुना से भी अधिक हो गया। सूती वस्त्र का उत्पादन इस अवधि म लगभग दुगुना हो गया और सूत का तिगुना हो गया। राज्य क 7 सूती वस्त्र मिलो का मस्थापित क्षमता 2 92 लाख तकुओ से बढ कर 4 2 लाख हो गइ है। राज्य मे बाल बियरिंग व बिजली के मीटर बनने लगे, जिनकी सख्या सन 19 0 म क्रमश 90 लाख व 298 हजार से भी अधिक रही है। राज्य मे नमक का उत्पादन पहले से घटा है। सन 1969 मे राज्य सरकार को सगठित उद्योगों से आय का 4 5 प्रतिशत तथा असगठित उद्योगो से 11 3 प्रतिशत प्राप्त हुआ।

5 सड़को का विकास

राज्य म सन् 1950 51 के अन्त म सडको की लम्बाई लगभग 17339 किलोमीटर थी, जो बढ कर सन 1971-72 के अन्त मे 32052 किलोमीटर हो

गयी । 4000 व ऊपर की जनसख्या वाले समस्त गाव राज्य के सडक के नक्शे पर आ गये है ।

6 शिक्षा की प्रगति

3000 व ऊपर की जनसख्या वाले सभी गावों मे प्राथमिक स्कूल खोल दिये गये है । सभी पचायत समितियो मे एक या अधिक माध्यमिक उच्चतर माध्यमिक स्कूल खोले गये है । सभी जिलो मे कॉलेज-स्तरीय शिक्षा की व्यवस्था कर दी गयी है । सामान्य शिक्षा के लिए कॉलेजो की सख्या 27 से बढा कर 70 कर दी गयी है । 6–11, 11–14 व 14–17 वर्ष के लडके-लडकियो के स्कूल जाने वालो का अनुपात सन् 1950–51 मे क्रमश 16 6, ›4 व 1 8 प्रतिशत से बढ कर सन् 1968–69 के अन्त मे 56 5, 23 3 व 11 प्रतिशत पर आ गया है । 6 से 11 वर्ष के लडके व लडकियो का प्रतिशत सन् 1971–72 मे बढ कर ›8 8 प्रतिशत तक पहुच गया था ।

7 चिकित्सा व जल-पूर्ति के क्षेत्र मे प्रगति

मलेरिया व चेचक आदि पर काफी मात्रा मे नियन्त्रण स्थापित किया गया है । रोगियो के लिए बिस्तरो की सख्या लगभग तिगुनी से भी अधिक हो गयी है । मेडिकल सस्थाओ (एलोपैथिक व आयुर्वेदिक) की सख्या सन् 19›1-52 मे केवल 732 थी जो कि 1971-72 मे 2200 हो गई । इन सस्थाओ की सख्या 1973-74 मे 24 93 हो जाने की आशा है । बासवाडा एव डूगरपुर जिलो मे इस समस्या को जड मूल से समाप्त करने के लिए आवश्यक कदम उठाये गये है ।

143 नगरो मे से 78 नगरो मे जल पूर्ति के कार्यक्रम लागू किए जा चुके हैं और ग्रामीण जल पूर्ति के 189 कार्यक्रम पूरे किए जा चुके हैं । रेगिस्तानी क्षेत्रों मे 2›0 नलकूपो के कार्यक्रम मे से 130 नलकूप चालू किये जा चुके है, जिससे उन क्षेत्रो मे पीने के पानी की समस्या कुछ सीमा तक हल हो पायी है । चतुर्थ योजना के अन्त तक लगभग 1673 गावो मे पाइप द्वारा पानी पहुँचाने की योजना लागू हो जायेगी ।

नियोजन के 20 वर्षो की आर्थिक प्रगति का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस अवधि मे राजस्थान मे विकास के लिए आधार ढाचा काफी सुदृढ किया गया है । सिचाई, विद्युत, सडक, पीने के जल, शिक्षा व चिकित्सा की सुविधाओ के बढने से भावी आर्थिक विकास के लिए उत्तम पृष्ठ भूमि तैयार हुई है ।

राजस्थान का चतुर्थ पचवर्षीय योजना

भारत सरकार की चतुर्थ पचवर्षीय योजना के मसविदे मे जो 1968 मे राष्ट्रीय विकास परिषद (NDC) और ससद के सम्मुख प्रस्तुत किया गया था,

राजस्थान के लिए 239 करोड रु० की धन राशि प्रस्तावित की गई थी। राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक मे यह स्पष्ट राय प्रकट की गई थी कि इस आकार की योजना कतई मान्य नही है और यह माग की गई थी कि चौथी योजना के मसविदे पर देश के पिछले राज्यो मे विकास की गति तीव्र करने की दृष्टि से पुनर्विचार किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक मे यह मंजूर किया गया कि पाचवें वित्तीय आयोग की सिफारिशो के बाद राज्य की योजनाओ पर विचार किया जायगा। राज्य सरकार के पाचवे वित्तीय आयोग की सिफारिशो के फलस्वरूप वित्तीय साधनो पर विचार करके और संस्थात्मक स्रोतो से अधिक साधनो की उपलब्धि खास तौर पर व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण को ध्यान मे रखकर योजना आयोग के सम्मुख 316 करोड रु० की योजना प्रस्तुत की।

यह बताना अनुपयुक्त नही होगा कि राज्य सरकार और योजना आयोग के बीच मे मुख्यत इस बात पर मतभेद था कि अतिरिक्त साधन जुटाने से होने वाली आय को किस प्रकार खर्च किया जाये। योजना आयोग की यह राय थी कि साधारण बजट मे घाटे को मद्देनजर रखते हुए अतिरिक्त साधनो से होने वाली आय को योजना मे खर्च नही किया जाना चाहिए। उधर राज्य सरकार की यह पक्की राय थी कि गैर-योजना साधनो मे जो कमी रह जाती है, उसे केन्द्र सरकार विशेष सहायता से पूरा करे, और चतुर्थ योजना के अतिरिक्त साधनो को जुटाने से जो आय हो उसे विकास कार्यों मे खर्च करने की अनुमति दी जावे। सिद्धान्तत योजना आयोग ने हमारी दलील मान ली है कि अतिरिक्त साधनो से जितनी आय होगी, उस पूरी धन राशि को चौथी योजना के लिए साधनो के रूप मे मान लिया जायेगा। अब भी संस्थात्मक स्रोतो से प्राप्त होने वाले साधनो की मात्रा के बारे मे कुछ मतभेद हैं। राज्य सरकार और योजना आयोग के मध्य 14 करोड रु० का अन्तर है। इस प्रकार योजना आयोग की राय मे राजस्थान की चौथी योजना 302 करोड रु० की होनी चाहिए। वास्तव मे राष्ट्रीय विकास परिषद मे भी राजस्थान की योजना का आकार 308 करोड रु० स्वीकृत कर दिया है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के सन्दर्भ मे 1969–70 की वार्षिक योजना

राज्य की नयी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की अवधि 1 अप्रैल, 1969 से प्रारम्भ हो गयी है। अत सरकार ने 1969-70 की वार्षिक योजना का आकार 49 60 करोड रु रखा है।

"इसमे कृषि, सिंचाई व शक्ति पर कुल प्रस्तावित व्यय का लगभग 73% व्यय किया जायेगा और मानसिक सेवाओ पर लगभग 19% व्यय किया जायेगा। इस प्रकार राजस्थान की योजनाओ मे प्रारम्भ से ही सिंचाई व शक्ति को जो प्राथ-

मिकता दी गई है, वह सन् 1969--70 की योजना मे और भी बढ गई है। गहन कृषि की नयी विधियो का प्रयोग करने के लिए सिचाई के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाना आवश्यक है। इसी प्रकार औद्योगिक विकास की गति को तेज करने के लिए विद्युत की सुविधाओ का भी समुचित विकास होना चाहिये। सिंचाई व शक्ति पर अधिक राशि का प्रावधान करने से अन्य मदो पर व्यय की राशि कम करनी पड़ी है।

लेकिन अब 1969--70 की योजना मे आकार के प्रावधान म वृद्धि करके 49 60 करोड रु से बढा कर 53 47 करोड रु कर दिय। इसका मुख्य कारण राज्य विद्युत मण्डल द्वारा अधिक अतिरिक्त साधन प्राप्त होना तथा दूसरा कारण प्रधान मन्त्री द्वारा राजस्थान नहर और लघु सिचाई कार्यो के लिए 3 70 करोड रुपये की अतिरिक्त धनराशि देने की विशेष व्यवस्था है।

वार्षिक योजना पर खर्च भी लगभग इतना ही होने का अनुमान है।

चतुर्थ योजना के सन्दर्भ मे सन 1970-71 की वार्षिक योजना

राजस्थान राज्य की चतुर्थ पचवर्षीय योजना के दूसरे वर्ष की वार्षिक योजना अर्थात् 1970-71 का कुल व्यय 56 23 करोड रु० रखे गये है, जो कि पिछले वर्ष की योजना से 2 76 करोड रु० अधिक है।

इस योजना मे सिचाई व विद्युत् को अधिक प्राथमिकता देते हुए कृषि को ही महत्व दिया गया है।

कृषि के क्षेत्र म जिन इलाको मे सिंचाई की सुनिश्चित सुविधाएँ है और वर्षा नियमित होती है वहा उत्पादन बढाने के विशेष प्रयत्न जारी किए जायेंगे। सवाई माधोपुर, टाक और बूदी जहा कृषि उत्पादन की अच्छी सम्भावनाएँ हैं, इन जिलो को सघन कृषि क्षेत्र प्रोग्राम के नीचे लाया जायगा। राजस्थान मे कृषि की नई नीति का विशेष प्रयत्न किया जाएगा। अधिक पैदावार देने वाली किस्मो के अन्तर्गत क्षेत्र इस वर्ष 5 20 लाख हैक्टर से बढ कर 1970 71 मे 6 32 लाख हैक्टर हो जायेगा। इसी प्रकार अधिक उपज देने वाले बीजो का वितरण भी 1969-70 मे 2 53 लाख क्विटल से बढकर 1970 71 मे 3 38 लाख क्विटल हो जाने की आशा है। इस वर्ष रासायनिक खाद का सम्भावित वितरण लगभग 2 12 लाख टन होगा, यह बढ कर अगले वर्ष मे 3 33 लाख टन हो जाने की सम्भावना है।

योजना मे लगभग 40,000 हैक्टर इलाके मे भू सरक्षण कार्य किया जायेगा, जो अकाल राहत कार्य के अन्तर्गत होने वाले कार्य के अलावा है। इन सब प्रयत्नो और सिंचाई की सुविधाओ मे विस्तार होने के फलस्वरूप आशा है कि 1970-71 मे करीब 1 81 लाख अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पादन बढाने की क्षमता बढाई जा सकेगी।

कृषि विकास के कार्यों और उद्योग पर उप सिंचाई को गति देने के लिए एग्रीकल्चर रिफाइनेंस कारपोरेशन की स्थापना से निश्चित भूतल जल वाले क्षेत्रों मे सघन विकास योजना तैयार की जा रही है। एग्रीकल्चर रिफाइनेंस कारपोरेशन के अलावा इन स्कीमो को कार्यान्वित करने के लिए हम व्यावसायिक बैंको और एग्रीकल्चर फाइनेंस कारपोरेशन के जरिये भी सहायता प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं।

चौथी योजना मे प्रस्तावित प्रावधान

क्षेत्र	प्रस्तावित प्रावधान करोड रुपयो मे
1 सिंचाई एव विद्युत्	193 00
2 कृषि कार्यक्रम	24 00
3 सहकारिता एव सामुदायिक विकास	7 20
4 उद्योग एव खनिज विकास	7 40
5 यातायात एव सचार व्यवस्था	13 30
6 सामाजिक सेवाएँ	66 70
7 विविध	1 40
योग	313 00

1 पेयजल

इस योजना की मुख्य विशेषता यह है कि 25 40 करोड रुपया ग्रामीण जल वितरण योजना के लिए प्रस्तावित किया गया है, जबकि तीसरी योजना मे केवल 3 करोड रुपया ही रखा गया था। इनमें से 10 करोड रु० नए 100 नलकूप खोदने पर खर्च करने के लिए नलकूप सगठन को दिये जायेंगे। 4 करोड रुपया पचायत समिति क्षेत्रो मे पेयजल के लिए कुएँ खोदने पर खर्च किया जायेगा। 11 करोड रुपया देहाती क्षेत्रो मे पाइप लाइन बिछाने पर व्यय किया जायेगा। शहरी पेयजल की व्यवस्था करने के लिये 9 50 करोड रुपया रखा गया है। इससे राज्य के तीसो कस्बो मे पानी उपलब्ध हो जायेगा।

2. बिजली

चौथी योजना के अन्त तक राज्य की बिजली सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करने की योजना बनायी गयी है। योजना के अन्त तक 630 मेगावाट विद्युत् की माँग रहेगी, जिसे पूरा कर दिया जायेगा। इस योजना के अन्त तक 30 हजार कुओं को विद्युत् उपलब्ध करायी जायेगी।

3 खनिज तथा उद्योग

खनिज एव उद्योग के निर्धारित 7 4 करोड रुपये की रकम मे से लगभग एक

करोड रुपये औद्योगिक सम्पदाओ एव बस्तियो को पानी, बिजली एव अन्य सुविधाएँ उपलब्ध कराने पर व्यय किये जायेंगे।

प्रदेश मे विभिन्न खनिज सम्पदाओ की खोज पर लगभग 80 लाख रुपये व्यय किए जायेंगे। योजना मे इस बात पर सर्वाधिक जोर दिया गया है कि प्रदेश मे उपलब्ध खनिज सम्पदा की खोज की जाय। उदयपुर मे फ्लोराइट परियोजना पर 1 47 लाख रुपए व्यय करने का प्रावधान किया गया है। इसके अतिरिक्त डेगाना मे टगस्टन सयत्र तथा उदयपुर में फॉस्फेट सयन्त्र स्थापित किये जायेंगे। औद्योगिक खनिज निगम के लिए 50 लाख रुपये का प्रावधान किया गया है।

चौथी योजना मे जोधपुर मे एक नयी ऊनी मिल स्थापित की जायेगी तथा टोंक मे चमड़े का कारखाना खोला जायेगा।

4 यातायात

इस योजना की अवधि मे राज्य मे सडक निर्माण कार्य पर 12 66 करोड रु० व्यय करने का प्रावधान रखा गया है। इसमे से एक करोड रुपये गाँवो मे कच्ची एव पक्की सडकें बनाने पर व्यय किए जायेंगे। लगभग 1 75 करोड रुपए राजस्थान नहर क्षेत्र मे सडक निर्माण कार्य पर व्यय किये जायेंगे।

5 सामाजिक सेवाएँ :

चौथी योजना मे शिक्षा के विस्तार एव उसको सुदृढ करने पर बल दिया गया है। इस योजना के दौरान 300 प्राथमिक, 200 माध्यमिक, 75 उच्च तथा 50 उच्चतर माध्यमिक स्कूलो को खोलने का प्रावधान किया गया है। सामान्य एव तकनीकी शिक्षा पर कुल मिलाकर 16 25 करोड रुपये व्यय करने का प्रावधान है।

स्वास्थ्य एव चिकित्सा के क्षेत्र मे चौथी योजना मे 1,200 अतिरिक्त शैय्यायें स्थापित की जायेंगी। इसके अतिरिक्त 200 शैय्याओ की एक भ्रमणशील इकाई स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया है। चिकित्सा पर 5 43 लाख रुपये तथा आयुर्वेद पर 16 लाख रुपये व्यय करने का प्रावधान है।

राजस्थान की चौथी योजना की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, वह यथार्थ पर आधारित प्रतीत होती है। इस योजना मे अर्थ-तन्त्र के उन पहलुओं पर पहली बार खासतौर पर ध्यान दिया गया है, जो अहमियत रखते हैं। सम्पूर्ण चौथी योजना का केन्द्र-विन्दु ग्राम है। सही माने मे अर्थ-तन्त्र की नीव ही अब पडेगी, जबकि पानी व बिजली की उपलब्धि पर ध्यान दिया जायेगा, जो कि कृषि एव उद्योग दोनों की बुनियादी आवश्यकताएँ है।

———

31

राजस्थान में नियोजन के २२ वर्ष

राजस्थान में नियोजन की प्रक्रिया का शुभारम्भ सन् 1951 में हुआ था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उस समय तक राजस्थान का प्रशासनिक एवं वित्तीय एकीकरण भी नहीं हुआ था। नियोजन प्रक्रिया का अपनाया जाना स्वयं में एक क्रान्तिकारी कदम था। परम्परा एवं सामन्तवादी व्यवस्था में से विकास एवं सामाजिक न्याय हेतु आधुनिक नियोजन युग में प्रवेश, अपने आप में एक साहसिक और आकस्मिक परिवर्तन था। परम्परा से पीड़ित सामन्तवादी राजस्थान में शिक्षा का विस्तार सीमित था एवं सामाजिक कुरीतियां सर्वत्र फैली हुई थी। आर्थिक क्षेत्र में तो लगभग निष्क्रियता एवं गतिहीनता की स्थिति थी। सबसे बड़ी जरूरत उस समय यह थी कि मानसून पर निर्भरता को खत्म किया जाय तथा कृषि उत्पादिता को बढ़ाने के लिये आधुनिक प्रविधियों को अपनाया जाय। एक दूसरी बड़ी समस्या भूमि सुधार के उपायों का अंगीकार करने से जुड़ी हुई थी। सवाल यह था कि किस प्रकार से राजाओं, महाराजाओं और जागीरदारों के चंगुल से भूमि को उसे उसके वास्तविक स्वामी, खेती करने वाले किसान को सौंपा जाय। राजस्थान राज्य के मरुस्थलीय सूखे पश्चिमी भाग के विकास की समस्या भी इतनी ही महत्वपूर्ण थी।

यद्यपि लोकतन्त्रीय नियोजन के अन्तर्गत विकास अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली होता है, तथापि निर्विवाद रूप से वह अधिक स्थायी होता है। विगत 21 वर्षों में कुल मिला कर 680 करोड़ रुपया खर्च किया जा चुका है। क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में 54, 103 एवं 212 करोड़ रुपया खर्च किया गया। तीन वार्षिक योजनाओं में 138 करोड़ रुपया खर्च हुआ तथा चतुर्थ योजना के प्रथम तीन वर्षों में 173 करोड़ रुपया खर्च किया गया है। इस समस्त व्यय राशि का बहुतांश अर्थात् 56 प्रतिशत व्यय एवं सिंचाई पर किया गया। समाज सेवाओं एवं कृषि कार्यक्रमों पर क्रमशः 21 एवं 11 प्रतिशत खर्च हुआ। औद्योगिक विकास

के क्षेत्र मे राज्य सरकार सिर्फ बुनियादी आतरिक ढाचा खडा कर सकी है। आम-तौर पर औद्योगिक विकास का कार्य निजी क्षेत्र के हाथो मे छोड दिया गया था। अगले वर्ष मे जो कि चतुर्थ योजना का आगामी वर्ष है, लगभग 75 करोड रुपया व्यय होने की सम्भावना है तथा वर्तमान वर्ष मे 64 करोड रुपया सम्भवत खर्च होगा।

खाद्यान्न उत्पादन मे वृद्धि और आत्म निर्भरता का लक्ष्य जिला सघन कृषि-कार्यक्रम एव सघन क्षेत्र कार्यक्रमो द्वारा प्राप्त किया गया। ये कार्यक्रम उन स्थानो पर शुरू किये गये, जहाँ पर कि सिचाई के लिये जल सुनिश्चित रूप से उपलब्ध था। बडी, मध्यम एव छोटी सिचाई परियोजनाओ द्वारा अधिक से अधिक भूमि मे सिचाई का विस्तार किया गया। ज्यादा अन्न पैदा करने वाले बीजो का इस्तेमाल किया गया। खाद एव अन्य कृमिनाशको का व्यापक पैमाने पर प्रयोग आरम्भ किया गया। इन सभी नवीन उपायो के परिणामस्वरूप खाद्यान्न उत्पादन मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई। सन् 1951–52 मे अनाज का उत्पादन जहाँ सिर्फ 29 लाख टन था, वह सन् 1970–71 मे बढ कर 88 लाख टन के रिकार्ड-स्तर तक पहुँच गया। पशु-पालन के क्षेत्र मे प्रयत्नो का लक्ष्य यह था कि छूत की बीमारियो का उन्मूलन किया जाय तथा पशुओ की उच्च मृत्यु-दर को कम किया जाय। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 199 पशु चिकित्सालय अथवा दवाखाने खोले गये। ये चिकित्सालय सन् 1951 के पूर्व से विद्यमान 148 चिकित्सालयो के अतिरिक्त थे। विकास स्तर पर सामूहिक अक्रमी-करण की इकाईयाँ खोली गई। इसके अलावा 139 केन्द्रीय ग्राम खण्ड (Key Village blocks) तथा सात पशु प्रजनन फॉर्म स्थापित किये गये। वन–विकास के क्षेत्र मे अधिकाशत दक्षिणी राजस्थान मे निम्न कोटिकृत (degraded) वनो का पुनर्वास करने का तथा वैज्ञानिक विधि से वन स्रोतो के विदोहन का पर्याप्त सफल प्रयास किया गया है।

छोटे किसानो की आर्थिक स्थिति के लिए उदयपुर, भरतपुर एव अलवर जिलो मे विशिष्ट कार्यक्रम तथा सीमान्त किसानो एव भूमिहीन खतिहर मजदूरो के लिये भीलवाडा और अजमेर जिले मे विशेष कार्यक्रम शुरू किये गये हैं। जोधपुर, चित्तौडगढ और उदयपुर जिलो मे तीन सूखी भूमि कृषि परियोजनाए (Dry land farming) प्रारम्भ की गई है। सवाई माधोपुर जिले की टोडाभीम पचायत समिति एव कोटा की लाडपुरा पचायत समिति मे सिचित भूमि के अधिकतम उपयोग की दृष्टि से बहुल पैदावार परियोजनाए हाथ मे ली गई है।

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के मामले मे राजस्थान अग्रणी रहा है। 2 अक्टूबर, 1959 को सर्वप्रथम राजस्थान मे ही इस महान् लोकतान्त्रिक परीक्षण का

आरम्भ हुआ था। 7361 ग्राम पंचायतें और 232 पंचायत समितियाँ अपने-अपने क्षेत्र के विकास कार्य में लगी हुई हैं एवं उनके द्वारा ग्रामीण जनता में ग्रामीण विकास की गति को तीव्रता प्रदान करने के लिये नई चेतना को जन्म दिया गया है। सहकारिता के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कार्य लगभग पूरा हो चुका है। 7142 कृषि ऋण समितियों के आर्थिक रूप में व्यवहार्य इकाई (viable) बनाने के लिये उन्हे पुनर्गठित कर दिया गया है। ऋण वितरण में प्रभावशील प्रगति का अन्दाज इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि लघु एवं मध्यम अवधि के ऋणों के वितरण की राशि जहाँ सन् 1970–71 में बढ़ाकर 16 करोड़ 33 लाख रुपया हो गयी है। भूमि विकास बैंकों की प्रगति भी जो कि दीर्घकालीन ऋण देने का कार्य करती है, उतनी ही प्रभावोत्पादक एवं विस्मय वाली है। इसके अलावा कमजोर सहकारी बैंकों के पुनर्वास की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया जा रहा है। कृषकों को गोदाम सुविधाओं का प्रबन्ध करने के लिये भी वित्तीय सहायता दी जा रही है। चीनी फैक्टरी, कताई मिल, तेल मिल सहित विलायकर्षण प्लांट (Solvent extraction plant) जैसी बड़ी सम्भावक इकाइयों का सहकारी क्षेत्र में आविर्भाव रहा है, वस्तुतः चीनी की फैक्टरी में तो उत्पादन भी शुरू हो गया है।

सिंचाई के क्षेत्र में भाखरा और चम्बल जैसी वृहत परियोजनाएं पूरी हो चुकी है। थार रेगिस्तान के हिस्से का चेहरा बदलने वाली राजस्थान नहर का निर्माण कार्य प्राप्ति के पथ पर है। इस नहर के प्रथम चरण का निर्माण कार्य चौथी योजना के अन्त तक पूरा हो जायेगा। सन् 1971-72 में करीब-करीब दो लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई इसी नहर के द्वारा हुई थी और निर्माण कार्य पूर्ण हो जाने पर यह उम्मीद की जाती है कि इस नहर द्वारा 12 62 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई हो सकेगी। अनेक बड़ी सिंचाई योजनाएं, उदाहरण के लिये गंगा–बाढ, नर्मदा तथा सिपमुख सिंचाई योजनाएं इस समय विचाराधीन है एवं विभिन्न स्तरों पर मन्त्रणाओं एवं वार्ताओं का क्रम जारी है। मध्यम स्तर की 48 परियोजनाएं पूर्ण हो चुकी हैं एवं छः पर अर्थात् जाखम, मेजाफीडर, सेदुडाइवर्शन, जनपुरा, गोपालपुरा एवं हरिश्चन्द्र सागर पर निर्माण कार्य प्रगति पथ पर है। भू-जल स्रोतों के विदोहन के माध्यम से लघु सिंचाई कार्यक्रमों को राज्य में विस्तृत किया गया। इस दिशा में राज्य स्तरीय प्रयासों को संस्थागत वित्तीय सहायता की सुलभता ने पूरकता के रूप में मदद की। इस समय लगभग ए० आर० सी० की 23 योजनाएं चालू है। सन् 1951–52 में इन सभी स्रोतों से जहाँ 11 71 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई होती थी वहाँ इस समय सन् 1971–72 में 26 31 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई हो रही है।

विद्युत शक्ति एवं उद्योगों का विकास परस्पर जुड़ा हुआ है। सन 1950-51 में 8 MW कुल विद्युत शक्ति उपलब्ध थी तथा 42 शहरों का विद्युतिकरण हुआ था। सिर्फ 168 पंजीकृत फैक्ट्रियां अस्तित्व में थी। सन् 1971 में यह शक्ति बढ़ कर 28\ MW हो गयी थी एवं ज्योंही राजस्थान अणु-शक्ति प्लांट तथा जवाहर सागर परियोजना की दूसरी एवं तीसरी इकाई चालू होगी, विद्युत शक्ति की मात्रा बढ़ाकर 458 MW तक पहुँच जावेगी। चालू होने वाली बड़ी परियोजनाओं में पजाब की भाखरा नागल, मध्य प्रदेश की सतपुड़ा, गांधी सागर एवं राणा प्रताप सागर तथा राजस्थान में जवाहर सागर की प्रथम इकाई उल्लेखनीय है। पंचम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में व्यास सागर से भी विद्युत मिलनी शुरू हो जायगी। व्यास सागर परियोजना पूरी हो जाने पर राजस्थान नहर को अप्रवाहित रूप से पानी मिलेगा। सन् 1950 में प्रति व्यक्ति बिजली की खपत जहाँ सिर्फ 3 यूनिट (KWH) था, वह 1971 में बढ़ाकर 45 यूनिट हो गयी है। अधिक बिजली उत्पादन के साथ-साथ उसके सचारण और वितरण को भी उच्च प्राथमिकता दी गया थी। सन् 1971 में राज्य में कुल मिला कर 2240 पंजीकृत फैक्टरियाँ थी। विद्युत शक्ति का अधिकांश उद्योगों द्वारा प्रयुक्त किया जाता है, किन्तु कुछ वर्षों से ग्रामीण अचलों में भी कुओं को विद्युतमय बनाने तथा कृषि पर आधारित उद्योगों के विकास के लिये बिजली की माग तेजी के साथ बढ़ती जा रही है। ग्रामीण विद्युतीकरण-कार्यक्रम के अधीन सन् 1971-72 के अन्त तक 4168 स्थानों का विद्युतीकरण हो चुका है एवं 48389 कुओं द्वारा बिजली का उपयोग किया जा रहा है। भविष्य में लगभग 20,000 कुओं एवं 1 000 ग्रामों को प्रति वर्ष विद्युतीकृत किया जायेगा।

तीव्र औद्योगिक विकास के लिये अनेक प्रकार से प्रोत्साहन दिया जा रहा है। भूमि सस्ता पानी एवं बिजली दरों में छूट तथा उदार शर्तों पर ऋण आदि देकर औद्योगीकरण की गति को तीव्रता प्रदान की जा रही है। इस समय 15 औद्योगिक क्षेत्र एवं 11 औद्योगिक एस्टेट्स (Industrial E tates) शेड आदि आवश्यक सुविधाओं सहित सुलभ हैं, जिसमें कि औद्योगिक इकाइयों की स्थापना की जा सके। राजस्थान औद्योगिक एवं खनिज विकास निगम की स्थापना इसी दृष्टि से की गई है कि औद्योगिक विकास की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिले तथा उनमें नवीनता का सचार हो। यह निगम संयुक्त क्षेत्र परियोजनाओं में भी भाग लेने लगा है तथा शीघ्र ही चार परियोजनाओं का कार्य शुरू होने वाला है। सार्वजनिक क्षेत्र में इस समय प्रमुख कारखाने ये हैं ऊन मिल-बीकानेर, खेतड़ी तांबा परियोजना, जिंक स्मेल्टर उदयपुर, मशीन टूल्स फैक्टरी अजमेर, प्रेसीजन उपकरण फैक्टरी कोटा, एवं सोडियम सल्फेट प्लांट डीडवाना। इन सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों ने राज्य में

उपलब्ध स्रोतों के विदोहन मे पर्याप्त सहायता दी है। हाल ही में 16 जिलों को चुना गया है, जिन्हे कि संस्थागत वित्तीय अभिकरणों द्वारा नई इकाइयों की स्थापना के लिए विशेष छूट प्रदान की जायगी। अलवर, जोधपुर, उदयपुर, भीलवाड़ा, नागौर तथा चूरू जिले का औद्योगिक दृष्टिकोण से, सबसे पिछड़े हुए जिलों के रूप मे चयन किया गया है तथा इन जिलों को भारत सरकार द्वारा तत्काल ही पूँजी विनियोजन पर दस प्रतिशत अनुदान (Subsidy) दिया जायेगा। यह इमदाद उन इकाइयों को भी दी जायेगी, जिनका कि पूँजी विनियोजन पचास लाख रुपयों तक का है। बड़े विनियोजन वाली इकाइयों पर भी वरीयता के आधार पर इस अनुदान के सम्बन्ध मे विचार किया जा सकता है। अखिल भारतीय वित्तीय संस्थाओं के अतिरिक्त राजस्थान वित्त निगम भी लघु एवं मध्यम श्रेणी के निजी क्षेत्र उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान कर रहा है। खनिज क्षेत्र मे, खनिज भण्डारों के विदोहन के लिये विभिन्न छूटों एवं सघन पर्यवेक्षण द्वारा प्रयास किए गये थे। रॉक-फास्फेट के विशाल भण्डारों की खोज के साथ-साथ इस क्षेत्र मे महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। वर्तमान मे इसका दैनिक उत्पादन 800 टन है तथा सन् 1972–73 के अन्त तक यह बढ़ कर 1 500 टन हो जायेगा।

यह अनुभव करते हुए कि परिवहन सुविधाओं का विकास, विकास गतिविधियों से अधिकतम लाभ उठाने के लिये आवश्यक है, राज्य-सरकार ने सड़कों के विस्तार को भी प्राथमिकता दी है। सन् 1950–51 मे राज्य की सड़कों की लम्बाई जहाँ 17339 कि० मी० थी, वहीं सन् 1971–72 मे बढ़ कर 32052 कि० मी० हो गई है। इस दिशा मे मुख्य दृष्टिकोण यह रहा है कि गाँवों, कस्बों, एवं मण्डियों को परस्पर एक दूसरे से जोड़ दिया जाय। जब तक हमारे पास तीव्र गति मे दौड़ने वाले वाहन नहीं होंगे, अर्थात ट्रकें-बसें नहीं होंगी सड़कें स्वयं मे अपर्याप्त हैं। सन् 1970 के अन्त तक 90 हजार स्वचालित वाहन इन सड़कों पर दौड़ रहे थे।

समाज सेवा के क्षेत्र में जहाँ सन 1951–52 मे 6–11 आयु वर्ग के सिर्फ 16 6% विद्यार्थी शाला जा रहे थे वहीं संख्या सन 1971–72 मे 58 8% हो गयी है। हम सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा मे तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। 300 अथवा उससे अधिक आबादी वाले प्रत्येक गाँव मे एक उच्च प्राथमिक विद्यालय की स्थापना की जा चुकी है, एवं प्रत्येक पंचायत समिति मे एक या एक से अधिक माध्यमिक या उच्च माध्यमिक विद्यालय की स्थापना हो चुकी है। कालेज शिक्षा की सुविधाओं का सभी जिलों तक विस्तार कर दिया गया है। व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा के विकास के लिए भागीरथ प्रयास किये जा रहे हैं। राज्य मे इस समय 5 चिकित्सा महाविद्यालय, 2 आयुर्वेदिक महाविद्यालय, 3

अभियंता महाविद्यालय, 4 कृषि महाविद्यालय, 1 पशु चिकित्सालय महाविद्यालय तथा 6 पालिटक्निक विद्यालय हैं। इनके अलावा राज्य भर में अनेक प्रशिक्षण संस्थायें भी क्रियाशील हैं।

चिकित्सा के क्षेत्र में मुख्य ध्यान छूआछूत की बीमारियों के नियन्त्रण एवं उन्मूलन की ओर दिया गया है। सारे राज्य में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों एवं दवाखानों का जाल सा बिछा दिया गया है। विशेष रूप से ग्रामीण अंचल में व शहरी क्षेत्रों में आन्तरिक (Indoor) चिकित्सा की सुविधाओं का विस्तार किया गया है तथा विशेषज्ञ सेवाओं तथा शल्य चिकित्सा सुविधाओं में सुधार हुआ है। पिछले 21 वर्षों में 224 एलोपैथिक चिकित्सालय एवं दवाखाने खोले गये हैं तथा 8543 नवीन रोग शैय्याएं बढ़ा दी गई हैं। इस प्रकार सन् 1950–51 में जहां चिकित्सालयों एवं रोग शैय्याओं की संख्या सिर्फ क्रमशः 390 एवं 5720 थी, वहीं सन् 1917–72 में बढ़ कर क्रमशः 614 एवं 14263 हो गयी है। ग्रामीण क्षेत्रों में 232 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र अस्तित्व में आ चुके हैं। परिवार नियोजन के कार्य को लोकप्रिय बनाने तथा उसकी सुविधाएं बढ़ाने के लिये 330 परिवार नियोजन केन्द्र खोले गये हैं, मरुस्थ ग्रामीण क्षेत्रों में ही 1500 नये आयुर्वेदिक औषधालय खोले गये हैं एवं उनकी संख्या 346 से बढ़ कर 1846 हो गई है। प्रथम श्रेणी के आयुर्वेदिक चिकित्सालयों में रोगी शैय्याओं की संख्या 345 है। विगत 21 वर्षों के नियोजित विकास के दौरान 116 कस्बों को निस्यादित (Filtered) जल की सप्लाई की गई है तथा 361 ग्रामीण नल योजनाएं पूर्ण हो चुकी हैं। यह निर्णय लिया गया है कि सन 1961 की जनगणना के आधार पर जिन गांवों की जनसंख्या 5,000 या उससे अधिक है उनमें नल पानी योजना प्रारम्भ कर दी जाय। इसी प्रकार से जिन गांवों की संख्या 2000 से 5,000 के बीच में है, उनमें पम्प एवं तालाब योजनाओं को लागू किया जा रहा है, तथा 2000 से कम आबादी वाले गांवों को कुओं से नल द्वारा पानी देने की योजना कार्यान्वित की गई है। यह आशा की जाती है कि न्यूनतम विनियोजन करके जन साधारण को ज्यादा फायदा पहुंचाया जा सकेगा। यह आशा की जा रही है कि सन् 197 –74 के अन्त तक राजस्थान के सभी कस्बों में निस्यान्वित (Filtered) जल की सप्लाई हो सकेगी। समाज के दुर्बल वर्गों को ऊँचा उठाने के लिए छात्रवृत्तियों छात्रावास सुविधाओं एवं भवन तथा कुओं के निर्माण के लिये वित्तीय सहायता का प्रावधान किया जा रहा है। राज्य मल मूत्र उठाने की बुराई को आमूल रूप से नष्ट करने के लिये कृतसंकल्प है। गाँधी शताब्दी समारोह वर्ष के दौरान इस दिशा में एक वृहत् कार्यक्रम हाथ में लिया गया था। हरिजन बस्तियों के विद्युतीकरण एवं वाटर स्टैंड पोस्टस की स्थापना का भी एक कार्यक्रम

हाथ मे लिया गया था तथा हरिजनो को भवन निर्माण के लिये भी सहायता प्रदान की गई थी। श्रम कल्याण गतिविधियो को कल्याण केन्द्रों की स्थापना द्वारा एवं मजदूरों की जीवन दशाओ को सुधारने के लिए नये आयाम प्रदान किये गये। 17 रोजगार कार्यालय खोले गये और इस प्रकार इनकी सख्या बढ कर 22 हो गई है। भवन निर्माण का विविध योजनाओ के अन्तर्गत तथा निगम द्वारा सुलभ की गई बडी धन राशि के परिणामस्वरूप अनेक व्यक्ति अपने घर का निर्माण करवा सके हैं तथा भवन निर्माण प्रमण्डल की सस्था की स्थापना के साथ साथ और ज्यादा लाग अपने लिए मकान बनवा सकेंगे।

बेरोजगारी की समस्या

स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व सत्ता प्रतिष्ठानो पर आसीन किसी व्यक्ति को इस बात की चिन्ता नही थी कि हर एक आदमी को रोजगार मिला हुआ है या नही। पचवर्षीय योजनाओ के परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से रोजगार अवसरो का व्यापक विस्तार हुआ है, लेकिन इसके साथ साथ बेरोजगार लोगो की सख्या भी लगातार बढती जा रही है। कार्यो के मुकाबले मे रोजगार पाने के उम्मीदवारो की सख्या तेजी के साथ बढी है। इस समस्या का हल न सिर्फ जनसख्या नियन्त्रण द्वारा किया जा रहा है बल्कि आर्थिक विकास के ढाँचे मे भी आवश्यक समायोजन करके भी किया जा रहा है, आगामी कुछ वर्षो के दौरान प्रत्यक्ष रोजगार अथवा स्वय नियोजन की सुविधायें तेजी के साथ बढेंगी, क्योंकि ग्रामीण विद्युतीकरण का तेजी से विकास हा रहा है खनिज सम्पदा का सगठित रूप स विदोहन हो रहा है, उत्पादन बढ रहा है लघु उद्योगो एव ग्रामीण उद्योगो का प्रोत्साहन मिल रहा है, सडको, भवन कुओ एव नहरो का निर्माण किया जा रहा है तथा विविध प्रकार के प्रशिक्षण की सुविधाओ का विस्तार हो रहा है। इस बीच क समय मे राज्य सरकार बेरोजगारी की समस्या की ओर पूर्ण ध्यान दे रही है। इजीनियरिंग स्नातको एव डिप्लोमा प्राप्तकर्त्ताओ की समस्या को सुलझाने के लिये 1,000 व्यक्तियो की एक सूची तैयार की गई है। इन इजिनियरो को विभिन्न विभागो एव निगमो के कार्यानुभव प्राप्त हो रहा है। 150 इजीनियरो एव डिप्लोमा प्राप्तकर्त्ताओ को उद्योगो मे प्रशिक्षण देने के लिए आशिक छात्रवृत्ति योजना भी शुरू की की गयी है। एक नवीन केन्द्रीय सेक्टर योजना भी हाथ मे ली गई है तथा उसे आर० आई० एम०, डी०, सी० आर० एफ० सी० एव आर० एस० आई० सी० द्वारा लागू किया जा रहा है। इस योजना के पाच भाग हैं, उदाहरण के लिए साम्य (Equity), तकनीकी सहकारिता व्यावसायिक एस्टेटस औद्योगिक एस्टेट्स एव स्वदेशी मशीनो का किराया क्रय। हाल ही मे भारत सरकार ने एक विशेष रोजगार कार्यक्रम शुरू किया है जिसमे कि 1 26 करोड रुपया

भारत सरकार द्वारा प्रदान किया गया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि सेवा केन्द्रों, सड़कों एवं नालियों का निर्माण एवं सुधार, गन्दी बस्तियों की सफाई एवं सर्वेक्षण तथा जांच की कुछ योजनाएं हाथ में ली हैं। भारत सरकार ने ग्रामीण इंजीनियरिंग सर्वेक्षण का भी एक कार्यक्रम अपने हाथ में लिया है तथा इस सर्वेक्षण के लिये बांसवाड़ा तथा जोधपुर जिलों को चुना गया है। डाक्टरों को स्वयं रोजगार पाने में सहायता देने के लिये वित्तीय प्रोत्साहन चुनिन्दा क्षेत्रों में दिया जा रहा है। अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के बेरोजगार स्नातकों एवं स्नातकोत्तर नौजवानों को आर्थिक सहायता दी जा रही है और अब उन्हें जब तक रोजगार नहीं मिल जाता तब तक वृत्ति (Stipend) मिलती रहेगी।

ग्रामीण क्षेत्र में नये रोजगारों की रचना के लिये राष्ट्रीय स्तर पर एक क्रश कार्यक्रम शुरू किया जा रहा है। इस कार्यक्रम के अधीन हर जिले में दस माह के लिये 1,000 व्यक्तियों को आफ सीजन मजदूरी दर पर काम मिलेगा। लगातार अकाल पीड़ित क्षेत्रों के लिये ग्रामीण निर्माण कार्यक्रम (Rural wo k programme) हाथ में लिया गया है। राज्य के उन दस जिलों में जहां पर कि बारबार अकाल की स्थिति पैदा होती रहती है, 20 करोड़ रुपया खर्च किया जा गया। हर एक जिले में चौथी योजना के दौरान दो दो करोड़ रुपया खर्च होगा। इस कार्यक्रम के अधीन अकाल राहत के अधूरे कामों को पूरा करने पर जोर दिया जा रहा है तथा ऐसे उत्पादनशील कार्यों को हाथ में लिया जा रहा है जो कि उस क्षेत्र की अर्थव्यवस्था को मजबूती देने के साथ-साथ रोजगार के नये अवसर भी पैदा करेंगे।

राजस्थान की पाँचवीं पंचवर्षीय योजना प्रथम पंचवर्षीय योजना का शुभारम्भ अप्रेल 1951 में हुआ था। आज हम चतुर्थ योजना के मध्य काल में हैं। प्रारम्भ सघन एवं बहुमुखी विकास कार्यक्रमों से किया गया था और आज राज्य का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन नई दिशाओं में विकसित हो रहा है। विकास के एक नये दौर में से हम गुजर रहे हैं। खेतों, कारखानों एवं जंगलों का विकास हो रहा है, नई रोशनी के प्रतीक चारों ओर परिलक्षित हो रहे हैं।

आधुनिकता एवं प्रगति की दिशा में तेज गति से बढ़ते हुए इन कदमों के बावजूद भी राजस्थान राज्य देश के अपेक्षाकृत पिछड़े हुए राज्यों में से एक है। प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से राजस्थान देश के सबसे कम प्रति व्यक्ति आय वाले राज्यों में दूसरे स्थान पर आता है। प्रति व्यक्ति बिजली की खपत राष्ट्रीय खपत दर की 50% से भी थोड़ी कम है। राष्ट्रीय स्तर पर खेती योग्य भूमि के 22 प्रतिशत हिस्से में सिंचाई की सुविधा है, जबकि राजस्थान में सिर्फ 17 प्रतिशत भूमि में सिंचाई होती

है। प्रति व्यक्ति बैंक में जमा राशि एवं बैंक द्वारा दिये गये ऋण की दृष्टि से भी राजस्थान का स्थान देश में सबसे नीचे आता है। सड़क एवं रेल यातायात की दृष्टि से भी हम राष्ट्रीय औसत से बहुत नीचे हैं। राष्ट्रीय स्तर पर साक्षरता प्रतिशत 1971 की जनगणना के अनुसार 29 3 प्रतिशत है। जबकि राजस्थान का सिर्फ 18 8 प्रतिशत है। भौगोलिक परिस्थितियों के कारण राजस्थान निरन्तर सूखे और अकाल से आक्रान्त रहता है एवं लगभग प्रत्येक दूसरे वर्ष राज्य के किसी न किसी हिस्से में उसे अकाल का अस्तित्व रहता ही है।

अत यह जरूरी है कि राजस्थान की पाँचवी योजना साहसी हो। यदि सन् 1974–79 के दौरान राज्य की विकास दर को 7% तक ले जाना है तो लगभग 2,100 करोड़ रुपया खर्च करना आवश्यक होगा और फिर भी सन् 1978–79 में प्रति व्यक्ति आय की दर चौथी योजना के अन्त तक की अनुमानित 646 रु० की राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय की दर से कुछ कम ही रहेगी। आर्थिक एवं सामाजिक विकास की गतिविधियों में नये प्राण फूकने के लिये तथा निम्नांकित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये प्रयास जारी रहेंगे।

(1) विकास की गति को तीव्रतर रूप प्रदान करना, जिससे कि राजस्थान एवं शेष राज्यों के मध्य की विकास की अवस्थाओं में जो अन्तर है, उसे पाटा जा सकता है।

(2) आय एवं सम्पत्ति के वितरण में विद्यमान असमानताओं को कम करना तथा इस बात को सुनिश्चित करना कि विकास के सुफल समाज के अपेक्षाकृत दुर्बलतम एवं दरिद्रतम वर्गों को प्राप्त हो सकें।

(3) रोजगार के नये अवसर पैदा करना।

(4) दरिद्रता-रेखा से भी नीचे के जीवन-स्तर में रहने वाले जन समाज के जीवन-स्तर में गुणात्मक परिवर्तन लाना तथा उसे उर्ध्वमुखी बनाना, जीवन के कुछेक अनिवार्य क्षेत्रों में जनता की बुनियादी न्यूनतम जरूरतों को पूरा करने की प्रत्याभूति प्रदान करना।

उपर्युक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये निम्नलिखित कदम उठाने पड़ेंगे:—

(i) उन क्षेत्रों की पहचान की जाय जो कि विनियोजन करने पर अल्पतम समय में अधिकतम फायदा दे सकेंगे, जिससे कि राज्य की अर्थव्यवस्था का मुख्य स्रोत मजबूत बन सके। इसके लिये यह भी आवश्यक होगा कि उन क्षेत्रों में सर्वोत्तम प्रयास किये जाएं तथा उनमें समुचित विनियोजन किया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये खनिजों एवं पशु पालन की क्षमताओं के विकास पर विशेष जोर देना पड़ेगा।

साथ ही कृषि में उत्पादन की बढ़ोतरी एवं अन्य सम्बन्ध क्षेत्रों के विकास पर भी *खास तौर से ध्यान देना पड़ेगा। राज्य की विशिष्ट भौगोलिक स्थितियों के साथ* अनुकूलता का ध्यान रखते हुए विकास की नई तकनीक एवं प्रणालियों को अपनाना पड़ेगा। अत सूखी खेती (Dry farming) पद्धतियों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिये विशेष ध्यान देना पड़ेगा। इसी प्रकार से पशु पालन के क्षेत्र में पशुओं की नस्ल ऊँची उठाने सकरण पर विशिष्ट जोर देना पड़ेगा।

(ii) ग्रामीण निर्माण कार्य कार्यक्रम को विराट स्तर पर हाथ में लेना पड़ेगा जिससे कि लोगों को प्रत्यक्ष रोजगार मिल सके तथा ग्रामीण क्षेत्र के विकास का आन्तरिक ढांचा तैयार हो सके।

(iii) ऐसे कार्यक्रमों की दिशा में कदम उठाये जाय कि जिससे ग्रामीण जनता की अनिवार्य आवश्यकताएं प्रभावी ढग से पूरी हो सकें। बुनियादी न्यूनतम जरूरतें पूरी करने के कार्यक्रम के अधीन लोगों के जीवन-स्तर में गुणात्मक परिवर्तन लाया जाय।

(iv) राज्य के विशिष्ट समस्या ग्रस्त क्षेत्रों को पहचाना जाय एवं उनके विकास के लिये विशेष प्रोजेक्ट तैयार किये जायं।

(v) असमानताओं को कम करने के लिये आवश्यक आर्थिक एवं सामाजिक कदम उठाये जाय।

(vi) प्रशासनिक मशीन को पुनर्गठित किया जाय। सरकार की प्रायोजना *निर्माण शाखा को सशक्त बनाया जाय, जिससे कि योजना कार्यक्रमों का ज्यादा अच्छी* तरह से लागू किया जा सके। राज्य क्षेत्र के बाहर से अधिकतम संस्थागत वित्तीय सहायता को प्राप्त करने की कोशिश की जानी चाहिये।

पाँचवी पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत लागत प्रतिशत निम्नानुसार होना चाहिये :

क्रमांक	विकास की मद	चौथी योजना का लागत व्यय प्रतिशत	पाँचवी योजना में प्रस्तावित लागत व्यय प्रतिशत
1	कृषि कार्यक्रम	8 1	13 00
2	सहकारिता एव सामुदायिक	2 9	1 9
3	बिजली विकास एव सिंचाई	60 2	59 8
4	उद्योग एव खनिज	2 5	4 5
5	यातायात एव संदेश-वाहन	3 0	4 5
6	सामाजिक सेवाएँ	22 9	15 0
7	विविध	0 4	1 3
	योग	100 00	100 00

राज्य योजना की व्यय राशि 775 करोड़ रुपये निर्धारित की गयी है। यदि 600 करोड़ रुपये की केन्द्रीय सहायता भी प्राप्त हो जावे तो भी कुल विनियोजन राशि का सिर्फ 36% ही पूरा हो सकेगा। स्मरण रहे कि चौथी योजना के दौरान केन्द्रीय सहायता की राशि 220 करोड़ रुपये थी।

दरिद्रता एवं पिछड़ेपन की समस्या से हर मोर्चे पर लड़ना आवश्यक है। राज्य में कुछ एक क्षेत्र हैं—उदाहरण के लिये राजस्थान नहर परियोजना एवं चम्बल परियोजना, जो कि वैज्ञानिक एवं कल्पनाशील ढंग से प्राकृतिक स्रोतों को जुटाने पर राज्य को विशेष उन्नति की दिशा में आगे बढ़ा सकती है। राजस्थान नहर परियोजना की पूर्णता, गंगानगर, बीकानेर तथा जैसलमेर जिले का सम्पूर्णतः रूपान्तरण कर देगी। यह अनुमान लगाया जाता है कि लगभग एक लाख किसान परिवारों को बसाया जा सकेगा। इसी प्रकार से कोटा एवं बूंदी जिले का लगभग एक हजार वर्ग मील का चम्बल परियोजना क्षेत्र बहुमुखी विकास की राह प्रशस्त करता है। राज्य सरकार के वित्तीय स्रोत बहुत ही सीमित हैं, अतः वह बाह्य सहायता की प्रतीक्षा में रहती है। उदाहरण के लिये विश्व बैंक एवं अन्य ऋण-दायिनी अभिकरणों तथा भारत सरकार द्वारा उदार वित्तीय सहायता प्रदान की जा रही है।

राज्य के मरु-स्थलीय एवं आदिवासी क्षेत्रों के विकास के लिये भी विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता है, जिनसे कि लोगों को रोजगार मिल सके तथा उन क्षेत्रों की बुनियादी अर्थ-व्यवस्था विकसित हो सके। मरु-स्थलीय क्षेत्र के लिए, चारागाह विकास, भेड़ पालन, पशुओं का नस्ल सुधार, वन विस्तार एवं भूगर्भिय जल विकास के लिये एक वृहत योजना तैयार की जा रही है। आदिवासी जनता के लिये एक वृहत सामाजिक विकास योजना की तैयारी विचाराधीन है, जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित लक्ष्यों को प्राप्त करने का कोशिश की जावेगी—

(i) ऋणग्रस्तता का निवारण

(ii) जोत की इकाई में वृद्धि करना,

(iii) बालकों के शाला प्रवेश हेतु प्रोत्साहन प्रदान करना,

(iv) छात्रावास एवं छात्रवृत्तियों के रूप में शैक्षणिक सुविधाएं प्रदान करना।

(v) आदिवासी क्षेत्रों के कृषिगत एवं औद्योगिक विकास के आन्तरिक ढांचे का प्रावधान करना।

(vi) एक ऐसी मशीनरी की स्थापना करना जो कि आदिवासी जनता की मुकदमेबाजी की समस्याओं को सुलझाने में सहायता प्रदान कर सके।

विशेषत आर्थिक दृष्टि से समृद्ध लोगों द्वारा आदिवासियों को गैर कानूनी ढंग से भूमिहीन बना देने की स्थिति से उत्पन्न होने वाले मुकदमों को निपटने के लिये इस प्रकार की सहायता आवश्यक है।

उपर्युक्त सभी योजनाओं को लागू करने के लिये राज्य सरकार के पास बहुत ही सीमित वित्तीय स्रोत हैं, इसलिए राज्य योजना के अलावा भी भारत सरकार एव अन्य संस्थाओं से वित्तीय सहायता प्राप्त करना आवश्यक होगा।

यह तेजी के साथ महसूस किया जा रहा है कि आर्थिक उन्नति को सामाजिक न्याय से अलग नहीं किया जा सकता है। योजना आयोग ने पांचवी पचवर्षीय योजना के दृष्टिकोण में यह संकेत दिया है कि निम्नलिखित सात ग्रामीण क्षेत्रों में अनिवार्य सामाजिक सेवाओं का प्रावधान न सिर्फ उन क्षेत्रों में विकास के लिये आन्तरिक ढांचा प्रदान करेगा, बल्कि गरीब ग्रामीण जनता के जीवन स्तर में भी गुणात्मक सुधार लायेगा —

(i) प्राथमिक शिक्षा।

(ii) परिवार नियोजन एव बालकों को पोषाहार के साथ संयुक्त सार्वजनिक स्वास्थ्य की सुविधाएं।

(iii) ग्रामीण जल प्रदाय का प्रावधान।

(iv) गाँवों में सड़कें।

(v) भूमिहीन मजदूरों को आवास स्थलों का प्रावधान।

(vi) ग्रामीण विद्युतीकरण।

(vii) गदी बस्तियों का सुधार।

उपर्युक्त सात क्षेत्रों में विकास आधार अत्यधिक कमजोर होने के कारण राजस्थान में न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से इन सामाजिक सेवाओं के विकास के स्तर को ऊँचा उठाना खास तौर से बहुत ही मुश्किल काम है। फिर भी उपर्युक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये निम्नानुसार 506 करोड़ रुपयों का खर्च अनुमानित किया गया है जैसा कि पृष्ठ 630 पर दी गई तालिका से स्पष्ट है।

इस न्यूनतम राष्ट्रीय कार्यक्रम को सम्पादित करने के लिये जितनी धन राशि की आवश्यकता पड़ेगी, वह केन्द्रीय सरकार द्वारा दी जावेगी। इसके अतिरिक्त यह आशा भी की जाती है कि भारत सरकार द्वारा केन्द्रीय स्तर पर शुरू की जावेगी। उदाहरण के लिये कृषि मे समन्वित शोध के अखिल भारतीय कार्यक्रम उच्च राष्ट्रीय मार्ग (National High Way) विशेष रोजगार कार्यक्रम एस एफ डी ए,

क्रमांक	मद	लक्ष्य	आवश्यक धन-राशि की मात्रा (करोड़ों में)
1	प्राथमिक शिक्षा	1975 तक 6-11 आयु वर्ग में लड़कों का शत प्रतिशत शाला प्रवेश। सन् 1978 तक 6-11 आयु वर्ग की लड़कियों का शत प्रतिशत शाला प्रवेश, सन् 1978 तक 11-14 आयु वर्ग के बालक-बालिकाओं का 50% शाला प्रवेश।	226
2	सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाएं	80 हजार से एक लाख तक की आबादी के लिये एक 8 या 8 से 10 तक उप केन्द्रों सहित एक पूर्ण सुज्जित सार्वजनिक स्वास्थ्य केन्द्र की स्थापना, प्रत्येक केन्द्र में वर्तमान छः रोगी शैय्याओं के स्थान पर 25 रोगी शैय्याओं का प्रावधान।	11
3	ग्रामीण सड़कें	1500 एवं उससे अधिक आबादी वाले समस्त ग्रामों तक सभी मौसमों की सड़कों का निर्माण।	100
4	ग्रामीण जल प्रदाय योजना	सन् 1978 79 तक सभी ग्रामों को पेय जल उपलब्ध कराना।	116
5	भूमिहीन मजदूरों के लिये आवास स्थल	इस योजना के अन्तर्गत एक लाख बत्तीस हजार परिवारों को फायदा पहुंचाया जावेगा।	3
6	ग्रामीण विद्युतीकरण	40% ग्रामीण जनता को बिजली प्रदान करना।	48
7	गंदी बस्तियों का सुधार	इसके अन्तर्गत जयपुर में 30 हजार परिवारों को लाभ पहुंचेगा।	2
		योग	506

एफ ए एल, अकाल पीड़ित क्षेत्र कार्यक्रम, रोजगार की क्रैश योजना, केन्द्र क्षेत्र उद्योग, सहकारी सस्थाओं एवं ग्रामीण विद्युतीकरण निगम के माध्यम से ऋण प्रदान करना इत्यादि कार्यों से एक हजार छियासी करोड़ रुपये जुटाने की आशा रखते हैं।

संस्थागत वित्त एवं निजी क्षेत्र विनियोजन को आकर्षित करने की योजना भी सभवत. 300 करोड़ रुपयों का विनियोजन करवा सकेगी।

ये सारे के सारे विनियोजन सिर्फ तभी सम्भव हो सकेंगे, जबकि राष्ट्रीयकृत व्यावसायिक बैंकों से धन राशि के प्रवाह को तेज किया जायेगा। इसके अतिरिक्त सामयिक ऋणदायि संस्थाओं एवं भारत सरकार की ओर से पिछड़े हुए राज्यों को उप-युक्त नीतियों एवं कार्यक्रमों के माध्यम से पिछड़े हुए राज्यों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता में तेजी लानी होगी। राजस्थान सरकार ने योजना आयोग से अनुरोध किया है कि केन्द्रीय सहायता के आबन्टन की कसौटी ज्यादा व्यापक होनी चाहिये और आबन्टन करते समय राज्यों में आम पिछड़पन को ध्यान में रखा जाना चाहिये।

पाचवी पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आवश्यकताओं एवं सम्भाव्य क्षेत्रों की खोजना होगा एवं समन्वित क्षेत्रीय विकास की योजनाओं को लागू करने की तैयारी करनी होगी। इसके अलावा राज्य सरकार द्वारा विकास के लिये विस्तृत जिला योजनाओं के निर्माण की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया जायेगा, जिससे कि क्षेत्रीय कार्य-क्रमों (सेक्टोरियल प्रोग्राम) को अधिक सावधानी के साथ कार्यान्वित किया जा सके एवं साथ ही जिला योजनाओं एवं कार्यक्रमों में लघु क्षेत्रों की विकास सम्भावनाओं का प्रतिबिम्बित किया जा सके। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए आकड़ा सग्रह एवं प्रायोजना निरूपण (प्रोजक्ट निरूपण) एक वृहत मशीनरी सगठित की जा रही है।

राज्य सरकार ने एक राज्य योजना प्रमण्डल की स्थापना का निर्णय लिया है जिससे कि योजनाओं के निरूपण एवं कार्यान्वियन में राज्य सरकार को परामर्श मिल सकेगा।

32

मजदूरी एवं उत्पादिता

(Wages and Productivity)

किसी उत्पादन साधन के पदत-उत्पादन (input-output) अनुपात (ratio) को उस साधन की उत्पादिता (productivity) कहते है। उदाहरणार्थ, श्रम की एक अतिरिक्त इकाई को उत्पादन-कार्य मे लगाने पर अथवा श्रमिक की कार्यकुशलता मे वृद्धि होने पर उत्पादन मे यदि, अन्य बातो के समान रहने पर, वृद्धि होती है तो यह कहा जा सकता है कि श्रम की उत्पादिता (productivity) मे भी वृद्धि हुई है। इस प्रकार उत्पादिता किसी उत्पादन साधन की कार्य-क्षमता अथवा समस्त साधनो की सम्मिलित कार्यक्षमता मे वृद्धि का एक माप-दण्ड है। किसी भी उत्पादन संस्था के लिए इस माप दण्ड का विशेष महत्व है, क्योकि इसके आधार पर ही वह अपने उत्पादन-फलन (Production Function) मे उत्पादन के विभिन्न साधनो के समन्वय के सम्बन्ध मे आवश्यक नीति निर्धारित करती है।

मजदूरी और उत्पादिता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मजदूरी श्रमिक द्वारा प्रदान की गई सेवाओ का प्रतिफल है और श्रम-उत्पादिता उस प्राप्त की गई मजदूरी के बदले मे दी गई सेवाओ का परिणाम है। अत यह स्पष्ट है कि मजदूरी-वृद्धि एक ऐसी आर्थिक प्रेरणा है, जिसके प्राप्त होने पर ही श्रमिक अपनी उत्पादन क्षमता या उत्पादिता मे वृद्धि करने हेतु प्रोत्साहित होता है।

विकसित देशो मे, जहा लोगो की मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पर्याप्त मजदूरी प्राप्त होती है, श्रमिको की उत्पादिता मे वृद्धि करने के लिए आर्थिक प्रेरणाओ (मजदूरी तथा अन्य मौद्रिक लाभ) का महत्व कम होता जा रहा है,

किन्तु अविकसित तथा विकासशील देशो मे इन प्रेरणाओ का आज भी विशेष महत्व है। यही कारण है कि मजदूरी वृद्धि तथा उत्पादिता वृद्धि की प्रवृत्तियो मे स सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और मजदूरी-दरो या दूसरे शब्दो मे, प्रति श्रमिक आय मे वृद्धि होने पर यह अपेक्षा की जाती है कि उसकी उत्पादिता मे भी वृद्धि हो। इस आधार पर नीचे के खण्डो मे भारत मे श्रमिको की मजदूरी तथा उनकी उत्पादिता की प्रवृत्तियो का विश्लेषण किया गया है।

औद्योगिक मजदूरी
(Industrial Wages)

प्रत्येक देश मे मजदूरी नीति का उसके सामान्य आर्थिक एव सामाजिक उद्देश्यो से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अत सामाजिक उद्देश्यो के अनुरूप मजदूरी-नीति का निर्माण एव विकास करने के लिए मजदूरी निर्धारण, मजदूरी-स्तर, मजदूरी सरचना तथा मजदूरी सुरक्षा की समस्याओ को ध्यान मे रखना अत्यन्त आवश्यक है।

मजदूरी निर्धारण

भारत मे स्वतन्त्रता सग्राम के अन्तिम चरण तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रारम्भिक वर्षों के दौरान अपनी आर्थिक दशाओ मे सुधार लाने के लिए औद्योगिक श्रमिको को मजदूरी वृद्धि के लिए सघर्ष करना पडा। फलत मजदूरी वृद्धि के प्रश्न को लेकर अनेक सघर्ष हुए। इन सघर्षों के परिणामस्वरूप उक्त अवधि मे कई लाख श्रम-दिन (1947 मे 166 लाख 1948 मे 78 लाख, 1949 मे 66 लाख तथा 1950 मे 128 लाख) नष्ट हो, गए जिसमे श्रम की उत्पादिता जो पहले ही कम थी, और भी कम हो गई।

सन् 1950 के पश्चात् श्रम सघर्षों एव विवादो की सख्या मे तो यद्यपि कोई कमी नही हुई, किन्तु 'औद्योगिक सघर्ष अधिनियम, 1948 (Industrial Disputes Act, 1948) के पास हो जाने के पश्चात् समझौता तथा मध्यस्थ निर्णय की व्यवस्था होने से औद्योगिक सघर्षो के बहुत दिन चलने की सम्भावनाए कम हो गई। इसी समय इन सघर्षों मे पारस्परिक विवादो पर अन्तिम निर्णय देने के लिए विभिन्न राज्यो मे औद्योगिक ट्रिब्यूनल भी स्थापित किए गए। इन व्यवस्थाओ का परिणाम यह तो अवश्य हुआ कि शीघ्र निर्णय लिए जाने से श्रम घन्टो की हानि तो कम हो गई, परन्तु श्रमिको की आर्थिक स्थिति यथावत् बनी रही। अत. इस दिशा मे रचनात्मक कदम उठाने के लिए सन् 1948 मे एक 'मजदूरी समिति' (Wages Committee) नियुक्त की गई, जिसमे सरकार श्रमिको तथा नियोक्ताओ (employers) के प्रति-

निधि थे। इस समिति का उद्देश्य श्रमिकों के लिए जीवन निर्वाह मजदूरी निर्धारित करना था। देश में व्यापक औद्योगिक संघर्ष को दूर करने के लिए इस समिति ने यह सुझाव दिया कि इस समस्या का तत्कालीन हल श्रमिकों को 'उचित मजदूरी' देने की व्यवस्था करना है।

उचित मजदूरी से आशय मजदूरी की उस राशि से था जो निर्धारित न्यूनतम मजदूरी (minimum wage) से कम न हो। इस समिति का इस सम्बन्ध में यह सुझाव भी था कि उचित मजदूरी प्रत्येक उद्योग की भुगतान क्षमता उस क्षेत्र में विभिन्न तुलनात्मक पेशों एव व्यवसायों तथा अन्य क्षेत्रों में उसी प्रकार के उद्योग में प्रचलित मजदूरी दरों के आधार पर निर्धारित की जानी चाहिये। परन्तु प्रारम्भ में औद्योगिक ट्रिब्युनल द्वारा तथा पंच निर्णयों में इन सुझावों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। विभिन्न ट्रिब्युनल द्वारा इस सम्बन्ध में जो निर्णय दिये गए, उनमें उद्योग की मजदूरी-भुगतान-क्षमता, देश की अर्थ-व्यवस्था में उस उद्योग के स्थान, राष्ट्रीय आय के स्तर अथवा श्रम की उत्पादिता एसे घटकों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

उक्त स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकी। औद्योगिक ट्रिब्यूनलों ने उचित मजदूरी की माँग का समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया। क्राउन अल्युमिनियम वर्क्स, वेलूर तथा उसके श्रमिकों के मध्य संघर्ष के सिलसिले में सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिये गये निर्णय में यह स्पष्टत कहा गया कि यद्यपि औद्योगिक निर्णयादेश (adjudication) देते समय अनेक सिद्धान्तों, जैसे तुलनात्मक मजदूरी का सिद्धान्त, व्यापार अथवा उद्योग की उत्पादिता, जीवन स्तर तथा उद्योग की भुगतान क्षमता, को ध्यान में रखा जाता है, किन्तु यदि कोई उद्योग न्यूनतम मजदूरी का भुगतान करने में भी असमर्थ है तो उसे जीवित या विद्यमान रहने का कोई अधिकार नहीं है। इसी निर्णय में सविधान के निदेशक सिद्धान्तों (Directive Principles of the Constitution) पर बल दिया गया और यह कहा गया कि श्रमिकों को जीवन-निर्वाह मजदूरी दिलाने के लिए आवश्यक प्रयत्न किए जाने चाहिये। अन्य मुकदमे में सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि जीवन निर्वाह न्यूनतम मजदूरी की अवधारणा स्थिर नहीं है। यह राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की स्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। बाद में महत्वपूर्ण उद्योगों के लिए मजदूरी-दर निर्धारित करने के लिए जिन मजदूरी बोर्डों की स्थापना की गई, उनके द्वारा भी इन्हीं सिद्धान्तों का समर्थन किया गया। सन् 1948 में पास किए गए न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (The Minimum Wages Act, 1948) भी अनेक उद्योगों के असगठित श्रमिकों के लिए मजदूरी की न्यूनतम दरें निर्धारित करने में सहायक हुआ।

मजदूरी-स्तर
(Wage Level)

उपरोक्त उपायों के परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कुछ ही वर्षों में सामान्य मजदूरी स्तर में तीव्र वृद्धि हुई। यद्यपि बाद में यह वृद्धि-दर स्थायी नहीं रखी जा सकी, फिर भी मजदूरी का सामान्य स्तर निरन्तर बढ़ता ही गया, जैसा कि नीचे दी गई तालिका से स्पष्ट है

निर्माण उद्योगों में 200 रु० प्रतिमाह से कम मजदूरी आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की औसत प्रति व्यक्ति वार्षिक मजदूरी-आय[1]

(आधार वर्ष 1947 – 100)

वर्ष	मजदूरी-आय	मौद्रिक आय का सूचनांक	वर्ष	मजदूरी-आय	मौद्रिक-आय का सूचनांक
1947	737	100·0	1954	1,111	151 8
1948	833	120 0	1955	1,173	159·4
1949	986	134 4	1956	1,183	161 0
1950	959	132 0	1957	1,134	167 4
1951	1,396	140 9	1958	1,285	174·3
1952	1,112	150 9	1959	1,310	177 7
1953	1,111	151 8	1960	1,385	187 9

उपरोक्त तालिका से यह ज्ञात होता है कि सन् 1950 में श्रमिकों की औसत प्रति व्यक्ति वार्षिक मजदूरी आय में थोड़ी कमी हुयी परन्तु सन् 1952, 1953 व 1954 में स्थिर रहने के बाद उसमें निरन्तर वृद्धि होती गयी। इस तथ्य की पुष्टि आगे दी गई तालिका से होती है

1 *Source* Indian Labour Statistics.

मजदूरी-आय का सामान्य सूचनांक[1]
(General Index of Earnings)

(400 रु० प्रतिमाह से कम मजदूरी आय पाने वाले फैक्टरी श्रमिकों की औसत वार्षिक मजदूरी-आय के आधार पर)

(आधार वर्ष 1961 = 100)

वर्ष	सूचकांक	वर्ष	सूचकांक
1962	106	1966	139
1963	109	1967	151
1964	114	1968	160
1965	128	1969	171
		1970	175 अस्थायी

यद्यपि प्रथम तालिका मे उन व्यक्तियों की मौद्रिक आय दी गई है जिनकी आय 200 रु० प्रतिमाह से कम है, फिर भी सूचकांकों से उनकी मजदूरी आय मे वृद्धि की प्रवृति का संकेत मिलता है।

सन् 1965 मे 'बोनस भुगतान अधिनियम' (Payment of Bonus Act, 1965) मे पास हो जाने पर यह अधिनियम प्रत्येक ऐसी फैक्टरी तथा संस्थान पर लागू हो गया जिसमे लेखा वर्ष मे किसी भी दिन 20 या अधिक व्यक्ति काम करते हों। इस अधिनियम मे यह प्रावधान किया गया कि प्रत्येक ऐसी फैक्टरी अथवा संस्थान द्वारा लाभों को ध्यान मे रखे बिना प्रत्येक लेखा-वर्ष मे प्रत्येक श्रमिक के वेतन या मजदूरी का कम से कम 4% या 40 रु० (बाल श्रमिक की दिशा मे 25 रु०) जो भी अधिक हो, दिया जायेगा। अधिकतम बोनस की दर वेतन या मजदूरी के 20% के बराबर निर्धारित की गई। इस प्रकार श्रमिकों की मौद्रिक आय मे और भी अधिक वृद्धि हो गई, जैसा कि पृष्ठ 337 पर दी गई तालिका मे विभिन्न राज्यों तथा संघीय क्षेत्रों के उन फैक्टरी श्रमिकों की, जो 400 रु० प्रति माह से कम मजदूरी प्राप्त करते हैं, औसत वार्षिक आय से स्पष्ट है

1. *Source* India 1973

फैक्टरी श्रमिकों की औसत प्रति व्यक्ति वार्षिक मौद्रिक आय[1]

राज्य/संघीय क्षेत्र	1901	1966	1967	1968	1969	1970
आन्ध्र प्रदेश	1,149	1,454	1,601	1,830	2,088	2,117
असाम	1,599	2,130	2,09[illegible]	2,108	2,340	2,363
बिहार	1,856	2,050	2,196	2,432	2 486	2,712
गुजरात	1,702	2 340	2,663	2,696	2,643	2,820
हरियाणा	—	1,312	2,064	2,2[illegible]9	2,436	2,616
हिमाचल प्रदेश	1,288	2,115	2,950	2,851	2,521	2,5[illegible]1
जम्मू व काश्मीर	—	978	1,209	,532	1,805	1,638
केरल	1,152	1,724	2,009	2,125	2,467	2,467
मध्य प्रदेश	1,816	2 118	2,3[illegible]8	,691	2,932	2,912
महाराष्ट्र	1,775	2,480	2,676	2,[illegible]26	2,903	2,003
मैसूर	1,375	1,840	1,1[illegible]8	2,204	2,088	2,088
उड़ीसा	1,180	2,001	2,325	2,333	2,143	2,899
पंजाब	1,175	1,636	1,659	1,690	2,070	2,159
राजस्थान	761	1 412	1,882	1,853	2,003	2,003
तामिल नाडु	1,465	2 032	2,204	2,297	2,442	2,442
त्रिपुरा	—	1,171	1,897	1,945	2,010	2,010
उत्तर प्रदेश	1,264	1,825	1,978	2,157	2,200	2,293
बंगाल	1,410	2,029	2,175	2,382	2,675	2,761
अण्डमान व निकोबार	1, 34	1,6[illegible]1	1,566	1,791	2,023	2 170
दिल्ली	1,655	2,321	2,497	2,788	3,013	2,845
गोआ, डामन व ड्यू	—	2,105	1,751	1,242	2,075	2,406

यदि निर्माणी तथा खनन उद्योगों की मौद्रिक मजदूरी आय की तुलना की जाय तो यह ज्ञात होगा कि सन् 1955 तक दोनों उद्योगों की मजदूरी-दरों में बढ़ने की प्रवृत्ति समान थी। परन्तु 1956 के पश्चात् खनन उद्योगों, विशेषकर कोयला खानों के श्रमिकों की मजदूरी दर में तीव्र गति से वृद्धि हुई।

मजदूरी-वृद्धि तथा मूल्य स्तर

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् यद्यपि औद्योगिक श्रमिकों की मजदूरी, अर्थात् मौद्रिक आय में वृद्धि की प्रवृत्ति रही है, तथापि श्रमिकों को जो भी लाभ इस वृद्धि से हुआ वह मूल्यों में वृद्धि के कारण अर्थहीन हो गया। मजदूरी-वृद्धि तथा मूल्य-वृद्धि का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि 1951–61 की 12 वर्षों की अवधि अवधि में जबकि मौद्रिक आय में 45% की वृद्धि हुई, मूल्यों में भी इसी अवधि में 28% की वृद्धि हो गई। फलतः मजदूरी में वास्तविक वृद्धि केवल 14% ही रह गई। सन् 1970 तक के उपलब्ध आँकड़ों से वास्तविक मौद्रिक आय का ज्ञान आगे दी गई तालिका से प्राप्त किया जा सकता है :

1 *Source* India, 1973.

श्रमिकों की वास्तविक आय[1]

[1961 = 100]

विवरण	1962	1963	1964	1965	1966	1967	1968	1969	1970
आय का सामान्य सूचकांक	106	109	114	128	139	151	160	171	175
सम्पूर्ण भारत के श्रमिक वर्ग के उपभोक्ता मूल्य सूचकांक	103	106	121	132	146	166	171	169	17थ
वास्तविक आय के सूचकांक	103	1,3	94	97	95	91	94	101	98

1. Source : India 1973

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि उपभोक्ता मूल्य सूचकांकों में वृद्धि के फलस्वरूप 1963 के पश्चात् श्रमिकों की वास्तविक मौद्रिक आय में निरन्तर कमी होती गयी। यद्यपि सन् 1969 में इस में कुछ सुधार अवश्य हुआ था, परन्तु सन् 1970 के पश्चात् वह पुन नीचे की ओर उन्मुख हो गई। 1970 के पश्चात् जिस तीव्र गति से, विशेषकर 1972–73 में मूल्यों में वृद्धि हुई है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आज श्रमिकों की मौद्रिक आय पहले की अपेक्षा बहुत ही कम है।

मजदूरी-स्तर तथा राष्ट्रीय आय

मजदूरी राष्ट्रीय आय का एक अंश है। अत राष्ट्रीय आय के बढ़ने पर मजदूरी में वृद्धि होनी चाहिए। इस तथ्य की जाँच भारत की राष्ट्रीय आय में वृद्धि एवं मजदूरी-स्तर में वृद्धि का तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा ही की जा सकती है। 1951 से 1963 तक की अवधि में निर्माणी उद्योगों के श्रमिकों की मौद्रिक आय में 43 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, जबकि घरेलू साधनों से राष्ट्रीय आय (विदेशी आय को छोड़कर) 80 प्रतिशत की वृद्धि आंकी गई थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि की तुलना में औद्योगिक श्रमिकों की मौद्रिक आय में वृद्धि बहुत ही कम थी।

एक सर्वेक्षण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि कुल राष्ट्रीय आय 1950–51 में 8,500 करोड़ रुपये थी, जो 1970 में बढ़ कर 16,544 करोड़ रु० हो गई। कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की स्थिति में भी काफी सुधार हुआ तथा उन राज्यों में जहाँ 'हरित-क्रान्ति' आई, लोगों का जीवन-स्तर थोड़ा ऊपर उठा। इस प्रकार देश में आर्थिक विकास तो हुआ, परन्तु उसका पूरा लाभ देश के श्रमिकों एवं साधारण जनता को मिला है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। इन वर्षों में आम जनता की मौद्रिक आय में वृद्धि अवश्य हुई है, परन्तु वास्तविक आय में कोई वृद्धि नहीं हुई। इसका प्रधान कारण रहा है आकाश छूती हुई कीमतें। मूल्यों में वृद्धि 1950 के बाद शुरू हो गई जब प्रथम पंचवर्षीय योजना का श्रीगणेश हुआ। द्वितीय और तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं के काल में हालत हद से ज्यादा बिगड़ गई। इस प्रकार, जैसा कि एक अन्य स्रोत से उपलब्ध आंकड़ों से तैयार की गई निम्न तालिका से स्पष्ट है, यद्यपि राष्ट्रीय आय में वृद्धि और प्रति व्यक्ति आय में बढ़ोत्तरी का सह-सम्बन्ध रहा है, परन्तु मूल्य-वृद्धि से वास्तविक मौद्रिक आय कम ही होती गयी है।

राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आय में बढ़ोत्तरी

विवरण	1950–51	1960–61	1970-71
राष्ट्रीय आय (करोड़ रु० में)	10240	13264	18700
प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)	284	306	347

मजदूरी वृद्धि तथा लाभ वृद्धि

कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की मौद्रिक आय तथा उद्योगों की आय की तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि सन् 1955 तक श्रमिकों की औसत आय में वृद्धि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के बराबर ही थी। सन् 1956 में श्रमिकों की औसत आय में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई, परन्तु औद्योगिक उत्पादन भी उतनी ही तेजी से न बढ़ा। सन् 1960 से औसत आय में वृद्धि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा कम होती गई। जबकि 1951 से उत्पादन में 102 प्रतिशत की वृद्धि हुई, औसत आय में केवल 119 प्रतिशत की ही वृद्धि हो सकी थी।

उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के परिणामस्वरूप औद्योगिक लाभ में श्रमिकों की आय की तुलना में अधिक तेजी से वृद्धि हुई। 1951 62 की अवधि में जब कि निर्माणी औद्योगिक क्षेत्र के श्रमिकों की आय में केवल 44 प्रतिशत की वृद्धि अनुमित की गई थी औद्योगिक लाभ में 129 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इससे यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय में अतिरिक्त वृद्धि का अधिकांश भाग औद्योगिक लाभ के रूप में वितरित किया गया और श्रमिकों को मजदूरी के रूप में उसका कम भाग ही प्राप्त हुआ।

कृषि-श्रमिकों की मजदूरी

कृषि क्षेत्र में लगे श्रमिकों की आय में सुधार लाने के लिए भी 'न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948 लागू किया गया है। इस कानून के अन्तर्गत जम्मू व काश्मीर राज्य को छोड़ कर अन्य समस्त राज्यों तथा संघीय क्षेत्रों के कृषि श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी गई है। केन्द्रीय सरकार ने कुछ कृषि संस्थाओं सैनिक फार्मों तथा पुरातत्वीय उपवनों के श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी है।

यद्यपि कृषि श्रमिकों की मजदूरी का नियमन एवं निर्धारण न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 द्वारा किया जाता है फिर भी औद्योगिक श्रमिकों की मजदूरी की तुलना में कृषि-श्रमिकों की मजदूरी का स्तर कम ही रहा है। 1956–57 वर्ष के लिए उपलब्ध आकड़ों से यह ज्ञात होता है कि कृषि-श्रम की प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय 99 4 रु० ही थी।

सामान्य मजदूरी स्तर में वृद्धि के कारण

भारत के औद्योगिक क्षेत्रों में कार्य करने वाले श्रमिकों को प्राप्त मौद्रिक आय के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् मजदूरी स्तर में अधिक वृद्धि हुई है। मजदूरी में बढ़ने की प्रवृत्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित रहे हैं

(1) राजनैतिक स्वतन्त्रता के पश्चात् श्रमिकों में आर्थिक दासता से मुक्ति पाने तथा अपने जीवन-स्तर में सुधार लाने की इच्छा बलवती हो गई, जिसकी अभिव्यक्ति औद्योगिक संघर्ष के रूप में की गई। परिणामस्वरूप न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 पास किया गया, जिसके आधार पर जीवन-निर्वाह मजदूरी एवं उचित मजदूरी निर्धारित की गई।

(2) औद्योगिक संघर्षों के निपटारे के लिए समझौते, निर्णयादेश, पंच-निर्णय-व्यवस्था तथा औद्योगिक ट्रिब्युनल की स्थापना की गई, जिसके द्वारा दिए गए निर्णयों में भी जीवन-निर्वाह मजदूरी देने पर बल दिया गया था। सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों में भी मजदूरी वृद्धि करने तथा देश के संविधान में निदेशक सिद्धान्तों का पालन करने पर जोर दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप मजदूरी में वृद्धि हुई।

(3) सन् 1951 में जब देश के नियोजित आर्थिक विकास के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना का श्रीगणेश हुआ और तदुपरान्त द्वितीय पंचवर्षीय योजना चालू की गई, तब देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए कृषि एवं औद्योगिक श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि करना आवश्यक हो गया। श्रमिकों के मजदूरी-स्तर को ऊँचा उठाये बिना विकास-कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करना संभव नहीं था।

(4) नियोजित आर्थिक विकास होने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई। देश का बहुमुँखी विकास होने के फलस्वरूप औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप, बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय में से कुछ अधिक अंश मिलना स्वाभाविक था।

(5) बोनस भुगतान अधिनियम, 1965 पास होने के पश्चात् तथा अधिसमय तक कार्य करने के कारण अधिसमय की मजदूरी (overtime wages) में भी वृद्धि होने पर, श्रमिकों की मौद्रिक आय में भी वृद्धि हुई है।

(6) श्रमिकों में उत्पादिता वृद्धि से लाभों में होने वाली वृद्धि में कुछ भाग

पाने के लिये किये गये संघर्षों के परिणामस्वरूप प्रेरणात्मक योजनाओं के अन्तर्गत दिये गये बोनस से श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि हुई है।

यद्यपि उपर्युक्त कारणों से श्रमिकों का सामान्य मजदूरी-स्तर ऊँचा उठा है, फिर भी मूल्य-वृद्धि के कारण मजदूरी-वृद्धि से श्रमिकों के जीवन-स्तर में कोई पर्याप्त सुधार नहीं हुआ। आवश्यकता इस बात की है कि मूल्य वृद्धि की प्रवृत्ति नियन्त्रित की जाये, जिससे श्रमिकों की वास्तविक आय में वृद्धि हो सके। दोष मजदूरी ढाँचे में नहीं है, बल्कि मूल्य ढाँचे में है।

उत्पादिता
(Productivity)

श्रम की उत्पादिता (Productivity of labour) का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि आर्थिक विकास की योजनाओं के अन्तर्गत आधुनिक यन्त्रों के प्रयोग, विदेशी पूँजी की उपलब्धता, श्रमिकों के प्रशिक्षण आदि कारणों से श्रम की उत्पादिता में पर्याप्त वृद्धि हुई है, यद्यपि श्रमिकों की मजदूरी में उस अनुपात में वृद्धि नहीं हुई है जैसा कि आगे दी गई तालिका से स्पष्ट है :

श्रम की आय, श्रम एवं पूँजी उत्पादिता[1]

(आधार 1951 = 100)

वर्ष	आय का सूचकांक	उत्पादिता का सूचकांक		लाभ का सूचकांक
		श्रम	पूँजी	
1952	107	102	93	77
1953	107	106	89	85
1954	112	120	97	97
1955	115	142	105	117
1956	111	134	90	128
1957	108	125	72	141
1958	104	136	64	130
1959	100	100	100	100
1960	108	105	94	126
1961	113	109	92	146

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि श्रमिकों की आय में वृद्धि श्रम-उत्पादिता में हुई वृद्धि से कम है। इस अवधि में पूँजी की उत्पादिता में अवश्य कमी हुई, परन्तु

1. Source Indian Journal of Labour Economics.

इस कमी का कारण उद्योगों में अधिक विनियोग (1951 में 2,752 मि० रुपये से 1958 में 6,311 मि० रु० तथा 1959 में 11,342 मि० रुपये से 1961 में 24,144 मि० रुपये) हुआ, जिसका फल भविष्य में प्राप्त हुआ।

इस सम्बन्ध में यह तथ्य यह विशेष उल्लेखनीय है, कि इस अवधि में अधिकाधिक विनियोग किए जाने के फलस्वरूप उत्पादिता में पर्याप्त वृद्धि नहीं हुई, फिर भी लाभों में निरन्तर वृद्धि होती गई। इसका अर्थ यह है, कि लाभों में वृद्धि श्रम-उत्पादिता में वृद्धि का ही परिणाम थी। इसके बावजूद भी श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि नहीं की गई।

श्रम-उत्पादिता में वृद्धि के कारण

भारत के योजना काल में श्रम-उत्पादिता में वृद्धि के निम्नलिखित कारण रहे हैं

1 विज्ञान एवं उत्पादन की नई प्रविधियों का विकास होने से श्रम की कार्य-क्षमता में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

2 श्रमिकों की तकनीकी शिक्षा एवं उनके प्रशिक्षण की दिशा में किए गए प्रयत्नों के फलस्वरूप उनकी कार्य विधि में परिवर्तन आया है।

3 उत्पादन की नई-नई विधियों का समावेश किया गया है, जिससे उत्पादन में वृद्धि हुई है।

4 प्रबन्ध व्यवस्था अधिक वैज्ञानिक बनाने के प्रयास किए गए है, जिससे लागत में कमी हो सके, और सामग्री, श्रम एवं पूंजी का अनावश्यक क्षय रोका जा सके। यह भी श्रम उत्पादिता में वृद्धि करने का एक तरीका है।

5 श्रम शक्ति को पूर्ण रूप से उपयोग में लाने के लिए बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के उपाय किए गए हैं। श्रम वृद्धि से भी श्रम-उत्पादिता में वृद्धि हुई है।

6 श्रम उत्पादिता में वृद्धि करने के उद्देश्य से अनेक बोनस-योजनाएं एवं प्रेरणादायिक योजनाएं लागू की गई हैं।

निष्कर्ष यद्यपि आधुनिक अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता है कि मजदूरी और उत्पादिता वृद्धि में कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु एक विकासशील देश में दोनों में गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। अतः सरकार, नियोक्ताओं तथा श्रम संघों को उत्पादिता वृद्धि के लिए मिल कर प्रयत्न करने चाहिए, जिससे श्रमिक असन्तुष्ट न रहें, और अपनी उत्पादन क्षमता को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहें।